ॐ

परमात्मने नमः

आत्मप्रसिद्धि

समयसार परिशिष्ट में वर्णित अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
सैंतालीस शक्तियों के स्वरूप पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के स्वानुभवरसपूरित प्रवचन

: गुजराती संकलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद :
श्री मगनलाल जैन
ललितपुर (उ.प्र.)

: सम्पादक :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, विलेपार्ले, मुम्बई के अवसर पर दिनांक 17 मई से 22 मई 2015 तक)

ISBN : 978-93-81057-27-8

न्यौछावर राशि : रुपये 20.00 मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड, राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

संकलनकार का निवेदन

'अनेकान्त' द्वारा अनन्त धर्मस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली इस महान लेखमाला की पूर्णता के प्रसंग पर परमपूज्य आचार्य भगवन्तों को तथा पूज्य गुरुदेवश्री को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं कि जिन्होंने आत्मप्रसिद्धि का रहस्य प्रगट किया है।

समयसार के परिशिष्ट पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन कई बार हुए हैं। उनमें आठवीं बार के प्रवचन खूब विस्तृत एवं चैतन्य की मस्ती से भरपूर थे। उन प्रवचनों को मुख्यरूप से लेकर उन्हीं में छठवीं, सातवीं तथा नववीं-दसवीं बार के प्रवचनों का मुख्य सार भी मिश्रित कर दिया गया है। **-इस प्रकार इस विषय पर गुरुदेव के पाँच बार के प्रवचनों के आधार से यह लेखमाला तैयार हुई है।**

आत्मस्वरूप को प्रगट करनेवाली यह लेखमाला, अद्‌भुत है। जैनशासन के अनेक रहस्यों का-मुख्यतः आत्मानुभव के उपाय का, गुरुदेव ने इन प्रवचनों में पुनः पुनः इस प्रकार मन्थन किया है कि शान्तचित्त से स्वाध्याय करने पर, मानों चैतन्यपरिणति आत्मस्वभाव के आसपास घूम रही हो... ऐसा अनुभव होता है। शुद्धचैतन्य की महिमा तो सम्पूर्ण लेखमाला में अखण्डरूप से भरी है... चैतन्यमहिमारूपी डोरी के आधार से ही यह लेखमाला गुँथी हुई है... इसलिए उसकी अखण्ड स्वाध्याय करते-करते मुमुक्षु-आत्मार्थी जीवों को ऐसी चैतन्यमहिमा जागृत होती है कि मानों तत्काल उसमें उतर कर उसका साक्षात् अनुभव कर लें... अनेक जिज्ञासु इस आत्मसन्मुखता प्रेरक लेखमाला की पुनः पुनः स्वाध्याय करते हैं। वास्तव में इस लेखमाला द्वारा पूज्य गुरुदेव ने आत्मार्थी जीवों पर महान उपकार किया है।

-ऐसी महत्वपूर्ण एवं विस्तृत लेखमाला पूज्य गुरुदेव के सान्निध्य के प्रताप से ही पूर्ण हुई है... इस लेखमाला के लेखन में, उसमें दर्शाई हुई चैतन्यमहिमा का पुनः पुनः मन्थन होने से मेरी आत्मरुचि को खूब पोषण प्राप्त हुआ है; वह रुचि आगे बढ़कर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि के मेरे पुरुषार्थ को शीघ्र सफल बनाए-ऐसी पूज्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

-ब्र० हरिलाल जैन

सोनगढ़

सम्पादकीय

परमपूज्य भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित परमागम शास्त्रों में समयसार का स्थान सर्वोपरि है। मिथ्यात्व का भेदन करनेवाला यह परमागम अनेक आत्मार्थियों के लिये पथप्रदर्शक बना है। 415 प्राकृत गाथाओं में निबद्ध इस परमागम पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव एवं आचार्य जयसेनदेव की संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं जो इस ग्रन्थ के रहस्य का उद्घाटन करनेवाली बेजोड़ टीकायें हैं। इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर परिवर्ती ग्रन्थकारों ने आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करनेवाले सत्साहित्य का निर्माण कर जिनवाणी के कोष को समृद्ध किया है।

समयसार परमागम की अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित 415 गाथाओं की टीका की समाप्ति के उपरान्त आचार्यदेव ने परिशिष्टरूप से अतिविशिष्ट प्रमेय साधर्मीजनों के हितार्थ लिखा है, जिसमें ज्ञानलक्षण से भगवान आत्मा की प्रसिद्धि; अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनन्त शक्तियों में से सैंतालीस शक्तियों का विशद् वर्णन तथा उपाय-उपेय की चर्चा विशेष उल्लेखनीय है।

विक्रम संवत् १९७८ की किसी धन्य घड़ी में अध्यात्ममूर्ति सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के करकमल में जब यह ग्रन्थ पहली बार आया तो उन्होंने एक कुशल जौहरी की भाँति इसमें विद्यमान मणिमुक्ताओं का मूल्यांकन किया और सहज ही उनके अन्त:स्तल से ये उद्गार प्रस्फुटित हुए कि 'अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' तत्पश्चात् अनेक वर्षों के गहन अध्ययन-मनन-चिन्तवन द्वारा स्वानुभव की उपलब्धि कर सम्प्रदाय परिवर्तन करके गुरुदेवश्री ने दिगम्बर जिनधर्म की जो विश्वव्यापी प्रभावना की है, उसके मूल में यही ग्रन्थराज है। यही कारण है कि गुरुदेवश्री के रोम-रोम में इस ग्रन्थ के प्रति विशेष भक्तिभाव उल्लसित होता था। पूज्य गुरुदेवश्री ने स्वयं सैंकड़ों बार इस ग्रन्थ का पारायण किया और सार्वजनिकरूप से सभाओं में 19 बार इस ग्रन्थ पर आद्योपान्त प्रवचन प्रदान कर जगत को मुक्तिमार्ग का पथ प्रदर्शन किया। इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री का समस्त आत्मार्थी साधर्मीजनों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, कि उन्होंने अपनी सातिशय दिव्यवाणी के पावन प्रवाह से इस जगत को आत्महित का दिशा निर्देश किया। इस उपकार हेतु पूज्य श्री के पावन चरणों में कोटिश: नमन समर्पित है।

इस ग्रन्थ में समागत 47 शक्तियों का वर्णन पूज्य गुरुदेवश्री को अत्यन्त प्रिय था और

उनके प्रात:कालीन एवं सांध्यकालीन व्यक्तिगत स्वाध्याय / चिन्तन का यह निरन्तर प्रमेय रहा। गुरुदेवश्री ने सैंतालीस शक्तियों पर 20 बार प्रवचन किये हैं। जिनमें 19 बार समयसार के साथ हुए प्रवचनों का समावेश होता है।

प्रस्तुत आत्मप्रसिद्धि ग्रन्थ में मुख्यरूप से आठवीं बार के प्रवचनों का प्रकाशन किया गया है। इसके साथ ही छठवीं, सातवीं तथा नौवीं, दसवीं बार के प्रवचनों का मुख्य सार भी इनमें समायोजित कर दिया गया है। इस प्रकार इस प्रवचन ग्रन्थ में पूज्य गुरुदेवश्री के पाँच बार के प्रवचनों का दोहन प्रस्तुत किया गया है। इस श्रमसाध्य कार्य को गुरुदेवश्री के अनन्य भक्त बालब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ ने किया है। इसके अतिरिक्त समयसार के चौदहवीं बार हुए प्रवचनों में समागत सैंतालीस शक्तियों के प्रवचनों का संकलन भी आपके द्वारा किया गया है, जो अभी तक आत्मवैभव नाम से मात्र गुजराती भाषा में उपलब्ध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ अनेकों वर्षों पूर्व श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा हिन्दी भाषा में और राजकोट संघ द्वारा गुजराती भाषा में प्रकाशित हो चुका है। तत्पश्चात् इस ग्रन्थ के दो हिन्दी संस्करण श्री कुन्दकुन्द-कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा द्वारा प्रकाशित हुए हैं, जो अब अनुपलब्ध हैं। बहुत समय से मुमुक्षु समाज द्वारा इस ग्रन्थ की माँग होने से इसका यह संस्करण पुन: कम्प्यूटरीकृत कराके तैयार किया गया है। जिसमें पूर्व संस्करणों के आधार पर तथा आत्मधर्मों के आधार पर समुचित संशोधन / सम्पादन किया गया है। पूर्व प्रकाशनों की प्रकाशन सम्बन्धी अशुद्धियों को यथासम्भव दूर कर दिया गया है। साथ ही लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है। प्रत्येक शक्ति का प्रवचन प्रारम्भ करने से पूर्व संस्कृत एवं हिन्दी में उस शक्ति का स्वरूप दिया गया है, जो इस संस्करण की अपनी विशेषता है। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दों में किसी प्रकार की तोड़-मरोड़ न हो और वे अपने मूलस्वरूप में पाठकों तक पहुँचे।

सभी आत्मार्थी बन्धुओं से विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थ में समागत भगवान आत्मा के वैभवस्वरूप सैंतालीस शक्तियों का स्वरूप समझकर शक्तिमान अखण्ड आत्मस्वभाव की आराधना उपासनापूर्वक निजहित साधें।

-देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य

विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत

में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और

उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
१.	जीवत्वशक्ति	३२
२.	चितिशक्ति	४४
३.	दृशिशक्ति	४८
४.	ज्ञानशक्ति	५७
५.	सुखशक्ति	६२
६.	वीर्यशक्ति	६९
७.	प्रभुत्वशक्ति	८१
८.	विभुत्वशक्ति	९४
९.	सर्वदर्शित्वशक्ति	१०१
१०.	सर्वज्ञत्वशक्ति	१०७
११.	स्वच्छत्वशक्ति	११७
१२.	प्रकाशत्वशक्ति	१२३
१३.	असंकुचितविकासत्वशक्ति	१३५
१४.	अकार्यकारणत्वशक्ति	१४३
१५.	परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति	१७५
१६.	त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति	१८५
१७.	अगुरुलघुत्वशक्ति	१९६
१८.	उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति	२०१
१९.	परिणामशक्ति	२२३
२०.	अमूर्तत्वशक्ति	२४०
२१.	अमूर्तत्वशक्ति	२४६
२२.	अभोक्तृत्वशक्ति	२५८
२३.	निष्क्रियत्वशक्ति	२६९
२४.	नियतप्रदेशत्वशक्ति	२७५

२५.	स्वधर्म व्यापकत्वशक्ति	२८७
२६.	साधारण-असाधारण साधारणसाधारणधर्मत्वशक्ति	२९५
२७.	अनन्तधर्मत्वशक्ति	३०२
२८.	विरुद्धधर्मत्वशक्ति	३१४
२९-३०.	तत्व, अतत्त्वशक्ति	३२२
३१-३२.	एकत्व, अनेकत्वशक्ति	३३२
३३-३४.	भावशक्ति अभावशक्ति	३४४
३५-३६.	भावअभावशक्ति, अभावभावशक्ति	३५९
३७-३८.	भावभावशक्ति अभावअभावशक्ति	३७३
३९.	भावशक्ति	३८३
४०.	क्रियाशक्ति	४०१
४१.	कर्मशक्ति	४१०
४२.	कर्तृत्वशक्ति	४२६
४३.	करणशक्ति	४३६
४४.	सम्प्रदानशक्ति	४५२
४५.	अपादानशक्ति	४६९
४६.	अधिकरणशक्ति	४७९
४७.	सम्बन्धशक्ति	४८९
	परिशिष्ट-1	५०४
	ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध	५०६

ॐ

॥ नमः समयसाराय ॥

आत्मप्रसिद्धि

ज्ञानलक्षण से प्रसिद्धि होनेवाला अनन्त धर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मा

आत्मा में ज्ञानादि अनन्त धर्म है; उन्हें परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बतलाने के लिये आचार्यदेव 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। वहाँ आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, तथापि एकान्त नहीं हो जाता, क्योंकि 'आत्मा, ज्ञानमात्र है'- ऐसा कहने से ज्ञान से विरुद्ध जो रागादि भाव है, उनका तो निषेध हो जाता है परन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले श्रद्धा, सुख आदि गुणों का कहीं निषेध नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त धर्म भी आत्मा में साथ ही होने से ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है, यह बात यहाँ आचार्यदेव प्रश्न-उत्तर से स्पष्ट करते हैं।

प्रश्न - प्रभो! आत्मा अनेकान्तमय है, तथापि उसे 'ज्ञानमात्र' क्यों कहते हो? आत्मा में कहीं एक ज्ञानगुण ही नहीं है परन्तु श्रद्धा, चारित्र, सुख, अस्तित्व, जीवत्व, प्रभुत्व आदि अनन्त गुण उसमें विद्यमान हैं, तथापि 'ज्ञानमात्र आत्मा है'- ऐसा कहने का क्या कारण? 'आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञानमात्र है; रागादि से पृथक्, मात्र ज्ञायकभाव है'- ऐसा सारे समयसार में जोर देकर कहा है, तो आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से अन्य धर्मों का निषेध तो नहीं हो जाता न? अनन्त धर्म युक्त होने पर भी आत्मा को ज्ञानमात्र कहने का क्या

प्रयोजन है ?—ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है। वह प्रश्न करनेवाले ने इतना तो लक्ष्य में लिया है कि आचार्यदेव, आत्मा को पर-से और विकार से तो पृथक् ही बतलाते हैं; आत्मा ज्ञानमात्र है – ऐसा बतलाते हैं। इतना लक्ष्य में लेकर पूछता है कि प्रभो! अनन्त धर्मात्मक आत्मा को ज्ञानमात्र क्यों कहा ?

शिष्य के प्रश्न का आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि – हे शिष्य! सुन! लक्षण की प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिये आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। ज्ञान, आत्मा का असाधारणगुण है; इसलिए वह आत्मा का लक्षण है। उस लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

ज्ञान, लक्षण है और आत्मा, लक्ष्य है। ज्ञान लक्षण, आत्मा की प्रसिद्धि करता है। राग, आत्मा का लक्षण नहीं है। ज्ञान लक्षण, आत्मा को राग से पृथक् जानकर शुद्ध आत्मा को प्रसिद्ध करता है-कौन सा ज्ञान ? परोन्मुख हुआ ज्ञान नहीं, परन्तु जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर आत्मा को जानता है, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है। जो ज्ञान, शुद्ध आत्मा को जानता है, वह ज्ञान, आत्मा का लक्षण है। जो ज्ञान, शुद्ध आत्मा को न जाने और राग में ही एकाकार हो जाए, उसे वास्तव में ज्ञान ही नहीं कहते हैं क्योंकि उसने आत्मा की प्रसिद्धि नहीं की, किन्तु राग की प्रसिद्धि की है। ज्ञान का कार्य आत्मवस्तु को प्रसिद्ध करना है; वह व्यवहार को—राग को या पर को प्रसिद्ध नहीं करता। 'राग है, सो मैं नहीं हूँ; मैं शुद्ध आत्मा हूँ'—ऐसा ज्ञान घोषित करता है परन्तु 'राग है, सो मैं हूँ'—ऐसा वह घोषित नहीं करता। इस प्रकार आत्मा को प्रसिद्ध करने के लिये उसे 'ज्ञानमात्र' कहा गया है। 'ज्ञानमात्र' कहकर, मात्र ज्ञानगुण नहीं बतलाना है परन्तु पूर्ण आत्मा बतलाना है।

पहले ग्यारहवीं गाथा में कहा था कि शुद्धनयानुसार बोध होनेमात्र से आत्मा और कर्म का भेदज्ञान होता है, अर्थात् शुद्धनय द्वारा आत्मा को जानने से कर्म से भिन्न सहज ज्ञायकस्वभावरूप से आत्मा अनुभव में आता है। और यहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञान लक्षण से आत्मा प्रसिद्ध होता है, उसमें भी 'ज्ञान लक्षण' कहने से शुद्धनयानुसार हुआ ज्ञान लेना चाहिए। जो ज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्मा को न जाने और पर को ही जाने, वह ज्ञान, आत्मा का लक्षण नहीं है। जो ज्ञान, आत्मा को लक्ष्य करके उसे प्रसिद्ध करे—जाने वह ज्ञान,

आत्मा का लक्षण है। राग से भिन्न आत्मा की प्रसिद्ध करनेवाला ज्ञान, राग को भी जानने की शक्तिवाला है।

यहाँ आचार्यदेव ने व्यवहाराभास को उड़ाया है, अर्थात् मात्र पर को ही जाननेवाला व्यवहारज्ञान वास्तव में आत्मा की प्रसिद्धि का साधन नहीं है किन्तु अन्तरोन्मुख होकर शुद्धनय से आत्मा को जाने, वह ज्ञान ही आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है – ऐसा बतलाया है।

जगत में लक्षण द्वारा लक्ष्य की पहचान करायी जाती है। आत्मा का लक्षण, ज्ञान है; उस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा पहचान जाता है। शरीरादि तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न है; इसलिए शरीर, आत्मा का लक्षण नहीं है और रागादिभाव भी आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त भिन्न हैं, वे रागादि भी आत्मा का लक्षण नहीं हैं। ज्ञान ही आत्मा का असाधारण विशेषगुण है; इसलिए वही आत्मा का लक्षण है। ज्ञानगुण, स्व-पर को जानता है; आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में ज्ञानगुण नहीं है और आत्मा के अनन्त धर्मों में भी एक ज्ञानगुण ही स्व-पर प्रकाशक है; इसलिए वह असाधारण है; ज्ञान के अतिरिक्त अन्य श्रद्धा-चारित्रादि गुण निर्विकल्परूप हैं, अर्थात् वे अपने को या पर को नहीं जानते हैं; मात्र ज्ञानगुण ही अपने को और पर को जानता है; इसलिए 'आत्मा, ज्ञानमात्र है' ऐसा कहकर उस ज्ञानगुण द्वारा आत्मा की पहचान करायी जाती है। इस प्रकार 'ज्ञान लक्षण' वह आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है।

अनेक पदार्थ एकत्रित हो, उनमें से किसी एक पदार्थ को पृथक् करके बतलाने का जो साधन है, उसे लक्षण कहते हैं। 'आत्मा, ज्ञानमात्र है'—ऐसा कहने से समस्त परद्रव्य और परभावों से पृथक् आत्मा जाना जाता है; पर्याय में राग और आत्मा एकमेक दिखलायी देते हैं, वहाँ ज्ञान लक्षण, आत्मा को राग से भी भिन्न बतलाते हैं। इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है; इसलिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है।

आत्मा, लक्ष्य है और ज्ञान, लक्षण है – यह बात लक्ष्य में लेकर अब, शिष्य दूसरा प्रश्न करता है कि इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है ? मात्र लक्ष्य, ऐसा आत्मा ही प्रसिद्ध करने योग्य है। लक्ष्य-लक्षण के भेद किए बिना सीधा आत्मा ही बतला दीजिये न ? अन्त में तो आप हमें आत्मा की पहचान ही कराना चाहते हैं तो फिर लक्षण का भेद

किये बिना, सीधा आत्मा ही बतलाइये; भेद करके किसलिए कहते हैं ?

आचार्यदेव, शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते है कि—जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो, उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो, उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। इस प्रकार लक्ष्य, ऐसे आत्मा की प्रसिद्धि के लिये ज्ञान लक्षण का उपदेश किया जाता है।

देखो, इसमें दो बातें आ जाती हैं। प्रथम तो जिसे ज्ञान लक्षण द्वारा लक्ष्य ऐसे आत्मा का भान और अनुभव वर्तता है, उसे तो लक्ष्य-लक्षण के भेद का कुछ प्रयोजन नहीं है; परन्तु जिसे लक्ष्य की खबर नहीं है, उसे लक्षण द्वारा लक्ष्य की पहचान करायी जाती है। जिसे आत्मा के लक्षण की ही खबर नहीं है, उसे आत्मा का भान नहीं होता। 'शरीर, आत्मा का लक्षण है अथवा शरीर को धारण कर रखना, वह आत्मा का गुण है'—ऐसा जो अज्ञानी मानता है, उसे प्रथम आत्मा का लक्षण बतलाते हैं कि 'देख भाई! आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, जो जानता है, वह आत्मा है।' इस प्रकार लक्षण को जान लें, तभी लक्ष्य को पकड़ सकता है।

अज्ञानी को 'जो देह है, वही मैं हूँ, अथवा जो राग है, वहीं मैं हूँ' - ऐसी भ्रमणा है; इसलिए उसे तो आत्मा के लक्षण का ही भान नहीं है। राग की वृत्ति तो बाह्य में जाती है और उसमें आकुलता होती है; उसमें आत्मा का अनुभव नहीं होता और ज्ञान, अन्तरोन्मुख होने से आत्मा का अनुभव होता है तथा राग छूट जाता है; इस प्रकार राग और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं; उनमें ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है - ऐसा जाने, तब आत्मा के लक्षण को जाना कहलाता है और ऐसे लक्षण को जाने, तभी आत्मा का अनुभव होता है। अज्ञानीजन आत्मा को अनेक प्रकार से विपरीत लक्षणवाला मान रहे हैं; इसलिए उन्हें तो लक्षण ही अप्रसिद्ध है, तब फिर लक्ष्य की प्रसिद्धि कहाँ से हो ? लक्षण तो उसे कहा जाता है कि जो त्रिकाल लक्ष्य के साथ रहे और लक्ष्य की पहचान कराये। शरीर या पुण्य कहीं आत्मा का लक्षण नहीं है; आत्मा का लक्षण तो ज्ञान है।

आत्मा, ज्ञानस्वरूपी है; रागादि वास्तव में आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। ऐसे ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि बिना, अज्ञानी को लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे ज्ञानस्वरूप

लक्षण की प्रसिद्धि हो, उसी को लक्ष्य ऐसे आत्मा की खबर पड़ती है; इसलिए लक्ष्य-लक्षण का भेद करके अज्ञानी को ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान करायी जाती है। भाई! ज्ञान ही तेरा लक्षण है, आत्मा ज्ञानस्वरूप है; ज्ञान के अतिरिक्त रागादि समस्त भावों से अपने आत्मा को भिन्न समझ, ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मस्वभाव के साथ एकमेक कर तो तुझे आत्मा को प्रसिद्धि, अर्थात् अनुभव हो।—इस प्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्य को ग्रहण करने का उपदेश है।

देखो, यह तो समयसार का परिशिष्ट है, सूक्ष्म अन्तर की बात है। शरीरादि बाह्यक्रिया अथवा दयादि के स्थूल रागरूप व्यवहार को तो निकाल दिया; यहाँ मात्र लक्ष्य-लक्षण के भेदरूप सूक्ष्म व्यवहार है। यह लक्ष्य-लक्षण के भेद भी अभेद आत्मा का लक्ष्य कराने के लिए है। 'ज्ञानमात्र आत्मा है'—ऐसा कहने में भी लक्षण-लक्ष्य का भेद पड़ता है परन्तु यदि समझनेवाला स्वयं भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर समझ जाये तो लक्ष्य-लक्षण के भेद को व्यवहार माना जाता है। अभेद आत्मा को न समझे तो मात्र भेद को व्यवहार नहीं कहा जाता। उसी प्रकार अभेद को समझने में बीच में लक्षण-लक्ष्य के भेद आते हैं, उन्हें यदि सर्वथा न माने तो लक्षण के स्वीकार बिना, वह लक्ष्य को भी नहीं पकड़ सकेगा।

यहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है—ऐसा बतलाकर आचार्यदेव ने एकान्त व्यवहाराभासी या एकान्त निश्चयाभासी, इन दोनों का निषेध किया है।

व्यवहाराभासी अज्ञानी कहता है कि 'मात्र ज्ञान-ज्ञान क्या करते हो? हम जो पुण्य की और देह की क्रिया करते हैं, वही करने दो न! वह साधन करते-करते किसी समय आत्मा की पहचान हो जाएगी!' यहाँ 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है'—ऐसा कहकर उस व्यवहाराभास को उड़ा दिया है। अरे मूढ़! देह की क्रिया या पुण्य की क्रिया, आत्मा को पहचानने का साधन नहीं है किन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्मा की पहचान होती है, ऐसा तू जान।

और निश्चयाभासी अज्ञानी कहता है कि 'ज्ञान, वह साधन और आत्मा, साध्य—ऐसे भेद किसलिए करते हो? सीधा अभेद आत्मा ही कहो न? लक्षण द्वारा लक्ष्य को

बतलाते हो, उसके बदले सीधा लक्ष्य ही बतला दो न!''जो लक्षण को न जाने, वह लक्ष्य को भी नहीं जानता; लक्षण को पहचानने से ही लक्ष्य को जाना जा सकता है'—ऐसा कहकर यहाँ उस निश्चयाभासी का भी निषेध किया है। जिसने कभी आत्मा को नहीं जाना है, उसे मात्र 'आत्मा... आत्मा'—इतना कहने से ही आत्मा लक्ष्य में नहीं आता; इसलिए प्रथम उसे आत्मा का लक्षण बतलाना पड़ता है कि—देख भाई! यह शरीर तो कुछ जानता नहीं है और भीतर जो राग की वृत्तियाँ होती हैं, उनमें भी जानने का सामर्थ्य नहीं है। जो इन सबको जानता है, वह तो ज्ञान है, वह ज्ञान, देह से और राग से पृथक है और तेरे आत्मा के साथ एकमेक है, ऐसा जो ज्ञान है, सो आत्मा है। इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान करायी जाती है। अभेद आत्मा में ढलते हुए बीच में इतना भेद आये बिना नहीं रहता तथापि 'ज्ञान ही आत्मा है' – ऐसा जो लक्ष्य-लक्षण का भेद है, वह कहीं राग को प्रसिद्ध करने के लिए नहीं है परन्तु आत्मा को ही प्रसिद्ध करने के लिए है। ज्ञान लक्षण का कार्य, आत्मा को प्रसिद्ध करना है परन्तु वह राग को प्रसिद्ध नहीं करता, अर्थात् 'मैं राग हूँ' – ऐसा ज्ञान लक्षण नहीं बतलाता, किन्तु 'मैं आत्मा हूँ' – ऐसा ज्ञान लक्षण बतलाता है। पहले लक्ष्य-लक्षण के भेद का विकल्प उठता है तथापि उस विकल्प की ओर ज्ञान का जोर नहीं है किन्तु अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने की ओर ही ज्ञान का जोर है; अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने से वह भेद का विकल्प भी टूट जाएगा और मात्र लक्ष्यरूप आत्मा का अनुभव रह जायेगा; इस प्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है।

कोई ऐसा कहे कि 'हमें तो मात्र लक्ष्य को ही जानना है, लक्षण को नहीं जानना चाहते; मात्र आत्मा को पहचानना है किन्तु उसमें जो ज्ञानादि अनन्त गुण हैं और निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं – यह कुछ नहीं जानना चाहते, क्योंकि वह सब जानने में तो विकल्प आते हैं।'—तो ऐसा माननेवाला शुष्कज्ञानी है। जैसे, कोई कहे कि मुझे गुड़ चाहिए, किन्तु मिठास की आवश्यकता नहीं है, तो मिठास का निषेध करने से वहाँ गुड़ का ही निषेध हो जाएगा; उसी प्रकार ज्ञान लक्षण को पहचानने से इन्कार करे, उसे आत्मा ही ज्ञात नहीं हो सकता। जो निर्विकल्प आत्मानुभव में स्थिर हो गया हो, उसे लक्ष्य-लक्षण के भेद का

विकल्प नहीं होता, परन्तु जिसने अभी आत्मा को लक्ष्य में नहीं लिया है, उसे आत्मा को पहचानने के लिए प्रथम उसका लक्षण जानना चाहिए। लक्षण को जानना कहीं विकल्प का कारण नहीं है; वह तो लक्ष्य को पहचानने का कारण है।

ज्ञान लक्षण, आत्मा को प्रसिद्ध करता है; जिसे आत्मा के ज्ञान लक्षण की ही खबर नहीं है, उसे आत्मा की ही खबर नहीं है। ज्ञान लक्षण किसका है ? ज्ञान लक्षण, राग का या व्यवहार का नहीं है परन्तु आत्मा का ही है। वह लक्षण, शुद्ध आत्मा का ही लक्ष्य कराता है। जिसे ऐसे लक्षण की खबर नहीं है, उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जो ज्ञान, राग में एकाकार हो गया, उसे यहाँ ज्ञान ही नहीं कहते; यहाँ तो जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्मा को लक्ष्य बनाये, उसी को आत्मा का लक्षण माना है और वह ज्ञान, आत्मा के ज्ञानसहित पर को भी यथार्थरूप से जानता है। ज्ञान लक्षण से आत्मा को लक्षित न करे और मात्र जैन शासन में कहे हुए व्यवहार का ही लक्ष्य रखे तो उसे भी आत्मा के लक्षण की खबर नहीं है; इसलिए उसे आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञान का लक्ष्य आत्म द्रव्य है। ज्ञान क्या है ? – उसी की जिसे खबर नहीं है, उसे आत्मा का भान नहीं होता। जिसने लक्ष्य को नहीं जाना, ऐसे जीव को लक्षण द्वारा ही लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। इन इन्द्रियों द्वारा अथवा राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि वे आत्मा का लक्षण नहीं है; इसलिए जो निमित्त पर या व्यवहार पर जोर देते हैं, उन्होंने आत्मा के ज्ञान लक्षण को ही नहीं जाना है। यहाँ तो ऐसा कहने का आशय है कि जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्मा को न जाने और मात्र परोन्मुख या व्यवहारोन्मुख ही होता रहे, वह ज्ञान भी आत्मा का लक्षण नहीं है, अर्थात् वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि उसने आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया, किन्तु व्यवहार को प्रसिद्ध किया है। **जो ज्ञान, व्यवहार का निषेध करके (स्वाश्रयद्वारा पराश्रय छोड़कर के) स्वभाव सन्मुख होकर भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करे—उसका अनुभव करे, वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जो लक्ष्य के साथ एकता करे, उसे लक्षण कहा, किन्तु लक्ष्य को छोड़कर, पर के साथ एकता करे, उसे लक्षण नहीं कहा जाता। मात्र व्यवहार के ही आश्रय में रुकनेवाला जीव, आत्मा के लक्षण को नहीं जानता;** ग्यारह अङ्गों को जाननेवाला और व्यवहाररत्नत्रय को पालन

करनेवाला द्रव्यलिङ्गी साधु भी यदि उस व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प से लाभ मानता हो तो उसने आत्मा के लक्षण को नहीं जाना है। ग्यारह अङ्गों के ज्ञातृत्व में या व्यवहाररत्नत्रय के शुभविकल्प में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्मा की प्रसिद्धि कर सके। स्वसन्मुख हुआ ज्ञान ही आत्मा की प्रसिद्धि करता है। चौथे-पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान में भूमिकानुसार व्यवहार होता अवश्य है—विकल्प होता अवश्य है परन्तु जो ज्ञान, मात्र उस व्यवहार के सन्मुख रहकर, उसी की प्रसिद्धि करे और आत्मसन्मुख होकर आत्मा की प्रसिद्धि न करे, वह ज्ञान मिथ्या है। उस मिथ्याज्ञान का लक्ष्य आत्मा नहीं है किन्तु उसका लक्ष्य तो एकान्त व्यवहार है; इसलिए वह मिथ्याज्ञान, आत्मा का लक्षण नहीं है। आत्मा स्वसन्मुख से लक्षित होनेयोग्य है। उसकी जिसे खबर नहीं है, ऐसे जीव को यहाँ आत्मा का लक्षण बतलाया है। उस लक्षण को पहचानने से आत्मा की प्रसिद्धि हुए बिना नहीं रहती।

(वीर सम्वत २४७५ महावीर-निर्वाणकल्याणक)

भगवान महावीर परमात्मा आज मोक्ष प्राप्त हुए; कैसे आत्मा को जानकर और कैसे आत्मा में लीन होकर भगवान, मोक्ष को प्राप्त हुए, उसकी यह बात है। भगवान ने जैसा जाना और कहा, वैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचानना, वह भगवान का माग है और मुक्ति का पंथ है।

आत्मा को ज्ञानमात्र कहा गया है; वहाँ आत्मा रागादिस्वरूप नहीं है - ऐसा बतलाने के लिए उसे ज्ञानमात्र कहा है। 'ज्ञानमात्र' कहने से श्रद्धा-चारित्रादि धर्मों का निषेध नहीं समझना; वे तो सब 'ज्ञानमात्र' में साथ ही आ जाते हैं। ज्ञानमात्र कहने से पर का और विकार का तो निषेध होता है परन्तु आत्मा के अनन्त धर्मों का निषेध नहीं होता। जिसे आत्मा का भान नहीं है, ऐसे जीव को लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराने के लिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है; ज्ञान, आत्मा का लक्षण है और उसके द्वारा आत्मा पहचाना जाता है। यदि ज्ञान लक्षण से आत्मा को पहचाने तो आत्मा के साथ ज्ञान की एकता प्रगट हो और विकार दूर हो जाए।

जो ज्ञान, आत्मा को लक्ष्य बनाए, वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जो ज्ञान, स्वलक्ष्य को चूककर, मात्र पर को ही लक्ष्य बनाए, वह ज्ञान, पर का लक्षण हो जाता है,

अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाता है। जाननेवाला ज्ञान तो आत्मा का है; इसलिए आत्मा के साथ एकता करके जाने, उसी को सच्चा ज्ञान कहा जाता है और ऐसा ज्ञान लक्षण ही आत्मा की प्रसिद्धि करता है। परभव में कहाँ था, वह भले जानता हो; नरक स्वर्ग को भी जानता हो, परन्तु यदि आत्मा को न जाने तो उसे ज्ञान ने जानने योग्य आत्मा को नहीं जाना, अर्थात् आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया; इसलिए उस ज्ञान को आत्मा का लक्षण नहीं कहा जाता। अज्ञानी को आत्मा की तो खबर नहीं है और आत्मा के ज्ञान लक्षण की भी खबर नहीं है; वह तो ऐसा मानता है कि 'इन समस्त परवस्तुओं को जानता है, वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है;' इसलिए वह पर का लक्ष्य छोड़कर, स्वोन्मुख नहीं होता। वास्तव में, पर को ही जाने, ऐसा ज्ञान लक्षण नहीं है, ज्ञान लक्षण तो ऐसा है कि आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान लक्षण को जाने तो आत्मा को पहचाने बिना न रहे।

ज्ञान लक्षण किसका? – आत्मा का! वह लक्षण आत्मा को पररूप या विकाररूप तो नहीं बतलाता और मात्र ज्ञानगुण को भी नहीं बतलाता, परन्तु अनन्त गुण के पिण्डरूप आत्मद्रव्य को बतलाता है। ऐसे आत्मा को लक्ष्य में न लेकर जो ज्ञान, भेद-विकार या पर के लक्ष्य में रुके, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है। जो ज्ञान, आत्मोन्मुख होकर आत्मा को लक्ष्य बनाए—ध्येय बनाये—साध्य करे, वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है और उस ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक शक्ति विकसित हो गयी है; इसलिए वह पर को भी जानता है।

अज्ञानी जीव, द्रव्यलिङ्गी दिगम्बर जैन साधु हुआ और पञ्च महाव्रत का पालन करके नववें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु उसी को आत्मा के लक्षण की खबर नहीं पड़ी; ज्ञान द्वारा उसने आत्मा को प्रसिद्ध नहीं किया, परन्तु ज्ञान को राग के साथ एकमेक मानकर, उसने व्यवहार की ही प्रसिद्धि की। राग से पृथक् ज्ञान कैसा होता है, वह उसने नहीं जाना। यदि ज्ञान लक्षण को जाने तो आत्मा, ज्ञात हुए बिना न रहे।

जिसे लक्षण अप्रसिद्ध है, उसे लक्ष्य अप्रसिद्ध है। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो, उसे लक्ष्य प्रसिद्ध हुए बिना नहीं रहता। इसलिए यहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि कराने के लिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है। लक्षण द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि होती ही है – ऐसी बात यहाँ की है।

पूर्व अनन्त काल में जीवन में शास्त्राध्ययन किया और व्यवहारचारित्र का पालन किया परन्तु राग से मेरा ज्ञान पृथक् है – इस प्रकार ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि (प्र+सिद्धि = विशेषरूप से निर्णय; पहचान) नहीं की, इसलिए आत्मा को नहीं जाना और भव भ्रमण का अन्त नहीं आया। राग से ज्ञान को पृथक् जानकर यदि अन्तरोन्मुख करे तो उस ज्ञान लक्षण द्वारा भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, और भव-भ्रमण दूर हो जाता है।

प्रत्येक आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का पिण्ड चैतन्य परमेश्वर है, उसे बतलाने की यह बात चल रही है। वह किस प्रकार ज्ञात होता है ? ज्ञान लक्षण से ही ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त अन्य चाहे जो करे तो वह आत्मा को जानने का उपाय नहीं है। ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा का लक्षण करना अर्थात् ज्ञान द्वारा पूरा आत्मा का लक्ष्य में लेना, वही आत्मा को जानने की विधि है और वही धर्म है।

देखो, इसमें व्यवहार क्या आया ? कि 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है' – इतना लक्ष्य-लक्षण भेद का व्यवहार यहाँ लिया है। इसके अतिरिक्त शुभराग द्वारा आत्मा ज्ञात होता है – ऐसा व्यवहार नहीं लिया, क्योंकि यह अनादि से कर ही रहा है। ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, ऐसे भेदरूप जो व्यवहार यहाँ कहा है, वह व्यवहार अनादि से नहीं किया है किन्तु नवीन प्रगट होता है। यह तो निश्चयपूर्वक का व्यवहार है। मात्र मन्द कषाय तो अनादि काल से कर रहा है, उस मन्द कषाय का निषेध करके यदि उसे व्यवहार कहलानेवाला निश्चय स्वभाव जागृत नहीं हुआ तो उस मन्द कषाय को व्यवहार कौन कहेगा ? निश्चय के बिना व्यवहार किसका ? रागरहित निश्चयस्वभाव को जाना, तभी मन्द कषायरूप शुभराग में व्यवहार का आरोप आता है। व्यवहार को व्यवहाररूप जाननेवाला ज्ञान, स्वयं व्यवहार के साथ एकमेक होकर नहीं जानता, किन्तु स्वयं राग से (व्यवहार से) पृथक होकर व्यवहार को जानता है। जहाँ व्यवहार का निषेध करनेवाला निश्चय, जागृत नहीं हुआ, वहाँ व्यवहार को व्यवहाररूप से कौन कहेगा ? अखण्ड परिपूर्ण आत्मद्रव्य का लक्ष्य करने से श्रद्धा आदि अनन्त गुणों की प्रसिद्धि होती है। यदि ज्ञान द्वारा उस आत्मद्रव्य का लक्ष्य करे तो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को, नव तत्त्वों के ज्ञान को अथवा मन्द कषाय को उपचार से व्यवहार कहा जाता है।

यहाँ तो एकदम अन्तरोन्मुख करना है; इसलिए स्थूल व्यवहार की बात न लेकर अपने में ही लक्ष्य-लक्षण भेदरूप व्यवहार लिया है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि '**त्याग वैराग न चित्तमाँ, थाय न तेने ज्ञान।**' उसमें नास्ति से मन्द कषाय जितनी बात ली है।

और यहाँ कहते हैं कि '**लक्षण ने जाण्या बिना, थाय न लक्ष्यनु ज्ञान।**' यहाँ तो आत्मस्वभाव के अत्यन्त निकट लाकर बात की है। 'ज्ञान ही आत्मा है' - इतना भेद करके अभेद आत्मा का लक्ष्य कराते हैं कि देखो भाई! यह तुम्हारा ज्ञान जानता है न? यह ज्ञान ही आत्मा है। जो ज्ञान बाह्योन्मुख होता है, उसे अन्तरोन्मुख कर तो उस ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है। 'आत्मा ज्ञानमय है' - ऐसा कहने से ज्ञान, लक्षण है और आत्मा, लक्ष्य है - ऐसा जो भेद पड़ता है, उसे व्यवहार कहा है परन्तु उस भेद का भी निषेध करके अभेद आत्मा का लक्ष्य हो जाए - ऐसी शैली की यह बात है।

ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान कराने के लिए लक्ष्य-लक्षण के भेद करके समझाया कि ज्ञान लक्षण, आत्मा को प्रसिद्ध करता है। वहाँ शिष्य पुनः **प्रश्न** करता है कि 'प्रभो! ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न प्रसिद्ध होता है? ज्ञान से पृथक् ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जिसे यह ज्ञान लक्षण प्रसिद्ध करता है? जिसे आप ज्ञान लक्षण से समझाना चाहते हैं, वह वस्तु क्या ज्ञान से पृथक् है? ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है - ऐसा कहा, तो क्या ज्ञान की और आत्मा की प्रसिद्धि अलग-अलग है?' देखो, शिष्य को ज्ञान और आत्मा—लक्ष्य-लक्षण का भेद खटकता है; इसलिए यह प्रश्न उठा है। अन्तर में एकदम निकट आये हुए शिष्य का यह प्रश्न है। आत्मा को लक्ष्य में लेते हुए गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है, उसे भी छोड़कर अभेद आत्मा के अनुभव के लिए यह प्रश्न है।

आचार्यदेव उसे **उत्तर** देते हैं कि भाई! ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है क्योंकि ज्ञान और आत्मा को द्रव्यरूप से अभेदता है। तुझे पहचान कराने के लिए लक्ष्य-लक्षण के भेद से कहा था परन्तु वस्तुरूप से तो अभेदता है। जहाँ ज्ञान को आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख किया, वहाँ वह ज्ञान और आत्मा अभेद हो जाता है; इसलिए ज्ञान को और आत्मा को द्रव्य

से अभेदता है; नामभेद, प्रयोजनभेद, लक्ष्य-लक्षणभेद होने पर भी, स्वभाव से भेद नहीं है। आत्मा, रागादि से तो भिन्न प्रसिद्ध होता है किन्तु ज्ञान से भिन्न प्रसिद्ध नहीं होता। ज्ञान की प्रसिद्धि से आत्मा की प्रसिद्धि पृथक् नहीं है; जो ज्ञान की प्रसिद्धि है, वही आत्मा की प्रसिद्धि है। जिसे अभेद आत्मा की खबर नहीं है, उसे लक्ष्य-लक्षण के भेद करके समझाते हैं परन्तु वस्तुरूप से ज्ञान और आत्मा पृथक् नहीं हैं। जब ज्ञानपर्याय स्वोन्मुख होकर एकाग्र हुई, तब उसे लक्षण कहा गया और आत्मा उसका लक्ष्य हुआ; इस प्रकार लक्ष्य-लक्षण को प्रसिद्धि एक ही साथ है। ज्ञान, आत्मा में एकाग्र हुआ, वहाँ लक्ष्य-लक्षण भेद का विकल्प भी नहीं रहा और द्रव्य-पर्याय अभेद हो गए; इसलिए ज्ञान लक्षण से पृथक् कोई लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य-लक्षण अभेद हैं।

शिष्य पुनः **प्रश्न** करता है कि यदि ज्ञान और आत्मा अभेद है, पृथक् नहीं हैं, तब फिर उनमें भेद करके क्यों कहा? यदि दोनों पृथक न हों तो ज्ञान, लक्षण और आत्मा, लक्ष्य - ऐसे भेद क्यों किए?

उसका **उत्तर** - प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण, लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान स्वयं प्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्मा को प्रसिद्ध किया जाता है। लोग ज्ञानमात्र को तो स्वसंवेदन से जानते हैं। पेट में दर्द होता है; सिर में दर्द है - ऐसा किसने जाना? ज्ञान ने जाना। इस प्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है परन्तु अज्ञानी उस ज्ञान द्वारा मात्र पर की प्रसिद्धि करता है; इसलिए उस ज्ञान को स्वसन्मुख करके आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए, आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य-लक्षण भेद करके समझाया है।

पैर में झनझनी चढ़े और भीतर झमझमाट हो, उसे किसने जाना? - ज्ञान ने जाना; वह ज्ञान किसका? मेरा। तू कौन? - आत्मा; इसलिए जो ज्ञान करे, वह आत्मा है; राग-द्वेष, आत्मा नहीं है। ऐसा समझे तो ज्ञान का लक्ष्य आत्मा की ओर जाए और आत्मा का अनुभव हो। भाई! यह सब जानता है, वह ज्ञान तो आत्मा का है; इसलिए उस ज्ञान को आत्मोन्मुख कर! आत्मोन्मुख रहकर स्व-पर को जाने, ऐसी ज्ञान की शक्ति है।

लोग सामान्यरूप से ज्ञान को तो जानते हैं; इसलिए ज्ञान तो उन्हें प्रसिद्ध है परन्तु ज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसे आत्मा को वे नहीं जानते; इसलिए आत्मा अनादि से अप्रसिद्ध

है; इसलिए प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान द्वारा, अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध कराने के लिए लक्षण और लक्ष्य – ऐसे विभाग करके समझाया है।

लोग कहते हैं कि हमें पैसा, मकान, पुस्तकादि का ज्ञान होता है; इसलिए ज्ञान को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उस ज्ञान का लक्ष्य, पर को ही बनाते हैं, मानो परोन्मुख होकर जानने का ज्ञान का स्वरूप हो, ऐसा मानते हैं। उन्हें यहाँ समझाते हैं कि ज्ञान का लक्ष्य तो आत्मा है; इसलिए ज्ञान को आत्मोन्मुख करके उस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा को प्रसिद्ध कर!

इस टीका का नाम 'आत्मख्याति' है। आत्मख्याति, अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि; आत्मा का अनुभव। वह आत्मा प्रसिद्धि कैसे हो, उसकी यह बात चलती है। ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

प्रथम तो सत्समागम द्वारा ऐसे सत्य का श्रवण करना चाहिए। जहाँ सत्य का श्रवण भी नहीं है, वहाँ ग्रहण नहीं है; जहाँ ग्रहण नहीं है, वहाँ धारणा नहीं है; जहाँ धारणा नहीं है, वहाँ रुचि नहीं है और रुचि नहीं है, वहाँ परिणमन नहीं होता। जिसे आत्मा की रुचि हो, उसे प्रथम उसका श्रवण, ग्रहण, धारणा और रुचि, पश्चात अन्तर में उसका परिणमन कैसे होता है, उसकी यह बात है।

आत्मा का सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने से आत्मा प्रसिद्ध हुआ, ऐसा कहा जाता है। व्रत-तपादि का शुभराग आत्मा की प्रसिद्धि का साधन नहीं है परन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करना वह एक ही भगवान आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है।

ज्ञान लक्षण कैसे आत्मा को प्रसिद्ध करता है? ज्ञान के साथ अविनाभूत ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप मूर्ति आत्मा है, उसे ज्ञान प्रसिद्ध करता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' ऐसा कहने से अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्ष्य में नहीं आता, किन्तु ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा लक्ष्य में आता है। आत्मा, अनन्त धर्मों के समुदायरूप मूर्ति है – ऐसा कहकर यहाँ अनेकान्त सिद्ध किया। अनन्त धर्म कहने में ज्ञान की बड़ी विशालता है।

देखो, यहाँ आत्मा को अनन्त धर्मात्मक कहने से त्रिकाल शुद्धधर्म ही बतलाना है; तीनों काल ज्ञान के साथ विद्यमान है – ऐसे निर्मल धर्मों को ही यहाँ लेना है; विकार को यहाँ आत्मा का धर्म नहीं गिना है। कभी एक समय की पर्याय में विकार हो, उसे भी आत्मा

का अनित्यधर्म कहा जाता है परन्तु यहाँ तो आत्मा की शुद्ध शक्तियों का ही वर्णन है। ज्ञान लक्षण, आत्मा को विकार से पृथक् बतलाता है; इसलिए यहाँ आत्मा को अनन्त धर्मात्मक कहा, उसमें विकारी धर्म नहीं लेना चाहिए। यहाँ तो ज्ञान लक्षण से शुद्ध आत्मद्रव्य का लक्ष्य कराना है। ज्ञान में ध्येय किसे बनाना, उसकी यह बात है। आत्मा ज्ञानमात्र है, ऐसा कहने से ज्ञान के साथ विद्यमान रुचि, प्रतीति, स्थिरता, आनन्द, प्रभुत्व, स्वच्छत्व आदि अनन्त धर्मों के पिण्डरूप आत्मा को ध्येय बनाना चाहिए। ज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसे आत्मा को ध्येय बनाने से आत्मा की प्रसिद्धि होती है, अर्थात् सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं।

'ज्ञान, वह आत्मा' - ऐसा कहने से 'राग, वह आत्मा नहीं है' - ऐसा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ज्ञान लक्षण से राग लक्षित नहीं होता परन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य ही लक्षित होता है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जानने में राग की ओर या पर की ओर वृत्ति जाए, वह तेरा स्वलक्षण नहीं है; ज्ञान के साथ त्रिकाल अविनाभावी स्वभाववाला अनन्त गुण के पिण्डस्वरूप आत्मा है, उस ओर ज्ञान का लक्ष्य कर! रागादि तो वास्तव में ज्ञान से भिन्न है; इसलिए उन रागादिभावों को ज्ञान का लक्ष्य मत बना! आत्मोन्मुख ज्ञान ही तेरा स्वलक्षण है और ऐसे स्वलक्षण से ही आत्मा का अनुभव होता है।

यहाँ तो आचार्यदेव लक्षण और लक्ष्य को अभेद बतलाते हैं। जो लक्षण छूट जाए, वह वास्तव में वस्तु का शाश्वत लक्षण नहीं है। आत्मा, रागी-द्वेषी है—ऐसा कहना, वह वास्तव में आत्मा का लक्षण नहीं है; वे रागादि भाव तो आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। आत्मा त्रिकाल है, उसके साथ एकमेकरूप रहकर आत्मा को बतलाये, यही आत्मा का लक्षण है; इसलिए यहाँ ज्ञानमात्र लक्षण द्वारा आत्मा की पहचान करायी है। आत्मा में मात्र एक ज्ञानगुण ही नहीं है किन्तु अनन्त धर्म हैं; आत्मा के स्वभाव में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्द-स्वच्छत्व-प्रभुत्व आदि अनन्त धर्म हैं; काल अपेक्षा से तो अनन्त हैं और संख्या अपेक्षा से भी अनन्त शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं। एक ही साथ विद्यमान अनन्ती शक्तियाँ और उनके क्रमशः होनेवाले अनन्त निर्मल अंश - ऐसे अनन्त धर्मों की मूर्ति आत्मा है, उसे ज्ञान बतलाता है।

जिस प्रकार नक्शे में भिन्न-भिन्न प्रकार के रङ्गों द्वारा भिन्न-भिन्न राज्यों की सीमा

बतलाते हैं; उसी प्रकार यहाँ ज्ञान लक्षण से आत्मा को बतलाते हैं कि जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ वहाँ आत्मा है। ज्ञान के साथ अभेदरूप से जितने धर्म ज्ञात हों, वे सब आत्मा हैं; रागादिभाव उस आत्मा की सीमा से बाहर हैं क्योंकि उनमें ज्ञान व्याप्त नहीं होता। ज्ञान अनन्त धर्मात्मक आत्मा को प्रसिद्ध करता है; इसलिए उस ज्ञानमात्र में अचलितरूप से स्थापित दृष्टि द्वारा क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान ज्ञान के साथ अविनाभावी, ऐसा जो अनन्त धर्म समूह लक्षित होता है, वह सारा वास्तव में एक आत्मा है। ऐसा आत्मा बतलाने के लिए ही आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जाता है।

वीर सं० २४७५, कार्तिक शुक्ला १

आत्मा का लक्षण, ज्ञान है, उससे आत्मा ज्ञात होता है। अनेक पदार्थों में से जो किसी एक मुख्य पदार्थ को पृथक् करके बतलाये, उसे लक्षण कहते हैं। ज्ञान, आत्मा को समस्त परद्रव्यों और परभावों से पृथक् बतलाता है; इसलिए वह आत्मा का लक्षण है। राग के सन्मुख देखने से आत्मा पहचान में नहीं आता; इसलिए राग, आत्मा से भिन्न है। ज्ञान लक्षण और आत्मा परमार्थतः अभेद हैं; इसलिए ज्ञान लक्षण को जानने से आत्मा की पहचान भी हो जाती है। आत्मा में अनन्त धर्म होने पर भी ज्ञानमात्र कहकर उसकी पहचान करायी है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानने का है; इसलिए वह समस्त जीवों के प्रसिद्ध है; ज्ञान के अतिरिक्त जो श्रद्धा-सुख आदि अनन्त धर्म हैं, वे स्वयं अपने को या पर को नहीं जानते; इसलिए ज्ञान को ही लक्षण कहा है। उस ज्ञान लक्षण द्वारा अनन्त गुणों की मूर्ति आत्मा की ही प्रसिद्धि करने योग्य—जानने योग्य—ध्यान करने योग्य—लक्ष्य करने योग्य है; ज्ञान अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्मा को ही जानता है—प्रसिद्ध करता है—ध्याता है—लक्ष्य में लेता है।

अज्ञानी तो राग को और पर को जानने में रुके, उसी को ज्ञान मानते हैं; इसलिए वे राग के साथ ज्ञान को एकमेक करके, मानों ज्ञान लक्षण, राग का ही हो ऐसा मानते हैं; इसलिए उन्हें राग की ही प्रसिद्धि होती है किन्तु राग से भिन्न ज्ञान की या आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती - इसी का नाम अधर्म है। यदि ज्ञान को राग से भिन्न जाने, अर्थात् राग के साथ ज्ञान की एकता छोड़कर, स्वभाव के साथ एकता प्रगट करे तो रागरहित ज्ञान

लक्षण की और आत्मा की प्रसिद्धि हो – उसका नाम धर्म है।

जो ज्ञान, आत्मा को राग से भिन्न प्रसिद्ध करे, वही सच्चा ज्ञान है। जो ज्ञान, आत्मा को तो प्रसिद्ध न करे और मात्र राग को ही प्रसिद्ध करे, वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है क्योंकि वह तो राग में तन्मय हो गया है; इसलिए उसे ज्ञान ही नहीं कहते। ज्ञान, आत्मा का लक्षण है, लेकिन कब ? जबकि वह आत्मा को लक्ष्य बनाए, तब। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान द्वारा लक्ष्य में लेने योग्य आत्मा ही है।

जीव का लक्षण ज्ञान है और ज्ञान, स्वसंवेदन से सिद्ध है। ज्ञान स्वयं अपने को जानता है, ज्ञान को जानने के लिये ज्ञान से भिन्न किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती; इसलिए ज्ञान प्रसिद्ध है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी गुण में स्व को या पर को जानने का सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान, स्व-पर का ज्ञाता है। ज्ञान, राग को जानता है परन्तु उसे करता नहीं है। ज्ञान, स्व को जानता है और करता है – इस प्रकार अपने में ही दोनों बोल लागू होते हैं और ज्ञान, पर को जानता है किन्तु पर का कुछ करता नहीं है; इस प्रकार पर में एक ही बोल लागू होता है – ऐसे ज्ञान द्वारा पर की क्रिया की या राग की तो प्रसिद्धि नहीं होती और मात्र पर को जानने की भी प्रसिद्धि नहीं होती, किन्तु अनन्त धर्म के चैतन्य पिण्ड ऐसे आत्मा की ही प्रसिद्धि होती है – इस प्रकार जो आत्मा की प्रसिद्धि करे, उसी ने ज्ञान को ज्ञानरूप से जाना कहा जाता है।

अज्ञानी जीव अपने स्वलक्ष्य को भूलकर, ज्ञान द्वारा पर की प्रसिद्धि करने जाता है, उसे ज्ञान लक्षण की ही खबर नहीं है। लक्षण तो ऐसा होता है कि जो अपने लक्ष्य को बतलाये। यदि लक्ष्य को न बतलाये तो वह वास्तव में लक्षण नहीं है किन्तु लक्षणाभास है। ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जो आत्मा को ही लक्ष्य करे—बतलाये! यदि अपने आत्मा को न बतलाये तो वह ज्ञानाभास है। अपना ज्ञान, वह अपने आत्मा का ही लक्षण है; इसलिए अपने ज्ञान द्वारा अपने अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को ही लक्षित करना चाहिए, ज्ञान को स्वोन्मुख करके आत्मा का अनुभव करना चाहिए। यही लक्षण-लक्ष्य को जानने का तात्पर्य है।

ज्ञान, आत्मा को प्रसिद्ध करता है; वह आत्मा, अनन्त गुणों के समुदाय स्वरूप है।

ज्ञान के साथ ही अनन्त गुण विद्यमान हैं, उस प्रत्येक गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, तथापि द्रव्य से उन समस्त गुणों का एक ही भाव है; एक द्रव्य ही उन समस्त धर्मोंवाला है। आगे २७ वीं शक्ति में कहेंगे कि विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित एक भाव जिसका लक्षण है - ऐसी अनन्त धर्मत्व शक्ति है, अर्थात् गुण अपेक्षा से प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न होने पर भी, उन सबके अभेद पिण्डरूप द्रव्य एक ही है।

- ज्ञान का लक्षण स्व-पर प्रकाशकपना;
- सम्यक्त्व का लक्षण निर्विकल्प प्रतीति;
- चारित्र का लक्षण एकाग्रता;
- आनन्द का लक्षण आह्लाद;
- अस्तित्व का लक्षण अपनी सत्तारूप होना;
- प्रभुत्व का लक्षण प्रतापवन्त स्वतन्त्रता से शोभायमान होना;

- इस प्रकार अनन्त गुणों का लक्षण भिन्न है; इसलिए लक्षण भेद से समस्त गुणों को परस्पर भेद है, तथापि द्रव्य तो समस्त गुणों का एकरूप पिण्ड है; ज्ञानमात्र आत्मा में समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' - ऐसा कहते ही अनन्त धर्मों का एक समूह लक्षित होता है, वह आत्मा है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अनेक भेदों को ज्ञान जानता अवश्य है परन्तु उस ज्ञान द्वारा लक्षित तो अनन्त धर्मों से अभेद ऐसा आत्मा ही है। भेदों को जाननेवाला ज्ञान यदि मात्र भेद को ही लक्ष्य बनाए और अभेद आत्मा को लक्ष्य न बनाए तो वहाँ वास्तव में ज्ञान की ही प्रसिद्धि नहीं है किन्तु अकेले भेद की ही प्रसिद्धि है; ज्ञान की प्रसिद्धि के बिना, आत्मा की प्रसिद्धि भी नहीं होती। ज्ञान, भेद को भी जानता है, किन्तु अभेद आत्मा के लक्ष्यपूर्वक भेद को जानता है।

ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होने से वह पर को और रागादि को जानता अवश्य है परन्तु पर को, राग को जानने से ज्ञान लक्षण, पर का या राग का नहीं हो जाता; ज्ञान लक्षण तो आत्मा का ही रहता है; अर्थात्, पर को जाननेवाला ज्ञान भी आत्मा के साथ

एकता रखकर पर को जानता है; पर के राग के साथ एकता करके नहीं जानता। ज्ञान, राग को जाने, वहाँ वह ज्ञान, राग का लक्षण नहीं हो जाता और राग, ज्ञान में ज्ञात हो; इसलिए कहीं वह राग, ज्ञान का लक्षण नहीं हो जाता; दोनों भिन्न ही रहते हैं। इसी प्रकार अपने गुणों में भी सूक्ष्म बात लें तो ज्ञान है, वह श्रद्धादि के लक्षण को जानता अवश्य है परन्तु श्रद्धा के लक्षण द्वारा ज्ञान लक्षित नहीं होता और श्रद्धा को जाननेवाला ज्ञान, उस श्रद्धा का लक्षण नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञान द्वारा मात्र श्रद्धागुण ही लक्षित नहीं होता किन्तु ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों की मूर्ति आत्मा लक्षित होता है। ज्ञान दूसरे को जानता अवश्य है परन्तु दूसरे का लक्षण नहीं होता। अभेद आत्मा के लक्ष्यपूर्वक भेद को जाननेवाला ज्ञान भी अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि करता है। जहाँ ज्ञान ने अभेद आत्मा को लक्ष्य में लिया, वहाँ लक्षण और लक्ष्य, दोनों एक हो गये—अभेद हो गये और तभी वह ज्ञान, आत्मा का लक्षण हुआ। उस ज्ञान लक्षण अनन्त धर्मवाले आत्मा को प्रसिद्ध किया। इसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, यही प्रथम धर्म है।

देखो, आज नूतन वर्ष के प्रारम्भ में ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा की प्रसिद्धि की अपूर्व बात आयी है। अहो! सबको जाननेवाला ज्ञान है... परन्तु वह एक आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है। ज्ञान जानता सबको है परन्तु वह सभी का लक्षण नहीं है; सबको जाननेवाला ज्ञान, आत्मा का ही लक्षण है, अर्थात् आत्मा का लक्ष्य में रखकर सबको जाने, ऐसा ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञान लक्षण अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा को ही प्रसिद्ध करता है।

अहो! ज्ञान से प्रसिद्ध होनेवाला अनन्त धर्म का समूह यह आत्मा ही अपना स्वामी है, ऐसे चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण, अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को देखते ही हमारे अनादिकालीन दुःख और दुर्भाग्य दूर हो गये। भगवान आत्मा स्वयं अपनी अनन्त प्रभुता का पिण्ड विमलस्वरूप है, उसे देखते ही सिद्ध भगवान जैसे सुख का अनुभव हुआ; इसलिए अनादिकालीन दुःख तो दूर हो गये और बाह्य में दुर्भाग्यरूप प्रतिकूलता भी दूर हो गयी। धर्मी को जगत में ऐसी कोई प्रतिकूलता निमित्तरूप नहीं है कि जो उसे साधकभाव में विघ्न करे। जहाँ स्वसन्मुख होकर अन्तर के चैतन्य भगवान नित्य

चिदानन्दस्वामी को श्रद्धा-ज्ञान में धारण किया, वहाँ बाह्य प्रतिकूलताओं की चिन्ता ही कौन करता है ? देखो, यह नूतन वर्ष का माङ्गलिक होता है। मङ्गल, अर्थात् जो सुख दे और दु:खों को दूर करे। अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा की दृष्टि करने से अपूर्व सुख = सम्पत्ति की भेंट हुई और दु:ख दूर हुए, वही सच्चा मङ्गल है।

ज्ञान से लक्ष्य में आनेवाला आत्मा कैसा है, उसकी यह महिमा है। ज्ञान लक्षण से उसे लक्ष्य में लिए बिना, उसकी महिमा समझ में नहीं आती। जैसे - आठ अङ्कवाली कोई संख्या (८७६५४३२१) लिखी हो और उसमें एक नवमा अङ्क मिला दें (९८७५४३२१) तो उसने करोड़ों की संख्या बढ़ायी है। जिसे गणित की खबर नहीं है, उसे ऐसा लगता है कि यह एक नव का अङ्क रखा, लेकिन वास्तव में तो उस नव में करोड़ों का भाव समाया हुआ है। उसी प्रकार यहाँ 'ज्ञान आत्मा का लक्षण है' - ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है, उसमें अनेक सूक्ष्म न्याय हैं, अत्यन्त गम्भीरता है। अन्तर्मुख होकर ध्यान में ले तो उसकी गम्भीरता समझ में आ सकती है। साधारण लोगों को ऐसा लगता है कि जो शरीर, कपड़े लकड़ी आदि को जानता है, उस ज्ञान की बात है और वही आत्मा का लक्षण है परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो ज्ञान को अन्तरस्वभाव सन्मुख करके आत्मा को जाने, उसकी बात है और वह ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। अनन्त गुणों से परिपूर्ण अपना आत्मा ही ज्ञान का लक्ष्य है। ऐसे लक्ष्य-लक्षण को जो पहचान ले, उसे सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

गुणों में भेद डालना भी ज्ञान का लक्ष्य नहीं है; ज्ञान उन गुणों को जानता अवश्य है परन्तु उसका लक्ष्य तो एक आत्मा ही है। यहाँ भेद को सिद्ध करने के लिए ज्ञान और आत्मा का लक्षण-लक्ष्य भेद नहीं किया, परन्तु ज्ञान आत्मोन्मुख होकर अभेद आत्मा को ही जानता है - इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा अभेद आत्मा की प्रसिद्धि करने के लिए ही यह लक्षण-लक्ष्य भेद है। यद्यपि स्व-पर, द्रव्य-गुण-पर्याय, निश्चय-व्यवहार - इन सबको जाननेवाला तो ज्ञान ही है परन्तु ज्ञान में स्व-पर प्रकाशकपना कब होता है ? जब वह निश्चित करके आत्मा को लक्ष्य बनाए कि ज्ञान लक्षण, आत्मा का ही है, तभी उस ज्ञान में स्व-पर प्रकाशकपना विकसित होता है और वह ज्ञान ही स्व-पर को या निश्चय -व्यवहार आदि को भलीभाँति जान सकता है।

ज्ञान, लक्षण है और आत्मा, लक्ष्य है परन्तु वे लक्षण और लक्ष्य कब होते हैं ? ज्ञान लक्षण से आत्मा को लक्ष्य में लेते हुए ज्ञान अन्तर्मुख होता है; इसलिए अन्तर्मुख ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। जब लक्षण और लक्ष्य की सन्धि करे, अर्थात् ज्ञान को आत्मोन्मुख करके उस ज्ञान के द्वारा अखण्ड आत्मा को लक्ष्य में ले, तभी आत्मा, लक्ष्य और ज्ञान, लक्षण होता है।

जहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा को देखा कि तुरन्त ही केवलज्ञान होने की प्रतीति हो जाती है क्योंकि आत्मा में वैसी शक्ति भरी हुई है। उस शक्ति की प्रतीति में व्यक्ति की प्रतीति भी साथ में हो ही जाती है। आत्मा का लक्षण, ज्ञान है; वह ज्ञान, स्व-पर प्रकाशक है, और उसमें राग का अभाव है - ऐसा जिसने निश्चित किया, उसे आत्मोन्मुख होने से ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य पूर्ण प्रगट हो जाएगा और रागादि बिलकुल दूर हो जायेंगे। ज्ञान ही आत्मा है - ऐसा निश्चित किया, वहीं श्रद्धा में से निमित्त का—राग का—व्यवहार का अबलम्बन उड़ गया और ज्ञान द्वारा अखण्ड आत्मा ही आदरणीय है - ऐसा निश्चित हो गया। जो ज्ञान, आत्मा को न जाने वह ज्ञान, आत्मा का लक्षण नहीं होता। जो ज्ञान का लक्ष्य है, उसे प्रगट किये बिना लक्षण किसका ?

प्रश्न - पहले ज्ञान ज्ञात होता है या आत्मा ?

उत्तर - दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं। आत्मा को लक्ष्य में लिए बिना ज्ञान को लक्षण किसका कहना ? आत्मा को लक्ष्य में लेकर ज्ञान उसमें अभेद हुआ, तब आत्मा लक्ष्य हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ। इस प्रकार लक्षण और लक्ष्य की प्रसिद्धि एक साथ ही है।

प्रश्न - यदि दोनों एक ही साथ ज्ञात हैं तो फिर ज्ञान और आत्मा का भेद तो व्यर्थ ही गया ?

उत्तर - अभेद की ओर ढले, वहाँ भेद को उपचार से साधन कहा जाता है। अभेद के लक्ष्यरहित, मात्र भेद तो वास्तव में व्यर्थ ही हैं। अभेद में जाते हुए बीच में भेद आ जाते हैं परन्तु उस भेदरूप व्यवहार का निषेध करके अभेद में ढलता है; इसलिए उस भेद को व्यवहारसाधन कहा जाता है परन्तु निश्चयरहित अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। पहले

ज्ञान को जाना और पश्चात् आत्मा को जाना – ऐसा भेद वास्तव में नहीं है। यह लक्षण और लक्ष्य – ऐसे दो भेदों पर लक्ष्य रहे, तब तक विकल्प की प्रसिद्धि है किन्तु आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है; आत्मोन्मुख होकर जहाँ आत्मा की प्रसिद्धि हुई—आत्मा का अनुभव हुआ, उस समय तो लक्ष्य और लक्षण, ऐसे दो भेदों पर लक्ष्य नहीं होता; उसे तो लक्ष्य और लक्षण दोनों अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं। दूसरों को समझाने के लिए भेद से ऐसा कहा जाता है कि यह जीव, ज्ञान लक्षण से आत्मा को समझा, यह व्यवहार है; परन्तु वह व्यवहार, अभेद आत्मा का प्रतिपादन करने के लिए है।

ज्ञान किसका लक्षण ?... आत्मा का! ज्ञान वह लक्षण, ऐसा लक्ष्य में लेने से उसका लक्ष्य भी साथ ही लक्ष्य में आ जाता है। 'ज्ञान, वह आत्मा' – ऐसा कहने से लक्ष्य-लक्षण का भेद पड़ता है, तथापि आत्मा और ज्ञान दोनों को जाना, तभी ज्ञान को लक्षण और आत्मा को लक्ष्य कहा गया न ? लक्ष्य को पहचानने से पूर्व 'यह लक्षण इसका है' – ऐसा किस प्रकार निश्चित किया ? – इसलिए लक्षण और लक्ष्य (ज्ञान और आत्मा) यह दोनों एक साथ ही जाने जाते हैं।

अहो! यह तो आत्मतत्त्व की अन्तर की अपूर्व बात है। जिस आत्मतत्त्व को अनादि काल से कभी नहीं जाना, उस आत्मा का अनुभव कैसे हो, उसकी यह बात है। जिसे आत्मा के अनुभव की रुचि हो, उसे यह बात क्लिष्ट नहीं लगना चाहिए, किन्तु इसकी महिमा आना चाहिए कि अहा! यह मेरे आत्मा की कोई अपूर्व बात चलती है। समझने में कठिन लगे तो अन्तर में उसकी महिमा लाकर समझने के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु समझ में न आने से प्रमाद लाये तो उसे आत्मा की अरुचि और द्वेष है। वास्तव में यह क्लिष्ट नहीं है किन्तु अमृत जैसा है, परम आनन्दरूप है। जो अन्तर में लक्ष्य करके समझे, उसे उसकी खबर पड़ती है।

आत्मा को ज्ञानमात्र कहा, वहाँ उस ज्ञानमात्र में अचलितरूप से स्थापित दृष्टि द्वारा, जो क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनन्त धर्म समूह ज्ञात होता है, वह सब वास्तव में एक आत्मा ही है; इसलिए ज्ञान द्वारा अनन्त धर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। क्रमशः होनेवाली निर्मल पर्यायें और एक साथ प्रवर्तित अनन्त गुण – वे सब ज्ञानमात्र में समा जाते

हैं; इसलिए 'ज्ञानमात्र' भाव को दृष्टि में लेते हुए अनन्त गुण-पर्यायों से अभेद आत्मा ही दृष्टि में आ जाता है। इस प्रकार ज्ञान द्वारा आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। इसलिए ज्ञान को ढाल अपने द्रव्य में... तो उस स्वोन्मुख हुए ज्ञान लक्षण द्वारा, लक्ष्य ऐसे आत्मा की प्रसिद्धि हो! 'आत्मा, ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहा, वहाँ, ज्ञानमात्र को लक्ष्य में लेते हुए, अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्ष्य में नहीं आता, किन्तु ज्ञान के साथ प्रवर्तमान अनन्त धर्मों के समूहरूप चैतन्यस्वभाव का पिण्ड आत्मा ही लक्षित होता है।

जैसे 'मिश्री मीठी है' – ऐसा कहने से मिश्री में मैल, बर्तन आदि का अभाव सिद्ध होता है परन्तु मीठेपन के साथ विद्यमान मिश्री की सफेदी, वजन आदि का अभाव नहीं होता; उसी प्रकार 'आत्मा, ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहने से आत्मा में पर का और विकार का तो निषेध होता है परन्तु ज्ञान के साथ आत्मा के जो अनन्त गुण विद्यमान हैं, उनका कहीं निषेध नहीं हो जाता! 'आत्मा, ज्ञानमात्र है' – ऐसा कहते ही अस्तित्वधर्म भी साथ आ गया; ज्ञान के अतिरिक्त देहादि पररूप से आत्मा नहीं हैं – ऐसा नास्तित्वधर्म भी साथ आ गया; ज्ञान नित्य स्थायी है; इसलिए नित्यपना भी आया और प्रतिलक्षण बदलता है, इसलिए अनित्यपना भी आया; ज्ञान के साथ स्वच्छता, प्रभुता आदि धर्म भी आये – इस प्रकार ज्ञान कहते ही अनन्त धर्मों का पिण्ड लक्ष्य में आता है।

पर जीव बचे या न बचे, वह तो उसकी स्वतन्त्र क्रिया है, यह ज्ञान के अधीन नहीं है परन्तु पर की दया पालन करने का विकल्प उठे, वह भी आत्मा से बाहर है; आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने से उस विकल्प का निषेध हो जाता है परन्तु आत्मा के अनन्त धर्मों में से किसी भी धर्म का व्यवच्छेद नहीं होता।

ज्ञानमात्र भाव के साथ जो भी लक्षित होता है, वह सब आत्मा है और जो लक्षित नहीं होता, वह सब आत्मा से भिन्न है – ऐसा जानना... अर्थात्, ज्ञानमात्र भाव से भिन्न ऐसे समस्त परद्रव्य और परभावों का लक्ष्य छोड़कर, ज्ञानादि अनन्त धर्म के पिण्डरूप आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेना! यही आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहने का तात्पर्य है।

'ज्ञानमात्र' कहने से अकेला ज्ञान ही लक्ष्य में नहीं आता परन्तु अनन्त धर्मों के समूहरूप पूर्ण आत्मा ही लक्ष्य में आता है। इसी कारण आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया है। ज्ञानमात्र कहने से एक में अनेकपना आ जाता है; इसलिए 'ज्ञानमात्र' कहने से भी अनेकान्तमूर्ति आत्मा ही प्रसिद्ध होता है – ऐसा सिद्ध हुआ।

आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती

अनन्त शक्तियाँ

(पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

(वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ३)

आत्मा में ज्ञानादि अनन्त धर्म है; उन्हें परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बतलाने के लिए आचार्यदेव 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। वहाँ ज्ञानलक्षण द्वारा अनन्त धर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है; इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्तपना है – यह बात सिद्ध की।

अब, आचार्यदेव उस अनन्त धर्मवाले आत्मा की कुछ शक्तियों का वर्णन करना चाहते हैं; इसलिए उसकी भूमिकारूप से प्रथम शिष्य के मुख में प्रश्न रखते हैं और उसका उत्तर देते हुए 'ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं' – ऐसा सिद्ध करके फिर ४७ शक्तियों का अद्भुत वर्णन करेंगे।

★ ★ ★

प्रश्न – जिसमें क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं, ऐसे आत्मा को ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है ? शिष्य, अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना चाहता है; इसलिए ऐसा पूछता है कि प्रभो ! आत्मा में अनन्त धर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है ? शरीरादि पर का और दया—हिंसादिक विकारीभावों का तो आत्मा के स्वभाव में अभाव है; आत्मा में अपने अनन्त धर्म हैं – इतना लक्ष्य में लेकर शिष्य पूछता है कि पर्याय अपेक्षा से क्रमरूप प्रवर्तमान और गुण अपेक्षा से एक साथ—अक्रम प्रवर्तमान, ऐसे अनन्त धर्म आत्मा में विद्यमान हैं, तथापि उसे ज्ञानमात्रपना किस प्रकार है ? एक ज्ञानमात्र भाव में अनन्त धर्म कैसे समा जाते हैं ?

उत्तर – परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप परिणमित जो एक ज्ञप्तिमात्र भाव है, वह आत्मा ही है; इसलिए ज्ञानमात्र एक भाव में जिनका समावेश हो जाता है – ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में उछलती हैं। यहाँ आचार्यदेव अनन्त धर्मों के परिणमन का ज्ञान-मात्र भाव के परिणमन में समावेश करके, ज्ञान और आत्मा को अभेद बतलाते हैं।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे परस्पर भिन्न हैं। जिस प्रकार आत्मा कभी जड़रूप नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानगुण कभी दर्शनगुणरूप नहीं होता; कोई भी गुण किसी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता। जिस प्रकार एक द्रव्य में, दूसरे द्रव्य का अभाव है; उसी प्रकार एक द्रव्य तो पर से त्रिकाल स्वतन्त्र है और उसका प्रत्येक गुण भी, दूसरे गुण से स्वतन्त्र है। इस प्रकार अनन्त गुण परस्पर भिन्न हैं; गुणों की अपेक्षा अनन्तता और द्रव्यरूप से एकता - ऐसा अनेकान्त भी इसमें आ गया।

एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से भिन्न; द्रव्य के अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण परस्पर भिन्न; और उस प्रत्येक गुण की प्रति समय की पर्यायें भी भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं। अनन्त गुणों की पर्यायें एक साथ हैं परन्तु उनमें से किसी एक गुण की पर्याय की, दूसरे गुण की पर्याय के साथ एकता नहीं होती, और एक ही गुण की क्रमशः होनेवाली पर्यायों में भी एक समय की पर्याय, पूर्व समय की पर्यायरूप नहीं होती और न पीछे की पर्यायरूप भी होती है। इस प्रकार प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र है। गुण परस्पर भिन्न हैं और पर्यायें भी परस्पर भिन्न हैं। एक गुण के कारण, दूसरे गुण की अवस्था नहीं होती। वीर्यगुण की पुरुषार्थ पर्याय के कारण, ज्ञान की अवस्था नहीं होती और न ज्ञान के कारण, पुरुषार्थ की अवस्था होती है। पुरुषार्थ की अवस्था वीर्यगुण से होती है और ज्ञान की अवस्था ज्ञानगुण से होती है। प्रत्येक गुण की अवस्था में अपना स्वतन्त्र सामर्थ्य है; इसलिए प्रत्येक पर्याय स्वयं अपने सामर्थ्य से ही अपनी रचना करती है। अहो! पर्याय का कारण पर तो नहीं है और द्रव्य-गुण भी नहीं हैं; पर्याय स्वयं ही अपना कारण है। एक ही समय में स्वयं ही कारण और कार्य है; इसलिए वास्तव में तो कारण-कार्य के भेद करना, वह व्यवहार है। प्रत्येक द्रव्य अपनेरूप से सत्, प्रत्येक गुण अपनेरूप से सत् ओर एक-एक समय की प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वरूप से सत् है। बस है! उसी प्रकार जान लेना है, उसमें कारण-कार्य के भेद का विकल्प ही कहाँ है?

देखो! सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय अनादि काल में नहीं थी और वह अपूर्व दशा प्रगट हुई, वहाँ उसका कारण किसे कहोगे? यदि त्रिकाली द्रव्य-गुण को उसका कारण कहें तो, वे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व भी थे! पूर्व पर्याय को कारण कहें तो, पूर्व पर्याय

में तो अनादि का मिथ्यात्व था - उसे कारण कैसे कहा जा सकता है ? त्रिकाली द्रव्य -गुण की उन्मुखता, कारण और जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह कार्य - ऐसा कहें तो, वहाँ द्रव्य-गुण की ओर उन्मुखता करनेवाली पर्याय और निर्मल हुई, वह पर्याय - ये दोनों कहीं भिन्न-भिन्न पर्यायें नहीं हैं; एक ही पर्याय है, इसलिए कारण-कार्य अभेद हो जाते हैं, अर्थात् कारण-कार्य के भेद उड़ जाते हैं, और प्रत्येक पर्याय की निरपेक्षता सिद्ध हो जाती है। ज्ञान की पर्याय स्वतन्त्र और पुरुषार्थ की पर्याय स्वतन्त्र; मोक्षमार्गरूप पर्याय स्वतन्त्र और मोक्षपर्याय भी स्वतन्त्र। अहो! देखो, इसमें मात्र निरपेक्ष वीतरागभाव ही आता है। 'ऐसा क्यों' अथवा 'इसका कारण क्या ?'-ऐसे विकल्प का अवकाश नहीं रहता; मात्र ज्ञातापना ही रहता है।

आत्मा, ज्ञानमात्र ही है। ज्ञान क्या करता है ? मात्र जानता है। जानने के कार्य में तो शान्ति ही होती है। जानने में आकुलता क्यों होगी ? नहीं होगी। यदि पर में हाँ या ना करे तो राग-द्वेष हो और ज्ञान की स्थिरतारूप शान्ति न रह सके। मैं तो ज्ञान हूँ; इसलिए जानने के अतिरिक्त मुझे पर को अपना नहीं मानना है और 'ऐसा क्यों' - ऐसा राग-द्वेष विकल्प भी नहीं करना है। ऐसा निर्णय करके ज्ञानमात्र भावरूप परिणमित होने में भी आत्मा की अनन्त शक्तियाँ उसमें साथ ही हैं। ज्ञान के साथ सुख है, स्वच्छता है, प्रभुता है, जीवन है - ऐसी अनन्त शक्तियाँ ज्ञानमात्र भाव में साथ ही रहती हैं।

आत्मा में अनन्त गुण हैं, उसमें प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न है परन्तु आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में वे सब आ जाते हैं। अनन्त गुणों से अभेद आत्मा को दृष्टि में लिया, वहाँ अनन्ती शक्तियाँ एकसाथ निर्मलस्वरूप में परिणमित होने लगती हैं। जहाँ ज्ञान, अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भाव के साथ अनन्त शक्तियाँ भी निर्मलस्वरूप में उछलती हैं।

देखो, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि आलू के एक राई जितने टुकड़े में असंख्यात औदारिकशरीर हैं; उस प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं; वे सब जीव, भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र हैं; उनमें से प्रत्येक जीव में अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं; वे शक्तियाँ भी एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं और प्रत्येक शक्ति को क्रमशः होनेवाली अनन्त पर्यायें हैं; वह प्रत्येक पर्याय भी

भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र है, और प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अंश हैं; वह एक अंश, दूसरे अंशरूप नहीं है। वस्तुस्वभाव की ऐसी स्वतन्त्रता जैनदर्शन बतलाता है। सब अनेकान्तस्वरूप है। द्रव्य में अनेकान्त, गुण में अनेकान्त, पर्याय में अनेकान्त और उसके प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद अंश में भी 'स्वरूप से है और पररूप से नहीं है' - ऐसा अनेकान्त है। प्रत्येक जीव, अनन्त धर्म की मूर्ति है। अनन्त गुण-पर्यायें होने पर भी वस्तुरूप से वह सब एक ही द्रव्य है।

अहो! प्रत्येक आत्मा एक ही समय में अनन्त गुणों के भिन्न-भिन्न परिणमन से भरा है, तथापि उन अनन्त गुणों के परिणमन में कालभेद नहीं है। आत्मा के परिणमन में समस्त गुणों का परिणमन साथ ही है। 'परस्पर भिन्न' कहकर अनेकपना सिद्ध किया और 'अनन्त धर्मों के समुदायरूप परिणमित एक ज्ञप्तिमात्र भाव, वह आत्मा है' - ऐसा कहकर ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त धर्मों को अभेद कर दिया। [यहाँ 'गुण' और 'धर्म', दोनों शब्द एकार्थवाची हैं।]

द्रव्य स्वयं अनन्त गुणों से एक साथ परिणमित हो रहा है। अनन्त गुणों में गुणभेद से भेद होने पर भी, द्रव्य से वे अभेद हैं; गुणों को परस्पर लक्षणभेद है परन्तु प्रदेशभेद नहीं है, परिणमन का कालभेद नहीं है; एक ही समय में ज्ञानमात्र भाव के भीतर समस्त गुण एक साथ परिणमित होते हैं। यहाँ ज्ञानमात्र भाव कहने से मात्र ज्ञानगुण की पर्याय नहीं समझना चाहिए परन्तु अनन्त गुण के पिण्डरूप आत्मा की पर्याय समझना चाहिए, क्योंकि आत्मा को ही 'ज्ञानमात्र' कहा है। आत्मा की एक ज्ञानक्रिया में अनन्त धर्मों का समावेश हो जाता है; इसलिए आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है। अनन्त धर्म होने पर भी आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है - यह बात यहाँ आचार्यदेव सिद्ध करते हैं। अनन्त धर्मों को सिद्ध करके उन्हें एक ज्ञानमात्रभाव में समा दिया और आत्मा का ज्ञानमात्रपना बनाए रखा। - इतनी स्पष्टता रखकर, अब उस ज्ञानमात्रभाव में आ जानेवाली शक्तियों का वर्णन करेंगे।

आत्मा में पर्यायें क्रमशः होती हैं और गुण, एक साथ हैं। 'पर्यायें क्रमशः होती हैं' उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रथम एक गुण की पर्याय होती है और फिर दूसरे गुण की पर्याय होती है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो, अनन्त गुण होने से, एक गुण की

पर्याय होने का समय अनन्त काल में आएगा। समस्त गुणों का परिणमन तो एक साथ होता है; उसमें कहीं क्रम नहीं है परन्तु उनकी पर्यायें एक के बाद एक-क्रमानुसार होती हैं, एक साथ दो अवस्थाएँ नहीं होती। अनन्त गुणों की अवस्था एक साथ है परन्तु एक गुण की दो पर्यायें एक साथ नहीं होती। जैसे कि श्रद्धागुण की पर्याय में मिथ्यात्व के समय, सम्यक्त्व नहीं होता; सम्यक्त्व के समय, मिथ्यात्व नहीं होता; मतिज्ञान के समय, केवलज्ञान नहीं होता; सिद्धदशा के समय, संसारदशा नहीं होती - इस प्रकार अवस्था में क्रम है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, प्रभुत्व आदि समस्त गुण अक्रम हैं। - ऐसे क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनन्त धर्म, आत्मा में हैं।

प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मा के धर्मों का वर्णन किया है, और यहाँ आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उसमें अन्तर इतना है कि प्रवचनसार में तो ज्ञानप्रधान वर्णन होने से वहाँ विकार को भी आत्मा का धर्म माना है क्योंकि वह भी आत्मा की पर्याय है, उस विकारी पर्याय को आत्मा एक समयपर्यन्त धारण कर रखता है, और यहाँ शक्तियों के वर्णन में अभेददृष्टिप्रधान कथन होने से, समस्त शुद्ध शक्तियों को ही लिया है; विकार को आत्मा का धर्म नहीं माना है।

जैनधर्म के नाम से 'अनेकान्त...अनेकान्त' तो अनेक लोग करते हैं परन्तु अनेकान्त में कितना गूढ़ रहस्य है, वह इस परिशिष्ट में आचार्यदेव ने स्पष्ट किया है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें एक गुण में दूसरे गुण की नास्ति है। गुणों के क्षेत्रभेद नहीं है परन्तु लक्षणभेद है - इस प्रकार अनेकान्त है। ज्ञान के अतिरिक्त श्रद्धादि अनन्त शक्तियाँ हैं, वे ज्ञान से गुणभेद से भिन्न हैं परन्तु ज्ञानमात्र आत्मा में तो समस्त शक्तियाँ अभेदरूप से आ जाती हैं। ज्ञान, ज्ञानरूप है और श्रद्धारूप से नहीं है; श्रद्धा, श्रद्धारूप है और ज्ञानरूप से नहीं है; इस प्रकार प्रत्येक गुण स्वरूप से हैं और पररूप से नहीं है। ऐसा गुणभेद होने पर भी आत्मा, वस्तुरूप से एकरूप है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त अस्ति-नास्ति घटित होते हैं। वस्तु के अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण, दूसरे अनन्त गुणोंरूप नहीं है; एक की अस्ति में, दूसरे अनन्त की नास्ति है। इसी प्रकार प्रत्येक पर्याय में भी अपनेरूप से अस्ति और दूसरी अनन्त पर्यायोंरूप से नास्ति - ऐसा अनेकान्त है। एक पर्याय के अनन्त अविभाग अंशों में से प्रत्येक अविभाग अंश में भी इसी प्रकर अस्ति-नास्तिरूप अनेकान्त है।

आत्मा एक समय में अनन्त गुणों से परिपूर्ण है; वस्तु में समस्त गुण एक साथ विद्यमान हैं तथापि कोई गुण, कभी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता। यदि एक गुण, दूसरे गुणरूप हो जाये तो दूसरा तीसरेरूप हो जायेगा – ऐसा करते-करते अनन्त गुण सब एक ही गुणरूप हो जायेंगे; इसलिए एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो जाएगा और गुण का अभाव हो जाएगा। गुण के बिना, द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा। इसी प्रकार प्रत्येक पर्याय और पर्याय का छोटे से छोटा अंश भी यदि पररूप हो जाए तो अन्त में द्रव्य का ही अभाव हो जाएगा। कोई पदार्थ 'है' – ऐसा कहते ही, वह 'पररूप' नहीं है – ऐसा यदि न मानें तो उस वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

अनेकान्त तो विश्व का प्रकाशक है; वह ऐसा प्रगट करता है कि विश्व में प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। पदार्थ की शक्ति का यदि छोटे से छोटा अंश लें तो वह अंश भी अपनेरूप से है और अपने अतिरिक्त दूसरे अनन्त अंशोंरूप वह नहीं है – ऐसा उसका अनेकान्तस्वरूप है। सब अनेकान्त है, अर्थात् जो है, वह स्वरूप से है और पररूप से नहीं है – इस सिद्धान्त पर तो सारी सृष्टि का चक्र चल रहा है।

जिसमें परस्पर भिन्न अनन्त धर्म हैं, ऐसे अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर जहाँ ज्ञान परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भाव के साथ अनन्त गुणों का परिणमन साथ ही है। ऐसी ज्ञप्तिक्रिया, वह आत्मा की निर्विकारी धर्मक्रिया है। आत्मा, ज्ञप्तिमात्र भावरूप है और उस ज्ञाप्तिमात्र भाव में अनन्त शक्तियों का परिणमन आ जाता है; इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। जहाँ पर्याय अन्तर में अभेद होकर परिणमित हुई, वहाँ उस ज्ञप्तिक्रियारूप से आत्मा ही परिणमित हुआ है; इसलिए वह आत्मा ही है और उस ज्ञप्तिक्रिया में अनन्त धर्मों का परिणमन साथ होने से, अनन्त धर्मवाले आत्मा को ज्ञानमात्रपना ही है। ज्ञानमात्र भाव में ही अनन्त शक्तियाँ उछल रही हैं – परिणमित हो रही हैं। अनन्त सहभावी शक्तियों के बिना, अकेला ज्ञान रह ही नहीं सकता।

अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण भगवान आत्मा किस प्रकार ज्ञात होता है? वह बात आगे कही जा चुकी है कि ज्ञानलक्षण को अन्तरोन्मुख करने से आत्मा लक्ष्य में आता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता। शरीर की क्रिया से

अथवा भक्ति-पूजा-उपवासादि शुभक्रियाकाण्ड से ऐसा आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता परन्तु ज्ञान को अन्तर्मुख करनेरूप जो ज्ञप्तिक्रिया है, वही आत्मा को जानने की क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य लाखों उपाय करें, लाखों-करोड़ों रुपयों का दान करे, अनेक तीर्थयात्राएँ करे, त्यागी होकर व्रतादि कर-करके सूख जाए - तथापि उन बाह्य उपायों से यह चैतन्य भगवान आत्मा दर्शन नहीं देगा। अन्तर में दृष्टि डालते ही कृतकृत्य कर दे - ऐसा चैतन्य भगवान है! कितने वर्षों तक परसन्मुख देखता रहे तो स्वसन्मुख देखना हो? परसन्मुख देखने से कभी भी स्व-सन्मुख देखना नहीं होता। ज्ञानलक्षण को अन्तर के लक्ष्य की ओर उन्मुख करके जहाँ चैतन्यमूर्ति आत्मा को लक्ष्य में लिया, वहाँ ज्ञप्तिक्रिया हुई; उस ज्ञप्तिक्रिया में अनन्त गुणों को निर्मल परिणति साथ ही उछलने लगी। राग के या निमित्त के लक्ष्य से शक्तियाँ निर्मलस्वरूप से नहीं उछलती-परिणमित नहीं होती। यहाँ आचार्यदेव मात्र शक्तियाँ ही नहीं बतलाते परन्तु शक्तियों का निर्मल परिणमन भी साथ में ले लेते हैं। 'शक्तियाँ उछलती हैं' - ऐसा कहकर शक्तियों को परिणमित बतलाया है।

द्रव्य का परिणमन होने से समस्त गुण परिणमित होते हैं; मूलद्रव्य का परिणमन होता है, वहाँ उसके समस्त गुण भी परिणमित हो जाते हैं; द्रव्य से गुण कहीं पृथक् नहीं हैं। अनन्त गुणों से अभेद आत्मद्रव्य को लक्ष्य में लेकर, जहाँ साधक जीव परिणमित हुआ, वहाँ उसके परिणमन में अनन्त शक्तियाँ, आत्मा में अभेद होकर परिणमित हुईं, उसी को यहाँ 'ज्ञानमात्र भाव' कहा है।

आत्मा के अनन्त गुणों में लक्षणभेद है परन्तु क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है। ज्ञानगुण मस्तिष्क में रहता है और आनन्दगुण हृदय में रहता है, इस प्रकार का कोई भेद नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ही एक साथ अनन्त गुण विद्यमान हैं, गुणों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न नहीं है। यहाँ तो ऐसा ही कहा है कि आत्मा के परिणमन में अनन्त शक्तियाँ एक साथ ही उछलती हैं, समस्त शक्तियाँ एक साथ निर्मल स्वरूप से परिणमित होती हैं। गुणों के निर्मल परिणमन में न्यूनाधिकता है, वह बात यहाँ नहीं ली है। श्रद्धागुण में क्षायिकसम्यक्त्व का परिणमन हो जाये, तथापि चारित्रगुण की निर्मलता परिपूर्ण विकसित न हो - ऐसे गुणभेद को यहाँ मुख्य नहीं किया। अभेद द्रव्य के परिणमित होने से समस्त गुण,

निर्मलस्वरूप से परिणमित होते हैं – ऐसा यहाँ अभेद की मुख्यता से कहा है। अभेद द्रव्य की दृष्टि से साधक जीव परिणमित होता है, वहाँ सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान के साथ चारित्रादि समस्त गुणों का अंश भी साथ ही परिणमित होता है। यहाँ परिणमन कहने से समस्त निर्मल परिणामों को ही लेना है; विकार को तो आत्मा से पृथक् किया है; इसलिए विकारी परिणामों को आत्मा के परिणमन में नहीं लेना है। यहाँ तो द्रव्य-गुण और निर्मल परिणति को अभेद करके उतना ही आत्मा को माना है; भेद को या विकार को आत्मा नहीं माना है, उन्हें तो ज्ञानलक्षण के बल द्वारा आत्मा से पृथक् कर दिया है।

सम्यग्दर्शन होने से समस्त गुण, एक साथ पूर्ण विकसित नहीं हो जाते; इसलिए गुणभेद है परन्तु वस्तुरूप से समस्त गुण अभेद हैं; इसलिए समस्त गुणों का अंश तो एक ही साथ विकसित हो जाता है। एक गुण बिलकुल शुद्ध हो जाये और दूसरे गुण में सर्वथा मलिनता रहे; अंशत: भी निर्मलता न हो, तब तो गुण सर्वथा भेदरूप हो जायेंगे। ऐसा नहीं होता। यहाँ तो कहा है कि ज्ञाप्तिमात्र भाव में समस्त गुणों का परिणमन एक साथ ही है; निर्मलता में हीनाधिकता के भेद पड़ते हैं – वह बात गौण है।

– इस प्रकार, अनन्त शक्तिवाले आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहकर बतलाया और उस ज्ञानमात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित हो रही है – ऐसा बतलाया। अब, आचार्यदेव उनमें से 'कुछ' शक्तियों का वर्णन करते हैं। 'कुछ' क्यों कहा ? क्योंकि, छद्मस्थ जीव, सामान्यरूप से तो जान सकता है कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु उन शक्तियों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता और वाणी द्वारा भी अनन्त शक्तियों का वर्णन नहीं हो सकता; वाणी में तो असुक ही आती हैं; इसलिए यहाँ मुख्य प्रयोजनभूत ऐसी ४७ शक्तियों का वर्णन किया है।

उन ४७ शक्तियों का विवेचन करने से पूर्व उनके नाम दिए जा रहे हैं:—

(१) जीवत्वशक्ति; (२) चितिशक्ति; (३) दृशिशक्ति; (४) ज्ञानशक्ति; (५) सुखशक्ति; (६) वीर्यशक्ति; (७) प्रभुत्वशक्ति; (८) विभुत्वशक्ति; (९) सर्वदर्शित्व-शक्ति; (१०) सर्वज्ञशक्ति; (११) स्वच्छत्वशक्ति; (१२) प्रकाशशक्ति; (१३) असंकुचित-विकासत्वशक्ति; (१४) अकार्यकारणत्वशक्ति; (१५) परिणम्यपरिणामकशक्ति;

(१६) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति; (१७) अगुरुलघुत्वशक्ति; (१८) उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति; (१९) परिणामशक्ति; (२०) अमूर्तत्वशक्ति; (२१) अकर्तृत्वशक्ति; (२२) अभोक्तृत्व -शक्ति; (२३) निष्क्रियत्वशक्ति; (२४) नियतप्रदेशत्वशक्ति; (२५) स्वधर्मव्यापकत्व -शक्ति; (२६) साधारण-असाधारण-साधारणसाधारणधर्मशक्ति; (२७) अनन्तधर्मत्व -शक्ति; (२८) विरुद्धधर्मत्वशक्ति; (२९) तत्त्वशक्ति; (३०) अतत्त्वशक्ति; (३१) एकत्व -शक्ति; (३२) अनेकत्वशक्ति; (३३) भावशक्ति; (३४) अभावशक्ति; (३५) भावाभाव -शक्ति; (३६) अभावभावशक्ति; ३७- भावभावशक्ति; ३८- अभावाभावशक्ति; (३९) भावशक्ति; (४०) क्रियाशक्ति; (४१) कर्मशक्ति; (४२) कर्तृत्वशक्ति; (४३) करणशक्ति; (४४) सम्प्रदानशक्ति; (४५) अपादानशक्ति; (४६) अधिकरणशक्ति; (४७) सम्बन्धशक्ति।

अब, क्रमशः इन शक्तियों के विवेचन दिये जायेंगे।

(१)

जीवत्वशक्ति

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण, अर्थात् स्वरूप है – ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है, ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में—आत्मा में उछलती है) ॥१॥

हे जीव! अपनी जीवत्वशक्ति से ही तू जी रहा है। चैतन्यभाव ही आत्मा के जीवन का कारण है। ज्ञातास्वभाव सन्मुख होनेवाली ज्ञानपर्याय द्वारा आत्मा का जीवन है – जो जीव ऐसी जीवनशक्ति को जानता है, उसका जीवन अपूर्व हो जाता है... इन जीवन शक्तिरूपी संजीवनी का सेवन करे तो कभी मरण नहीं होगा। सन्तों ने इस जीवन शक्तिरूपी संजीवनी देकर आत्मा का अमर जीवन दिखाया है... भव्य जीवों! इसका सेवन करो!

[वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ४]

आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण जिसका लक्षण, अर्थात् स्वरूप है, ऐसी जीवत्वशक्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती है।

सर्व प्रथम आत्मा का जीवन बतलाने के लिए यह जीवत्वशक्ति ली है। यह प्रधानभूत शक्ति है। आत्मा सदैव अपनी जीवत्वशक्ति से ही जी रहा है; इसलिए यह जीवत्वशक्ति आत्मद्रव्य को कारणभूत है। शरीर, आयु, रोटी आदि परवस्तुएँ आत्मा के जीवन का कारण नहीं है; यह जीवत्वशक्ति ही आत्मा के जीवन का कारण है, उसी से आत्मा अनादि-अनन्त जी रहा है।

आत्मा स्वयं त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है – ऐसा बतलाने के लिए यहाँ चैतन्यमात्र

भाव को आत्मद्रव्य का कारण कहा है। वास्तव में कारण-कार्य पृथक नहीं है परन्तु चैतन्यभाव द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है; इसलिए उसे आत्मा का कारण कहा है। आत्मा, रागादि भावों से नहीं टिका है परन्तु चैतन्यभाव से ही वह त्रिकालस्थायी रहनेवाला है। पर से और विकार से टिकना अज्ञानी जीव भले ही माने, परन्तु उसका आत्मा भी चैतन्यमात्र भाव से ही टिकता है। पहले क्षण का राग, दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, तथापि आत्मा तो चैतन्य-प्राण से जैसे का तैसा बना रहता है। देह का संयोग भी अनन्त बार आया और छूटा, परन्तु आत्मा तो अनादि से अपनी जीवत्वशक्ति से जी रहा है। यहाँ शरीर की बात नहीं है; शरीर तो आयुकर्म के निमित्त से टिकता है परन्तु आत्मा कहीं आयुकर्म से नहीं रहता। आत्मा के आयुष्य की मर्यादा नहीं है, वह तो अनादि-अनन्त अपने चैतन्यप्राणों से जीवित रहता है।

अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि मानों शरीर ही अपना जीवन है और शरीर छूट जाने से मृत्यु हो जाती है परन्तु आत्मा तो सदैव अपनी जीवत्वशक्ति से जीवित ही है। यदि ऐसी जीवत्वशक्ति को जाने तो मृत्यु का भय दूर हो जाये। अनन्त सिद्ध भगवन्त, शरीर के बिना ही अपने चैतन्यप्राण से परम सुखमय जीवन जी रहे हैं।

आत्मा का जीवन कैसा होता है, वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। हे जीव! यदि तुझे सच्चा जीवन जीना हो तो यह जीवत्वशक्ति जिसमें उछल रही है, ऐसे अपने ज्ञानमात्र आत्मा को देख! तेरा आत्मा रोटी, शरीर, पैसा या प्रतिष्ठा से नहीं टिकता, परन्तु अनादि-अनन्त जीवत्वशक्ति से ही वह टिका है। ऐसी जीवत्वशक्ति प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल है परन्तु यहाँ तो अपने ज्ञानमात्र भाव के साथ यह शक्ति परिणमित होती है - ऐसा साधक को बतलाना है।

चैतन्यमात्र भाव को धारण कर रखना, वह जीवत्वशक्ति का लक्षण है और वह चैतन्यमात्र भाव, आत्मद्रव्य का कारण है। यदि चैतन्यमात्र भाव न हो तो जीव ही न हो; चैतन्यभाव के बिना आत्मद्रव्य हो ही नहीं सकता; इसलिए चैतन्यभाव, आत्मद्रव्य का कारण है। ऐसे चैतन्यभावप्राण को धारण कर रखना, वह जीवत्वशक्ति का लक्षण है, उस शक्ति से जीव सदैव जी रहा है।

जीव की अनन्त शक्तियों में एक ऐसी जीवत्वशक्ति है। उस जीवत्वशक्ति का क्या

कार्य है ? – कि चैतन्यभाव को धारण करके जीव को बनाए रखना, वह जीवत्वशक्ति का कार्य है। यहाँ तो जीव को टिकने का कारण अपने चैतन्यभाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति ही है – ऐसा कहा है। किसी निमित्त से—संयोग से अथवा विकार से जीव नहीं टिकता। दस प्रकार के व्यवहार प्राणों से जीव जीता है – यह बात भी यहाँ नहीं ली है। जीव तो सदैव अपने चैतन्यभावप्राणों से ही जीता है, ऐसी उसकी जीवत्वशक्ति है। ऐसे चैतन्यमात्र भावरूप आत्मा को जो लक्ष्य में ले, उसके अनन्त गुण निर्मलस्वरूप परिणमित हुए बिना नहीं रहेंगे। प्रथम आचार्यदेव ने अनन्त गुणों से अभेद ज्ञानमात्र आत्मा का लक्ष्य कराया है, उस अभेद आत्मा के लक्ष्यपूर्वक इन शक्तियों का ज्ञान कराते हैं।

आत्मा कहाँ देखे तो उसे धर्म हो – उसकी यह बात चलती है। पर में तो अपना एक भी धर्म नहीं है; इसलिए परसन्मुख देखने से तो धर्म नहीं होता, विकार-सन्मुख देखने से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वस्तु के अनन्त गुणों में से एक गुण भी पृथक होकर परिणमित नहीं होता; इसलिए एक गुण के लक्ष्य से धर्म नहीं होता, परन्तु भेद का विकल्प राग होता है। एक समय में अनन्त गुणों से अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखने से ही धर्म होता है। अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेने से उसकी अनन्त शक्तियाँ स्वाश्रय से निर्मल स्वरूप से परिणमित होती हैं। उन शक्तियों का यह वर्णन चल रहा है।

चैतन्यभावप्राण को धारण कर रखे, ऐसी आत्मा की जीवत्वशक्ति है, वह सदैव है, उसी से आत्मा नित्य जीवित है। शरीर तो आत्मा में एक क्षण भी नहीं रहता, उसका तो आत्मा में अभाव है, और द्रव्यप्राणों का भी आत्मा में अभाव है, वे एक समयमात्र भी आत्मा में नहीं हैं; इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं है और न उससे आत्मा जीता है; इसलिए शरीर या द्रव्यप्राणों की ओर देखने से धर्म नहीं होता।

दया-भक्ति, हिंसा-चोरी आदि शुभ-अशुभभाव आत्मा की अवस्था में एक समय पर्यत ही रहते हैं; वह भी आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है और न उससे आत्मा जीता है। गुण किसे कहा जाता है ? – जो वस्तु के सर्व क्षेत्र में और सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं। विकारी परिणाम, आत्मा के सर्व क्षेत्र में है परन्तु वे आत्मा के साथ सर्वकाल नहीं रहते; उनका काल एक समय जितना ही है। उनके सन्मुख देखने से भी आत्मा का धर्म नहीं होता।

शरीर का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है; इसलिए उसकी अवस्था के साथ आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है। आहार ले या न ले, शरीर निर्बल हो जाये या पुष्ट रहे, बोले या मौन रहे, चले या स्थिर रहे – उस किसी भी क्रिया के साथ आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है। पर्याय में होनेवाला विकारभाव, आत्मा के पूर्ण क्षेत्र में एक समय जितना व्याप्त हुआ है, उसके सन्मुख देखने से भी आत्मा की पहचान नहीं होती; इसलिए धर्म नहीं होता।

अब, आत्मा में एक साथ अनन्त शक्तियाँ त्रिकाल रहती हैं, उनमें से एक शक्ति को पृथक करके लक्ष्य में ले तो भी धर्म नहीं होता। यदि अनन्त शक्ति के पिण्डरूप पूर्ण आत्मा को लक्ष्य में ले तो धर्म होता है। यहाँ जिन शक्तियों का वर्णन किया है, वे सब त्रिकाली हैं और आत्मा में एक साथ विद्यमान हैं, ऐसे आत्मा के लक्ष्यपूर्वक उसकी शक्तियों को पहचानने की यह बात है।

सर्व प्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन किया है। लोग कहते हैं कि अमुक पुरुष का जीवन चरित्र कहो! तो यहाँ आचार्यदेव ने जीवत्वशक्ति कहकर आत्मा का जीवनचरित्र कहा है कि आत्मा पूर्वकाल में चैतन्यप्राण धारण करके जीता था, इस समय भी चैतन्यप्राण से ही जीवित है और भविष्य में भी वह चैतन्यप्राण से ही जियेगा, ऐसा आत्मा का त्रैकालिक जीवन है। आत्मा चैतन्यमात्र भावप्राण को त्रिकाल धारण कर रखता है, ऐसी आत्मा की जीवत्वशक्ति आत्मा के सर्व क्षेत्र और सर्व काल में विद्यमान है।

यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन पृथक-पृथक है परन्तु उस प्रत्येक पृथक शक्ति पर देखने का प्रयोजन नहीं है; समस्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा है, उसके सन्मुख देखना है। संयोगरहित, विकाररहित और अनन्त शक्तिसहित, ऐसा ज्ञानमात्र भाव, वह आत्मा है, उसमें अनन्त शक्तियाँ आ जाती हैं।

शरीरादि परवस्तुएँ तो आत्मा के क्षेत्र में भी नहीं हैं और उसकी अवस्था में भी नहीं हैं। रागादि विकार, आत्मा के क्षेत्र में हैं परन्तु उसकी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते। यह जीवत्वशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ तो आत्मा के पूर्ण भाग में और सर्व अवस्थाओं में विद्यमान हैं।

प्रश्न – जीवत्वशक्ति आत्मा के द्रव्य में है, गुण में है, या पर्याय में है ?

उत्तर - जीवत्वशक्ति द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है।

विकारीभाव, आत्मा के द्रव्य में या गुण में व्याप्त नहीं हैं, मात्र एक समय पर्यन्त की एक पर्याय में विद्यमान हैं और शरीरादि जड़ पदार्थ तो आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय, किसी में भी विद्यमान नहीं हैं, वे तो बिल्कुल भिन्न हैं। जीवत्वशक्ति तो द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है। जीवत्वशक्ति के कारण पूर्ण द्रव्य जीवन्तज्योति है; इसलिए द्रव्य में जीवत्व है, गुण में भी जीवत्व है, और पर्याय में भी जीवत्व है।

दयादि भाव, कहीं पर्याय के सच्चे प्राण नहीं हैं। चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति से ही द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों टिके हैं। प्रत्येक पर्याय का जीवन भी जीवत्वशक्ति से स्वत: टिका है।

प्रश्न - अन्न को ग्यारहवाँ प्राण कहा जाता है न ?

उत्तर - यहाँ तो कहा है कि आत्मा में शरीर का ही अभाव है, तब फिर अन्न से आत्मा जिये, वह बात ही कहाँ रही ? आत्मा का जीवन तो चैतन्यप्राण से टिका है। अन्न आत्मा का ग्यारहवाँ प्राण नहीं है और न पैसा बारहवाँ प्राण है। आत्मा के चैतन्यजीवन में से दस प्राण भी निकाल दिये और रागादि को भी निकाल दिया। गुण-गुणी भेद का विकल्प उठे, वह भी राग है; वह राग, आत्मा के त्रिकाली द्रव्य में, गुण में या समस्त पर्यायों में नहीं रहता; इसलिए वह भी आत्मा के जीवन का कारण नहीं है।

जीवत्वशक्ति— आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त होती है।

शरीर— आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय, किसी में भी व्याप्त नहीं होता।

रागादि— आत्मा के द्रव्य-गुण में व्याप्त नहीं होते, सर्व अवस्थाओं में भी व्याप्त नहीं होते; मात्र एक समय पर्यन्त की पर्याय में व्याप्त होते हैं।

इस प्रकार, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय, तीनों में व्यापक ऐसी जीवत्वशक्ति से आत्मा जीता है।

लोग कहते हैं कि - 'आशारहित जीवन, जीवन ही नहीं है।' परन्तु वास्तव में तो आत्मा, आशा के बिना ही जीता है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि 'जीवत्वशक्ति के बिना जीवन

नहीं है।' आशा तो एक समय की विकृति है। वीतरागी आत्माओं को किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती, वे आशा के बिना ही जीते हैं। लोग, आशा को अमर कहते हैं परन्तु वास्तव में आशा अमर नहीं है किन्तु जीवत्वशक्ति से आत्मा ही अमर है। आत्मा का जीवन, आशा से नहीं किन्तु जीवत्वशक्ति से ही टिका है।

आत्मा तो मानों पराश्रय से ही जीता हो – ऐसा अज्ञानी मानते हैं। यहाँ आचार्य भगवान, आत्मा की अनन्त शक्तियाँ बतलाकर स्वाश्रित जीवन बतलाते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि 'अन्न सम प्राण नहीं,' यानि आत्मा तो मानों अन्न के ही आधार से जीता हो! ऐसा वे मानते हैं परन्तु अन्न और पुद्गल की आहारवर्गणा, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में तो कहीं आते ही नहीं; इसलिए आत्मा अन्न से नहीं जीता, परन्तु तीनों काल अन्न के अभाव से ही जीता है। 'अन्न के बिना मेरा नहीं चल सकता' – ऐसा माननेवाले ने आत्मा की जीवत्वशक्ति को नहीं जाना है। इसी प्रकार पैसादि का भी समझ लेना।

'आत्मा, अमर है' ऐसा लोग कहते हैं, लेकिन किस प्रकार? वह नहीं समझते। यहाँ आचार्यदेव यह बात समझाते हैं। आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति आत्मा के परिणमन में उछलती है, उससे आत्मा सदैव जीता है। यदि चैतन्यमय जीवनशक्ति का नाश हो तो आत्मा मरे, परन्तु वह शक्ति तो आत्मा में सदैव-त्रिकाल है; इसलिए आत्मा कभी नहीं मरता; वह अमर है।

गत वर्ष (वीर सं० २४७४ में) 'सुप्रभात माङ्गलिक' के रूप में इस जीवत्वशक्ति का वर्णन आया था। आत्मा का जीवन कैसा है, वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा, शरीर से, आहार-जल से, श्वास से या पैसादि से नहीं जीता, उनसे तो आत्मा पृथक् है। आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यप्राण से जीता है, उस चैतन्यप्राण को जीवत्वशक्ति धारण कर रखती है। आत्मा में ज्ञानशक्ति की भाँति यह जीवनशक्ति है। ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्द, पुरुषार्थ, शान्ति, प्रभुता, जीवत्व – यह समस्त शक्तियाँ ही आत्मा का परिवार है और वह सदैव आत्मा के साथ ही रहता है; अपने अनन्त गुणोंरूपी कुटुम्ब का वियोग आत्मा को कभी नहीं होता। जिसे अपने ऐसे कुटुम्ब की खबर नहीं है, वह जीव बाह्य कुटुम्ब, लक्ष्मी, शरीरादि को अपना मानकर, उन्हें सदैव बनाए रखने की भावना करता है,

वह अज्ञान है और दु:ख का कारण है। अहो! मैं तो सदैव अपनी जीवत्वशक्ति से ही जीनेवाला हूँ, ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणरूपी मेरा कुटुम्ब है; अपने अनन्त गुणों के साथ मेरा परिपूर्ण पवित्र जीवन टिका रहे! - ऐसी भावना आत्मार्थी जीव करते हैं और वही माङ्गलिक है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है और यह शरीर तो जड़-अचेतन है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा, अचेतन शरीर के आधार से कैसे जियेगा? शरीर को अथवा शरीर के प्राणों को आत्मा धारण नहीं करता और न उससे आत्मा जीता है। उसी प्रकार पुण्य के भाव को भी आत्मा अपने स्वभाव में धारण नहीं करता और न उसके आधार से जीता है; पुण्य छूट जाये, तथापि अपने शुद्ध चैतन्यप्राण को धारण करके आत्मा जीता रहता है। आत्मा सदैव शुद्ध ज्ञान -दर्शनरूप चैतन्यप्राण को धारण करके ही जीता है। प्रत्येक जीव में ऐसी 'जीवत्व' नाम की मुख्य शक्ति है; यह जीवत्वशक्ति जीव के जीवन की जड़ी बूटी है। यदि इस जड़ी बूटी को धारण करे तो मृत्यु का भय दूर हो जाये। शरीर को आत्मा ने कभी धारण किया ही नहीं है और न विकार को भी कभी अपने स्वभाव में धारण किया है; शरीर और विकार से भिन्न ऐसे चैतन्यप्राण को धारण करके ही जीव सदैव जी रहा है। ऐसे चैतन्यशक्तिमय अपने जीवन को पहचानने से पराश्रयभाव दूर होकर, स्वाश्रितभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

देखो! आचार्यदेव, जीव का कुटुम्ब बतलाते हैं। ज्ञानमात्र भाव में आ जानेवाली अनन्त शक्तियाँ ही जीव का अविभक्त और अविनाशी कुटुम्ब है; वह कुटुम्ब सदैव जीव के साथ ही रहता हे। जगत का माना हुआ कुटुम्ब तो पृथक हो जाता है; इसलिए वह तो जीव से पृथक ही है। जीव का कुटुम्ब, जीव से पृथक नहीं होता और न कभी पृथक हो सकता है। ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण, वह जीव का कुटुम्ब है, वे सब गुण साथ ही रहते हैं; एक गुण के बिना, दूसरा गुण नहीं होता - इस प्रकार आत्मा का सारा कुटुम्ब एक दूसरे से सम्बन्धित और एकतावाला है। ऐसे कुटुम्बसहित आत्मा को जानकर, उसकी श्रद्धा और उसमें एकाग्रता करने से अनन्त चतुष्टयमय मुक्तदशा प्रगट होती है। जो आत्मा की जीवत्वशक्ति को जान ले, उसे वैसा जीवन प्रगट होता है।

देखो, इसमें सच्चा ज्ञान और सच्ची क्रिया-दोनों आ जाते हैं। किस प्रकार? वह

कहा जाता है। मुझ में जीवत्वशक्ति है; मैं किसी पर के आधार से नहीं जीता हूँ परन्तु अपने त्रिकाल चैतन्यभाव प्राण से ही टिका हूँ; इस प्रकार अपने त्रिकाली चैतन्यजीवन का भान करना, वह सच्चा ज्ञान है और उस ज्ञान से जाने हुए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आश्रित रहने से शुद्धता की पुष्टि और अशुद्धता का नाश होना, वह क्रिया है। ऐसा ज्ञान और क्रिया, वह मोक्ष का कारण है।

आत्मा की जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को बनाए रखती है परन्तु वह कहीं राग को नहीं बना रखती। जीवत्वशक्ति के कारण, राग नहीं है और राग के कारण, आत्मा का जीवत्व नहीं है। सिद्ध भगवन्तों के जीवत्वशक्ति है परन्तु राग-द्वेष नहीं है। यदि जीवत्वशक्ति के कारण राग-द्वेष हो तो सिद्ध भगवान के भी राग-द्वेष होना चाहिए और यदि राग-द्वेष के कारण जीवत्व हो तो सिद्ध भगवान के जीवत्वशक्ति नहीं रह सकती; इसलिए राग में जीवत्व नहीं है और जीवत्व में राग नहीं है। इस जीवत्वशक्ति से आत्मा को देखने से रागादि समस्त भाव तो मरे हुए (चैतन्यस्वरूप में अभावरूप) दिखायी देते हैं और चैतन्यस्वरूप एक आत्मा ही अपने द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायों से जीता-टिकता शोभायमान दिखायी देता है। यहाँ तो शुद्धता की ही बात है, विकार को तो जीव माना ही नहीं है; विकारभाव, चैतन्यस्वभाव की अपेक्षा तो मृत ही हैं, उनमें जीवत्व नहीं है।

अरे जीव! तुझे अपने सच्चे जीवन का कारण ढूँढ़ना हो तो तू अपने में अपने चैतन्यप्राण को ही देख, वही तेरे टिकने का कारण है; इसके अतिरिक्त बाह्य के किसी भी कारण को न ढूँढ़! आत्मद्रव्य को कारणभूतमात्र चैतन्यभावप्राण है - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने अन्य सब कारणों को निकाल दिया है। यदि कारण कहना ही हो तो चैतन्यप्राणों को धारण करनेवाली यह जीवत्वशक्ति ही तेरे आत्मद्रव्य का कारण है। 'आत्मद्रव्य' कहने से यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों समझना। आत्मा के द्रव्य का जीवन, गुण का जीवन और पर्याय का जीवन, उनमें यह जीवत्वशक्ति ही निमित्त है।

- जीवत्वशक्ति को 'निमित्त' क्यों कहा? क्योंकि अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा है, उसमें भेद करके एक गुण को, दूसरे गुण का कारण कहना, वह व्यवहार है; इसलिए यहाँ जीवत्वशक्ति को निमित्त कहा है; उपादानरूप से तो द्रव्य के प्रत्येक गुण-पर्याय अपनी स्वतन्त्र शक्ति से अपने-अपने स्वरूप से टिके हैं।

जीवत्वशक्ति अनादि-अनन्त है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को बनाए रखती है। 'साठे बुद्धि नाठी' (साठ वर्ष की उम्र होने से बुद्धि कम हो जाती है) - ऐसा कहा जाता है, वह सब तो लोगों की बनावटी बाते हैं। आत्मा के जीवन को कभी वृद्धता आती ही नहीं; अमुक काल बीतने के पश्चात आत्मा की पर्याय शिथिल हो जाये - ऐसा कदापि नहीं हो सकता। केवलज्ञान होने के पश्चात, साठ तो क्या किन्तु अनन्त काल तक ज्यों की त्यों अवस्था होती ही रहती है तथापि वह कभी किञ्चित्मात्र शिथिल नहीं होता। आयु की गिनती की जाती है, वह तो देह की आयु है; आत्मा के आयुष्य की मर्यादा नहीं है, आत्मा तो अनादि-अनन्त है। सिद्ध भगवान में भी जीवत्वशक्ति है; उस शक्ति का आकार आत्मा के प्रदेशानुसार है और पूर्ण द्रव्य में, पूरे गुणों में तथा समस्त पर्यायों में वह व्याप्त होती है; इसलिए जीवत्वशक्ति को लक्ष्य में लेते हुए परमार्थ से सम्पूर्ण आत्मा ही लक्ष्य में आ जाता है।

वैद्य या ज्योतिषी के पास आयु पूर्ण होने की बात सुनकर अज्ञानी को महान दु:ख होता है परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि - भाई! तेरा जीवन तो अन्तर में है; इस देह में तेरा जीवन नहीं है। अपनी जीवत्वशक्ति से तेरा जीवन त्रिकाल है, उसे अन्तर में देख तो तुझे मृत्यु का भय दूर हो जाएगा! 'मैं तो अपनी जीवत्वशक्ति से जीता ही हूँ, मेरी मृत्यु होती ही नहीं' - ऐसा जान लिया, फिर मृत्यु का भय कैसे रहेगा? आत्मा में यह जीवत्वशक्ति एकमेक है; इसलिए ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव को लक्ष्य में लेने से इस शक्ति की प्रतीति भी आ ही जाती है। यदि एक जीवत्वशक्ति को निकाल दिया जाये तो आत्मद्रव्य ही नहीं टिक सकता; इसलिए इस जीवत्वशक्ति को आत्मद्रव्य के कारणभूत कहा है। चैतन्यप्राण से त्रिकाल स्थायी रहनेवाले आत्मद्रव्य के सन्मुख देखने से धर्म होता है।

यह शक्तियाँ किसकी हैं? - ज्ञानमात्र आत्मा की यह शक्तियाँ हैं। यहाँ मात्र एक शक्ति को पृथक् नहीं बतलाना है परन्तु ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मा में एक साथ उछल रही हैं - ऐसा बतलाना है; इसलिए अनन्त शक्तियोंवाले आत्मा पर दृष्टि करना, वह तात्पर्य है।

जिस प्रकार ज्ञान को लक्षण कहा, वहाँ मात्र ज्ञानगुण को आत्मा से पृथक् करके नहीं बतलाना है परन्तु ज्ञानलक्षण द्वारा अखण्ड आत्मा को ही बतलाना है; उसी प्रकार यहाँ ज्ञानमात्र भाव में आ जानेवाली शक्तियों का वर्णन है; इसलिए इन शक्तियों में से एक-एक

शक्ति को भेद करके लक्ष्य में लें तो शुद्ध परिणमन नहीं होता परन्तु अनन्त शक्ति के पिण्ड शक्तिमान ऐसे अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर परिणमित होने से एक साथ अनन्त शक्तियों का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

अखण्ड चैतन्य के आश्रयपूर्वक इन त्रिकाली शक्तियों को जानने से पर्याय में भी उनका अंश 'प्रगट' होता है; इस प्रकार वर्तमान परिणमनसहित की यह बात है। त्रिकाल शक्तियों के पिण्ड को स्वीकार करे और पर्याय में उनका बिल्कुल परिणमन प्रगट न हो – ऐसा नहीं हो सकता। शक्ति के साथ, व्यक्ति की सन्धि है। त्रिकाली शक्ति को स्वीकार करने से उसकी व्यक्ति की भी प्रतीति हो जाती है, अर्थात् साधकदशा का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति किसके सन्मुख देखकर होती है ?

(१) पर में तो इन शक्तियों का बिल्कुल अभाव है; इसलिए परसन्मुख देखकर इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(२) विकार, एक समयपर्यन्त की पर्याय में है, उसके आश्रय से भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है; इसलिए उस विकार-सन्मुख देखकर इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(३) निर्मल पर्याय भी एक समयपर्यन्त की है, उसके आश्रय से भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है; इसलिए उस पर्याय के सन्मुख देखकर इन शक्तियों की स्वीकृति नहीं होती।

(४) आत्मा, अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसके आश्रय से प्रत्येक शक्ति टिकी है। अनन्त शक्तियों के पिण्ड आत्मा में से एक शक्ति का भेद करके उसके सन्मुख देखने से भी भेद का विकल्प उठता है; इसलिए एक-एक शक्ति के भेद के सन्मुख देखकर भी इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(५) अनन्त गुणों का पिण्ड अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखकर ही अनन्त शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति होती है और अभेद आत्मा के आश्रय से अनन्त शक्तियों की निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में से कोई भी शक्ति निमित्त के, विकार के, पर्याय के या भेद के आश्रित नहीं है; प्रत्येक शक्ति अभेद आत्मा के ही आश्रित है; इसलिए अभेद आत्मा की दृष्टिपूर्वक ही इन शक्तियों का यथार्थ ज्ञान होता है। अभेद आत्मा की दृष्टि के बिना, किसी भी भेद-पर्याय-विकार या निमित्त के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है; उसके इन शक्तियों का निर्मल परिणमन नहीं होता।

यह सूक्ष्म बात है; इसलिए हमारी समझ में नहीं आयेगी - ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। आत्मा सूक्ष्म है; इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है और सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को समझने की शक्ति भी आत्मा में ही है। भाई! तू सूक्ष्म, तेरी बात भी सूक्ष्म और तेरा ज्ञान भी सूक्ष्म को समझने के स्वभाववाला है; इसलिए आत्मा की रुचि करके समझ! शरीर की क्रिया से धर्म होता है - इस प्रकार की स्थूल—मिथ्या बात तो अनादि काल से पकड़ रखी है परन्तु उससे कल्याण नहीं हुआ। इसलिए अब कल्याण करना ही तो सूक्ष्म आत्मा को समझने से ही उद्धार है। जड़ पदार्थ की बात स्थूल होती है परन्तु आत्मा की बात तो सूक्ष्म ही होती है क्योंकि आत्मा में एक सूक्ष्मत्व नाम का गुण अनादि-अनन्त है। सूक्ष्मगुण के कारण सारा आत्मा सूक्ष्म है; द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म। ऐसा सूक्ष्म आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान में उसे जानने का सामर्थ्य है। यदि आत्मा, इन्द्रियग्राह्य हो जाये तो आत्मा की कोई महिमा हो न रहे। ज्ञान को सूक्ष्म, अर्थात् इन्द्रियों से पार करके अन्तर्मुख करे, तभी आत्मा ज्ञात होता है - ऐसी आत्मा के स्वभाव की महिमा है। एक बारीक मोती पिरोना हो तो वहाँ भी ध्यान रखना पड़ता है; वह मोती तो अनन्त परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध है, तब फिर अतीन्द्रिय ऐसे आत्मा को पकड़ने के लिए उसमें बराबर ध्यान पिरोना चाहिए।

आत्मा में एक साथ अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से यहाँ प्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन किया। यह सब शक्तियाँ आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में अन्तःपातिनी हैं, अर्थात् आत्मा का लक्ष्य करने से ज्ञानमात्र भाव का परिणमन हुआ, उसमें यह शक्तियाँ उछलती हैं... प्रगट होती हैं... व्यक्त होती हैं... परिणमित होती हैं परन्तु ज्ञानभाव के साथ कहीं राग या शरीर नहीं उछलते; उनका तो ज्ञान में अभाव है।

जिस प्रकार गुलाब के फूल की कली खिलने से उसके साथ उसका गुलाबी रंग,

सुगन्ध आदि तो साथ ही विकसित होते हैं परन्तु कहीं धूल आदि विकसित नहीं होते; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव में लक्ष्य करने से ज्ञानमात्र भाव का जो परिणमन हुआ, उसके साथ वह जीवत्व आदि शक्तियाँ तो उछलती हैं – शुद्धतारूप परिणमित होती हैं परन्तु उस ज्ञान के परिणमन के साथ कहीं रागादिभाव नहीं उछलते; उनका तो अभाव होता जाता है। 'रागादि का अभाव होता है' – वह भी व्यवहार से है; वास्तव में तो ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव में रागादि हैं ही नहीं, तब फिर उनका अभाव होना भी कहाँ रहा ? राग था और दूर हो गया – यह बात पर्याय अपेक्षा से है; यहाँ पर्याय पर जोर नहीं है; यहाँ तो स्वभाव की अस्ति पर ही जोर है।

चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति आत्मा को अनादि-अनन्त काल तक टिका रखती है; यह शक्ति तो आत्मा में अनादि-अनन्त है परन्तु जिसे आत्मा का भान हुआ, उसके ज्ञानमात्र भाव में यह शक्ति उछली – ऐसा कहा है। पहले भी यह शक्ति थी तो अवश्य, परन्तु उसका भान नहीं था। जिस प्रकार मेरुपर्वत के नीचे सोना है किन्तु यह किस काम का ? उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञानशक्ति है, जीवत्वशक्ति है परन्तु उसके भान बिना, वह किस काम की ? अनन्त शक्तिवाले आत्मा को पहचानकर, उसके आश्रय से परिणमित हो तो समस्त शक्तियाँ निर्मलस्वरूप से उछलें, अर्थात् साधकदशा प्रगट होकर अल्प काल में मुक्ति हो!

– इस प्रकार यहाँ प्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।

[२]

चितिशक्ति

अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः।

अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है, ऐसी चितिशक्ति।)

पहली शक्ति में आत्मा का जीवन बताने के बाद अब दूसरी शक्ति में वह जीवन कैसा है? - यह बात आचार्यदेव दर्शाते हैं। आत्मा का जीवन, चैतन्यस्वरूप है... जड़ में आत्मा का जीवन नहीं है, विकार में भी आत्मा का सच्चा जीवन नहीं है... आत्मा का जीवन तो चैतन्य में ही है। चैतन्य के साथ आनन्द भी अविनाभावी है। जो आत्मा के चैतन्यजीवन को जानता है, उसे आनन्दमय जीवन प्रगट होता है।

चितिशक्ति अजड़त्वस्वरूप है; अजड़त्व, अर्थात् चेतनत्व; वह चितिशक्ति का स्वरूप है - ऐसी चितिशक्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती है।

पुद्गल, जड़स्वरूप है और आत्मा, अजड़त्वस्वरूप है। जिस प्रकार जड़स्वरूप पुद्गल में किञ्चित्मात्र चेतनत्व नहीं है; उसी प्रकार अजड़त्वस्वरूप आत्मा में किञ्चित् भी अचेतनत्व नहीं है। राग भी परमार्थतः आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा में परिपूर्ण चेतनता है, उसमें राग का या जड़ का अभाव है - ऐसी आत्मा की चितिशक्ति है।

यह चितिशक्ति आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; इसलिए आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों चेतनरूप हैं, उनमें जड़ता नहीं है। जड़ के द्रव्य-गुण-पर्याय, तीनों जड़रूप हैं, उनमें चेतनता नहीं है। आत्मा में जड़ता बिल्कुल नहीं है - ऐसा कहने से जड़ के लक्ष्य से उत्पन्न हुए भाव भी आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं - यह बात उसमें आ जाती है। चैतन्यमूर्ति आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय, किसी का ऐसा स्वरूप नहीं है कि राग में अटकें। जो राग में अटके, उसे आत्मा की पर्याय नहीं माना है। चैतन्योन्मुख होकर अभेद हो, वही आत्मा की पर्याय है; राग में अटके, वह चैतन्य की पर्याय ही नहीं है।

यह तो अन्तर की दृष्टि की बात है। जहाँ अन्तर स्वभाव में दृष्टि हुई, वहाँ धर्मी जीव राग में अटकता ही नहीं; राग को वह अपना स्वरूप मानता ही नहीं; उसकी दृष्टि तो अखण्ड चैतन्यबिम्ब आत्मा को ही स्वीकार करती है। आत्मा की चैतन्यशक्ति है, वह राग में अटके – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

प्रथम, आत्मा की जीवत्वशक्ति बतलायी; उससे आत्मा अनादि-अनन्त जीता है। यदि उस जीवत्व के साथ यह चैतन्यशक्ति न हो तो आत्मा, जड़ हो जाए; इसलिए इस चितिशक्ति का पृथक् वर्णन किया है। चितिशक्ति के द्वारा ही आत्मा का जीवत्व ज्ञात होता है। आत्मा चितिशक्ति के कारण सदैव जागृतस्वरूप है। पुद्गल में तो जीवत्व भी नहीं है और चैतन्यता भी नहीं है; आत्मा में जीवत्व है और वह जीवत्व, चैतन्यमय है। आत्मा का जीवत्व कैसा है ? चितिशक्तिमय है। इस प्रकार चितिशक्ति से जीवत्व जाना जाता है और जीवत्व से सम्पूर्ण द्रव्य लक्ष्य में आता है। समस्त शक्तियों के पिण्डरूप द्रव्य को पहचानने का लक्षण 'ज्ञान' है, उस ज्ञानमात्र भाव में यह समस्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती हैं।

आत्मद्रव्य में अनन्त शक्तियाँ हैं। यदि एक ही शक्ति हो, तब तो वह शक्ति स्वयं ही द्रव्य हो जाए, इसलिए शक्ति का अभाव हो और शक्ति का अभाव होने से द्रव्य का भी अभाव हो जाए। अनन्त शक्तियों के स्वीकार बिना, द्रव्य का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्मा की चितिशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में है, अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों चैतन्यस्वरूप हैं। चितिशक्ति के बिना 'जीवनशक्ति जीव की है' – ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? यदि आत्मा में चितिशक्ति न हो तो आत्मा, जड़ हो जाए और जीवनशक्ति भी जड़ की हो जाए। इसलिए आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से ऐसी चितिशक्ति भी साथ ही आ जाती है।

अनन्त शक्ति बतलाकर यहाँ आत्मा की महिमा बतलायी है। चैतन्यमूर्ति जागृत-ज्योति आत्मा के सन्मुख देखने के लिए इन शक्तियों का वर्णन है। जिस प्रकार लड़की को दिया हुआ दहेज लोगों को बतलाने के लिए खोल कर रखते हैं, वहाँ वास्तव में तो लड़की की प्रसिद्धि होती है कि 'यह दहेज इस लड़की का है' परन्तु यदि वह लड़की ही मर गई हो तो दहेज किसका ? उसी प्रकार यहाँ जो शक्तियों का वर्णन है, वह सब जीव का दहेज

है, जीव की रिद्धि है, वह जीव की प्रसिद्धि करता है। इन शक्तियों द्वारा यदि इन्हें धारण करनेवाले जीव को न पहचाने और उसे जड़ ऋद्धिवाला या रागवाला ही माने तो उस जीव ने चैतन्यमय जीव को मरा हुआ माना है, अर्थात् उसे शुद्ध अनन्त शक्तिसम्पन्न जीव की श्रद्धा नहीं है। जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि शक्तियाँ हैं, वे तो जीते-जागते जीव की प्रसिद्धि करती हैं। जीव के बिना शक्तियाँ किसकी? शुद्ध जीव की प्रतीति के बिना इन शक्तियों की पहचान नहीं होती।

पहले जीवत्वशक्ति में कहे गये उन पाँच बोलों को यहाँ भी लागू करना कि यह चितिशक्ति किसी पर के, विकार के, पर्याय के या एक-एक शक्ति के आश्रित नहीं है; इसलिए उन किसी के समक्ष देखने से इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती परन्तु अनन्त धर्मों के पिण्डरूप आत्मा के आश्रय से ही यह शक्ति टिकी है; इसलिए उसके समक्ष देखकर ही इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

अनन्तानन्त शक्तियों के पिण्डरूप चैतन्यतत्त्व है, वह किसी निमित्त से या राग से नहीं जाना जाता परन्तु चैतन्य प्रकाश से जाना जाता है। राग तो अन्ध है, उसमें चितिशक्ति नहीं है; आत्मा अपनी चितिशक्ति द्वारा सदैव जागृत—स्व-पर प्रकाशक है।

देखो, आत्मा की अनन्त शक्तियों में कहीं भी बाह्य क्रिया या व्यवहार का शुभराग नहीं आता; आत्मा की अनन्त शक्तियों में उनकी तो कोई गणना ही नहीं करते। अज्ञानी कहते हैं कि – 'देखो, हमारी क्रिया! देखो, हमारा व्यवहार! यह करते-करते कितना धर्म होता है!' ज्ञानी उनके व्यवहार का उपहास करते हैं कि अरे, चल रे चल! देखी तेरी क्रिया और देखा तेरा व्यवहार! आत्मा के स्वरूप में उनका अस्तित्व ही कौन मानता है? तेरी मानी हुई शरीर की क्रिया तो जड़ है; उसका आत्मा में नितान्त अभाव है और क्षणिक रागरूप व्यवहार की वृत्ति भी चैतन्य का स्वभाव नहीं है; इस प्रकार तेरी मानी हुई क्रिया का और व्यवहार का अस्तित्व ही आत्मस्वभाव में नहीं है, तब फिर उससे आत्मा का धर्म होने की बात ही कहाँ रही?

यहाँ तो आत्मा में त्रिकाल रहनेवाली आत्मा की शक्तियों का वर्णन है; उसमें एक-एक शक्ति के समक्ष देखने से भी धर्म नहीं होता, तब फिर शरीर की क्रिया से या राग

से धर्म हो, यह बात कैसी ? समस्त शक्तियाँ आत्मा के आश्रित विद्यमान हैं, उस आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है।

यह जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि समस्त शक्तियाँ आत्मा में भावस्वरूप हैं; इन समस्त शक्तियों का एकरूप पिण्ड, वह आत्मद्रव्य है। चितिशक्ति, चेतनद्रव्य को बतलानेवाली है परन्तु रागादि करनेवाली नहीं है। राग में चेतनता नहीं है; इसलिए चितिशक्ति तो आत्मा में राग का अभाव बतलाती है। आत्मा, अजड़त्वस्वरूप, अर्थात् परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है – ऐसा कहा, उसमें पर का, विकार का और अल्पज्ञता का आत्मा के स्वभाव में से निषेध हो ही गया। आत्मा की अनन्त शक्तियों में ऐसी एक चितिशक्ति है। आत्मा को पहचानकर, उसके आश्रय से ज्ञानमात्र भाव का परिणमन होने पर, यह शक्ति भी उसमें साथ ही परिणमित होती है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से उसकी समस्त शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित होती है। उनमें से दूसरी चितिशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

[३]

दृशिशक्ति

अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः।

अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार, अर्थात् विशेष नहीं हैं, ऐसे दर्शनोपयोगमयी - सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप दृशिशक्ति, अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।)

आत्मा का जीवन, चैतन्यमय है, ऐसा दोनों शक्तियों में बताया। वह चैतन्य, दर्शन और ज्ञानरूप है, इससे आचार्यदेव तीसरी और चौथी शक्ति में आत्मा का दर्शन और ज्ञान, ऐसे दो चैतन्य चक्षु का वर्णन करते हैं। इस बात को जो समझेगा, उसके ज्ञानचक्षु खुल जायेंगे... और वह चैतन्यनिधान को निहारेगा, ऐसी यह अद्भुत बात है।]

[वीर सं० २४७५: कातिक सुदी ५]

ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव की दृष्टि करने से आत्मा की अनन्त शक्तियों का निर्मल परिणमन अभेदरूप से होता है, उसका यह वर्णन है। अनन्त शक्तियों में से यहाँ कुछ शक्तियों का वर्णन किया जा रहा है, उसमें मात्र द्रव्यस्वभाव का ही वर्णन है। यही चैतन्य की अविनाशी लक्ष्मी है। आत्मा में समस्त शक्तियों का एक साथ ही परिणमन होता है परन्तु अनेक शक्तियाँ समझाने के लिए यहाँ उनका पृथक-पृथक वर्णन किया है। रागादि भाव तो आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में हैं ही नहीं; आत्मा में अधिक से अधिक माना जाए तो ऐसे अनन्त गुणों का गुणभेद है परन्तु अभेद आत्मा की दृष्टि के बिना, मात्र गुणभेद के लक्ष्य से भी आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके स्वभाव में शरीर नहीं है, कर्म नहीं हैं और रागादि विकार भी नहीं है। पर्याय में विकार होता है, उसे गौण करके जो अकेला ज्ञानमात्र द्रव्यस्वभाव है, उसकी दृष्टि से परिणमित होने पर, निर्मल ज्ञानादि अनन्त गुण एक साथ उछलते हैं,

वह आत्मा है। आत्मा के स्वभाव में क्या-क्या है, उसकी यह बात है; आत्मा क्या-क्या नहीं है, उसकी बात इस समय नहीं है; आत्मा में दोहादि की क्रिया नहीं है, राग नहीं है - उसका इस समय वर्णन नहीं है परन्तु आत्मा में अनन्त शक्तियाँ अस्तिरूप हैं, उनका यह वर्णन है। अनन्त शक्तिरूप स्वभाव की अस्ति कहने से, उससे विरुद्ध ऐसे रागादि भावों की नास्ति उसमें आ ही जाती है।

सर्व प्रथम तो चैतन्यमात्र भाव को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति का वर्णन किया, वह जीवत्वशक्ति जीवद्रव्य को बनाए रखने का कारण है। यहाँ तो भेद से वर्णन करके समझाया है, वास्तव में कहीं जीवत्वशक्ति और जीवद्रव्य पृथक् नहीं हैं। द्रव्य कहीं जीवत्वशक्ति से पृथक् नहीं है कि जीवत्वशक्ति उसे बनाए रखे। आत्मद्रव्य का स्वभाव ही चैतन्यरूप से अनादि-अनन्त स्थित रहने का है; उसका यहाँ जीवत्वशक्तिरूप से वर्णन किया है। तत्पश्चात चितिशक्ति का वर्णन करके आत्मा का चैतन्यस्वभाव बतलाया है। आत्मा के ज्ञानचक्षु खुल जाए और वह चैतन्यनिधान का अवलोकन करे - ऐसी अद्भुत बात है।

देखो भाई! प्रत्येक आत्मा का स्वरूप जैसा यहाँ कहा जा रहा है, वैसा ही है। प्रत्येक आत्मा अपनी अनन्त शक्ति का स्वामी परमेश्वर है परन्तु देह की ओर दृष्टि करके वहीं अपनत्व मानकर, अपनी प्रभुता को भूल रहा है। उसे यहाँ आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं। अरे जीव! तू पामर नहीं है परन्तु अनन्त शक्तिमान परमेश्वर है। इस समय भी आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति से परिपूर्ण प्रभु है परन्तु श्रद्धा और ज्ञानरूपी आँखों पर पट्टी बाँध रखी है; इसलिए स्वयं अपनी प्रभुता को नहीं देखता।

अनन्त शक्ति का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसमें शरीर-मन-वाणी या कर्म तो तीन काल में कभी रहे ही नहीं हैं; पर्याय में एक समय पर्यन्त का विकार अनादि काल से रहा है परन्तु वह विकार कभी आत्मा के स्वभावरूप नहीं हो गया है। क्षणिक विकार के समय भी नित्यस्थायी स्वभाव का अभाव नहीं हो गया है। स्वभाव तो त्रिकाल अनन्त शक्ति का पिण्ड ज्यों का त्यों है। उस त्रिकाली स्वभाव की प्रतीति करने से परिणमन में स्वरूप का लाभ होता है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल ज्यों के त्यों हैं ही परन्तु उनका स्वीकार करते ही पर्याय में उसका लाभ होता है, अर्थात् निर्मल परिणमन होता है। उस परिणमन में अनन्त

शक्तियाँ एक साथ परिणमित होती हैं, उसका यह वर्णन चलता है। जीवत्वशक्ति और चितिशक्ति का वर्णन किया, अब तीसरी दृशिशक्ति का वर्णन करते हैं:—

दृशिशक्ति, अनाकार उपयोगमयी है। आत्मा स्वयं ही अनन्त धर्मों के समुदायरूप परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप होने से वह ज्ञानमात्र है; उस ज्ञानमात्र भाव के भीतर ऐसी दृशिशक्ति भी साथ ही है। ज्ञानमात्र भाव में एक समय में अनन्त शक्तियाँ एक साथ ही हैं, आगे-पीछे नहीं हैं।

यह दृशिशक्ति अनाकार उपयोगमय है; इसलिए उसमें पदार्थों के विशेष भेद नहीं पड़ते; विशेष भेद किये बिना, पदार्थों की सामान्य सत्ता को ही दर्शन-उपयोग देखता है। ऐसी दर्शनक्रियारूप आत्मा की शक्ति है, उसका नाम दृशिशक्ति है।

'यह जीव है, यह अजीव है' - ऐसे भेद डालकर लक्ष्य में लिया, वह तो ज्ञान है; स्व-पर, जीव-अजीव, सिद्ध-निगोद ऐसे भेदों को लक्ष्य में न लेकर, सामान्यरूप से 'सब सत् है' - इस प्रकार सत्तामात्र को देखना, वह दर्शन है।

आत्मा और समस्त पदार्थ सामान्यरूप से ध्रुवरूप रहते हैं और विशेष अंशरूप से बदलते हैं। उसमें समान्य-विशेष के भेद न डालकर, दर्शन समस्त पदार्थों को सत्तामात्र देखता है। यहाँ 'आकार' का अर्थ, विशेष अथवा भेद है। पदार्थों के विशेष अथवा भेदों को लक्ष्य में न लेकर, उनकी सामान्यसत्तामात्र का अवलोकन करता है; इसलिए दर्शन-उपयोग अनाकार है। 'यह अनाकार उपयोग है' - ऐसा जिसने लक्ष्य में लिया, वह तो ज्ञान है। स्व और पर, सामान्य और विशेष-सब सत् है; उस सत्मात्र को दर्शन-उपयोग देखता है। 'सब सत् है', इसलिए 'सत्' अपेक्षा से पदार्थों में जीव-अजीव इत्यादि भेद नहीं पड़ते। इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि दर्शन-उपयोग जीव-अजीव सबको एकमेकरूप देखता है। पदार्थों की जैसी भिन्न-भिन्न सत्ता है, वैसी ही दर्शन-उपयोग देखता है परन्तु वह सत्तामात्र ही देखता है, अर्थात् 'यह सत् है' इतना ही वह लक्ष्य में लेता है। सत् में 'यह जीव है और यह अजीव है; यह हेय है और यह उपादेय है' - ऐसे विशेष भेद करके जानना ज्ञान का कार्य है। दर्शन को, ज्ञान को, आनन्द को, समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय को और तीन लोक के समस्त पदार्थों को दर्शनशक्ति विकल्प बिना देखती है परन्तु उसमें 'यह जीव है,

यह ज्ञान है' – ऐसे कोई भेद वह नहीं डालती। 'यह जीव है, यह अजीव है; यह स्व है, यह पर है' – इस प्रकार समस्त पदार्थों को, ज्ञान भिन्न-भिन्नरूप से राग के बिना जानता है। छद्मस्थ को ज्ञान से पूर्व दर्शन-उपयोग होता है और सर्वज्ञ को ज्ञान के साथ ही दर्शन -उपयोग होता है। छद्मस्थ को भी ज्ञान और दर्शन दोनों का परिणमन तो एक साथ ही हैं, परिणमन में कहीं ऐसा क्रम नहीं है कि पहले दर्शनशक्ति परिणमित हो और पश्चात् ज्ञानशक्ति परिणमित हो। शक्तियाँ तो सब एक साथ ही परिणमित होती हैं, मात्र उपयोगरूप व्यापार में क्रम पड़ता है।

अनाकार उपयोगरूप दृशिशक्ति का परिणमन भी ज्ञान के साथ ही है। छद्मस्थ को भी ज्ञान और दर्शन के परिणमन में क्रम नहीं है। ज्ञान के साथ ही दर्शनशक्ति भी साथ में परिणमित होती ही है। समस्त शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित होती हैं – ऐसा यहाँ बतलाना है। आत्मस्वभाव के लक्ष्य से जो ज्ञानमात्र भाव परिणमित हुआ, उस ज्ञानमात्र भाव में रागादि विकार नहीं उछलते परन्तु दर्शनादि अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। केवली भगवान को पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है – यह मान्यता तो मिथ्या है परन्तु छद्मस्थ को भी पहले दर्शन परिणमित होता है और फिर ज्ञान परिणमित होता है – यह बात निकाल दी है। ज्ञानमात्र भाव में आत्मा की समस्त शक्तियाँ एक साथ उछल रही है; इसलिए ज्ञान और दर्शन के परिणमन में समयभेद नहीं है।

अहो! आचार्यदेव ने निमित्त की या विकार की बात तो निकाल दी है और भीतर के गुण-गुणी भेद के विकल्प को भी निकाल कर, अनन्त शक्ति से अभेद द्रव्य का लक्ष्य कराया है। किसी निमित्त के या विकार के आश्रय से तो आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि विकसित नहीं होते और भीतर गुण-गुणी भेद के विकल्प के आश्रय से भी ज्ञान-दर्शनादि विकसित नहीं होते; अभेद आत्मा के आश्रय से ही समस्त शक्तियों का परिणमन विकसित हो जाता है।

भगवान आत्मा प्रति समय अपनी अनन्त ऋद्धि को साथ रखकर परिणमित हो रहा है परन्तु स्वयं अपनी ऋद्धि की महिमा भूलकर, पर की महिमा में मोहित हो गया है। उसे आचार्य भगवान चैतन्य ऋद्धि बतलाते हैं कि अरे जीव! तेरी अनन्त ऋद्धि तुझमें ही भरी है; इसलिए अपनी ऋद्धि को तू बाह्य में मत देख। यदि अपने आत्मा के सन्मुख देखे तो

तुझे अपनी अपार ऋद्धि दिखलाई दे। बाह्य जड़ पदार्थों में तेरे आत्मा की ऋद्धि नहीं है; इसलिए बाह्य में तो मत देख और अपने में भी अनन्ती शक्ति के भेद करके न देख, क्योंकि तेरा आत्मा समस्त शक्तियों से अभेदरूप है; उसमें से एक भी शक्ति पृथक नहीं होती। एक शक्ति को पृथक करके लक्ष्य में लेने से राग की उत्पत्ति होती है परन्तु कहीं वस्तु में से वह शक्ति पृथक् नहीं होती। इसलिए अनन्त शक्ति से अभेदरूप आत्मा को लक्ष्य में लेने से अपनी अनन्त ऋद्धि प्रतीति में आ जाती है; उसकी प्रतीति होने से, पर की महिमा दूर हो जाती है; इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व धर्म है।

आत्मा की एक शक्ति में, दूसरी अनन्त शक्तियाँ भी अभेद हैं। उसमें एक दर्शनशक्ति है, वह अनाकार उपयोगमयी है। 'समस्त पदार्थ हैं' – इस प्रकार सबको सामान्यरूप से देखने की दर्शन की शक्ति है परन्तु उनमें से किसी को आगे-पीछे करने की शक्ति उसमें नहीं है। दर्शन, समस्त पदार्थों को सामान्यरूप से देखता है, उसमें आत्मा स्वयं भी साथ ही है परन्तु 'यह मैं, और यह पर' – ऐसे भेद, दर्शन नहीं करता।

जगत के समस्त पदार्थ सत्रूप हैं; जगत में एक जीव ही सत् है और दूसरा सब भ्रम है – ऐसा नहीं है; जीव भी सत् है और अजीव भी सत् है। समस्त पदार्थ सत् हैं; इसलिए 'है-पने' में (अस्तित्वपने में) सबका सामान्यपना आ जाता है, और उन सबकी सामान्यसत्ता को देखे, ऐसा एक उपयोग आत्मा में है; उसका नाम दर्शन-उपयोग है।

यह दर्शन-उपयोग सूक्ष्म है; छद्मस्थ उसे पकड़ नहीं सकता किन्तु जान सकता है। जो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन कहलाते हैं, वे इस दर्शन-उपयोग के भेद नहीं है, वे तो श्रद्धा की पर्याय के प्रकार हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहा है, उसमें इस दर्शन-उपयोग की बात नहीं है परन्तु सम्यक्श्रद्धा की बात है। दर्शन-उपयोग तो अज्ञानी के भी होता है, वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। मोक्ष का कारण तो शुद्ध आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप शुद्धोपयोग है। यहाँ तो अनन्त शक्तिवाले आत्मा की पहचान कराने के लिए उसकी दर्शनशक्ति का बहुत वर्णन किया है।

जगत में सब सत् है, उसे सामान्यरूप से दर्शन देखता है और जगत में सब सत् होने पर भी, उसमें एक जीव और दूसरा अजीव, एक सिद्ध और दूसरा निगोद, एक ज्ञानी

और दूसरा अज्ञानी, ऐसी पृथक्-पृथक् विशेषसत्ता है, उसे जाननेवाला ज्ञान-उपयोग है। दर्शन और ज्ञान, दोनों शक्तियाँ आत्मा में अनादि-अनन्त हैं।

सामान्यसत्तारूप से सब सत् है। द्रव्य सत् है, गुण सत् है और पर्यायें भी सत् हैं। और विशेषरूप से उसमें द्रव्य के जीव और अजीव, ऐसे दो भेद हैं; जीव के गुणों में श्रद्धा -ज्ञान-आनन्दादि भेद हैं; पर्याय में विकारी और निर्मल, ऐसे भेद हैं; क्षेत्र से भी असंख्य प्रदेशों का भेद है और काल से भी भूत-वर्तमान-भावी इत्यादिरूप से भेद हैं। उनमें विशेष भेदों को लक्ष्य में न लेकर, समान्यसत्तामात्र को देखनेवाला दर्शन है और विशेषरूप से जाननेवाला ज्ञान है। यह दोनों शक्तियाँ आत्मा में एक साथ अनादि अनन्त हैं। उनमें दर्शनशक्ति में सर्वदर्शीपना प्रगट होने की शक्ति भरी है और ज्ञानशक्ति में सर्वज्ञता प्रगट होने की शक्ति भरी है। इस शक्ति की प्रतीति करने से व्यक्ति को प्रतीति भी हो जाती है। इस तीसरी शक्ति में दृशिशक्ति का वर्णन किया है, वह सामान्य शक्तिरूप है और फिर नवमी सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन करके इस शक्ति का पूरा कार्य बतलायेंगे।

धर्म कैसे होता है, उसकी यह बात चल रही है। प्रथम तो धर्म कहाँ होता है ? आत्मा का धर्म कहीं निमित्त में नहीं होता, देह में नहीं होता और शुभाशुभ विकार में भी नहीं होता; आत्मा का धर्म तो आत्मा की निर्मल पर्याय में होता है परन्तु वह धर्म कैसे होता है ? वह धर्म कहीं बाह्य में परसन्मुख देखने से नहीं होता परन्तु अनन्त धर्मवाले त्रिकाली आत्मा के सन्मुख दृष्टि करने से ही पर्याय में धर्म होता है। उस अनन्त धर्मवाले आत्मा की शक्तियों का यह वर्णन हो रहा है।

आत्मा के परिणमन में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं परन्तु जो रागादि होते हैं, उन्हें यहाँ चैतन्यमूर्ति आत्मा के परिणमन में लिया ही नहीं है क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्ति में एक दृशिशक्ति है, उसका स्वभाव 'सब है', उसे देखने का है परन्तु कहीं पर में अपनत्व मानकर, मोह करने का या कुछ फेरफार करने का उसका स्वभाव नहीं है। ऐसी शक्तिवाले अपने आत्मा की प्रतीति करे तो स्वरूप की सावधानी जागृत हो और मूर्च्छा दूर हो जाए। अनादि से एक-एक समय का मोह है, वह आत्मा का भान करने से दूर हो जाता है। मैं त्रिकाली अनन्त शक्ति का पिण्ड हूँ - ऐसा जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ एक समयपर्यन्त का मोह नहीं रह सकता।

एक दर्शनशक्ति की यथार्थ प्रतीति करने से पूर्ण आत्मा की ही प्रतीति हो जाती है क्योंकि दर्शनशक्ति में समस्त सत्ताओं को देखने का सामर्थ्य है, उसमें आत्मा की सत्ता भी आ गयी; इसलिए दर्शनशक्ति की प्रतीति में उसके विषयभूत पूर्ण आत्मा भी प्रतीति में आ गया। उसमें अनन्त शक्तियाँ अभेदरूप से आ जाती हैं परन्तु विशेषरूप से समझाने के लिए गुण के लक्षणभेद से ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। पूर्ण आत्मा की स्वीकृति के बिना, उसकी एक शक्ति की भी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती। एक दर्शनशक्ति ने लोकालोक के सर्व पदार्थों को देख लिया। इसलिए एक शक्ति ने सर्व शक्तियों को स्वीकार कर लिया; इसलिए एक दर्शनशक्ति की प्रतीति करने से 'अनन्त गुण हैं' – ऐसी आत्मसामर्थ्य की प्रतीति भी हो ही गयी।

'यह आत्मा है और यह राग है; राग को आत्मा से पृथक कर दूँ' – ऐसे भेद, दर्शन में नहीं पड़ते; दर्शन तो द्रव्य-गुण-पर्याय के भी भेद किए बिना, सत्तामात्र को ही देखता है। 'यह आत्मा है, यह राग है, यह मेरा स्वरूप नहीं है' – ऐसे भेद करके ज्ञान जानता है। दर्शनशक्ति के साथ ही ऐसी ज्ञानशक्ति भी परिणमित होती है। उस ज्ञान का कार्य स्व-पर का और हेय उपादेय का विवेक करना है।

दर्शनशक्ति आत्मा के अनाकार उपयोगरूप है, उसका काल अनादि-अनन्त है; परिणमन एक-एक समय का है; क्षेत्र से वह असंख्य प्रदेशरूप आत्मा के आकार की है। प्रदेशत्व के निमित्त से जैसा आत्मा का आकार है, वैसा ही उसकी प्रत्येक शक्ति का आकार है।

प्रश्न – यदि दर्शन को आकार है तो उसे 'अनाकार' क्यों कहा है ?

उत्तर – दर्शन को अनाकार कहा है, वह तो उसका विषय सामान्यसत्तामात्र है, इस अपेक्षा से कहा है। दर्शन को स्वयं को तो लम्बाई-चौड़ाईरूप आकार है परन्तु वह दर्शन अपने विषय में भेद नहीं डालता, उस अपेक्षा से उसे 'अनाकार' कहा गया है। 'अनाकार' कहने से भेद का अभाव समझना परन्तु लम्बाई-चौड़ाईरूप आकार तो दर्शन के भी हैं। प्रत्येक गुण, आकारवाला ही है। जितना वस्तु का आकार है, उतना ही उसके प्रत्येक गुण का आकार है। वस्तु के समस्त गुणों का आकार समान ही होता है; किसी गुण का आकार

छोटा-बड़ा नहीं होता। जड़-चेतन आदि का भेद करके नहीं देखता; इसलिए दर्शन अनाकार है परन्तु यदि अपने असंख्य प्रदेशोंरूप आकार उसके न हो तो उसका अस्तित्व ही कहाँ रहे ? असंख्य प्रदेशरूपी चैतन्यमन्दिर में आत्मा की अनन्त शक्तियों का वास है। एक सूक्ष्म रजकण से लेकर सिद्ध भगवान तक किसी भी पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय आकाररहित नहीं होते; आकार भले ही छोटा या बड़ा हो। आकाररहित किसी का अस्तित्व ही नहीं होता। आत्मा की दर्शनशक्ति का क्षेत्र तो असंख्यप्रदेशी ही है परन्तु उसमें लोकालोक को देख लेने का सामर्थ्य है; आकार मर्यादित होने पर भी सामर्थ्य अमर्यादित है।

आत्मा के दर्शन-उपयोग में लोकालोक का समावेश हो जाए, ऐसी उसकी अनादि-अनन्त शक्ति है, जो उसकी प्रतीति करे, उसे उसका परिणमन होकर केवलदर्शन प्रगट होता है। यहाँ आत्मा की स्वभाव शक्तियों के वर्णन में शुभ को तो कहीं याद भी नहीं किया, क्योंकि उसका तो आत्मा के स्वभाव में अभाव है। ऐसी शुद्ध शक्ति के पिण्डरूप आत्मा को प्रतीति में लेते ही अन्य सबकी रुचि हट जाती है और शक्तियों का निर्मल परिणमन हो जाता है - ऐसी यह बात है। सत्स्वभावी भगवान आत्मा अनन्त शक्ति का भण्डार स्वयंसिद्ध है; वह द्रव्य निरपेक्ष, उसकी अनन्त शक्तियाँ भी निरपेक्ष और उसका समय-समय का परिणमन भी दूसरों से निरपेक्ष है। राग को आत्मा के परिणमन में नहीं गिना है। समस्त शक्तियों के निर्मल परिणमन से उछलनेवाला ज्ञानमात्रभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्मा को प्रतीति में लेकर, साधक जीव परिणमित होता है, उसके अनन्त गुणों में पहली अवस्था बदलकर दूसरी निर्मल अवस्था एक साथ होती है। ऐसे आत्मा की प्रतीति और बहुमान के अतिरिक्त धर्म के नाम से जो कुछ करे, वह सब अरण्य-रोदन की भाँति व्यर्थ है। जैसे, निर्जन वन में सिंह के पंजे में फँसा हुआ हिरन चाहे जितना आर्तनाद करे, परन्तु उसे कौन सुनता है ? - वहाँ कोई उसे बचानेवाला नहीं है। उसी प्रकार जीव मिथ्यात्वरूपी वन में रहकर चाहे जितने क्रियाकाण्ड करे, तथापि उसकी पुकार आत्मा नहीं सुनेगा क्योंकि उसे आत्मा की प्रतीति नहीं है। अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य भगवान मैं ही हूँ - इस प्रकार अपने आत्मा की प्रतीति करना ही धर्म की नींव है।

अपने चैतन्य भगवान की प्रीति के बिना, बाह्य में तीर्थङ्कर भगवान के सन्मुख देखा

परन्तु भगवान तो ऐसा कहते हैं कि 'तेरा कल्याण तुझ में है; इसलिए तू अपने में देख! तेरा आत्मा भी हमारे जैसा ही परिपूर्ण शक्ति सम्पन्न है' परन्तु जीव को उसका विश्वास नहीं बैठा; इसलिए समवसरण में जाकर भी जैसे का तैसा लौट आया। इसलिए यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि अहो! आत्मा चैतन्य भगवान है, उसकी अनन्त शक्ति का भण्डार उसी में भरा है, उसकी प्रतीति करो... उसकी महिमा करके उसमें अन्तर्मुख होओ! तुम्हारे कल्याण का क्षेत्र तुम्हीं में है; आत्मा के गुणों का क्षेत्र, आत्मा से पृथक नहीं होता। आत्मा का निवास स्थान है। उसका विश्वास करके उसका आश्रय करन से कल्याण प्रगट होता है।

[–तीसरी दृशिशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४]

ज्ञानशक्ति

साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः।

साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है – ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)

जिसे अपने ज्ञानस्वभाव की महिमा की प्रतीति हुई है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा के हृदय में तीर्थङ्कर निवास करते हैं... अनन्त सिद्ध एवं तीर्थङ्कर उसके अन्तर में वास करते हैं... उसके ज्ञान में भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुए हैं। तीर्थङ्करदेव ने जो कहा है, वही उसका हृदय बोलता है – मानो कि तीर्थङ्करदेव ही उसके हृदय कमल में बैठकर बोल रहे हों!

आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है; उसमें से जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति और दृशिशक्ति – इन तीन शक्तियों का वर्णन किया। अब, चौथी ज्ञानशक्ति का वर्णन करते हैं।

आत्मा की ज्ञानशक्ति साकार उपयोगमयी है; ज्ञान, पदार्थों के विशेष आकारों को भी जानता है; इसलिए उसे साकार कहा जाता है। ज्ञानशक्ति का ऐसा महान विशेष स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थों को विशेषरूप से भिन्न-भिन्न जानती है। 'यह जीव, यह अजीव; यह ज्ञान, यह दर्शन, यह सुख' – इस प्रकार ज्ञान सबको पृथक्-पृथक् जानता है। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति में ऐसा सामर्थ्य नहीं है। आत्मा, इन्द्रियों से या राग से जाने – ऐसी तो यहाँ बात ही नहीं है परन्तु परोन्मुख होकर रागसहित जाने, वैसे ज्ञान की भी यह बात नहीं है; यहाँ तो स्वोन्मुख होकर सब कुछ रागरहित जाने – ऐसी आत्मा की ज्ञानशक्ति है, उसकी बात है।

जगत में अनन्त आत्मा हैं, प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण की अनन्त पर्यायें हैं और प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेद हैं। आत्मा की एक समय की

ज्ञानपर्याय में अनन्त सिद्ध और केवली भगवन्त ज्ञेयरूप से आ जाएँ, ऐसी एक-एक पर्याय की अनन्त सामर्थ्य है।

.....

आत्मा का कोई ज्ञान, पर के आश्रय से, आँख आदि निमित्तों के आश्रय से अथवा राग के आश्रय से परिणमित नहीं होता, किन्तु इस त्रिकाली ज्ञानशक्ति के आश्रय से ही प्रति समय का ज्ञान परिणमित होता है। उस एक समय की ज्ञानपर्याय में समस्त द्रव्य-गुण -पर्यायों का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान में सम्पूर्ण आत्मा ज्ञात हो, उसका ज्ञानगुण, दर्शन, सुख ज्ञात हो और केवलज्ञानादि पर्यायें भी ज्ञात हों - ऐसी प्रत्येक समय की ज्ञानपरिणति की शक्ति है। ऐसी ज्ञानपरिणति जिसमें से प्रगट होती है, वह ज्ञानशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा की प्रतीति करे, उसे केवलज्ञान की शङ्का नहीं रहती।

ज्ञान प्रत्येक पर्याय में अनन्त सामर्थ्य है। एक समय के ज्ञान में तीन काल के समस्त पदार्थों का ज्ञान समा जाता है। ज्ञान में दर्शन का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, सुख का ज्ञान, द्रव्य का ज्ञान - इस प्रकार सबका ज्ञान है। राग को भी ज्ञान जानता है परन्तु ज्ञान में राग नहीं है और राग के कारण, ज्ञान नहीं होता। ज्ञान करने का आत्मा का स्वभाव है किन्तु विकार करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिए ज्ञानी के हृदय में राग का वास नहीं है किन्तु शुद्ध आत्मा का ही वास है।

अहो! ज्ञानी के हृदय में तीर्थङ्कर बसते हैं, ज्ञानी के अन्तर में सिद्ध भगवान बसते हैं। सिद्ध भगवान और तीर्थङ्कर भगवान का जैसा आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है - इस प्रकार जिसने परमात्मा जैसे अपने आत्मा की प्रतीति की है, उस धर्मात्मा के हृदय में अनन्त सिद्ध भगवन्तों का और तीर्थङ्करदेवों का वास है। जिसने अपने पूर्ण स्वभाव का विश्वास किया, उसने अपने आत्मा में सिद्धों की और तीर्थङ्करों की स्थापना की और राग को या अपूर्णता को आत्मा में से निकाल दिया - उसका निषेध किया है। **ज्ञानी के आत्मा में तीर्थङ्कर का वास है, तीर्थङ्करदेव उनके हृदय में बैठकर बोलते हैं; जो तीर्थङ्करदेव कहते हैं, वही ज्ञानी का हृदय बोलता है क्योंकि तीर्थङ्करदेव जैसे ही परिपूर्ण अपने आत्मा को उन्होंने प्रतीति में लेकर अनुभव किया है।** अहो! मेरे ज्ञान का स्वभाव ऐसा

है कि तीन काल के समस्त तीर्थङ्करों को एक समय में जान लूँ; एक नहीं किन्तु अनन्त तीर्थङ्करों और सिद्धों को अपने ज्ञान की एक पर्याय में समा दूँ – ऐसी विशाल मेरे ज्ञान की महिमा है – ऐसी ज्ञानी को प्रतीति है।

तीन काल के तीर्थङ्करों को जाने, सिद्धों को जाने, सन्तों को-धर्मात्माओं को जाने और परोन्मुख जीवों को भी जाने, अभव्य को भी जाने और अजीव को भी जाने, अनन्तानन्त आकाश को भी जाने – ऐसा ज्ञानशक्ति का स्वरूप है। जिसका स्वभाव ही जानने का है, वह किसे नहीं जानेगा? ज्ञान स्वयं अपने में ही एकाग्र रहकर सबको जान लेता है; जानने के लिए उसे कहीं बाह्य में विस्तृत नहीं होना पड़ता। ऐसे ज्ञान को कहाँ ढूँढ़ा जाए? शरीर की क्रिया में या शास्त्र के शब्दों में ढूँढ़ने जाए तो ऐसा ज्ञान नहीं मिलेगा; सम्मेदशिखर तीर्थ के मन्दिरों में जाकर ढूँढ़े तो वहाँ भी ऐसा ज्ञान नहीं मिलेगा; यह ज्ञान तो आत्मा की निजशक्ति है; इसलिए आत्मा में अन्तरशोध करे तो ऐसा ज्ञान प्राप्त होगा। आत्मा में यह ज्ञानशक्ति तो त्रिकाल है किन्तु उसका विश्वास करने से पर्याय में उसका विकास प्रगट होता है।

ज्ञान तो अभेद-भेद, सामान्य-विशेष सबको जानता है; इसलिए ज्ञान के विषय में अनन्त विशेष प्रकार पड़ते हैं; दर्शन के विषय में वैसे विशेष नहीं होते। तीनों काल में जिस-जिस समय जो कुछ होना है, वैसा ही उसे जान लेने का ज्ञान का स्वभाव है परन्तु उसमें कुछ इधर-उधर करने का या राग-द्वेष करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञान की जी प्रतीति करे, उसका ज्ञान आत्मोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। आत्मा अनादि-अनन्त शक्तियों से अभेद है, उसी के आश्रय से धर्म होता है।

यहाँ तीसरी और चौथी शक्ति में दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का वर्णन किया, और आगे नववीं और दसवीं शक्ति में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करेंगे, उसमें इस दृशिशक्ति तथा ज्ञानशक्ति का विशेष माहात्म्य बतलायेंगे।

(वीर सं० 2475 कार्तिक शुक्ला 6)

देखो, यह धर्म की बात है।

जिसे आत्मा का धर्म करना हो, उसे क्या करना चाहिए? अपने आत्मा को पहचानना चाहिए।

आत्मा कैसा है ? – उसमें क्या है ? – आत्मा अपनी अनन्त शक्तिवाला है; उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, जीवन, प्रभुता इत्यादि अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मा में अपनी अनन्त स्वच्छ शक्तियाँ भरी हैं परन्तु उसमें विकार, शरीर या स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि कुछ नहीं है। इसलिए जिसे आत्मा के धर्म की सच्ची भावना हो, उसे उस विकार, शरीरादि की भावना नहीं होती; जिसे विकार, शरीर-स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी या स्वर्ग चाहिए हो, उसे आत्मा के धर्म की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उन वस्तुओं में आत्मा का धर्म नहीं है और आत्मा में वे कोई वस्तुएँ नहीं हैं। किसी परवस्तु से आत्मा का धर्म नहीं होता और न आत्मा के धर्म से वे कोई परवस्तुएँ मिलती हैं। आत्मा स्वयं अपनी अनन्त शक्तियों से भरपूर है, अपने ही आधार से उसे धर्म होता है; इसलिए आत्मा के सन्मुख होकर उसमें ढूँढ़े तो धर्म की प्राप्ति होगी। जिसे धर्म करना है, उसे प्रथम अपने आत्मा को पहचानना चाहिए।

चैतन्यमूर्ति आत्मा, ज्ञानलक्षण से पहचाना जाता है। जो ज्ञानलक्षण से पहचाना जाता है, वह आत्मा अनन्त धर्म का पिण्ड है। उसमें से आत्मा का धर्म प्रगट होता है। जहाँ जो माल भरा हो वहाँ से वह माल मिलता है। इस शरीर की दुकान में तो जड़ का माल भरा है, उसकी क्रिया से आत्मा के धर्म का माल नहीं मिलेगा और चैतन्य भगवान आत्मा की दुकान में अनन्त गुणों का माल भरा है, वहाँ से ज्ञानादि धर्म का माल मिलेगा परन्तु वहाँ विकार नहीं मिल सकता।

जैसे, अफीमवाले की दुकान पर तो बढ़िया अफीम मिलती है किन्तु मावा या हीरे-जवाहरात नहीं मिलते और हलवाई की दुकान पर मावा मिलता है, वहाँ अफीम नहीं मिल सकती। उसी प्रकार जिसे अफीम जैसे विकारी-शुभाशुभभाव चाहिए हों, उसे वे आत्मा के स्वरूप में नहीं मिल सकते। विकारीभाव और जड़ की क्रिया तो अफीम की दुकान जैसे हैं; उनमें से चैतन्य का निर्मल धर्म नहीं मिल सकता। चैतन्यमूर्ति आत्मा, अनन्त शक्ति का भण्डार है, वह जौहरी और हलवाई की दुकान जैसा है। आत्मा के स्वरूप में विकार को बना रखने की शक्ति नहीं है और पैसादि को बना रखने की भी शक्ति नहीं है। आत्मा की जीवत्वशक्ति में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के चैतन्य जीवन को त्रिकाल बनाए रखे, किन्तु उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह पैसा, शरीर या विकार को आत्मा में

बना रखे। इसलिए जिसे आत्मा का चैतन्य जीवन चाहिए हो, उसे आत्मा की भावना करना चाहिए और विकार की—व्यवहार की भावना छोड़ना चाहिए। जिसके राग की—व्यवहार की भावना है, उसे अनन्त शक्ति के पिण्ड चैतन्य की भावना नहीं है। आत्मा तो अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उसमें दूसरे आत्मा नहीं हैं, अन्य कोई गुण या पर्यायें भी उसमें नहीं हैं; अपने स्वभाव के अतिरिक्त किन्हीं भी अन्य संयोगों को आत्मा अपने में मिलाए, ऐसी उसकी शक्ति नहीं है और पर्याय के क्षणिक पुण्य-पाप को भी दूसरे समय तक बना रखने की उसकी शक्ति नहीं है। पहले समय जो विकार हुआ, वह तो दूसरे समय दूर हो ही जाता है, उसे कोई भी आत्मा रख नहीं सकता, किन्तु स्वयं अपनी निर्विकारी अनन्ती शक्ति को एक साथ त्रिकाल बना रखे, ऐसी आत्मा की सामर्थ्य है। ज्ञान-दर्शन से एक समय में सबको जाने - देखे, ऐसी आत्मा की शक्ति है परन्तु कहीं भी इधर-उधर करने की या पर को अपना करने की आत्मा की शक्ति नहीं है। ऐसे भगवान आत्मा की दुकान पर, चैतन्यशक्ति मिलती है किन्तु विकार नहीं मिलता, अर्थात् आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से चैतन्य के परिणमन में अनन्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होती हैं किन्तु विकार परिणमित नहीं होता।

(-चतुर्थ ज्ञानशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।)

[५]

सुखशक्ति

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः।

अनाकुलता जिसका लक्षण, अर्थात् स्वरूप है – ऐसी सुखशक्ति।

आत्मा का सम्यग्ज्ञान होने पर उसके साथ ही सिद्ध भगवान के जैसा सुख का अंश अनुभव में आता है व सुख का परिपूर्ण सागर प्रतीति में आ जाता है... धर्मात्मा अपने अन्तर में सुख का सागर उल्लसित होता हुआ देखता है। जिसमें सुखशक्ति है, ऐसे आनन्दधाम आत्मा की पहचान, वह ही सुखी होने का सच्चा मार्ग है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से आचार्यदेव कुछ शक्तियों का वर्णन करते हैं। अभी तक चार शक्तियों का वर्णन हो चुका है, अब पाँचवीं 'सुखशक्ति' का वर्णन करते हैं।

अनाकुलता जिसका लक्षण है, ऐसी सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कुछ भी करने की वृत्ति का उत्थान, वह आकुलता है और आकुलता, वह दुःख है। अशुभ अथवा शुभ किसी भी वृत्तिरहित शान्त निराकुलदशा ही सुख का स्वरूप है। आत्मा की अनन्त शक्तियों में ऐसी सुखशक्ति का भी समावेश है।

प्रश्न – यदि आत्मा में त्रिकाल आनन्द भरा है तो वह क्यों अनुभव में नहीं आता?

उत्तर – यदि स्वभावशक्ति का विश्वास करके, उसके सन्मुख हो तो आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। अपने स्वभाव में आनन्द भरा हुआ है, वहाँ न ढूँढ़कर बाह्य में आनन्द की शोध करता है; इसलिए अपना स्वभाव-सुख, जीव के अनुभव में नहीं आता। जहाँ सुख भरा है, वहाँ ढूँढ़े तो मिले न? जड़ में तो कहीं ऐसी सुखशक्ति नहीं है कि वह आत्मा को सुख पहुँचाए। जड़ के लक्ष्य से जो कृत्रिम शुभ-अशुभ आकुलतारूपभाव होते हैं, उनमें भी सुख नहीं है; सुखशक्ति तो आत्मा में है। आत्मा, त्रिकाल सुख का सागर

है, उसे सुख के लिए किसी बाह्य पदार्थ की—पैसादि की आवश्यकता नहीं हो सकती। जो ऐसी सुखशक्तिवाले आत्मा को समझे, उसे पर में से सुखबुद्धि दूर हो जाती है और उसका ज्ञान, स्वभावोन्मुख हो जाता है; उस ज्ञानपरिणमन में सुखशक्ति भी साथ हो उछलती है। प्रत्येक शक्ति पृथक्-पृथक् नहीं है; जहाँ एक शक्ति है, वहीं अनन्त शक्ति का पिण्ड है; इसलिए एक शक्ति को देखने से अनन्त शक्तिस्वरूप पूर्ण पिण्ड लक्ष्य में आता है। जहाँ ज्ञान परिणमित हो] वहीं आनन्दादि अनन्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती हैं - ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। कोई कहे कि हमें ज्ञान तो हुआ है परन्तु सुख कहीं दिखायी नहीं देता, तो उसने ज्ञान और सुख को सर्वथा भिन्न माना है; इसलिए उसने अनेकान्तस्वरूपी आत्मा को नहीं जाना। आत्मा, अनन्त धर्मों का एक पिण्ड है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करने से सम्यग्ज्ञान परिणमित हुआ, उसी के साथ सुख भी परिणमित होता है। आत्मा का सम्यग्ज्ञान होने से, उसी के साथ सिद्ध जैसे आनन्द का अंश अनुभव में आता है। इस प्रकार अनन्त शक्तियाँ एक साथ निर्मलरूप से परिणमित हो रही हैं, किसके ? जिसकी दृष्टि आत्मा पर है, उसके। अज्ञानी तो यथार्थ आत्मा को मानता ही नहीं; इसलिए उसके शक्तियों का निर्मल परिणमन नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल सुख से परिपूर्ण है; उसमें दुःख का एक अंश भी नहीं है। पर का कुछ करने की आकुलता आत्मा में नहीं है। मैं पर का कुछ कर सकता हूँ - ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव, पर का करने के अभिमान से सदैव आकुलित ही रहा करता है। मैं पर का कर्ता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता हूँ - इस प्रकार ज्ञातारूप से रहने में अनाकुल शान्ति है, वहीं सुख है। मेरा सुख, पर में है - ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके पास करोड़ों रुपये हों, मेवा-मिठाई खाता हो और सोने के झूले पर झूलता हो, तथापि वह आकुलता से दुःखी ही है। आनन्दधाम ऐसे स्वतत्त्व की महिमा छोड़कर, पर की महिमा की, वही दुःख है। बाह्य में प्रतिकूलता का होना, वह कहीं दुःख का लक्षण नहीं है। दुःख, अर्थात् आकुलता; आकुलता कहो अथवा मोह कहो। जितना मोह, उतना ही दुःख है। यह दुःख आत्मा की क्षणिक पर्याय में होता है परन्तु आत्मा के स्वभाव में दुःख नहीं है। आत्मा के स्वभाव में तो मात्र सुख ही भरा है। जिसे आकुलता चाहिए हो—दुःख की कामना हो, उसे चैतन्यस्वभाव में से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती और जिसे निराकुल सुख की आकाँक्षा हो, उसे

चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं से वह प्राप्त नहीं हो सकता। जिसे सुखी होना हो, उसे ऐसे आत्मा की समझ का मार्ग ग्रहण करना होगा।

प्रत्येक आत्मा, अनन्त गुण का भण्डार है, उसके प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न है और पूर्ण आत्मा का लक्षण 'ज्ञान' है। सुख आदि अनन्त गुण भी उस ज्ञान के साथ ही विद्यमान हैं। उनमें 'जानना', वह ज्ञान का लक्षण है और निराकुलता, सुखगुण का लक्षण है। सुखगुण, आत्मद्रव्य में है, गुण में है और पर्याय में भी है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में सुख व्याप्त है; आत्मा का एक भी प्रदेश, सुखशक्ति से रहित खाली नहीं है। जैसा आत्मा का आकार है, वैसा ही उसके सुख का आकार है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में आनन्द है, किन्तु दयादि रागभाव में आनन्द नहीं है; मकान, पैसा, स्त्री, शरीर या राग में भी आनन्द नहीं है; आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनन्त गुणों में अभेदरूप से आनन्द भरा है, उनमें से यदि आनन्द प्राप्त करना चाहे तो मिल सकता है किन्तु उनमें से यदि स्वर्गादि की इच्छा करे तो वे नहीं मिल सकते। स्वर्ग की प्राप्ति हो, वह राग का फल है; आत्मा के गुणों में राग का अभाव है और राग में आत्मा के गुणों का अभाव है।

आनन्दगुण की प्रधानता से देखने पर सम्पूर्ण आत्मा आनन्दमय है। आत्मा के अनन्तगुण आनन्द से परिपूर्ण हैं, उनमें कहीं आकुलता नहीं है। पर्याय में एक समय की आकुलता होती है, उसकी यहाँ बात नहीं है; उस पर्याय को गौण करके त्रिकाली स्वभाव की मुख्यता से यहाँ कहते हैं कि आत्मा में आकुलता है ही नहीं; आत्मा तो त्रिकाल सुख का सागर है। जिसे मात्र आकुलता का ही आभास होता है, किन्तु उसी समय नित्य अपार अनाकुल सुखस्वभाव भासित नहीं होता, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जिसने एक समय की वृत्ति जितना ही अपना स्वरूप माना, उसने आत्मा को नहीं जाना है। आकुलता तो सुखगुण की एक समय की विकृत अवस्था है; उसी समय अनन्त अनाकुलता का पिण्ड आत्मा है। उस स्वभाव की अनन्त महिमा के बल से साधक कहता है कि मुझ में आकुलता है ही नहीं! जिसे स्वभाव का बल भासित न होकर, विकार का बल भासित होता है, उसे स्वभाव की महिमा और विश्वास नहीं है, अर्थात् स्वभाव का अनादर है और विकार का आदर है; यही संसार का मूल है। यहाँ आत्मा के अनन्त धर्म को बतालते हैं; उसे पहचानने

से क्षणिक विकार की महिमा छूट जाती है और स्वभाव का सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह मुक्ति का मूल है; वह प्रगट होते ही अनन्त संसार का मूल नष्ट हो जाता है।

आकुलता, त्रिकाली नहीं है किन्तु आकुलता के अभावरूप आनन्दस्वभाव आत्मा में त्रिकाल है; उस आनन्द का वेदन, पर्याय में एक-एक समय जितना है किन्तु शक्ति त्रिकाल है। तीन काल का आनन्द, ज्ञान में एक साथ ज्ञात अवश्य होता है किन्तु त्रिकाल के आनन्द का अनुभव एक साथ नहीं होता; अनुभव तो वर्तमान जितना ही होता है। भविष्य के आनन्द का ज्ञान इस समय होता है किन्तु उसका उपयोग, इसी समय नहीं हो सकता। त्रिकाल के आनन्द के वेदन को एक समय में जान ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है परन्तु त्रिकाल के आनन्द को एकत्रित करके वर्तमान में ही उसका वेदन कर ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य नहीं है।

सिद्ध भगवान अपने भविष्य के अनन्तानन्त काल के आनन्द को वर्तमान में जानते हैं परन्तु भविष्य के आनन्द का वेदन तो भविष्य की पर्याय में होगा; उसका वेदन इस समय नहीं होता। वेदन तो वर्तमान पर्याय के आनन्द का ही है; वे प्रति समय नये-नये परिपूर्ण आनन्द का वेदन कर रहे हैं, ऐसी अनन्त शक्ति प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल भरी है, उसका विश्वास करने से वह प्रगट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्य-गुण के आनन्द का एक समय में व्यक्तरूप से वेदन हो जाये तो दूसरे समय का आनन्द आये कहाँ से ? त्रिकाल शक्तिरूप आनन्द तो अव्यक्त है और पर्याय में प्रति समय आनन्द व्यक्त होता है, उसका वेदन होता है। इस प्रकार आनन्दशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है; इसलिए हे भाई! अपना आनन्द स्वयं में ही ढूँढ़! तेरा आनन्द तुझ में ही है; वह बाह्य में ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। तेरा सम्पूर्ण द्रव्य ही आनन्द से परिपूर्ण है; अनन्त शक्ति के पिण्ड आत्मा की अभेददृष्टि कर तो उस आनन्द का अनुभव होगा। पराश्रय में रुकने से आकुलता होती है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। सामान्यद्रव्य में आनन्द है, उसके अनन्त गुणों में आनन्द है और अनन्त पर्यायों में आनन्द है; इस प्रकार आत्मा आनन्दमय है।

अहो! ऐसे आत्मा के समक्ष देखे तो दु:ख है ही कहाँ? आत्मा के आश्रय से धर्मात्मा नि:शङ्क है कि शरीर का भले ही चाहे जो हो या सारा ब्रह्माण्ड ही उलट जाए,

तथापि मैं तो अपने ज्ञाताभाव के आश्रय से शान्ति रख सकता हूँ क्योंकि मेरी शान्ति—मेरा आनन्द, मेरे ही आश्रय से है। मैं अपने आनन्दसागर में डुबकी लगाकर लीन हुआ, वहाँ जगत में कोई मेरी शान्ति में विघ्नकर्ता नहीं है। अन्तर में अपनी आत्मशक्ति ऐसा निःशङ्क विश्वास आये बिना, धर्म का अपूर्व पुरुषार्थ किसके बल पर करेगा?

'कोई दूसरा मेरी निन्दा करे तो मेरे पाप धुल जाएँ' – ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने प्रथम तो आत्मा को ही पापी माना है और पापों को दूर करने का उपाय पर से माना है, वह महान मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई! तेरा आत्मा त्रिकाल अनन्त गुणों की मूर्ति है, उसमें पाप है ही नहीं; इसलिए पर का आश्रय छोड़कर अपने आत्मा के ही सन्मुख देख! आत्मा में कहीं आकुलता नहीं है। आत्मा, ज्ञान करे अथवा अपने में स्थित हो तो उसमें आकुलता नहीं है; शरीर में रोग हो, उसे जानने में आकुलता नहीं है किन्तु शरीर, पैसादि में ममत्व रखना, वह आकुलता है; ज्ञान करने में आकुलता नहीं है। यदि ज्ञान करना आकुलता का कारण हो तो वह आत्मा का स्वरूप हो जाए और आकुलता कभी भी ज्ञान से पृथक् न हो। सर्वज्ञ भगवान समस्त विश्व को जानते हैं तथापि उनके आकुलता का अंश भी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान में आकुलता नहीं है। आत्मा के अस्तित्व धर्म में भी आकुलता नहीं है। आकुलता का नाश होने पर, आत्मा में से कुछ कम नहीं हो जाता; आकुलता का नाश होने पर भी आत्मा का परिपूर्ण अस्तित्व बना रहता है; इसलिए आत्मा के अस्तित्व में राग या आकुलता नहीं है। इस प्रकार आत्मा के किसी गुण में आकुलता नहीं है। आकुलता के अभाव में, अपने अनन्त गुण-पर्यायों को आत्मा बनाए रखता है।

जिसे आत्मा की आवश्यकता हो, उसे संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती और जिसे संसार रखना हो, उसे आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। संसार की चारों गतियों को तिलाञ्जलि देकर आये कि 'अब इस संसार का अन्त हो, मुझे संसार नहीं चाहिए' – उसे आत्मा की प्राप्ति होगी। संसार का कोई भी एक राग जिसे रुचिकर लगता होगा – पुण्य की, स्वर्ग की भी जिसे प्रीति होगी, वह जीव आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। यदि तुझे आनन्दमूर्ति आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा है तो शरीर और विकार को 'हराम' समझ कि मुझे अब वह कुछ नहीं चाहिए। एक चिदानन्द आत्मा के अतिरिक्त शरीर या विकार

कुछ भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो ज्ञान हूँ। इस प्रकार ज्ञान द्वारा आत्मा को ढूँढ़ने पर, उसमें ज्ञान के साथ आनन्दादि अनन्त शक्तियाँ प्राप्त होंगी परन्तु विकार, शरीर या पैसा, सन्तानादि की प्राप्ति उसमें से नहीं हो सकती।

आत्मा की सत्ता में अनन्त आनन्द है। ऐसे आत्मा के भानसहित चक्रवर्ती को बाह्य में छह खण्ड का राज्य और छियानवे हजार रानियाँ इत्यादि वैभव था, लेकिन 'हराम' है जो वे उसमें कहीं भी आनन्द मानते हों तो! अस्थिरता का जो राग है, उसे भी आत्मा के सच्चे स्वरूप में नहीं गिनते; आत्मा में ही आनन्द माना है। चैतन्यतत्त्व में परमज्ञान-आनन्दादि अनन्त शक्तियाँ हैं किन्तु उसमें पुण्य-पापादि विकारी तत्त्व नहीं है; ऐसे चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। अहो! सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के अतिरिक्त कहीं भी सुख नहीं देखता; वह अपने आत्मा में ही सुख को देखता है। ज्ञान के साथ सुखादि अनन्त गुण, आत्मा में साथ ही उछलते हैं - ऐसे अनेकान्त को देखनेवाले धर्मात्मा की दृष्टि अपने आत्मा पर ही है; इसलिए आत्मा की दृष्टि में उसे सुख ही है। वह न तो पर से सुख मानता है और न अपने स्वभाव में दुःख देखता है; स्वभाव तो सुखशक्ति से ही परिपूर्ण है।

आत्मा के स्वभाव में आकुलता तीन काल में नहीं है और अनाकुलता तीन काल में दूर नहीं होती। एक समय में पूर्ण द्रव्य का वेदन नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार लड्डू का एक ग्रास खाने से ही पूरे लड्डू के स्वाद का ज्ञान हो जाता है परन्तु वह सारा स्वाद वेदन में नहीं आ जाता; उसी प्रकार ज्ञान को अन्तर्मुख करने से त्रिकाली आनन्द का ज्ञान हो जाता है परन्तु द्रव्य-गुण का त्रिकाली आनन्द एक समय के वेदन में नहीं आ जाता। यदि एक समय की पर्याय में ही त्रिकाली द्रव्य-गुण के आनन्द का व्यक्तरूप से वेदन हो जाये तो आनन्दशक्ति कहाँ रही और दूसरे समय का आनन्द कहाँ से आयेगा? द्रव्य-गुण का आनन्द तो त्रिकाल अनादि-अनन्त है और पर्याय का आनन्द एक समयपर्यन्त का है, वह नवीन प्रगट होता है; प्रगट होने के पश्चात् प्रति समय नवीन-नवीन होकर सादि-अनन्त है। पर्याय के आनन्द का प्रवाह द्रव्य-गुण में से आया है; इसलिए वह आनन्द द्रव्य-गुण में से सदैव आता ही रहेगा; द्रव्य के साथ सदैव वह आनन्द टिका रहेगा। जिसे ऐसे आत्मद्रव्य की श्रद्धा हुई, उसे 'मेरा आनन्द कोई लूट ले

जायेगा' – ऐसी शङ्का नहीं रहती; यह सुखशक्ति अथवा तो आनन्दशक्ति, शक्तिमान द्रव्य के आश्रय से स्थित है। प्रत्येक आत्मा ऐसी अनन्त शक्ति से परिपूर्ण परमात्मा है, उसकी प्रतीति करना, वह जैनधर्म का सम्यग्दर्शन है और वही मुक्ति का प्रथम सोपान है। जब तक अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास स्वयं को ही अन्तर से जागृत न हो, तब तक परमात्मा होने के उपाय का प्रारम्भ नहीं होता। अनन्त शक्ति के चैतन्यपिण्ड में कोई एक गुण पृथक नहीं है; इसलिए एक गुण को लक्ष्य में लेते हुए परमार्थतः अनन्त गुणों से अभेद आत्मा का ही लक्ष्य हो जाता है। इन शक्तियों के वर्णन द्वारा अनन्त शक्तियों के पिण्ड पूर्ण आत्मा को बतलाने का प्रयोजन है।

आत्मा में सुखशक्ति त्रिकाल है; वह ऐसा प्रगट करती है कि यदि आत्मा की आवश्यकता हो तो दुःख को नहीं रखा जा सकता। आत्मा को अङ्गीकार करने के पश्चात् दुःख चाहोगे तो भी नहीं मिलेगा। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन की ऐसी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे अङ्गीकार करेगा, उसे अवश्य ही मोक्ष में ले जाऊँगा; उसी प्रकार जिसे आत्मा के परमसुख की आवश्यकता हो, उसे इन्द्रियसुख नहीं मिलेगा और अतीन्द्रिय चैतन्यसुख की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसी सुखशक्तिवाले आत्मा की जो प्रतीति करे, उसे पर्याय में सुख प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल सुखरूप हैं और उनका स्वीकार करके उनकी ओर उन्मुख होने से पर्याय भी सुखरूप हो गयी। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों सुखरूप हैं। साधक का ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञानक्रिया के साथ ऐसी सुखशक्ति भी उछलती है।

[यहाँ पाँचवीं सुखशक्ति का वर्णन पूरा हुआ]

[६]

वीर्यशक्ति

स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः।

स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति।

वीर्यशक्ति, अर्थात् निजस्वरूप को रचने का सामर्थ्य; आत्मा में अनन्त स्वभावसामर्थ्य है, उसको जो न पहचाने तो वह सामर्थ्य कहाँ से प्रगट होगा? हे जीव! तेरे केवलज्ञानादि स्वरूप की रचना करने का सामर्थ्य तुझमें भरा है, उस सामर्थ्य की सँभाल करते ही तेरी पर्याय में सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की रचना होगी।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं; उनमें से जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति, और सुखशक्ति का वर्णन किया। अब, छठी वीर्यशक्ति का वर्णन करते हैं। अपने स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है। इस वीर्यशक्ति ने पूर्ण चैतन्यवस्तु को स्वरूप में स्थित कर रखा है। वीर्यशक्ति, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है। पर्याय में भी अपनी रचना का सामर्थ्य है। वस्तु के अनन्त गुण हैं, वे सब निज-निज स्वरूप से अनादि-अनन्त विद्यमान हैं। ज्ञान, अनादि-अनन्त ज्ञानरूप से बना रहता है; सुख, अनादि-अनन्त सुखरूप से टिका रहता है; अस्तित्व, अनादि-अनन्त अस्तित्वरूप से टिका रहता है - ऐसा प्रत्येक गुण का सामर्थ्य है। जिस प्रकार गुण अनादि-अनन्त निजस्वरूप से टिका रहता है, ऐसा वीर्यगुण है; उसी प्रकार अनादि-अनन्त पर्यायों में प्रत्येक पर्याय अपने स्वरूप में प्रति समय के सत्‌रूप से बनी रहती है; कोई पर्याय अपना स्वरूप छोड़कर इधर-उधर नहीं होती - ऐसा प्रति समय की पर्याय का वीर्य है।

द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय, वह आत्मा का स्वरूप है; उस स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। यह शक्ति, स्वरूप की ही रचना करती है; जो राग की रचना करे, वह आत्मवीर्य नहीं है। यदि वीर्यशक्ति राग की रचना करती हो, तब

तो सदैव राग को रचती ही रहे, तब फिर रागरहित मुक्तदशा कब होगी ? इसलिए शुभराग को जमाए या रागादि विकार की रचना-उत्पत्ति करे, ऐसा चैतन्य की वीर्यशक्ति का स्वरूप नहीं है। परवस्तु में कुछ भी उथल-पुथल करे, ऐसा तो आत्मा का बल नहीं और विकार करे, ऐसा भी वास्तव में आत्मा का बल नहीं है। आत्मा का बल तो अपने स्वरूप की रचना करने का है। आत्मा में एक ऐसा चैतन्य बल है कि किसी दूसरे की सहायता के बिना स्वयं अपने स्वरूप की रचना करता है।

यहाँ 'स्वरूप की रचना' करना कहा, उसका अर्थ क्या ? कहीं स्वरूप को नवीन नहीं बनाना है किन्तु आत्मा की सत्ता निरन्तर निजस्वरूप में स्थित रहती है, उसका नाम ही स्वरूप की रचना है। आत्मा अपने धर्मों के द्वारा विकार की या पर की रचना नहीं करता। 'मैं पर की रचना कर दूँ' - ऐसी कल्पना अज्ञानी करता है, वह उसकी मूढ़ता है। शरीर की, मकान की, वचन की आदि किसी भी परद्रव्य की रचना करने की शक्ति आत्मा में है ही नहीं। अमुक आहार को ग्रहण करना और अमुक को छोड़ना, ऐसी आहार की रचना करने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है; वे समस्त जड़ की क्रियाएँ, जड़वीर्य से, अर्थात् पुद्गल के सामर्थ्य से होती हैं; आत्मा का किञ्चित् भी बल उसमें नहीं चलता। दया अथवा हिंसादि राग को बनाए - ऐसा भी आत्मा का सामर्थ्य नहीं है।

द्रव्य-गुण-पर्यायमय अखण्ड तत्त्व को स्वरूप में टिका रखे, ऐसी आत्मा की वीर्यशक्ति के वर्णन द्वारा शक्तिमान पूर्ण आत्मा को बतलाया है; प्रतीति का-द्रव्यदृष्टि का विषय बतलाया है। यह तो आचार्यदेव के महामन्त्र हैं। जिस प्रकार बीन का मधुर नाद सुनकर सर्प बाहर निकलता है और विष को भूलकर डोलने लगता है; उसी प्रकार चिदानन्दी आत्मा के अनन्त गुणों के वर्णनरूपी आचार्यदेव की सुमधुर बीन का नाद सुनकर, भव्य आत्मा जागृत होता है और विकार को भूलकर अपने स्वरूप में डोल उठता है कि अहो! मैं तो त्रिकाल अपने अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ; मेरे गुण किसी अन्य की सहायता के बिना, स्वयं अपने स्वभाव सामर्थ्य से टिक रहे हैं - इस प्रकार अपनी शक्ति की सम्भाल करके आत्मा आनन्द में डोल उठता है।

आत्मा के स्वरूप में संसार है ही नहीं; वीतरागदेव की वाणी में कहा गया मुनि का

या सम्यग्दृष्टि का जो व्यवहार है, उस व्यवहार के शुभराग की रचना करने का बल आत्मा में नहीं है। यदि आत्मा में राग को रचने की शक्ति हो, तब तो वह त्रिकाल राग की ही रचना करता रहे। राग तो क्षणिक है और वीर्यशक्ति त्रिकाल है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु उसमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि जो संसार की रचना करे। आत्मा के स्वरूप में विकार भरा नहीं है, तब फिर आत्मा की शक्ति विकार को कहाँ से रचेगी? जीव, पर्यायबुद्धि से ही संसार परिणाम को उत्पन्न करता है, पर्यायबुद्धि में ही संसार की (विकार को) रचना है; स्वभावबुद्धि में संसार की रचना नहीं है। यहाँ स्वभावदृष्टि से ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। आत्मा की वीर्यशक्ति भी ऐसी है कि वह द्रव्यदृष्टि से स्वरूप की रचना करती है; वह विकार को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करती। जो ऐसी स्वभावशक्ति का स्वीकार करे, उसका वीर्यबल स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा और उसकी पर्याय में भी निर्मल-निर्मल पर्यायों की ही रचना होने लगेगी।

अनन्त गुणों के पिण्डरूप सम्पूर्ण द्रव्य को टिका रखे, ऐसी आत्मवीर्य की शक्ति समस्त गुणों में व्यापक है; इसलिए समस्त गुण, निजस्वरूप से ही टिके रहते हैं; कोई गुण, अन्य गुणरूप नहीं हो जाता।

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से प्रत्येक प्रदेश अनादि-अनन्त निजस्वरूप से रहता है; एक प्रदेश, कभी दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; असंख्य प्रदेश जैसे के तैसे अखण्डित स्व प्रदेशरूप से विराज रहे हैं - ऐसा आत्मा का क्षेत्रवीर्य है।

और प्रत्येक गुण की अनादि-अनन्त काल की अवस्थाओं में प्रत्येक समय की अवस्था का वीर्य स्वतन्त्र है; उस अवस्था का वीर्य ही अवस्था की रचना करता है। अवस्था का प्रत्येक समय का वीर्य, भिन्न-भिन्न है और द्रव्य-गुण का वीर्य, त्रिकाल है।

इस प्रकार आत्मा की वीर्यशक्ति, द्रव्य के सामर्थ्य को टिका रखती है; अनन्त गुणों को निज-निज स्वरूप से टिका रखती है और प्रत्येक समय की पर्याय की रचना करती है; ऐसी स्वरूपरचना करने का उसका सामर्थ्य है परन्तु आत्मा अपने वीर्यसामर्थ्य द्वारा पर को रचना नहीं कर सकता। शरीर को टिकाना अथवा भाषा की रचना करना, वह आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है। आत्मा का स्वभाववीर्य, विकार की या जड़ की रचना नहीं

करता। पर्याय में एक समयपर्यन्त की विकार की योग्यता है, वह आत्मवीर्य का स्वभाव नहीं है; त्रिकाल शक्ति में विकार की योग्यता भी नहीं है। ऐसी स्वभावशक्ति की प्रतीति कराने के लिए यहाँ द्रव्यदृष्टि से विकार में अटकनेवाले वीर्य को, आत्मा का वीर्य माना ही नहीं है। चैतन्य के द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना करे - ऐसी वीर्यशक्ति की सामर्थ्य है वे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों निर्मल हैं। प्रथम अपने ऐसे स्वभाव का विश्वास आये तो उसके बल से साधकदशा का विकास होता है।

जो विकार की रचना करने का ही अपने वीर्य का सामर्थ्य मानता है, उसके तो पूरे आत्मा को ही विकारी माना है। किसी भी विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह बढ़कर एक समय से अधिक टिक सके, क्योंकि आत्मा की वीर्यशक्ति, विकार की रचना नहीं करती। अहो! भगवान आत्मा, विकारभाव की रचना भी नहीं करता, तब फिर जगत की सृष्टि की रचना तो कहाँ से करेगा? कोई भी आत्मा, पर की रचना करता है - ऐसा मानना वह महान मूढ़ता है-महान अधर्म है। जिनके अनन्त आत्मबल प्रगट हुआ है, ऐसे सिद्ध भगवान में भी पर की रचना करने का सामर्थ्य किञ्चित्मात्र नहीं है। अपने स्वरूप की रचना का परिपूर्ण सामर्थ्य है और पर की रचना करने का किञ्चित् भी सामर्थ्य नहीं है - ऐसी अस्ति-नास्ति है।

यह छह द्रव्यमय सृष्टि स्वयंसिद्ध है, कोई उसका रचयिता नहीं है। 'रचना करनेवाला ईश्वर है' - ऐसा कहकर अज्ञानी लोग, पर को जगत का रचयिता मानते हैं परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपनी रचना करनेवाला ईश्वर है; यह वीर्यशक्ति ही स्वरूप की रचना करती है। आत्मा स्वयं ही अपने द्रव्य-गुण पर्याय की रचना वीर्यशक्ति द्वारा करता है; इसके अतिरिक्त कोई ईश्वर या निमित्त, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय की रचना करनेवाले नहीं हैं। ऐसी वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। ऐसी अनन्त शक्तियों से अभेदरूप आत्मा को प्रतीति में लेना, वह प्रथम धर्म है।

ज्ञान, सुख, वीर्यादि अनन्त गुण आत्मा में हैं; उन समस्त गुणों का आधार आत्मा ही है, किसी राग या शरीरादि के आधार से वे गुण विद्यमान नहीं हैं और न मात्र पर्याय के ही आधार से हैं। जिस प्रकार वे शक्तियाँ स्थित रहने के लिए किसी अन्य का आधार नहीं

रखतीं, उसी प्रकार परिणमित होने के लिए भी किसी अन्य का आश्रय नहीं करतीं। यहाँ आत्मा की शक्तियों के वर्णन में पर की और विकार की उपेक्षा है।

आत्मा में 'वीर्य' नामक शक्ति त्रिकाल है। वीर्य, अर्थात् आत्मबल; वह आत्मा के ही आधार से है। शरीर निर्बल हो या बलवान हो, वह आत्मशक्ति का कार्य नहीं है। शरीर से तो आत्मा की शक्ति अत्यन्त भिन्न है। वर्तमान अवस्था की रचना हो, उसमें अवस्था का स्वतन्त्र सामर्थ्य है; अवस्था की रचना करे, ऐसा अवस्था का वीर्य है। त्रिकाली वीर्यशक्ति के वर्तमान परिणमन में ही वर्तमान अवस्था की रचना करने का सामर्थ्य है। जो ऐसा स्वीकार करें, उसकी बुद्धि त्रिकाली तत्त्व पर जाती है क्योंकि वीर्यशक्ति, मात्र पर्याय जितनी नहीं है किन्तु वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है।

वीर्यशक्ति कहो या पुरुषार्थ कहो, दोनों एक ही हैं। आत्मा की प्रत्येक पर्याय में पुरुषार्थ का परिणमन साथ ही रहता है। पुरुषार्थरहित आत्मा एक समय भी नहीं होता।

कोई कहे कि 'जैन लोग तो सर्वज्ञ को मानते हैं; इसलिए उसमें पुरुषार्थ नहीं है' - तो उस मिथ्यादृष्टि का तर्क विपरीत है। मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ नहीं है - ऐसा जो कहता है, उसने मोक्षमार्ग में आत्मा को ही नहीं माना है क्योंकि जहाँ पुरुषार्थ नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है।

अनन्त शक्तियों में से यदि एक भी शक्ति को न माने तो उसने आत्मा को ही नहीं माना। एक शक्ति का निषेध करने से शक्तिमान आत्मा का निषेध हो जाता है। यदि वीर्य-पुरुषार्थ न हो तो मोक्षमार्ग की रचना कौन करेगा? स्वरूप की रचना का सामर्थ्य तो वीर्यशक्ति में है और जो पुरुषार्थ को नहीं मानता, उसने वास्तव में सर्वज्ञ को भी नहीं माना है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान ने तो मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ का परिणमन साथ ही देखा है; उसे जो न माने, उसने वास्तव में सर्वज्ञ के ज्ञान को स्वीकार ही नहीं किया है। सर्वज्ञदेव की 'सर्वज्ञता' का निर्णय करनेवाली अपनी पर्याय में भी अनन्त सम्यक् पुरुषार्थ विद्यमान है। जिस जीव को अपने सम्यक् पुरुषार्थ का भास नहीं होता, उसने सर्वज्ञ को नहीं माना है और पुरुषार्थवत् अपने आत्मा का भी उसने अस्वीकार किया है; वह तो नास्तिक की भाँति मिथ्यादृष्टि है।

बाह्य में अनुकूल सामग्री मिले या योग्य निमित्त प्राप्त हों तो मेरा पुरुषार्थ जागृत हो,

ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसने वीर्यशक्ति को आत्मा का नहीं माना है किन्तु पर के आश्रय से माना है। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तेरी अनन्त शक्तियाँ तेरे आत्मा के आश्रय से ही परिणमित हो रही हैं; इसलिए तू अपने आत्मा के सन्मुख देख! आत्मा के सन्मुख देखने से तेरी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से विकसित हो जायेंगी। आत्मा की वीर्यशक्ति का स्वभाव ऐसा है कि वह स्वरूप की ही रचना करती है; विकार की रचना नहीं करती। आत्मा की स्वरूप-अवस्था की रचना कोई भी पर नहीं कर सकता और न आत्मा किसी पर की रचना कर सकता है। एक समयपर्यन्त का विकार तो कृत्रिम, क्षणिक, एक समयपर्यन्त का भाव है; विकार की उत्पत्ति करे, ऐसा वीर्यशक्ति का स्वरूप नहीं है। जो राग-द्वेष में अटकता है, वह भी आत्मा का वीर्य है परन्तु उस विकार जितनी ही वीर्यशक्ति नहीं है; वीर्यशक्ति त्रिकाल है। उस त्रिकाल की दृष्टि में एक समय के विकार का अभाव है; इसलिए जो विकार में अटके, उसे यहाँ आत्मवीर्य नहीं माना है। विकार को भी आत्मा नहीं माना है; द्रव्य-गुण और उसमें अभेद हुई निर्मल परिणति को ही यहाँ आत्मा माना है।

आत्मा की वीर्यशक्ति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को निजस्वरूप में टिका रखती है। अपने जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द, प्रभुत्व आदि की रचना करे - उसे प्राप्त करे - प्रगट करे, वह वीर्यशक्ति का कार्य है। आत्मा अपने वीर्यगुण से अपनी सृष्टि का सर्जन करता है परन्तु पर की सृष्टि का वह सर्जक नहीं है। वीर्यशक्ति, आत्मा के समस्त गुणों में व्यापक है; इसलिए आत्मा का प्रत्येक गुण, स्वयं अपनी पर्याय का सर्जन करने में समर्थ है। देव-गुरु-शास्त्रादि कोई निमित्त आकर आत्मा की पर्याय का सर्जन करें, यह बात तो दूर रही; पुण्य द्वारा आत्मा की निर्मल पर्याय का सर्जन होता है, यह बात भी दूर रही, किन्तु आत्मा का एक गुण भी दूसरे गुण की पर्याय का सर्जन नहीं करता; प्रत्येक गुण स्वयं अपनी पर्याय का सर्जन करता है। श्रद्धागुण के आश्रय से श्रद्धा की पर्याय का सर्जन होता है, ज्ञानगुण के आश्रय से ज्ञान की पर्याय का सर्जन होता है, चारित्रगुण के आश्रय से चारित्र की पर्याय का सर्जन होता है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से समस्त गुणों की निर्मल पर्याय की रचना एक साथ होती जाती है। इसके अतिरिक्त मन्द कषाय से, अर्थात् व्रत-भक्ति आदि के शुभपरिणाम से सम्यक् श्रद्धा आदि पर्यायों की रचना नहीं होती।

आत्मा, वीर्यशक्ति से स्वयं स्वतन्त्ररूप से अपने स्वरूप की रचना करता है; स्वरूप की रचना करने के लिए किसी विकल्प का या दिव्यध्वनि के उपदेश का आश्रय उसके नहीं है। पर के कारण, पर्याय विकसित हो ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है; अपनी पर्याय के विकास के लिए जिसने पर का आश्रय माना है, वह मिथ्यादृष्टि है और उसकी वह पराश्रय की मान्यता ही संसार का मूलकारण है। त्रिकालशक्ति के आश्रयपूर्वक प्रत्येक समय की पर्याय उस-उस काल के स्वतन्त्र वीर्यसामर्थ्य से परिणमित हो रही है; उसे किसी पर की तो अपेक्षा नहीं है किन्तु अपनी पूर्व पर्याय तक की अपेक्षा नहीं है। अहो! निरपेक्ष स्वतन्त्र वीर्य, प्रति समय आत्मा में उछल रहा है। यदि अपनी ऐसी शक्ति को पहचाने तो अपनी पर्याय को रचना के लिए पराश्रय की बुद्धि छूट जाए और स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मल-निर्मल पर्याय की रचना हो - उसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है।

आत्मा, पर का कुछ कर्ता है, यह बात तो इस समय यहाँ नहीं है और पर का नहीं करता, यह बात भी यहाँ नहीं है क्योंकि आत्मस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ पर सन्मुख लक्ष्य ही नहीं है। स्वभावदृष्टि में आत्मा, राग को करे, यह बात भी नहीं है किन्तु आत्मा, राग को दूर करे, यह बात भी नहीं है क्योंकि स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा में राग है ही नहीं; इसलिए उसे दूर करना भी कहाँ रहा? ऐसी स्वभावदृष्टि करना ही वीतरागता का मूल है। यहाँ मात्र स्वभावदृष्टि के विषय का वर्णन है।

राग की रचना करे, ऐसा तो आत्मा का स्वभाव नहीं है और उस राग को दूर करने पर भी लक्ष्य नहीं है; मात्र स्वरूप में ही लक्ष्य है; स्वरूप के लक्ष्य (आश्रय) से वीतरागी पर्याय की रचना हो जाती है। वस्तुस्वभाव की दृष्टि से निर्मल पर्याय की रचना करे, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है। 'आत्मा ही' उसे कहा है, जिसके सामर्थ्य से निर्मल स्वरूप की ही उत्पत्ति हो; जिससे विकार की उत्पत्ति हो, उसे आत्मा नहीं कहते। (उसे आस्रव कहते हैं)।

यदि आत्मस्वरूप स्वयं राग की उत्पत्ति करे, तब तो राग कभी दूर ही न हो सके और यदि उसमें पर की रचना का सामर्थ्य हो तो वह पर से कभी पृथक् न हो सके। जो जिसकी रचना—उत्पत्ति करे, वह उससे पृथक् नहीं रह सकता। आत्मा, राग को उत्पन्न करनेवाला नहीं है; इसलिए उसका दूर करनेवाला भी नहीं है। यदि आत्मा, स्वभाव से राग

को दूर करनेवाला हो तो सदैव राग को ही दूर करता रहे, अर्थात् सदैव राग पर ही लक्ष्य बना रहे; रागरहित स्वरूपोन्मुख न हो सके। 'मैं राग को करूँ' – ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसका लक्ष्य राग पर है किन्तु आत्मस्वभाव पर उसका लक्ष्य नहीं है। यहाँ तो सर्वत: शुद्ध आत्मस्वरूप को बतलाना है। उस स्वरूप की दृष्टि में तो एक सहज शुद्ध आत्मा की ही अस्ति है; इसके अतिरिक्त उसमें अन्य किसी भाव का स्वीकार नहीं है।

अहो! आत्मा मात्र, भगवान् है, स्वयं ही चैतन्य परमेश्वर है; जीवत्व, ज्ञान, सुख, आनन्द आदि अनन्त गुणों को स्व-स्वरूप में परिणमित करके स्वरूप की रचना करने का ही उसका सामर्थ्य है।

प्रश्न – क्या आरम्भ से ही ऐसा आत्मा समझना चाहिए अथवा पहले अन्य कुछ करना चाहिए?

उत्तर – यदि धर्म करना हो – आत्मा का कल्याण करना हो तो सर्व प्रथम ऐसे आत्मा को समझना चाहिए, क्योंकि धर्म अपने आत्मा में से ही प्रगट होता है; कहीं बाह्य से धर्म नहीं आता। धर्म करने के लिए सबसे पहली रीति यही है; अन्य कोई रीति नहीं है। आत्मा, देह से – इन्द्रियों से पार तथा पुण्य-पाप के अभावरूप अनन्त शक्ति का पिण्ड, ज्ञायकमूर्ति है; उस आत्मा के स्वरूप की सच्ची प्रतीति करना ही धर्म का प्रारम्भिक उपाय है।

आत्मा के अनन्त स्वभाव-सामर्थ्य का अस्वीकार करे, उसे जानकर उसका स्वीकार न करे तो वह सामर्थ्य कहाँ से प्रगट होगा? जहाँ सत्ता विद्यमान है, उसमें से आयेगी या बाह्य से? परमात्मपने की सत्ता अपने में भरी है; उसका स्वीकार करके उसके सन्मुख हुए बिना परमात्मदशा विकसित नहीं होती। जगत के समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वकालानुसार परिवर्तित हो रहे हैं; उसमें इन्द्र भी क्या करेंगे और तीर्थङ्कर भी? यदि ऐसी वस्तुस्थिति को समझे तो कहीं भी पर का मिथ्या अहङ्कार न रहे; इसलिए पर से और विकार से उदासीन होकर ज्ञायकस्वरूप का उत्साह जागृत हुए बिना न रहे। अहो! क्रमबद्धपर्याय में वस्तुएँ परिणमित हो रही हैं – इस निर्णय में तो परम वीतरागता है, अकेले ज्ञायकभाव का ही मन्थन होता है। इस ज्ञान और वीतरागता के पुरुषार्थ की अज्ञानी को गन्ध भी नहीं है; इसलिए वह उसे एकान्त, नियतवाद कहता है।

साधक को अभी अवस्था में कुछ निर्बलता है परन्तु परिपूर्ण स्वभाव-सामर्थ्य की स्वीकृति में अवस्था की निर्बलता का अथवा विकार का निषेध है। स्वभाव के सामर्थ्य में कैसी निर्बलता ? स्वभाव का सामर्थ्य कहना और उसमें निर्बलता कहना, वह तो 'मेरे मुँह में जिह्वा नहीं है' - ऐसा कहने के समान हुआ! यहाँ तो अखण्डस्वभाव की दृष्टि में प्रथम श्रद्धा और फिर चारित्र का विकास होता है - ऐसे भेद की भी मुख्यता नहीं है। अपने स्वरूप की प्राप्ति करे, ऐसी वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है और ऐसी अनन्त शक्तियों से अभेद, आत्मा है; उस आत्मा के आश्रय से ज्ञानमात्र भाव का परिणमन होने से, अनन्त शक्तियाँ एक साथ निर्मलरूप से विकसित हो जाती हैं - ऐसा आत्मा का अनेकान्त स्वभाव है।

*आत्मसामर्थ्य बल; जो आत्मस्वरूप में निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि स्वसामर्थ्य की रचना करे, उसे वीर्यशक्ति कहते हैं। आत्मा, शरीर-पुण्य-पापरहित है; उसमें वीर्यगुण क्या काम करता है ? अतीन्द्रिय ज्ञानमयस्वरूप की रचना करता है, अर्थात् उसमें निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, सुख की रचना करता है परन्तु शरीर की क्रिया, छह पर्याप्ति की रचना करे, वह आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है। आत्मा तो नित्य चैतन्यस्वभावी है, उसमें राग को रचने की योग्यता नहीं है। पञ्च महाव्रत का विकल्प, वह शुभराग है-आस्रवतत्त्व है, उसे विषकुम्भ कहा है क्योंकि उसमें आत्मस्वभाव को रचने की योग्यता ही नहीं है। सुवर्ण से सोने के बर्तन बनते हैं; उसी प्रकार आत्मा के वीर्यगुण की सम्भाल करते ही - वीर्यवान अनन्त गुण सम्पन्न आत्मा के ऊपर दृष्टि देने से साथ में अनन्त गुणों के निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति हो, वह वीर्य का कार्य है। पुण्य, पाप, मिथ्यात्व की रचना करे, वह वीर्य का विपरीत कार्य है; उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहते। अज्ञानभाव से रागादि की रचना करे, उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहा जाता। अहो! भगवान! तुझे श्रुतामृत के घृत से भरपूर मिष्ठान परोसा जा रहा है।

भगवान आत्मा का स्वभाव नित्य ज्ञानामृत का भोजन करने का है, ऐसे निजस्वरूप की आराधना करने से, 'मैं अनन्त बल का प्रकाश करनेवाला अपार वीर्य का धारक अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा हूँ' - ऐसी दृष्टिपूर्वक निर्विकारी आत्मकार्य करे, वह आत्मा के

* **यहाँ से आगे का पूरा प्रवचन गुजराती आत्मप्रसिद्धि में उपलब्ध नहीं है, किन्तु आत्मधर्म एवं पूर्व प्रकाशित हिन्दी आत्मप्रसिद्धि ग्रन्थ में उपलब्ध है; इसलिए यहाँ ज्यों का त्यों दिया जा रहा है। - सम्पादक**

वीर्य का कार्य है। आँखों की पलकें ऊपर-नीचे हों, उसमें आत्मा के वीर्य का कार्य है या नहीं ? नहीं ! जड़ के कार्य स्वतन्त्ररूप से पुदलद्रव्य ही करता है। व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने किया किन्तु आत्मा, पर का कार्य नहीं कर सकता। यह पुरुष बहुत बलवान है, एक मुक्का मारे तो ऐसा हो जाए, एक बात कह दे तो ऐसा हो जाए, अरे ! यह तो स्थूल व्यवहारकथन है।

प्रश्न - दूसरा कोई निमित्त तो हो सकता है न ?

उत्तर - निमित्त का अर्थ इतना ही है कि जहाँ यह हो, वहाँ वह होता है, अर्थात् उपादान का निमित्त ने कुछ भी कार्य नहीं किया है क्योंकि दोनों भिन्न हैं। स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कहते हैं। उपादान ने कार्य किया उस समय भिन्न वस्तुरूप सामने कौन था, वह बताने के लिए निमित्त की मुख्यता से कथन आता है किन्तु निमित्त से पर में कार्य हुआ, निमित्त ने कुछ प्रभाव-मदद-प्रेरणा की तो दूसरे का कार्य हुआ, यह बात त्रिकाल मिथ्या ही है।

अहो ! द्रव्यदृष्टि का वर्णन !

अहो ! मैं चैतन्यशक्ति का पिण्ड द्रव्य हूँ, उसमें दृष्टि देने से चैतन्यरत्नाकर के माहात्म्य का जो ज्वार आया, वह सबकी स्वतन्त्रता सबमें देखता हूँ किन्तु जब तक संयोगी दृष्टि है, तब तक तूने स्वयं का भी स्वतन्त्र पूर्णरूप में अवलोकन नहीं किया।

प्रश्न - बाह्य कार्यों के साथ जीव की इच्छा का सम्बन्ध है या नहीं ?

उत्तर - नहीं। इच्छा, ज्ञान का कार्य नहीं है; जो राग की रचना करे, उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहा जाता।

आत्मा, ज्ञान करे अथवा अज्ञानभाव से राग करे किन्तु वह पर का कर्ता नहीं हो सकता। कोई जीव, धनादि परवस्तु का संग्रह या त्याग कर सकते नहीं; व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठे, उसमें आत्मद्रव्य कभी भी कारण नहीं है। शुभाशुभराग के कारण में पर्यायदृष्टि से पर्याय, कारण है किन्तु वह योग्यता द्रव्यस्वभाव में नहीं है। अहो ! तेरा नित्य चैतन्य ज्ञातास्वभाव है; विकल्प को छोड़ना या ग्रहण करना, वह तेरा कार्य नहीं है। अन्दर एकता होते ही ज्ञान का वीर्य, दर्शन, सुख आदि अनन्त गुणों का वीर्य एक साथ उछलता

है, वह सब में वीर्यत्व बताता है। उन अनन्त गुणों का आधार आत्मा है, उस पर दृष्टि देने से धर्म होता है। यह बात जैनमत के अलावा और कहाँ हो सकती है ?

स्वरूप को अवलोकन करने से पर ज्ञेय ज्ञात हो जाते हैं। निर्धनता-दरिद्रता हो और उस समय कहीं खोदने से सुवर्ण का भण्डार मिल जाये तो कितना हर्ष-उत्साह हो जाता है किन्तु वह तो धूल है, स्वप्नसमान है। मैं सबको जाननेवाला, असङ्ग अविकारी अनन्त गुणों का धाम हूँ; पराश्रय की दृष्टि छोड़कर, निश्चयदृष्टि से निज को अवलोकन करते ही मैं अनन्त गुणों का धारक ज्ञायक वीर हूँ, उसकी महिमा का परम आनन्द उछलता है और उसके साथ ही अनन्त गुणों का आनन्द भी अनुभव में उछलता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव धर्म धुरन्धर थे, निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में झूलते थे, उनको भी व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता अवश्य था किन्तु उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते थे तथा उसमें वीर्य रुक जाये तो उसको आत्मा के वीर्य का कार्य न कहकर आस्रवतत्त्व में और पुद्गलद्रव्य में सम्मिलित कर देते थे। औदयिकभाव की रचना करे, वह आत्मतत्त्व नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानप्रधान कथन से औदयिकभाव को स्वतत्त्व कहा है किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा, ज्ञातास्वभाव से भिन्न कहकर, विरुद्ध तत्त्व में (अजीव में) उसका समावेश कर दिया है। चैतन्यस्वभाव की सम्भाल करने से वह रागादि का रचयिता भासित नहीं होता। चारित्र के दोष से राग की रचना होती है किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; इस प्रकार राग से भेद करके अभेदस्वरूप का ही आदर कराया है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में अकर्तापने का पुरुषार्थ है। मैं ज्ञातातत्त्व हूँ, स्वभाव की दृष्टि हुई, वह स्वभाव का ही कार्य करती है - आत्मा को जागृत करती है, आत्मा में वीर्य नाम का गुण है तथा पुरुषार्थ उसकी पर्याय है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में अकर्तापने का, स्वभाव सन्मुख ज्ञातापने का पुरुषार्थ है, उसमें समस्त विभाव की उपेक्षा है। मैं क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाला हूँ। ज्ञानस्वभाव के ऊपर दृष्टि पड़ी, वह स्वाभाविक कार्य करती है और आत्मा को प्रसिद्ध करती है।

नियति का निश्चय करनेवाला जागृत हुआ, वह स्वसन्मुख ज्ञातापने के पुरुषार्थ में लगा हुआ ही रहता है। द्रव्य-गुण और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय, तीनों स्व से सत्

हैं और पर से असत् हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अकृत्रिम हैं - पर के द्वारा किये हुए नहीं हैं तथा पर के अकर्ता हैं; इस प्रकार नियतस्वभावी धर्म को जाना, उसको अक्रम अनन्त गुणों का पिण्ड एकरूप ज्ञायकभाव, सो मैं हूँ, उसमें दृष्टि देते हुए प्रचण्ड वीर्य उल्लसित होता है और वह केवलज्ञान का साधक चैतन्य प्रभु की ज्ञानानन्दमय तरङ्गों को उछालता हुआ, पर के और राग के कार्यों का कर्ता नहीं होता। ज्ञान और आनन्द की रचना करनेवाला हूँ, उसमें अभेददृष्टि द्वारा सावधान हुआ, वहाँ अनन्त ज्ञान, दर्शन, सूख वीर्य का पुरुषार्थ एक ही साथ है और वह जीव, केवलज्ञान के निकट आकर अल्प काल में केवलज्ञानी परमात्मा हो जाता है।

प्रत्येक समय में (१) स्वभाव, (२) पुरुषार्थ, (३) काल, (४) नियति, (५) कर्म, - ये पाँचों समवाय एक ही साथ होते हैं। पराश्रय की श्रद्धा को छोड़कर, भेद को गौण करके, 'मैं त्रिकाल पूर्ण ज्ञायक स्वाधीन वस्तु हूँ'—उसमें दृष्टि देकर, अप्रतिहतधारा से जागृत हुआ। 'मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ'—ऐसे निश्चयपूर्वक जागृत हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है, वह जानता है कि बाह्य में सारी दुनियाँ प्रतिकूल हो तो भी मेरे ज्ञातास्वभाव में किञ्चित् खण्ड नहीं पड़ता; निरन्तर अखण्ड ज्ञान-शान्तिमय अन्तरङ्ग ज्ञानधारा में भङ्ग नहीं पड़ता। इस प्रकार स्वरूप सामर्थ्य की रचना में सावधान हुआ, वह निरन्तर निर्भय है, प्रसन्न है।

[यहाँ छठवीं वीर्यशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।]

[७]

प्रभुत्वशक्ति

अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः।

जिसका प्रताप अखण्डित है, अर्थात् किसी से खण्डित की नहीं जा सकती, ऐसे स्वातन्त्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्वशक्ति।

आत्मा की प्रभुता का अद्भुत वर्णन करने में आचार्यदेव कहते हैं कि अहो जीवो! अपनी प्रभुता की प्रतीति तो करो! प्रभुता की पहचान करते ही तुम्हारे आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी सुप्रभात उदय होगा... प्रभुता दिखा करके सन्त-मुनिराज नूतन वर्ष का 'स्वभाव-अभिनन्दन' देते हैं।*

आत्मा की प्रभुता का अद्भुत वर्णन

आत्मा, अनन्त धर्मस्वरूप है। 'ज्ञानमात्र' कहकर उसकी पहचान करायी है; इसलिए एकान्त नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञानमात्र भाव परिणमित होने से उसके साथ अनन्त धर्मों का परिणमन साथ ही उछलता है; इसलिए ज्ञानमात्र भाव को अनेकान्तपना है। यहाँ ज्ञानमात्र भाव के साथ विद्यमान धर्मों का वर्णन चलता है।

आत्मा में 'प्रभुत्व' नाम की एक शक्ति है; इसलिए अखण्डित प्रतापवाली स्वतन्त्रता से आत्मा सदैव शोभायमान है। जिसका प्रताप अखण्डित है, अर्थात् जिसे कोई खण्डित नहीं कर सकता - ऐसे स्वातन्त्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, जीवन इत्यादि शक्तियाँ हैं; उसी प्रकार यह प्रभुत्वशक्ति भी है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में प्रभुता विद्यमान है। आत्मा में कहीं भी पामरता नहीं है किन्तु प्रभुता है; द्रव्य में प्रभुत्व है, ज्ञानादि अनन्त गुणों में प्रभुत्व है और पर्याय में भी प्रभुत्व है। द्रव्य-गुण और

---

* यह प्रवचन नूतन वर्ष दिन का है।

पर्याय तीनों की स्वतन्त्रता से आत्मा शोभायमान है। आत्मा के द्रव्य की, गुण की और पर्याय की प्रभुता के प्रताप को खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है। किसी निमित्तादि पर वस्तु से या पुण्य से आत्मा शोभित नहीं है परन्तु अपनी अखण्ड प्रभुता से ही आत्मा शोभायमान है। आत्मा के द्रव्य की, गुण की और पर्याय की प्रभुता के प्रताप को खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है। किसी निमित्तादि परवस्तु से या पुण्य से आत्मा शोभित नहीं है परन्तु अपनी अखण्ड प्रभुता से ही आत्मा शोभायमान है। जितने प्रभु हुए हैं, वे सब अपने आत्मा की प्रभुता को जानकर ही हुए हैं; प्रभुता कहीं बाह्य से नहीं आयी है। पामरता में से प्रभुता नहीं आती, परन्तु आत्मस्वभाव त्रिकाल प्रभुता का पिण्ड है, उसी में से प्रभुता आती है; इसलिए प्रथम अपनी प्रभुता का विश्वास करो।

इस बार (वीर सं० २४७५ के) सुप्रभात-मङ्गल में इस प्रभुत्वशक्ति का वर्णन आया था। नूतन वर्ष के प्रारम्भ में लोग शरीर, मकान आदि की बाह्य शोभा करते हैं परन्तु यहाँ तो अन्तर में आत्मा की शोभा की बात है। गृह आदि की शोभा में आत्मा की शोभा नहीं है परन्तु अपनी प्रभुत्वशक्ति से ही आत्मा की अखण्ड शोभा है; आत्मा का प्रताप अखण्ड है।

चैतन्य भगवान, अखण्ड प्रताप से स्वतन्त्ररूप से शोभायमान है; जगत के कोई निमित्त या प्रतिकूल संयोग उसकी शोभा को हानि नहीं पहुँचा सकते और कोई अनुकूल संयोग उसकी शोभा में सहायक नहीं है; वह स्वयं अपने अखण्डित प्रताप से शोभायमान हैं, ऐसी प्रभुता आत्मा में त्रिकाल है। द्रव्य में प्रभुता है, गुण में प्रभुता है और पर्याय में भी प्रभुता है। द्रव्य-गुण की प्रभुता के स्वीकार से पर्याय में भी प्रभुता प्रगट हो गयी है।

द्रव्यदृष्टि से देखने पर आत्मा की प्रभुता में कभी विकार हुआ ही नहीं। पर्याय में एक-एक समय का विकार करते-करते अभी तक का चाहे जितना काल व्यतीत हुआ और चाहे जितनी मलिनता हुई, परन्तु द्रव्य की प्रभुता को तोड़ने में वे कोई समर्थ नहीं है। द्रव्य की प्रभुता तो अखण्डरूप से ज्यों की त्यों शोभायमान है, उसमें अंशमात्र खण्ड नहीं पड़ा है और गुण की प्रभुता भी ज्यों की त्यों अखण्डित है तथा प्रत्येक समय की पर्याय भी पर की अपेक्षारहित, स्वाश्रय से स्वतन्त्ररूप से शोभायमान है। प्रभुत्वशक्ति इन द्रव्य-गुण -पर्याय तीनों में व्याप्त हो रही है; इसलिए आत्मा स्वयं प्रभु है।

'हे प्रभु! आपकी प्रभुता का कैसे वर्णन करूँ!' – इस प्रकार दूसरों को अपना प्रभु कहना, वह विनय से व्यवहार का कथन है; वास्तव में इस आत्मा का प्रभु अन्य कोई नहीं है; स्वयं ही अपनी प्रभुत्वशक्ति का स्वामी है। स्वतन्त्रता के अखण्ड प्रताप से स्वयं शोभायमान है; इसलिए स्वयं ही अपना प्रभु है। आत्मा की प्रभुता का प्रताप ऐसा अखण्डित है कि अनन्त अनुकूल या प्रतिकूल परीषह आयें तथापि उसका प्रताप खण्डित नहीं होता। अरे! क्षणिक पुण्य-पाप की वृत्ति से भी उसकी प्रभुता का प्रताप खण्डित नहीं होता, क्योंकि आत्मा की प्रभुत्वशक्ति तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है और त्रिकाल है; विकार कहीं, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त नहीं होता और न वह त्रिकाल है; इसलिए उस क्षणिक विकार के द्वारा भी आत्मा की प्रभुता खण्डित नहीं होती। आत्मा की ऐसी प्रभुता है, वह द्रव्यदृष्टि का विषय है। ऐसी आत्मा की प्रभुता जिसको जम गयी है, उसे पर्याय में केवलज्ञानरूपी प्रभुता अवश्य प्रगट होती है।

धर्मी जानता है कि मेरी प्रभुता मुझमें है, अपनी प्रभुता से ही मेरी शोभा है। मेरी प्रभुता का प्रताप ऐसा अखण्डित है कि तीन लोक में कोई द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे द्रव्य -गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता की शोभा को लूटनेवाला नहीं है। मेरा प्रभुत्व अनादि-अनन्त है; मैं अपनी अखण्ड स्वतन्त्रता के प्रताप से शोभित हूँ; मेरे प्रत्येक गुण में भी प्रभुत्व है। ज्ञान में जानने का ऐसा प्रभुत्व है कि एक समय में तीन काल-तीन लोक को जान लें; श्रद्धा में प्रतीति का ऐसा प्रभुत्व है कि एक क्षण में परिपूर्ण परमात्मा को प्रतीति में ले सकती है; दर्शन में देखने का प्रभुत्व है; आनन्द में आह्लाद का प्रभुत्व है। इस प्रकार श्रद्धा-ज्ञान -अनान्दादि गुण अपने अखण्ड प्रताप से शोभायमान हैं। द्रव्य-गुण की भाँति प्रत्येक समय की पर्याय में भी मेरी प्रभुता है। पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, वे गौण हैं; उनका त्रिकाली आत्मस्वरूप में अभाव है। आत्मा की प्रभुता कभी अपूर्ण या पराश्रित हुई ही नहीं है; वह तो त्रिकाल अबाधित है; उसका स्वाधीन प्रताप अखण्ड है। विकार में तो प्रभुत्व ही नहीं है क्योंकि वह त्रिकाली द्रव्य-गुण में या समस्त पर्यायों में व्याप्त नहीं होता। आत्मा की प्रभुता तो त्रिकाली द्रव्य-गुण में और समस्त पर्यायों में व्याप्त होनेवाली है।

जिन्हें अपनी चैतन्यप्रभुता का भान नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीव परसंयोग से अपना बड़प्पन मानते हैं और वे संयोग प्राप्त करने को भावना करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो और

शरीर स्वस्थ रहे - ऐसी बाह्य पदार्थों की भावना अज्ञानी करते हैं, परन्तु स्वयं अपने स्वभाव की ऋद्धि-सिद्धि और प्रभुता से परिपूर्ण है, उसकी पहचान और भावना नहीं करते। जिसने अपने सुख के लिए परवस्तु की आवश्यकता मानी है, उसने अपने आत्मा की प्रभुता को स्वीकार नहीं किया है किन्तु पामरता का स्वीकार किया है; इसलिए उसके पर्याय में प्रभुता प्रगट नहीं होती। यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली प्रभुता के स्वीकार से पर्याय में जो प्रभुता प्रगट हुई, उसके प्रताप को खण्डित करने के लिए जगत में कोई क्षेत्र, कोई काल और कोई संयोग समर्थ नहीं है।

श्रद्धा की प्रत्येक समय की पर्याय में ऐसी शक्ति है कि वह परिपूर्ण द्रव्य को प्रतीति में ले लेती है। श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि गुणों की प्रत्येक पर्याय ने द्रव्य की अखण्डता को बना रखा है। यदि ज्ञानादि किसी भी गुण की एक ही पर्याय निकाल दें तो गुण का अनादि -अनन्त अखण्डपना नहीं रहता और गुण अखण्ड न रहने से, द्रव्य भी अखण्ड नहीं रहता; इसलिए प्रत्येक पर्याय में भी प्रभुत्व है। द्रव्य, अनन्त गुणों का पिण्ड है और गुण, अनन्त पर्यायों का पिण्ड है; इसलिए द्रव्य की प्रभुता अपने समस्त गुणों में और समस्त पर्यायों में विस्तृत है; वे सब स्वतन्त्रता से शोभायमान हैं। आत्मा की अनन्त शक्तियों में से यदि एक भी शक्ति को निकाल दें तो द्रव्य की प्रभुता खण्डित हो जाती है और ज्ञान-दर्शन -अस्तित्वादि किसी एक गुण की एक समय की अवस्था को निकाल दें तो भी गुण अनादि-अनन्त अखण्ड नहीं रहता, परन्तु खण्डित हो जाता है। यहाँ प्रत्येक समय की पर्याय की भी प्रभुता सिद्ध होती है।

पर्याय एक समय की है; इसलिए उसे तुच्छ-असत् माने और उसकी स्वतन्त्र प्रभुता को स्वीकार न करे तो पर्याय की प्रभुता के बिना, द्रव्य की अखण्ड प्रभुता ही सिद्ध नहीं होगी। जैसे, किसी मनुष्य की उम्र 100 वर्ष की हो, उसके 100 वर्षों में से यदि एक समय को भी निकाल दें तो उसका 100 वर्ष का अखण्डपना नहीं रहता, किन्तु एक ओर 50 और दूसरी ओर 50 वर्ष में एक समय कम-ऐसे दो खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार यदि द्रव्य की एक भी पर्याय की सत्ता को निकाल दें तो द्रव्य का प्रताप खण्डित हो जाता है; पर्याय के बिना पूर्ण द्रव्य ही सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार द्रव्य की प्रत्येक पर्याय में भी अखण्ड प्रताप है। ऐसी आत्मा की प्रभुत्वशक्ति है।

आत्मा की प्रभुता, असंख्य प्रदेशों में व्याप्त है। जिस प्रकार प्रत्येक पर्याय में प्रभुता है; उसी प्रकार प्रत्येक प्रदेश में भी प्रभुता है। प्रदेश-प्रदेश में प्रभुता भरी है। अनादि-अनन्त एक प्रदेश, दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; वह अन्य अनन्त जीवों के अनन्त प्रदेशों से भिन्न अपना स्वाधीन अस्तित्व बना रखता है - ऐसी प्रदेश की प्रभुता है।

आत्मा में पर्याय की प्रभुता और प्रदेश की प्रभुता में इतना अन्तर है कि एक पर्याय तो आत्मा के सर्व क्षेत्र में-समस्त प्रदेशों में व्यापक है परन्तु एक प्रदेश, सर्व प्रदेशों में व्यापक नहीं है। पर्याय, सर्व प्रदेश में व्यापक है परन्तु वह एक समयपर्यन्त की है और एक प्रदेश, सर्व प्रदेशों में व्यापक न होने पर भी वह त्रिकाल है। क्षेत्र भले ही छोटा हो, तथापि उसमें भी प्रभुता है और पर्याय का काल भले अल्प हो, तथापि उसमें भी प्रभुता है।

भगवान आत्मा का कोई अंश प्रभुता से खाली नहीं है। यदि अपने आत्मा की ऐसी अखण्ड प्रभुता को जाने तो किसी परवस्तु को प्रभुत्व न दे, अर्थात् पराश्रय न करे। पराश्रय को छोड़कर अपनी प्रभुता का आश्रय करे, उसका नाम धर्म है और वही मुक्ति का उपाय है।

आत्मा की प्रभुता के स्वीकार में स्वाश्रय का स्वीकार है और स्वाश्रय के स्वीकार में मुक्ति है। यदि किन्हीं निमित्त, संयोगादि पर के आश्रय से लाभ माने तो अपनी प्रभुता की प्रतीति नहीं रहती और पर्याय में होनेवाले अल्प विकार को प्रभुत्व दे दे तो भी अपनी प्रभुता की प्रतीति नहीं रहती। आत्मा की प्रभुता, विकार और संयोगरहित अनन्त गुणों से अखण्ड है।

अज्ञानी कहता है कि द्रव्य-गुण में तो स्वतन्त्र प्रभुता है किन्तु पर्याय, पर के आश्रय से होती है। जिसने पर्याय का होना पर के आश्रय से माना है, उसने वास्तव में द्रव्य-गुण की स्वाधीन प्रभुता को भी नहीं जाना। जहाँ द्रव्य-गुण की प्रभुता को स्वीकार किया, वहाँ पर्याय भी द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख हो गयी और उसमें भी प्रभुता हो गयी। इस प्रकार द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख हुए बिना, द्रव्य-गुण की प्रभुता को भी वास्तव में स्वीकार किया नहीं कहा जा सकता।

यदि वास्तव में द्रव्य-गुण की प्रभुता का स्वीकार करे तो पर्याय की वृत्ति पराश्रय से छूटकर अन्तर्मुख हुए बिना न रहे। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण, सत्-अहेतुक हैं;

उसी प्रकार एक-एक समय की पर्याय भी सत्-अहेतुक है। पर्याय का कारण परवस्तुएँ नहीं हैं। उसी प्रकार यदि पर्याय का कारण, द्रव्य-गुण को कहा जाये तो वे द्रव्य-गुण तो समस्त जीवों के समान हैं, तथापि पर्याय में क्यों अन्तर पड़ता है? इसलिए प्रत्येक पर्याय में अपनी अकारणीय प्रभुता है। पर्याय की ऐसी निरपेक्षता स्वीकार करने से पर्याय का निर्मल परिणमन ही होता जाता है क्योंकि निरपेक्षता स्वीकार करनेवाली पर्याय स्वद्रव्य की ओर उन्मुख है। अहो! द्रव्य का प्रत्येक अंश स्वतन्त्र है; एक अंश भी पराधीन नहीं है, ऐसी प्रतीति करनेवाले की स्वभावाश्रित निर्मल परिणमन ही हो रहा है।

प्रभुत्वशक्ति ने पूर्ण आत्मा को प्रभुता दी है; मात्र प्रभुत्वगुण में ही प्रभुता है, ऐसा नहीं है परन्तु सम्पूर्ण द्रव्य में, उसके समस्त गुणों में और प्रत्येक पर्याय में प्रभुता है - ऐसी प्रभुता को जानने से जीव अपने अनन्त प्रभुत्व को प्राप्त करता है। ऐसी अपनी प्रभुता का श्रवण-मनन करके उसकी महिमा, रुचि और उसमें लीनता करना, वह अपूर्व मङ्गल है।

सम्यक्श्रद्धा ने पूर्ण आत्मा की प्रभुता की प्रतीति की है; पर्याय की प्रभुता ने पूर्ण द्रव्य की प्रभुता का स्वीकार किया है। अब उस द्रव्य के ही लक्ष्य से एकाग्र होकर पूर्ण केवलज्ञानरूपी प्रभुता होगी। उस प्रभुता के अप्रतिहतभाव में बीच में कोई विघ्नकर्ता इस जगत में नहीं है।

आत्मा की प्रभुता कितनी होगी? - क्या मेरु पर्वत जितनी होगी? तो कहते हैं कि नहीं; मेरु की उपमा तो उसे बहुत छोटी होगी। क्षेत्र की विशालता से आत्मा की प्रभुता का माप नहीं निकलता। एक समय की पर्याय में अनन्त मेरुओं को जान ले, ऐसा उसकी भावप्रभुता का सामर्थ्य है। आत्मा की एक ज्ञानपर्याय एक साथ समस्त लोकालोक को जान लेती है तथापि अभी उससे अनन्त गुना जान ले, इतना सामर्थ्य बाकी रह जाता है। इसलिए लोकालोक की उपमा से एक ज्ञानपर्याय के सामर्थ्य का भी परिपूर्ण माप नहीं निकलता, तब फिर पूर्ण आत्मा के सामर्थ्य की क्या बात की जाए?

आत्मा की एक पर्याय की इतनी मोटी प्रभुता का जिसे विश्वास और आदर हुआ, वह जीव अपनी पर्याय में किसी पर का आश्रय नहीं मानता, राग का आदर नहीं करता, अपूर्णता में उसे उपादेयभाव नहीं रहता; वह तो पूर्ण स्वभाव के आश्रय से परिपूर्ण दशा

प्रगट करके ही रहेगा। पूर्ण ध्येय को लक्ष्य में लिए बिना जो प्रारम्भ होता है, वह सच्चा प्रारम्भ नहीं है क्योंकि पूर्ण ध्येय जिसके लक्ष्य में नहीं आया, वह तो अपूर्ण दशा का और विकार का आदर करके वहीं अटक जाएगा; उसे पूर्णता की ओर का प्रयत्न प्रारम्भ नहीं होगा। जिसे आत्मा की प्रभुता का विश्वास आया, उसे पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ ही गया; इसलिए उसके आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी प्रभात हो गया है – अंशत: सुप्रभात हो गया है; अब अल्प काल में सुप्रभात प्रगट होगा और केवलज्ञानरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित होगा। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा सुप्रभात जयवन्त वर्तता है। वह सुप्रभात प्रगट होने के पश्चात कभी अस्त नहीं होता।

अहो जीवों! प्रतीति तो करो!.. अपनी प्रभुता की प्रतीति तो करो!!.. तुम्हारे ज्ञानस्वभाव में तुम्हारी प्रभुता भरी है, उसका विश्वास तो करो! 'मैं एक समय के विकार जितना तुच्छ –पामर नहीं हूँ परन्तु मेरा आत्मा तीन लोक का चैतन्यनाथ है; मैं ही अनन्त शक्तिवान प्रभु हूँ।' इस प्रकार अपनी प्रभुता का ऐसा दृढ़ विश्वास करो कि पुन: कभी किसी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग में सुख या दु:ख की कल्पना न हो और अखण्ड प्रतापवन्त केवलज्ञान प्राप्त करने में बीच में विघ्न न आये।

अखण्ड प्रतापवाली स्वतन्त्रता से शोभायमानपना, वह प्रभुता का लक्षण है। आत्मा में ऐसा अखण्ड प्रताप है कि अनन्ती प्रतिकूलता के समूह आ जायें, तथापि वह अपनी प्रभुता को नहीं छोड़ता। किसी के आधीन होने का उसका स्वभाव नहीं है; उसे किसी पर का आश्रय नहीं करना पड़ता; किसी के ओजस्व में-प्रभुता में वह चकाचौंध नहीं हो जाता; किसी से भयभीत नहीं होता, ऐसी स्वाधीन प्रभुता से आत्मा शोभायमान है। आत्मा के स्वभाव से बड़ा जगत में कोई है ही नहीं, तब फिर उसे किसका भय? जो जीव कल्पना करके राग से या संयोग से अपनी प्रभुता को खण्डित मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे यहाँ आचार्यदेव उसकी प्रभुता बतलाते हैं।

आत्मा की प्रभुता, आत्मा में है और जड़ की प्रभुता, जड़ में है; प्रत्येक परमाणु में उसकी अपनी प्रभुता है। कोई किसी की प्रभुता को खण्डित नहीं करता।

अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जगत के जड़-चेतन में सर्वत्र एक प्रभु विद्यमान है;

उनकी बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते हैं कि चेतन में और जड़ में—सर्व पदार्थों में अपनी-अपनी स्वतन्त्र प्रभुता विद्यमान है। आत्मा की क्रिया, आत्मा की प्रभुता से होती है और जड़ की क्रिया, जड़ की प्रभुता से होती है; किसी की प्रभुता अन्यत्र नहीं चलती। जिस प्रकार अन्यमती ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने जगत की रचना की है; उसी प्रकार कोई जैनमतवादी भी ऐसा माने कि मैंने परजीव को बचाया, तो वे दोनों जीव, प्रभुता की प्रतीतिरहित मिथ्यादृष्टि हैं। अहो! प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रभुता में स्वतन्त्रता से शोभायमान है। यहाँ तो जीव की अपनी प्रभुता की बात है। अपनी प्रभुता से च्युत होकर, पर का आश्रय मानने में जीव की शोभा नहीं है; रागादि से जीव की शोभा नहीं है। जीव की शोभा तो अपनी प्रभुत्वशक्ति से है। उस प्रभुता की प्रतीति करना ही धर्म है; प्रभुत्वशक्ति को मानने से अखण्ड आत्मा प्रतीति में आता है; वही धर्मी की दृष्टि में उपादेय है। देखो! यह स्वतन्त्रता की घोषणा है, यह स्वतन्त्रता का ढंढोरा प्रत्येक आत्मा को प्रभु घोषित करता है।

परमेश्वर कहाँ रहता है ?... प्रभु को कहाँ ढूँढ़ना ?... तो कहते हैं कि तू ही अपना प्रभु है। तेरा प्रभु तुझ से बाहर अन्यत्र कहीं नहीं है; तेरे आत्मा में ही प्रभुत्वशक्ति है; इसलिए आत्मा स्वयं ही परमेश्वर है। अन्तर्मुख दृष्टि करके उसका विश्वास कर!

जिस प्रकार सूर्य और अन्धकार कभी एक नहीं होते तथा सूर्य और प्रकाश कभी पृथक नहीं होते; उसी प्रकार भगवान चैतन्यसूर्य, रागादि अन्धकार के साथ कभी एक नहीं होता और अपने ज्ञानप्रकाश से वह कभी पृथक् नहीं होता। ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

देखो तो सही! एक-एक शक्ति के वर्णन में आचार्यभगवान ने कितने गम्भीर भाव भर दिये हैं। इस एक ही शक्ति में प्रताप... अखण्डता... स्वतन्त्रता... शोभा... और प्रभुता - ऐसे पाँच बोल रखकर आत्मा का प्रभुरूप से वर्णन किया है।

समस्त आत्माओं में प्रभुत्वशक्ति एक-सी है। जिस प्रकार गेहूँ का ढेर पड़ा हो, उसमें प्रत्येक दाना पृथक्-पृथक् है परन्तु गेहूँ की जाति एक ही है और उसे पीसकर आटा बनाने से सभी दानों में से गेहूँ का ही आटा होता है; किसी दाने में से जुआर का आटा या धूल नहीं होती। उसी प्रकर विश्व में अनन्त आत्माओं का समूह बड़ा है, उसमें प्रत्येक

आत्मा पृथक; प्रत्येक आत्मा में अपनी-अपनी चैतन्यप्रभुता भरी है; उसे पीसकर आटा बनाने से अर्थात् प्रतीति करके परिणमन करने से एक साथ अनन्त गुणों की प्रभुता का परिणमन होता है परन्तु आत्मा की प्रभुता परिणमित होकर उसमें से राग प्रगट हो - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

अहो! धर्मी जानता है कि मेरी स्वाधीन प्रभुत्वशक्ति अनादि-अनन्त है; मेरी प्रभुता को किसी दूसरे की आवश्यता नहीं है और कर्म आदि से वह खण्डित नहीं होती। चाहे जैसे रोग-क्षुधा, तृषादि अनन्त प्रतिकूलताएँ आएँ, तथापि मेरी प्रभुता का एक अंश भी कोई खण्डित नहीं कर सकता। अधर्मी जीव मानता है कि अरे रे! मैं पामर और पराधीन हूँ परन्तु उस समय भी उसकी प्रभुता तो उसमें पड़ी ही है किन्तु उसे उसकी प्रतीति नहीं है; इसलिए उसका निर्मल परिणमन नहीं होता। प्रभुता तो भूलकर एकान्त पामरता का स्वीकार किया, वह एकान्त मिथ्यात्व है। श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहते हैं कि - 'सम्यक्त्वी अपने आत्मा को तृणसमान मानता है' - वहाँ तो प्रभुता की प्रतीतिसहित पर्याय के विवेक की बात है। अहो! कहाँ दिव्य केवलज्ञान और कहाँ मेरी अल्पज्ञता! - ऐसा विवेक करके द्रव्य के आश्रय से पूर्ण पर्याय प्रगट करने की भावना भाता है। यदि अकेली पामरता को ही माने और प्रभुता को न पहचाने तो पामरता को दूर करके प्रभुता कहाँ से लायेगा?

अपने को रागवाला या देहादिवाला मानने से अपनी प्रभुता का अपमान होता है, उसका अज्ञानी को भान नहीं है और बाह्य में कोई अपमान करे तो 'मेरी नाक कट गयी!' - इस प्रकार अपना अपमान मानता है तथा बाह्य अनुकूलता से अपना बड़प्पन मानता है; वह देहदृष्टि-बहिरात्मा है। अन्तरात्मा धर्मी जीव तो ऐसा निःशङ्क है कि बाह्य में कोई अपमान करे या शरीर को छेद डाले तो भी मेरी प्रभुता नष्ट करने की शक्ति किसी में नहीं है; मेरे स्वभाव में श्रद्धा का, ज्ञान का, अस्तित्व का, जीवन का, सुखादि अनन्त गुणों का प्रभुत्व है; उसकी एक नोक भी खण्डित करने में कोई समर्थ नहीं है।

लो, यह नूतन वर्ष का स्वभाव-अभिनन्दन! लोक-व्यवहार में तो 'आपको लक्ष्मी, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति हो!' - ऐसा कहकर अभिनन्दन देते हैं; वे सच्चे अभिनन्दन नहीं हैं। यहाँ तो 'तेरे स्वभाव में त्रिकाल प्रभुता है!' - ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव प्रभुता के अभिनन्दन देते हैं; आत्मा को उसकी प्रभुता की भेंट कराते हैं।

अखण्ड प्रतापवाली प्रभुता से आत्मा सदैव शोभायमान है; पञ्चम काल में भी उसकी प्रभुता खण्डित नहीं हुई है। कोई कहे कि – वर्तमान में यहाँ केवलज्ञान और मन: –पर्ययज्ञान का तो विच्छेद है न ? तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! आत्मा की स्वभाव –प्रभुता का अंशमात्र भी विच्छेद नहीं हुआ है; उस स्वभाव के सामने पर्याय की मुख्यता करता हो कौन है ? साधक तो अपने स्वभाव को मुख्य करके कहता है कि अहो ! मेरी प्रभुता ज्यों की त्यों विद्यमान है। आत्मा स्वयं अखण्डित ज्ञानप्रकाश से मण्डित, ऐसा पण्डित है। अखण्डित आत्मा की प्रभुता में जो प्रवीण हो, वही सच्चा पण्डित है। केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट होने की शक्ति, आत्मा में सदैव भरी है। केवलज्ञान तो पर्याय है; उसे प्रगट करने की अखण्ड शक्ति आत्मा में विद्यमान है – ऐसे अखण्डित प्रतापवाले स्वातन्त्र्य से शोभित आत्मा की प्रभुता है। आत्मा की प्रभुता में कभी / न्यूनता नहीं है; शोभा में कुरूपता नहीं है; अखण्ड प्रताप में खण्ड नहीं है और स्वातन्त्र्य में पराधीनता नहीं है।

आत्मा की स्वतन्त्रता का प्रताप अखण्डित है; उसे कोई खण्डित नहीं कर सकता। घातिकर्मों से भी आत्मा के प्रताप का घात नहीं होता; पूर्व के अनेक पाप भी वर्तमान पर्याय के प्रताप को खण्डित नहीं करते – ऐसी पर्याय की स्वतन्त्र प्रभुता है।

श्री तीर्थङ्कर कहते हैं कि जैसे हम हैं, वैसा ही तू है। कोई बात समझ में न आये, ऐसा तेरे ज्ञानस्वरूप में है ही नहीं; सब कुछ समझने की तेरे ज्ञान की शक्ति है। यदि कुछ समझ में न आये, ऐसा हो तो ज्ञान का प्रताप खण्डित हो जायेगा। इसलिए हे जीव ! तू विश्वास कर कि मेरे ज्ञान में केवलज्ञान जितनी परिपूर्ण शक्ति भरी है। तू अपन दोनों के बीच, भेद मत डाल ! जिसने अपने आत्मा की प्रभुता को भूलकर, तीर्थङ्कर को बड़प्पन दिया, वह अपनी प्रभुता कहाँ से लायेगा ?

'दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँ से होय ?'

दीन होकर दूसरों की प्रभुता गाता रहे परन्तु स्वयं अपनी प्रभुता को स्वीकार न करे तो मुक्ति कहाँ से होगी ? जैसे सिद्ध हैं, वैसा ही मैं हूँ; सिद्ध में और मुझ में कोई अन्तर नहीं है; इस प्रकार अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास और उल्लास आए बिना मुक्ति होना अशक्य है। यदि लकड़ी को या मुर्दे को धर्म होता हो तो देह की क्रिया से धर्म हो सकता

है ! यदि देह की क्रिया से धर्म होता हो, तब तो सर्व प्रथम देह को ही धर्म और मुक्ति हो ! देह तो जड़ है; उसमें चैतन्य का धर्म है ही नहीं, तो उसकी क्रिया द्वारा आत्मा को धर्म का लाभ कहाँ से होगा ? '**मूलंनास्ति कुतः शाखा ?**' आत्मा स्वयं अनन्त धर्म का भण्डार है; उसी की क्रिया से, अर्थात् उसके आश्रित परिणमन से ही धर्म होता है।

किन्हीं तीर्थङ्कर भगवान, गुरु या सिद्ध भगवान आदि पर की प्रभुता पर, धर्मी की दृष्टि नहीं है; अपनी निर्बल पर्याय पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; त्रिकालवर्ती अनन्त गुणों से अभेद प्रभुत्वशक्ति के अखण्ड पिण्ड ऐसे अपने आत्मा पर ही धर्मी की दृष्टि है। उसी की महिमा, उसी की रुचि और उसी की मुख्यता है; उसकी मुख्यता का भाव छूटकर कभी किसी अन्य की महिमा नहीं आती। अज्ञानी जीव, एक समय के विकार जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को मानता है। मुझ में प्रभुता नहीं है किन्तु मैं तो पामर हूँ – ऐसा वह मानता है; इसलिए अपनी प्रभुता को भूलकर, पर को प्रभुता देकर वह संसार में भटकता है।

आचार्यदेव समझाते हैं कि अहो ! आत्मा में त्रिकाल अपनी प्रभुता है; सिद्ध भगवान जितनी ही आत्मा की प्रभुता है; उसमें किञ्चित्मात्र अन्तर नहीं है। हे भाई ! जो प्रभुता तू दूसरों को देता है, वह प्रभुता तो तुझ में ही भरी है; इसलिए बाह्य में देखकर सिद्ध की महिमा करने की अपेक्षा, अपने अन्तर में ही सिद्धत्व की शक्ति भरी है, उसका विश्वास और महिमा कर ! तू ही अपना प्रभु है; अन्य कोई तेरा प्रभु नहीं है। आत्मा में अन्तर्मुख होकर प्रतीति कर कि मैं ही अपना प्रभु हूँ; मेरे स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रभुता मुझमें नहीं है; मुझमें राग की या अकेली पर्याय की प्रभुता नहीं है। त्रिकाल अखण्ड स्वभाववाला मेरा आत्मा ही स्वतन्त्रता से शोभायमान प्रभु है। देखो, इसका नाम स्वतन्त्रता और स्वराज्य है; इसके अतिरिक्त अन्य सब थोथे हैं।

* कोई कहे कि अरे ! देश परतन्त्र है... नेता जेलों में पड़े हैं... तथापि कहना कि आत्मा स्वाधीन है... यह कैसे ? तो कहते हैं कि अरे भाई ! आत्मा को बाह्य पराधीनता है ही कहाँ ? आत्मा को अन्य कोई पराधीन नहीं कर सकता। महँगाई से आत्मा पराधीन नहीं होता। चाहे जितनी प्रतिकूलता में भी स्वाधीन शान्ति को न छोड़े, ऐसा आत्मा का स्वभाव

* यह भाग ईस्वी सन् 1944 में हुए समयसार के छठवीं बार के प्रवचनों का है।

है। राजा भले ही जेल में बन्द कर दें परन्तु जेल में बैठा-बैठा आत्मा के ध्यान की श्रेणी लगाये तो कौन रोकनेवाला है? स्वभाव का आश्रय करके जो निर्मल प्रभुता प्रगट हुई, उसके प्रताप को खण्डित करनेवाला जगत में कोई संयोग है ही नहीं।

आत्मा, द्रव्यदृष्टि से स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है - ऐसा समयसार नाटक में कहा है। वहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्म, जीव को बलात् पराधीन करता है परन्तु अज्ञानी जीव अपनी प्रभुता को भूलकर परोन्मुख हुआ, स्वभाव की अधीनता से च्युत हुआ, इसलिए पर्यायदृष्टि में वह पराधीन हुआ है - ऐसा वहाँ कहा है परन्तु इन शक्तियों के वर्णन में तो 'आत्मा स्वयं अपने आप पराधीन हुआ है' - यह बात भी नहीं है। यहाँ तो साधक की बात है। साधक जीव, आत्मा की प्रभुता में पराधीनता को देखता ही नहीं! अपनी प्रभुता की सम्भाल करके साधक कहता है कि मेरे शान्त-परिणामों को बदलने में तीन-काल तीन-लोक में कोई समर्थ नहीं है। मेरी प्रभुत्वशक्ति स्वाधीन है; जगत का कोई संयोग मेरी प्रभुता को तोड़ने में समर्थ नहीं है। मेरे स्वरूप में पराधीनता नहीं है; संयोग से पराधीनता नहीं है और परिणति संयोग से च्युत होकर स्वरूप में अभेद हुई, उसमें भी पराधीनता नहीं है। इस प्रकार साधक को कहीं परधीनता है ही नहीं।

ज्ञानी की दृष्टि, आत्मा के त्रिकाली अखण्ड प्रताप पर है; उसमें अपूर्णता का और विकार का निषेध है ही; निषेध करना नहीं पड़ता। आत्मा का प्रत्येक गुण भी अखण्ड प्रताप से शोभित है और पर्याय भी स्वतन्त्र प्रताप से शोभायमान है; इसलिए शास्त्र से ज्ञान होता है अथवा व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग करते-करते निश्चयरत्नत्रय होता है - यह बात ही नहीं रहती। आत्मस्वरूप के द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रताप स्वतन्त्रता से ही शोभित होता है; परतन्त्रता से नहीं। आत्मा की सम्पदा ऐसी प्रतापवान है कि सिद्ध जैसी सम्पदा अपने में से प्रगट करती है।

'अपने आत्मा का बड़प्पन मुझे ज्ञात नहीं होता' - ऐसा कहनेवाला, रुचि की विपरीतता के कारण अपने बड़प्पन को स्वीकार नहीं करता। वह अज्ञानी, अपनी प्रभुता को भूलकर काल-कर्म-निमित्त आदि को प्रभुता देता है और अपने को पामर मानता है किन्तु भाई! इतना तो विचार कर कि पर को प्रभुता देनेवाला कौन है? पर को प्रभुता

देनेवाला स्वयं प्रभुता से रहित नहीं होता। अपनी प्रभुता का आरोप तूने पर में कर दिया है; वास्तव में तो तुझमें ही तेरी प्रभुता विद्यमान है। सिद्ध भगवन्तों को जो प्रभुता प्रगट हुई, वह कहाँ से प्रगट हुई है ? आत्मा में से अथवा कहीं बाहर से ? सिद्ध भगवान का जो प्रभुता प्रगट हुई है, वह आत्मा में से ही प्रगट हुई है और ऐसा ही सामर्थ्य तुझ में भी भरा है। ऐसी अपनी प्रभुता की प्रतीति करने से स्वयं प्रभु हो जाता है और उसका अस्वीकार करके अपने को निर्बल माननेवाला निगोद में जाता है। प्रभुता की प्रतीति में प्रभुता है और निर्बलता की प्रतीति में निगोद है। इसलिए हे भाई! तू ऐसे प्रभुता से परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति कर कि जिसके प्रताप में कभी खण्ड न हो और सिद्धपद की प्राप्ति हो! ऐसी तेरी प्रभुता का माङ्गलिकपना है। प्रभुत्वशक्ति और आत्मा, त्रिकाल अभेद है; उसकी प्रतीति करने से पर्याय में मङ्गल होता है।

साधक को पर्याय में अल्प राग हो, उस पर दृष्टि नहीं है; उस राग के समय भी स्वभाव के अखण्ड प्रताप पर दृष्टि पड़ी है। स्वभाव की प्रभुता को भूलकर उसकी दृष्टि में कभी राग की मुख्यता नहीं होती; राग के समय भी राग की नहीं किन्तु प्रभुता की ही अधिकता है। प्रभुता की प्रतीति करके उसमें दृष्टि परिणमित हो गयी है, ऐसी प्रभुता की दृष्टि के बिना धर्म नहीं होता। आत्मा अपनी प्रभुता से कभी पृथक् नहीं होता। राग तो दूसरे ही क्षण छूट जाता है; इसलिए उसके साथ वास्तव में आत्मा की एकता नहीं है और पर से तो त्रिकाल भिन्न है ही। इस प्रकार प्रभुता का स्वीकार करते ही राग और पर के साथ की एकत्वबुद्धि का परिणमन छूटकर, त्रिकाली स्वरूप में एकतारूप परिणमन होता है और अपनी प्रभुता का स्वीकार करने से जीव, प्रभु होता है।

अहो! भगवान! तू अपनी प्रभुता को बाह्य में कहाँ ढूँढ़ रहा है ? तेरी प्रभुता तो तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में है; तेरे असंख्य प्रदेशी तत्त्व में अनन्त गुणों की प्रभुता विद्यमान है; उसकी अचिंत्य महिमा को प्रतीति में लेने से संसार की महिमा दूर होकर अन्तर्मुखदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होकर मुक्ति हो जाती है।

'जय हो...आत्मा की प्रभुता की!'

(यहाँ सातवीं प्रभुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।)

[८]

विभुत्वशक्ति

सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः।

सर्व भावों में व्यापक, ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव, सर्व भावों में व्याप्त होता है।)

आत्मा की ऐसी विभुता है कि वह अपने अनन्त गुणों में व्यापक हो रहा है। जहाँ एक गुण है, वहाँ ही अपने अनन्त गुण हैं, आत्मा का अनन्त गुणरूपी समाज सदा संगठित-हिलमिलकर रहा है, वे गुण सदा ही इकट्ठे रहते हैं; कभी बिखरकर अलग -अलग नहीं होते। 'विभु का सबमें निवास है' - उसका अर्थ सर्व जड़-चेतन में व्यापक, ऐसा नहीं है किन्तु अपनी स्व सत्ता में असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र में अनन्त सर्व गुण एक साथ हैं, उन सभी में निवास करनेवाला आत्मा ही विभु है। यह विभु, स्वयं अन्तर्मुख होकर निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के बल से केवलज्ञानादि निज वैभव का दातार है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को जाने तो सम्यग्ज्ञान और धर्म होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनन्त धर्म विद्यमान हैं। उस आत्मा का ज्ञान कराने के लिये यहाँ आत्मा की शक्तियों का वर्णन चलता है। अभी तक निम्नोक्त सात शक्तियों का वर्णन हुआ है—

(१) सर्व प्रथम, जीवत्वशक्ति बतलायी है। जड़ में अस्तित्व है किन्तु जीवत्व नहीं है, आत्मा में जीवत्व त्रिकाल है; इसलिए वह चैतन्यप्राण द्वारा सदैव जी रहा है। आत्मा, पर को जिलाए अथवा स्वयं पर से जिए - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

(२) दूसरी, चितिशक्ति है। यदि यह चितिशक्ति न हो तो आत्मा, जड़ हो जाये और जीव को जाने कौन? यह चेतनाशक्ति सदैव जागृत स्वरूप है।

(३-४) दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति कहकर चेतना की क्रिया बतलायी है; दर्शन, समस्त पदार्थों के सामान्य अवलोकनरूप है और ज्ञान, समस्त पदार्थों को विशेषरूप से जाननेवाला है।

(५) पाँचवी, सुखशक्ति कहकर उसमें सम्यक्त्व और चारित्र – दोनों का फल समा दिया है। ज्ञान-दर्शनमय आत्मा की प्रतीति करे, ऐसी एक सम्यक्त्वशक्ति है और उसमें लीन हो, ऐसी चारित्रशक्ति है। आत्मा की प्रतीति करके उसमें लीन होने से परम अनाकुल शान्त आह्लादरूप सुख का अनुभव होता है – ऐसी सुखशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

(६) छठवीं, वीर्यशक्ति है। आत्मा का सुख, सम्यक् पुरुषार्थपूर्वक प्रगट होता है। वह पुरुषार्थ अथवा वीर्यशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उसके द्वारा स्वरूप की रचना होती है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में आत्म का वीर्य है।

(७) सातवीं, प्रभुत्वशक्ति के वर्णन में तो अद्‌भुत बात की है। इस प्रभुत्व के कारण आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय, स्वतन्त्रता से शोभायमान हैं। यह प्रभुत्वशक्ति, आत्मा के प्रताप को अखण्ड रखती है; आत्मा की प्रभुता आत्मा में ही विद्यमान है – ऐसा यह बतलाती है।

इस प्रकार सात शक्तियों का वर्णन किया। अब, विभुत्व नाम की आठवीं शक्ति का वर्णन करते हैं।

आत्मा की विभुता का वर्णन

सर्व भावों में व्यापक, ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। आत्मा अपने समस्त गुण-पर्यायों में व्याप्त विभु है और उसका ज्ञानादि प्रत्येक गुण भी सर्व भावों में व्याप्त होनेवाला है। यदि एक गुण, सर्व गुणों में व्याप्त न हो तो अनन्त गुणों का अभेद पिण्ड अनुभव में नहीं आ सकता और सर्व गुणों की अभेदता का आनन्द भी नहीं आ सकता। 'विभु' का अर्थ व्यापक होता है। विभुत्वशक्ति से आत्मा, विभु है; इसलिए अपने सर्व भावों से विद्यमान होने पर भी एक भावरूप है। ज्ञानगुण, समस्त गुणों में व्याप्त होता है – ऐसा ज्ञान का विभुत्व है। इस प्रकार अनन्त गुण हैं; उनमें से प्रत्येक गुण, अन्य सर्व गुणों में व्यापक है – ऐसा अनन्त गुणों का विभुत्व जानना। राग-द्वेषादि में ऐसा विभुत्व नहीं है कि वे आत्मा के समस्त भावों में व्याप्त हो। आत्मा के विभुत्व में रागादिभाव वास्तव में व्याप्त होते ही नहीं; एक समय की राग-पर्याय, श्रद्धा-ज्ञान चारित्रादि समस्त गुणों में व्याप्त नहीं हो सकती; यदि राग, त्रिकाल गुण में व्यापक हो जाए, तब तो वह कभी अलग

नहीं हो सकता। एक समय पर्यन्त का राग, अन्य गुणों में तो व्याप्त नहीं है परन्तु अखण्ड चारित्रगुण में भी व्याप्त नहीं है - जबकि आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, जीवत्व, अस्तित्वादि शक्तियाँ तो समस्त गुणों में व्याप्त हैं। ऐसा आत्मा की विभुत्वशक्ति का वैभव है, उसे जानने से रागादिभावों की ओर का उत्साह नीरस हो जाता है और रुचि का उत्साह त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख हो जाता है।

आत्मा, लोकालोक में व्याप्त नहीं है परन्तु अपने समस्त भावों में व्याप्त है। यहाँ विकारीभावों को आत्मा का नहीं गिना है क्योंकि यह तो स्वभावशक्ति का वर्णन है। आत्मा, बाह्य में सर्वव्यापक नहीं है किन्तु अन्तर में अपने भावों में सर्व व्यापक है, अपने अनन्त गुण-पर्यायस्वरूप में आत्मा व्याप्त है। बाह्य में सर्व से भिन्न और अन्तर में सर्व व्यापक, ऐसा आत्मा का विभुत्व स्वभाव है। आत्मा की महिमा बाह्य में क्षेत्र की विशालता से नहीं है; आत्मा का क्षेत्र मर्यादित है, तथापि उसका स्वभाव सामर्थ्य अचिंत्य-अमर्यादित है; उसी के द्वारा आत्मा की महिमा है। जिन्हें अन्तरङ्ग स्वभाव महिमा का भान नहीं है, ऐसे बाह्यदृष्टि जीव ही बाह्य में सर्व व्यापकता से आत्मा की महिमा मानते हैं परन्तु आत्मा पर में कभी व्याप्त होता ही नहीं।

शरीर तो आत्मा में कभी व्याप्त ही नहीं है और न आत्मा कभी शरीर में व्याप्त है।

राग, पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं है और आत्मा, राग में व्याप्त नहीं है।

निर्मल पर्याय में आत्मा एक समय पर्यन्त व्याप्त है परन्तु वह त्रिकाल व्याप्त नहीं है।

अस्तित्वादि गुण तो आत्मा में त्रिकाल व्याप्त हैं। द्रव्य 'है,' गुण 'है,' पर्याय 'है,' - इस प्रकार सर्व में अस्तित्व व्याप्त है। उसी प्रकार ज्ञानादि गुण भी सर्व में व्यापक हैं। इस प्रकार विभुत्वशक्ति का स्वरूप जानने के लिए त्रिकाली आत्मा ही लक्ष्य में आ जाता है। त्रिकाली तत्त्व के सन्मुख देखने से उनकी शक्तियों का यथार्थ निर्णय होता है।

स्तुति में ऐसा आता है कि 'हे नाथ! आप विभु हो!' वहाँ कहीं कोई अन्य भगवान इस आत्मा में व्याप्त नहीं है। लोकालोक को जाने, ऐसा आत्मा का विभुत्व है परन्तु लोकालोक में व्याप्त हो, ऐसा विभुत्व नहीं। आत्मा अपने में रहकर तीन लोक, तीन काल

को जानता है। सम्पूर्ण तत्त्व एकरूप होकर अपने में अखण्ड व्यापकरूप से विद्यमान हैं, प्रत्येक शक्ति भी सम्पूर्ण तत्त्व में व्यापक होकर पड़ी है। सर्व भावों में प्रसरित होने पर एक भावरूप रहे, ऐसा प्रभुत्व है। आत्मा, अनन्त भावों में व्याप्त होने पर भी एकरूप रहता है, एकरूप रहकर अनन्त में व्याप्त होता है परन्तु अनन्तरूप नहीं होता है और ज्ञान-दर्शनादि प्रत्येक गुण भी अपना एकत्व रखकर सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है; एक गुण, अनेक गुणों में व्याप्त है। अस्तित्व समस्त गुणों में व्यापक, ज्ञान समस्त गुणों में व्यापक, आनन्द समस्त गुणों में व्यापक - इस प्रकार अनन्त शक्तियों का विभुत्व समझ लेना चाहिए। 'विभुत्वशक्ति' तो एक है परन्तु उसने सम्पूर्ण आत्मा को और सर्व गुणों को विभुता दी है। जिस प्रकार अस्तित्वगुण से सब अस्तिरूप हैं; उसी प्रकार विभुत्वशक्ति से सब विभुस्वरूप हैं।

एक गुण, दूसरे अनन्त गुणों में व्याप्त होता है और एक गुण में दूसरे अनन्त गुण व्याप्त होते हैं। कोई एक गुण ऐसा नहीं है कि जिसमें दूसरे गुण व्याप्त न हों। देखो, वह आत्मा के अन्तरङ्ग समाज की एकता! अनन्त गुणों का समाज परस्पर व्याप्त होकर त्रिकाल ऐसी एकतापूर्वक विद्यमान है! ज्ञानगुण, सर्व में व्यापक है, ऐसा सत्ता की विभुता है। यदि अस्तित्व में ज्ञान न हो तो अस्तित्व अचेतन सिद्ध होगा और यदि ज्ञान में अस्तित्व न हो तो ज्ञान, अभावरूप सिद्ध हो। उसी प्रकार यदि आनन्द में ज्ञान नहीं हो तो आनन्दगुण, ज्ञानरहित जड़ हो जाए और यदि ज्ञान में आनन्द नहीं हो तो ज्ञानगुण, आनन्दरहित हो जाए - बिल्कुल नीरस हो जाए। इस प्रकार समस्त गुण, एक दूसरे में व्याप्त हैं। पुण्य-पाप के विकारीभाव तो एक गुण की एक समय पर्यन्त की पर्याय में ही व्यापक हैं; दूसरे अनन्त गुणों में, दूसरे समय की पर्याय में वे विकारीभाव व्याप्त नहीं हैं; इसलिए विकार में विभुत्व नहीं है, विकार, वस्तु का स्वरूप नहीं है। अनन्त गुणों में एक गुण व्यापक और एक गुण में अनन्त गुण व्यापक - ऐसा आत्मा, गुणों का समाज है।

अस्तित्वगुण सब में व्याप्त होकर सबको अस्तिरूप से रखता है - जैसे कि, ज्ञान का अस्तित्व, आनन्द का अस्तित्व इत्यादि।

वस्तुत्वगुण सब में व्याप्त होकर, समस्त गुणों के प्रयोजन को सिद्ध करता है;- जैसे कि, ज्ञान का प्रयोजन जानना, आनन्द का प्रयोजन अनाकुल आह्लाद देना इत्यादि।

द्रव्यत्वगुण सब में व्याप्त होकर, सबको परिणमित करता है; जैसे कि ज्ञान का परिणमन, आनन्द का परिणमन इत्यादि। आत्मद्रव्य परिणमित होने से उसके समस्त गुणों का परिणमन हो जाता है।

प्रमेयत्वगुण ने सब में व्याप्त होकर, समस्त गुणों को प्रमेयरूप बनाया है; चेतना ने सब में व्याप्त होकर सबको चेतनारूप बनाया है; विभुत्व ने सब में व्याप्त होकर सबको व्यापकरूप बनाया है।

इस प्रकार एक विभुत्वशक्ति का स्वीकार करने से अनन्त गुणों का अखण्ड समाज तैयार होता है। ऐसे अखण्ड तत्त्व की दृष्टि ही धर्मी की दृष्टि है। धर्मी जीव, एक-एक समय की पर्याय को अथवा एक-एक शक्ति का भेद करके मुख्यरूप से नहीं देखता, परन्तु त्रिकाली तत्त्व को ही मुख्यरूप से देखता है। धर्मी की दृष्टि, त्रिकाली तत्त्व पर स्थिर हो गयी है।

एक घर में रहनेवाले दस मनुष्य एक-दूसरे में व्याप्त नहीं हो सकते, परन्तु चैतन्य गृह में रहनेवाले अनन्त गुण एक-दूसरे में व्यापक हैं। एक ही घर में रहनेवाले दस व्यक्तियों में तो कोई कहीं से आया और कोई कहीं से, और अल्प काल में कोई कहीं चला जाता है और कोई कहीं; वहाँ किसी का किसी के साथ कोई लेनदेन नहीं है-सब पृथक् -पृथक् ही हैं परन्तु आत्मा के अनन्त गुण तो त्रिकाल एकत्रित ही रहनेवाले हैं; वे कभी पृथक् नहीं होते। आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं है कि जिसमें संसारभाव व्याप्त हो; संसारभाव को उत्पन्न करके उसमें व्याप्त हो, ऐसा आत्मा के किसी गुण का स्वरूप नहीं है।

जिस प्रकार सुवर्ण में उसका पीलापन, चिकनापन और भारीपन सर्वत्र व्यापक है; उसी प्रकार चैतन्यधातु में अनन्त गुण सर्व व्यापक हैं और चैतन्यवस्तु एक पिण्डरूप से सर्व गुणों में व्यापक है, ऐसी आत्मा की विभुता है। 'एक आत्मा, क्षेत्र से सर्व व्यापक विभु है, अर्थात् जड़-चेतन समस्त पदार्थों में विभु का वास है' - ऐसा अज्ञानी कहते हैं परन्तु यहाँ तो एक आत्मा अपने अनन्त गुणों में सर्व व्यापक रहकर, जड़ और चेतनादि सर्व का ज्ञाता विभु है - ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

अस्तित्व मुख्य करके देखो तो आत्मा के समस्त गुणों में अस्तिपने का भास होता

है; जीवत्वशक्ति को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में जीवत्व का भास होता है; ज्ञान को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में ज्ञान का भास होता है; आनन्द को मुख्य करके देखने से समस्त गुणों में आनन्द का भास होता है। इस प्रकार एक गुण के साथ ही साथ अनन्त गुणों का पिण्ड बँधा हुआ है। एक गुण का भेद करके लक्ष्य में लेना, वह राग का विकल्प है; अनन्त गुणों के अभेद पिण्ड को लक्ष्य में लेना, वह वीतरागता है।

देखो, आँख, कान आदि इन्द्रियों को बन्द करके भी अन्तर में 'मैं ज्ञान हूँ, मैं सहज आनन्द हूँ' – ऐसा विचार होता है न? वह विचार कौन करता है? किस सामग्री से वह विचार करता है? विचार, अर्थात् ज्ञान करनेवाला आत्मा स्वयं ही है; बाह्य सामग्री का अभाव होने पर भी अन्तर में अखण्ड स्वभाव सामग्री विद्यमान है; उसके अवलम्बन से स्वयं विचार करता है। आत्मा में अन्तर में कहीं आँख, कान इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। बाह्य इन्द्रियाँ और राग के अवलम्बन बिना ही आत्मा की चैतन्यसत्ता में ज्ञान का कार्य होता है; इसलिए निश्चित है कि इन्द्रियों से और राग से चैतन्यसत्ता पृथक् है। अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड अन्तर में भासित होता है; राग की सत्ता में या जड़ इन्द्रियों को सत्ता में वह भासित नहीं होता, परन्तु चैतन्य की सत्ता में ही अनन्त गुणों का एकरूप पिण्ड भासित होता है। उस चैतन्यसत्ता के स्वीकार से धर्म का प्रारम्भ होता है।

शरीरादि परवस्तुओं का तो आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में त्रिकाल अभाव है। जो क्षण पर्यन्त के रागादि व्यवहार-परिणाम होते हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्य में या उसके गुणों में व्याप्त नहीं होते; समस्त गुणों के पर्याय में भी वे रागादि व्याप्त नहीं होते और न एक गुण की समस्त पर्यायों में भी व्याप्त होते हैं; मात्र एक गुण की एक पर्याय में एक समयपर्यन्त ही वे रागादिभाव हैं, जबकि उसी समय इस ओर अन्तर में अनन्त गुण-पर्याय में त्रिकाल व्यापक अखण्ड विभुतावान् भगवान् आत्मा है तो किसकी मुख्यता को जाये? किसका आदर-बहुमान किया जाये? क्षणिक राग का अथवा अखण्ड विभुतावान आत्मा का? अखण्ड विभु का अनादर करके तुच्छ राग का आदर करना, वह महान् अधर्म है। धर्मी जीव तो अखण्ड विभु ऐसे निजात्मा का ही आदर करते हैं; धर्मी की अन्तरदृष्टि में राग का अभाव है।

इसके पूर्व आचार्यदेव ने १८२ वें कलश में भी आत्मा को 'विभु' कहा था। वहाँ कहा था कि विभु, ऐसे शुद्धचैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है; समस्त विभावों से रहित शुद्धचैतन्यभाव वह विभु है। वहाँ 'सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक' ऐसा विभु का अर्थ किया था। आत्मा और उसका प्रत्येक गुण, समसत गुण-पर्यायों में व्यापक है - ऐसी आत्मा की विभुता है। बाह्य लक्ष्मी आदि की विभुता आत्मा में नहीं है। जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यविभुत्व का विश्वास करे, उसे अनन्त गुण की विभूति-केवलज्ञानादि निज वैभव प्रगट होता है।

ज्ञानमात्र आत्मा में यह विभुत्वादि अनन्त शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं।

[यहाँ आठवीं विभुत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।]

[९]

सर्वदर्शित्वशक्ति

विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः।

समस्त विश्व के सामान्यभाव को देखनेरूप से (अर्थात्, सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित, ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति।

आत्मा में पूर्णता भरपूर है ही... स्वरूप-सन्मुख होकर जो पूर्ण में एकत्व का अभ्यास-अनुभव करेगा, वह प्रगटदशा में साक्षात पूर्णता प्राप्त करेगा। भगवान अरहन्त, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं, उनकी वास्तविक पहचान, अपने पूर्ण स्वरूप के सन्मुख हुए बिना नहीं हो सकती। सर्व प्रकार के पराश्रय की श्रद्धा और पराश्रयरूप अचारित्र छोड़कर, स्वसन्मुख होना, वही सर्वदर्शी होने का उपाय है।

आत्मा, ज्ञानस्वरूप है; उसमें अनन्त धर्म हैं; इसलिए वह अनेकान्तमूर्ति है। उस आत्मा के धर्मों का यह वर्णन चल रहा है।

समस्त विश्व के सामान्यभाव को देखनेरूप परिणमित हुए, ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। पहले, तीसरी शक्ति में 'दृशि' शक्ति का वर्णन था, वहाँ तो 'अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है' - ऐसा सामान्य वर्णन था और यहाँ सर्वदर्शित्वशक्ति कहकर, दर्शन के परिपूर्ण सामर्थ्य का विशेष वर्णन किया है। सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक की सत्तामात्र देखे, ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति है। आत्मा में लोकालोक को देखने की शक्ति है परन्तु उन्हें अपना करने की अथवा उनमें उथल-पुथल करने की शक्ति आत्मा में नहीं है। जिस प्रकार आँख का स्वभाव, मात्र पदार्थों को देखने का है परन्तु उनमें कुछ इधर-उधर करने का आँख का स्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा के दर्शन-ज्ञानरूपी नेत्र हैं, उनका स्वभाव, समस्त पदार्थों का देखने-जानने का है परन्तु उनमें कुछ भी फेरफार करने का उनका स्वभाव नहीं है।

आँख से देखने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। मैं आँख से देखता हूँ – ऐसा जो मानता है, उसने वास्तव में आत्मा की सर्वदर्शित्वरूप से परिणमित होने की शक्ति को नहीं माना है। यदि अपनी सर्वदर्शित्वशक्ति को जाने तो इन्द्रियों से देखना न माने और राग या अल्पदर्शिता को भी अपना स्वरूप न माने; त्रिकाली सर्वदर्शित्वशक्ति के सन्मुख होने से उन सबकी महिमा छूट जाती है। साधक की पर्याय में अभी सर्वदर्शीपना प्रगट नहीं हुआ है, तथापि उसे सर्वदर्शित्व परिणमन की प्रतीति है कि सर्वदर्शित्वरूप से परिणमित होने की शक्ति मुझमें वर्तमान में भी भरी है। सर्वदर्शीपना, अर्थात् केवलदर्शन; उस केवलदर्शनरूप परिणमित होने की शक्ति यदि मुझ में न हो तो केवलदर्शन का व्यक्त परिणमन कहाँ से होगा ? त्रिकाली शक्ति की प्रतीति में, उसकी व्यक्ति की प्रतीति भी आ ही जाती है।

अज्ञानी लोग अमुक बाह्य सम्पदा प्राप्त करने की भावना करते हैं परन्तु यहाँ तो सारी दुनिया की समस्त सम्पत्ति एक साथ ज्ञेयरूप से प्राप्त हो, ऐसा उपाय आचार्यदेव बतलाते हैं। जिसे लोकालोक की सम्पदा चाहिए हो, उसे आत्मा के केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्रतीति करना चाहिए। लोकालोक की सम्पदा कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाती परन्तु ज्ञान-दर्शन में लोकालोक ज्ञात हो – दृष्टिगोचर हों, वही लोकालोक की प्राप्ति है। वास्तव में तो ज्ञान, ज्ञान में ही है और लोकालोक, लोकालोक में ही है परन्तु लोकालोक का ज्ञान हो गया, उस अपेक्षा से उसकी प्राप्ति कहलाती है। जो थोड़ा-थोड़ा माँगे, अर्थात् अल्पता की भावना करेगा, उसे कुछ नहीं मिलेगा और जो पूर्णता की भावना भाएगा, उसे पूर्ण की प्राप्ति होगी – सब ज्ञात होगा। इसलिए लक्ष्मी आदि पर की प्राप्त करने की भावना छोड़कर, ऐसी भावना भाओ कि जिसमें सब एक साथ ज्ञात होता है – ऐसा केवलज्ञान हमें प्राप्त हो!

इस समय केवलदर्शन की बात चल रही है, पश्चात् दसवीं शक्ति में केवलज्ञान की बात आयेगी। वस्तु में तो दोनों शक्तियाँ एक साथ ही हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप परिणमन हो, वैसी शक्ति आत्मा में भरी है; उस आत्मशक्ति की-आत्मस्वभाव की भावना भाने से, अर्थात् उसकी श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन होने से, केवलज्ञान और केवलदर्शन का व्यक्त परिणमन हो जाता है।

यहाँ तो कहा है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी है, अर्थात् आत्मा को देखने

से उसमें तीन काल-तीन लोक दृष्टिगोचर हो जायें - ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति है। आत्मा, इन्द्रियों द्वारा तो नहीं देखता और लोकालोक को देखने के लिए उसे लोकालोक के सन्मुख नहीं होना पड़ता परन्तु स्व-सन्मुख रहकर ही लोकालोक को देख ले, ऐसी आत्मा की शक्ति है और आत्मा के ऐसे सामर्थ्य की प्रतीति भी किसी पर द्वारा या पर की सन्मुखता से नहीं होती; स्वरूपसन्मुखता से ही उसकी प्रतीति होती है।

कोई कहे कि 'भगवान अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं परन्तु सर्व शक्ति सम्पन्न नहीं हैं; इसलिए भगवान अनन्त को देख सकते हैं किन्तु सर्व को नहीं देख सकते' तो ऐसा कहनेवाले को आत्मा के सर्वदर्शित्व स्वभाव की प्रतीति नहीं है; इसलिए उसने आत्मा को ही नहीं माना है। अन्तर्दृष्टि के बिना, अपने को पण्डित मानकर लोग अनेक प्रकार के कुतर्क करते हैं परन्तु चैतन्यवस्तु मात्र तर्क का विषय नहीं है; यह मार्ग तो अन्तर्दृष्टि और अनुभव का है। आचार्यदेव ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि आत्मा के दर्शनस्वभाव में सर्वदर्शीरूप से परिणमित होने की शक्ति है। सर्वज्ञता और सर्वदर्शितारूप से आत्मा का परिणमन होने की शक्ति है। सर्वज्ञता और सर्वदर्शितारूप से आत्मा का परिणमन हो सकता है - ऐसी भी जिसे प्रतीति नहीं है, उसने तो वास्तव में सर्वज्ञदेव को ही नहीं माना है; इसलिए उसे तो जैनधर्म की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

इन शक्तियों का वर्णन करके आचार्यदेव ने थोड़े शब्दों में बहुत रहस्य भर दिया है!

भगवान की स्तुति में आता है कि - 'सव्वण्णुणं सव्वदरिसीणं' - हे भगवान! आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं! - स्तुति में ऐसा बोलते हैं किन्तु भगवान जैसी ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शित्वशक्ति अपने आत्मा में भरी है, उसका विश्वास न करे तो धर्म का लाभ नहीं हो सकता और उसने भगवान की परमार्थ स्तुति की - ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान में जैसी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है, वैसी ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्रगट होने का सामर्थ्य अपने में भी भरा है - उसका जो विश्वास करे, उसी ने भगवान की सच्ची स्तुति की है।

दर्शन, समस्त पदार्थों को सामान्यसत्तामात्र देखता है; सिद्ध और संसारी, चेतन और जड़ - ऐसे विभाग किये बिना, 'सब हैं' - ऐसा दर्शन देखता है। तीसरी दृशिशक्ति के वर्णन में दर्शन उपयोग का कथन विस्तारसहित आ गया है। दृशिशक्ति, परिणमित होकर

सर्वदर्शिता हो, ऐसा उसका परिणमनस्वभाव है; अपूर्णरूप परिणमित होने का उसका स्वभाव नहीं है। लोकालोक को देखने से आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता; इसलिए यह सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमय है। सामने लोकालोक है; इसलिए यह सर्वदर्शिता है, ऐसा नहीं है। लोकालोक के कारण, आत्मा का सर्वदर्शीपना विकसित नहीं होता; यदि लोकालोक से वह विकसित होता हो तो लोकालोक तो अनादि से हैं; इसलिए सर्वदर्शीपना भी अनादि से विकसित होना चाहिए। इसलिए कहा है कि सर्वदर्शित्वशक्ति, आत्मदर्शनमय है; आत्मा के अवलम्बन से सर्वदर्शीपना विकसित हो जाता है। जिसने सर्वदर्शी ऐसे निज आत्मा को देखा, उसने सब कुछ देख लिया। यथार्थरूप से एक भी शक्ति को देखने से अनन्त गुणमय सम्पूर्ण द्रव्य ही दृष्टिगोचर हो जाता है। एक गुण की प्रतीति करने से अभेदरूप पूर्ण द्रव्य ही प्रतीति में आ जाता है क्योंकि जहाँ एक गुण है, वहीं अभेदरूप से अनन्त गुण हैं।

आत्मा का सर्वदर्शीपना किसी निमित्त के सन्मुख देखने से विकसित नहीं होता और पुण्य के या वर्तमान पर्याय के आश्रय से भी उसका विकास नहीं होता। जिसमें त्रिकाल सर्वदर्शित्व सामर्थ्य विद्यमान है, ऐसे द्रव्य के लक्ष्य से ही सर्वदर्शित्व का परिपूर्ण विकास होता है; इसलिए द्रव्यदृष्टि करना ही तात्पर्य है – ऐसा सिद्ध होता है। किसी निमित्त में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि सर्वदर्शिता प्रदान करे। अपूर्ण पर्याय में भी सर्वदर्शिता देने की शक्ति नहीं है; सर्वदर्शिता प्रदान करने की शक्ति तो त्रिकाली द्रव्य में ही है; इसलिए द्रव्य का आश्रय करके परिणमित होना ही सर्वदर्शी होने का उपाय है।

जो सर्वदर्शित्व प्रगट हुआ, वह सर्व पदार्थों को स्पष्ट देखता है। दूरवर्ती वस्तु को अस्पष्ट देखता है और निकटवर्ती वस्तु को स्पष्ट देखता है – ऐसा भेद उसमें नहीं है और दूर की वस्तु से लाभ न माने किन्तु शरीर या देव–गुरु–शास्त्र इत्यादि निकटवर्ती वस्तुओं से लाभ माने – ऐसा भी सर्वदर्शित्वशक्ति में नहीं है। जिसने सर्वदर्शित्व सामर्थ्य की प्रतीति की है, वह जीव किसी भी परवस्तु से लाभ–हानि नहीं मानता। सर्वदर्शित्व तो आत्मदर्शनमय है; उसका सम्बन्ध पर के साथ नहीं है, तब फिर महाविदेहादि दूर की वाणी से लाभ नहीं होता और निकटवर्ती साक्षात् वाणी से लाभ होता है – यह बात कहाँ रही ? इसमें कहीं

परावलम्बन या पर में राग-द्वेष करना नहीं रहता; मात्र स्वद्रव्य के आश्रय से वीतरागता हो, ऐसी यह बात है।

प्रश्न - वाणी दूर हो या निकट हो, उससे तो कुछ समझ में नहीं आता; स्वत: अपने से ही समझ में आता है, तब फिर सत्समागम का क्या काम है ?

उत्तर - 'अहो ! चाहे जहाँ मुझे अपने आत्मा से स्वत: से ही ज्ञान होता है' - यह बात जिसे अन्तर में रुचे, उसे वैसा सुनानेवाले ज्ञानियों के प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता और इसलिए उसे सत्समागम की भावना हुए बिना नहीं रहती, परन्तु श्रवण के समय भी उसके लक्ष्य में तो ऐसा है कि मैं जितना अपने स्वभाव की रुचि और भावना का पोषण करता हूँ, उतना ही मुझे लाभ है; निमित्त या निमित्त की ओर के राग से मुझे लाभ नहीं है।

महाविदेहक्षेत्र ठीक है और भरतक्षेत्र ठीक नहीं है - ऐसा अच्छे-बुरे का भाव करना, आत्मा की किसी शक्ति में नहीं है; निर्बलता के कारण कभी-कभी ऐसा विकल्प उठता है किन्तु वहाँ धर्मी को नि:शङ्कता है कि यह विकल्प मेरे स्वरूप में से आया हुआ नहीं है; मेरे स्वरूप में ऐसी कोई शक्ति नहीं कि जो विकल्प को परिणमित करे। मेरी सर्वदर्शीशक्ति, सर्व को देखनेवाली है परन्तु किसी को अच्छा-बुरा माननेवाली नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्तियों को भी सर्वदर्शीशक्ति देखती है। जिसने आत्मा को देख लिया, उसने सबकुछ देख लिया। सर्वदर्शीशक्ति आत्मदर्शनमय है; इसलिए लोकालोक को देखने के लिए आत्मा को बाहर नहीं झाँकना पड़ता, किन्तु आत्मस्वभाव को देखने से लोकालोक ज्ञात हो जाता है। एक गुण की प्रतीति करते हुए भी सम्पूर्ण आत्मा ही प्रतीति में आ जाता है। पूर्ण आत्मा को जाने, तभी एक गुण का यथार्थ ज्ञान होता है; एक भी गुण को यथार्थ समझने में अनन्त गुण का पिण्ड समझ में आ जाता है। एक गुण को भी कब यथार्थ समझा कहा जाता है ? एक गुण का भेद करके यदि उसका आश्रय करने जाए तो उसने एक गुण को ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है; इसलिए एक गुण को भी यथार्थ नहीं जाना है। एक गुण को जानने से, उसके साथ अभेदरूप पूर्ण द्रव्य को पकड़ ले, तभी गुण को जाना कहा जाता है क्योंकि गुणी से पृथक् गुण नहीं रहता। अनेक शक्तियाँ हैं; इसलिए कहीं आत्मा में भेद नहीं पड़ जाता; आत्मा में तो अनन्त शक्ति से अभेदता है। उस अभेदता के आश्रयपूर्वक ही भिन्न-भिन्न शक्तियों का यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्मा की सर्वदर्शित्वशक्ति, लोकालोक को देखती है तथापि वह निराकार है; लोकालोक को देखने से वह साकार नहीं हो जाती, क्योंकि वह भेद किए बिना सर्व को सत्तामात्र ही देखती है; स्वयं निराकार आत्मदर्शनरूप परिणमित होकर, सर्व को भेदरहित देखती है। जड़ या चेतन, सिद्ध या संसारी, भव्य या अभव्य – ऐसे विशेष भेद, वह ज्ञान का विषय है। दर्शन, वैसे भेद किए बिना सामान्यसत्ता का प्रतिभास करता है। अनन्त गुणों के पिण्ड अखण्ड आत्मा को भी दर्शनशक्ति देखती है; इसलिए सर्वदर्शीशक्ति की प्रतीति में अखण्ड आत्मा की प्रतीति भी साथ ही है।

लोकालोक को देखने का सर्वदर्शित्वशक्ति का सामर्थ्य है, वह उपचार से नहीं है परन्तु स्वभाव से ही है। ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मा के ज्ञानमात्रभाव के साथ ही परिणमित हो रही है। आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों का परिणमन एक साथ ही हो रहा है। केवली भगवान के पहले ज्ञान परिणमित होता है और फिर दर्शन; इस प्रकार जो ज्ञान-दर्शन का क्रम मानता है, उसने एक साथ अनन्त शक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना है; उसे वास्तव में केवली प्रभु की प्रतीति नहीं है और आत्मा की भी प्रतीति नहीं है। ज्ञान, जहाँ स्वभाव का आश्रय करके परिणमित हुआ, वहाँ अनन्त गुणों का परिणमन उसके साथ ही उछल रहा है। ऐसे अनन्त धर्मों से परिणमित एक आत्मा को जानने का नाम अनेकान्त धर्म है और वही मोक्षमार्ग है।

[यहाँ नववीं सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१०]
सर्वज्ञत्वशक्ति

विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।

समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप से परिणमित, ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।

'धर्म का मूल सर्वज्ञ है', उस सर्वज्ञता के निर्णय में अत्यन्त गम्भीरता विद्यमान है। यहाँ, प्रत्येक आत्मा में विद्यमान सर्वज्ञत्वशक्ति के प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री ने जैनधर्म के अनेक मूलभूत रहस्य प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक आत्मार्थी जीव को यह प्रवचन मननपूर्वक समझने का अनुरोध है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं; इसलिए वह अनेकान्तमूर्ति है। उस अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा को बतलाने के लिए यहाँ उसकी कुछ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। उसमें सर्वदर्शित्वशक्ति का वर्णन किया, अब उसके साथ सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करते हैं।

समस्त विश्व के विशेषभावों को जाननेरूप परिणमित, ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति है। दर्शन तो 'सर्व है' - ऐसा सामान्यसत्तामात्र भाव को देखता है परन्तु जगत के समस्त पदार्थ सत्तारूप से समान होने पर भी, उनके स्वरूप में विशेषता है; कोई जीव है, कोई अजीव है, कोई सिद्ध है, कोई साधक है, कोई अज्ञानी है; इस प्रकार अनन्त प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव हैं, उन सबको विशेषरूप से जाने, ऐसी आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति है। यह शक्ति, दूरवर्ती या निकटवर्ती, वर्तमान या भूत-भविष्य के समस्त पदार्थों को एक समय में जानती है परन्तु उनमें से किसी का अच्छा-बुरा नहीं मानती; इसमें मात्र जानने का ही भाव है; राग-द्वेष का भाव सर्वज्ञत्वशक्ति में नहीं है। 'सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता' - ऐसा इन शक्तियों का परिणमन है।

आत्मा की समस्त शक्तियों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो पर को या विकार को

करे परन्तु पर को या विकार को न करे, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है और पर को या विकार को जाने, ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति भी त्रिकाल है।

अहो! समस्त विश्व को जानने की शक्ति, आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है। उसकी प्रतीति करनेवाला जीव, धर्मी है। वह धर्मी जीव, शरीर-मन-वाणी इत्यादि की जो भी क्रिया हो, उसे जानने की क्रिया करता है परन्तु 'मैं उसे करता हूँ, अथवा यह हो तो मुझे अच्छा और न हो तो बुरा' - ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्व की क्रिया को वह नहीं करता। वह जानता है कि मेरे आत्मा में पर को जानने का गुण है परन्तु पर का ग्रहण-त्याग करने का कोई गुण मुझमें नहीं है। जगत के सर्व पदार्थों को यथावत् भिन्न-भिन्न स्वरूप से जाननेरूप परिणमित हो, ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति का मैं स्वामी हूँ परन्तु पर की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ। अपनी क्रियाशक्ति से अपने अनन्त गुण के परिणमनरूप क्रिया का मैं कर्ता हूँ परन्तु पर की क्रिया को या विकार को मैं नहीं करता। जड़ में भी क्रियाशक्ति है, उसकी क्रिया उसके अपने से होती है; मैं तो उसका ज्ञाता हूँ। आत्मा की शक्ति का विकास होने से अपने में सर्वज्ञता प्रगट होती है परन्तु आत्मा की शक्ति का विकास होने से वह पर का कुछ कर दे अथवा जगत का उद्धार कर दे - ऐसा नहीं होता।

साधक को पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट न होने पर भी वह अपनी सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करता है; वह प्रतीति, पर्याय के समक्ष देखकर नहीं की है परन्तु स्वभावसन्मुख देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं ही अल्पज्ञ है, उस अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति कैसे हो सकती है? अल्पज्ञपर्याय द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति होती है परन्तु अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही सर्वज्ञता की प्रतीति होती है। प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है परन्तु उसे आश्रय, द्रव्य का है। द्रव्य के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति करनेवाले जीव को सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अभी अपने को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व भी 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्तिवाला है' - इस प्रकार जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया, वह जीव अल्पज्ञता को, राग को या पर को अपना स्वरूप नहीं मानता। अल्पज्ञपर्याय के समय

भी सर्वज्ञत्वशक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का बल अल्पज्ञपर्याय से हटकर, अखण्ड स्वभाव में ढल गया है; इसलिए वह 'सर्वज्ञ भगवान का नन्दन' हुआ है।

आत्मा के सर्व गुण अपने में ही कार्य करते हैं। आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्याय का विभु है, अनन्त गुण-पर्याय में उसकी सत्ता व्याप्त है परन्तु आत्मा, पर का विभु नहीं है; पर के ऊपर उसकी सत्ता नहीं है और जगत के समस्त पदार्थों को - सबको एक साथ जाने, ऐसा आत्मा के ज्ञान का विभुत्व है। जो आत्मा अपनी ऐसी ज्ञानशक्ति की प्रतीति करे, वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है परन्तु आत्मा, पर का ग्रहण-त्याग और परिवर्तन करता है - ऐसा जो मानता है, वह आत्मा की शक्ति को, सर्वज्ञदेव को अथवा जैनशासन को नहीं मानता है; वह वास्तव में जैन ही नहीं है।

देखो भाई! यह क्या कहा जा रहा है? आत्मा, महान भगवान है; उसकी महानता के यह गीत गाये जा रहे हैं। यह कहीं कल्पना से नहीं कहा जाता, परन्तु आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है। सर्व आत्माओं में सर्वज्ञशक्ति विद्यमान है। 'सर्वज्ञ...' अर्थात्, सर्व का ज्ञाता। अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें - इन सबको जाने, ऐसा महा-महिमावान अपना स्वभाव है; उसे अन्यरूप-विकारी स्वरूप से मानना ही आत्मा की महान हिंसा है। भाई रे! तू सर्व का 'ज्ञ' अर्थात्, ज्ञाता है परन्तु पर का तो कभी कुछ कर ही नहीं सकता। जहाँ प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, वहाँ प्रथक् वस्तु का तू क्या करेगा? तू भी स्वतन्त्र और वह भी स्वतन्त्र; सब स्वतन्त्र हैं। अहो! अनेकान्त में तो अकेली वीतरागता है। 'मैं स्व-रूप हूँ और पर-रूप नहीं हूँ' - ऐसा निर्णय करते ही अनन्त परतत्त्वों से उदास होकर, स्वतत्त्व में स्थिर हो गया; इसलिए वीतरागता हो गयी। इस प्रकार अनेकान्त में वीतरागता आ जाती है। अनेकान्त कहो या भेदज्ञान कहो; उसके बिना वीतरागता होती ही नहीं।

अनेकान्त, वह वीतरागी-विज्ञान है; उसमें सम्यग्ज्ञानपूर्वक की वीतरागता है और एकान्त में, अर्थात् स्व-पर की एकत्वबुद्धि में अज्ञानसहित का कषायभाव है। अनेकान्त में तो वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र की स्थापना है; इसलिए अनेकान्त ही मोक्षमार्ग है, वही परम अमृत है। जहाँ पर का कर्तव्य माना, वहाँ एकान्त है, उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष भरे हैं, वही संसार का मूल है।

अनेकान्त प्रत्येक पर्याय स्वाधीनस्वरूप बतलाता है; प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही अनन्त धर्मात्मक है, ऐसा अनेकान्त बतलाता है। 'अनेकान्त' कहते ही स्व से अस्ति और पर से नास्ति, अर्थात् अपने से परिपूर्ण और पर से पृथक् वस्तु सिद्ध होती है। मैं पर से शून्य हूँ और अपने स्वभाव से स्वाधीन-परिपूर्ण हूँ; इस प्रकार अनेकान्त में वीतरागी श्रद्धा है; स्व-पर तत्त्व की भिन्नता का वीतरागी ज्ञान है, और उसी में स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागी चारित्र है क्योंकि पर से भिन्नत्व को जाना; इसलिए ज्ञान पर में युक्त न होकर स्व में स्थिर हुआ। इस प्रकार वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र - यह तीनों अनेकान्त में आ जाते हैं।

मैं, पर का कुछ कर दूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने सामनेवाले तत्त्व को पराधीन माना है। जिसने एक भी तत्व को पराधीन माना, उसने जगत के समस्त पदार्थों को पराधीन स्वरूप से माना है और स्वाधीन तत्त्व का कथन करनेवाले तीन काल के सन्तों का उसने विरोध किया है। इस प्रकार पर का कर्तृत्त्व माननेवाले ने तीन काल के सन्तों का उसने विरोध किया है। इस प्रकार पर का कर्तृत्त्व माननेवाले एकान्तवादी जीव का अनन्त वीर्य, विपरीत श्रद्धा में, विपरीत ज्ञान में और विपरीत चारित्र में रुक गया है; इसलिए वह अनन्त संसार में भटकता है। अनेकान्त का फल, मोक्ष और एकान्त का फल, संसार है। एकान्तवादी को आचार्यदेव ने 'पशु' कहा है क्योंकि वह अपने आत्मस्वभाव को पर से भिन्नरूप नहीं देखता, किन्तु कर्म इत्यादि पर को ही आत्मारूप से देखता है। अनेकान्तवादी तो अपने आत्मा की पर से भिन्नरूप साधना करता है। अनेकान्त में बहुत गम्भीरता है।

'मैं पर का कुछ करूँ' - इसका अर्थ यह हुआ कि मेरा अस्तित्व पर में है, अर्थात् मैं अपनेरूप नहीं हूँ और जिस प्रकार मैं अपनेरूप में नहीं हूँ; उसी प्रकार जगत का कोई तत्त्व अपनेरूप से नहीं है - ऐसा भी उसमें गर्भितरूप से आ गया; इसलिए उसके अभिप्राय में जगत का कोई पदार्थ सत् रहा ही नहीं। इस प्रकार 'मैं पर का करूँ' - ऐसे अभिप्राय में तीन लोक के सत् का घात होता है; इसलिए उस विपरीत अभिप्राय को महान पाप कहा है। जगत के पदार्थ तो जैसे हैं, वैसे सत् हैं; उनका तो कहीं अभाव नहीं होता, परन्तु विपरीत अभिप्राय का सेवन करनेवाले जीव को अपनी पर्याय में मिथ्यात्व का महान पाप उत्पन्न होता है। यदि इस अनेकान्त से वस्तुस्वरूप को समझे तो सर्व विपरीत अभिप्राय

छूट जाए। मैं अपनेरूप सत् हूँ और पर पररूप से सत् है; मैं पररूप से असत् हूँ और पर मेरेरूप से असत् है – ऐसा समझने से कहीं परावलम्बन का भाव नहीं रहता; स्वावलम्बन से मात्र वीतरागता ही प्रगट होती है। सारा जगत ऐसे का ऐसा अपने-अपने स्वरूप में विराजमान है; उसमें कहाँ राग और कहाँ द्वेष ? राग-द्वेष कहीं है ही नहीं; मैं तो सबका ज्ञाता ही हूँ, सर्वज्ञत्वशक्ति का पिण्ड हूँ – ऐसा धर्मी जानता है।

यह आत्मवैभव का वर्णन चलता है। अपने में ही स्थिर रहकर एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने, ऐसा ज्ञानवैभव आत्मा में विद्यमान है। यदि आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति का विश्वास करे तो कहीं भी फेरफार करने की बात उड़ जाती है। 'निमित्त आए तो कार्य होता है और निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता' – ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है। 'सर्वज्ञता' कहते ही सर्व पदार्थों का क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थ की त्रिकाल की पर्यायें नियमित क्रमबद्ध न हों और उल्टी-सीधी होती हों तो सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिए सर्वज्ञता का स्वीकार करनेवाले को यह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है; वह सर्वज्ञशक्ति आत्मज्ञानमय है। आत्मा, पर के साथ तन्मय होकर पर को नहीं जानता, परन्तु स्व में तन्मय रहकर जानता है। किसी पर के कारण सर्वज्ञत्वशक्ति परिणमित नहीं होती, परन्तु आत्मा के आश्रय से ही परिणमित होती है। आत्मसन्मुख रहकर आत्मा को जानने से लोकालोक ज्ञात हो जाता है; इसलिए सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमय है; जिसने आत्मा को जाना उसने सर्व जाना। लोकालोक को जानने पर भी सर्वज्ञत्वशक्ति तो आत्मज्ञानमय ही है। लोकालोक के कारण केवलज्ञान नहीं है, यह बात सर्वदर्शित्वशक्ति के वर्णन में विस्तार से आ गयी है, तदनुसार यहाँ भी जानना।

हे जीव! तेरे ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनन्त धर्म एक साथ उछल रहे हैं; उसी में झाँककर अपने धर्म को ढूँढ़। जिसने अपनी सर्वज्ञता की प्रतीति की, वह जीव देहादि की क्रिया का ज्ञाता रहा। पर की क्रिया को बदलने की बात तो दूर रही, परन्तु अपनी क्रियावतीशक्ति से आत्मा का जो क्षेत्रान्तर होता है, उसे भी ज्ञान करता नहीं है; मात्र जानता ही है। 'सर्वज्ञता' कहने से दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थ को जानने में भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकटवर्ती; उसके कारण ज्ञान करने में कुछ भी फेर नहीं पड़ता। दूरवर्ती पदार्थ

को निकटवर्ती करना या निकटवर्ती पदार्थ को दूरवर्ती करना, वह ज्ञान का कार्य नहीं है परन्तु निकटवर्ती पदार्थ की भाँति दूरवर्ती पदार्थ को भी स्पष्ट जानना, ज्ञान का कार्य है। जगत के विशेषभावों को ज्ञान, समान रीति से जानता है। केवली भगवान को समुद्घात होने से पूर्व, उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है; भविष्य की अनन्तानन्त सुखपर्यायों का वेदन होने से पूर्व, सर्वज्ञत्वशक्ति उसे जाननेरूप परिणमित हो गयी है। भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा में 'सीमन्धर जिन चरण कमल पर...' इत्यादि बोलने की क्रिया, ज्ञान नहीं करता; इच्छा-विकल्प का भी वह कार्य नहीं है और चावल आदि आठ प्रकार की वस्तुएँ एकत्रित करने का कार्य, ज्ञान का नहीं है तथा शुभ विकल्प हो, वह कार्य भी ज्ञान का नहीं है; ज्ञान का कार्य तो मात्र 'जानना' ही है, वह भी अपूर्ण जाननेरूप परिणमें, ऐसा ज्ञान का मूलस्वरूप नहीं है; सर्व को जाननेरूप परिणमे - ऐसा ज्ञान का स्वरूप है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव ने सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करके बतलाया है।

रुपया आये या जाये, शरीर में आहार का प्रवेश हो या न हो, पुस्तक लिखी जाये या भाषा बोली जाये, उनमें कुछ भी करने की आत्मा की शक्ति नहीं है परन्तु उन सबको जानने की आत्मा की शक्ति है। गल में कफ अटक गया हो; ज्ञान जानता है कि यहाँ कफ अटका परन्तु उस कफ को निकालने की शक्ति, ज्ञान में नहीं है; शरीर में रोग हो, वहाँ वह रोग कब हुआ-कितना हुआ, उसे ज्ञान जानता है परन्तु उस रोग को दूर करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है। श्रीभद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि 'तिनके के दो टुकड़े करने की शक्ति भी हम में नहीं है' - इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं, एक परमाणुमात्र को बदलने का कर्तव्य भी हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों, उसे करने की हमारी शक्ति नहीं है किन्तु जानने की शक्ति है और वह भी इतना ही जानने की शक्ति नहीं है परन्तु परिपूर्ण जानने की शक्ति है। जो ज्ञान की पूर्ण जानने की शक्ति को माने, वह अपूर्णदशा या राग को अपना स्वरूप नहीं मानता; इसलिए उसे ज्ञान के विकास का अहङ्कार कहाँ से होगा ? जहाँ पूर्ण स्वभाव का आदर है, वहाँ अल्पज्ञान का अहङ्कार होता ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा संयोगरहित और पर में रुकने के भावरहित है; किसी अन्य द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। सर्वज्ञता, अर्थात् अकेला ज्ञान... परिपूर्ण ज्ञान... ऐसे ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति करना, वह धर्म की नींव है।

निमित्त से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा माननेवाले को विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है। निमित्त से आत्मा को लाभ होता है, ऐसा माननेवाले ने आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति को स्वीकार नहीं किया है। मुझमें ही सर्वज्ञरूप परिणमित होने की शक्ति है, उसी से मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा न मानकर, शास्त्रादि के निमित्त से मेरा ज्ञान परिणमित होता है – ऐसा जिसने माना है, उसने संयोग से लाभ माना है। जो जिससे लाभ माने, उसे उसी में सुखबुद्धि होती है। संयोग से लाभ माने, उसे संयोग में सुखबुद्धि है; निमित्त से सुख माने, उसे निमित्त में सुखबुद्धि है। संयोग, अर्थात् पर विषय; निमित्त भी पर विषय है। जिसे निमित्त के आश्रय की बुद्धि है, उसे पर विषय में सुखबुद्धि है। जिसने आत्मा को किसी भी संयोग से या निमित्त से लाभ माना, उसके अन्तर में पर विषयों को ही रुचि है; उसे आत्मा के स्वाधीन सुख की रुचि नहीं हुई है और स्व-विषय उसकी दृष्टि में नहीं आया है। जिसे वास्तव में आत्मा के सुख की रुचि हो, वह किसी भी पर-विषय से लाभ नहीं मानता; चैतन्यविम्ब स्वतत्त्व के अतिरिक्त अन्य से लाभ मानना, वह मैथुनबुद्धि, अर्थात् विषयों में सुखबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुख से परिपूर्ण हैं' – ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जीव भोगहेतु धर्म की, अर्थात् पुण्य की ही श्रद्धा रखता है; चैतन्य के निर्विषय सुख का उसे अनुभव नहीं है; इसलिए उसके अन्तर की गहराई में भोग का हेतु ही विद्यमान है।

सर्वज्ञत्वरूप से परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है; उसके बदले निमित्त के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है – ऐसा जो मानता है, उसे पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है; निमित्त और विषय दोनों एक ही हैं। निमित्त से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला, इन दोनों की एक ही जाति है। वे आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित न होकर, संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं; भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयों की रुचि दूर होकर स्वभावसुख की रुचि नहीं हुई है।

पर में से कुछ भी लाभ ले, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है; और आत्मा को लाभदायी हो, ऐसी कोई शक्ति परवस्तु में नहीं है तथापि पर का आश्रय करके जो लाभ लेना मानता है, उसे स्व-विषय की रुचि नहीं है परन्तु अन्तर में विषयों के सुख की रुचि

विद्यमान है; उसने अपने आत्मा को ध्येयरूप नहीं किया है परन्तु विषयों को ही ध्येयरूप बनाया है। यहाँ विषय कहने से मात्र अशुभराग के निमित्त ही नहीं समझना, परन्तु देव -गुरु-शास्त्रादि शुभराग के निमित्त भी पर विषय ही हैं। अपने चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थ पर विषय हैं; उनके आश्रय से जो लाभ माने, उसे पर विषयों की प्रीति है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञत्वशक्ति है; उसकी श्रद्धा करनेवाले को, पर विषयों के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं होती। 'अहो! मेरे आत्मा में सर्वज्ञता का सामर्थ्य है' - ऐसी जिसने प्रतीति की, उसने वह प्रतीति परसन्मुख देखकर की है या अपनी शक्तिसन्मुख देखकर की है? आत्मा की शक्ति की प्रतीति, आत्मा को ध्येय बनाकर होती है या पर को ध्येय बनाकर होती है? किसी निमित्त, राग अथवा अपूर्ण पर्याय के लक्ष्य से पूर्णता की प्रतीति नहीं होती, परन्तु अखण्ड स्वभाव के लक्ष्य से ही पूर्णता की प्रतीति होती है। परमार्थ से अरहन्त भगवान इस आत्मा के ध्येय नहीं हैं; उनके लक्ष्य से तो राग होता है। अरहन्त भगवान की शक्ति उनमें है किन्तु उनके पास से कहीं इस आत्मा की शक्ति नहीं आती। अरहन्त भगवान जैसी इस आत्मा की शक्ति अपने में विद्यमान है। यदि अरहन्त भगवान के सन्मुख ही देखता रहे और अपने आत्मा की ओर न ढले तो मोह का क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरहन्त भगवान हैं, वैसा ही मैं हूँ - ऐसा जानकर यदि अपने आत्मा की ओर ढले तो सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय होता है। प्रभो! तेरी चैतन्यसत्ता के असंख्य प्रदेश-क्षेत्र में, तेरे अचिन्त्य निधान भरे हैं; तेरी सर्वशक्ति तेरे ही निधान में भरी है, उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा खोद तो तेरे निधान में से सर्वज्ञता प्रगट हो।

विश्व के समस्त भावों को विशेष प्रकार से जानने की आत्मा की शक्ति है। जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त, सिद्ध-संसारी, भव्य-अभव्य इत्यादि समस्त विविध और विषमभावों को वीतरागरूप से जान ले, ऐसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य आत्मा में भरा है। किसी निमित्त के कारण यह ज्ञानसामर्थ्य विकसित नहीं होता। यदि आत्मा, निमित्त से जानता हो तो सर्वज्ञत्वशक्ति निमित्तमयी हो गयी, किन्तु आत्मज्ञानमयी नहीं रही! जिस प्रकार पूर्णता को प्राप्त ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन नहीं है; उसी प्रकार निचलीदशा में भी निमित्त के कारण, ज्ञान नहीं होता; इसलिए वास्तव में पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक अपने ज्ञान

को परावलम्बन से नहीं मानता, परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर, स्वोन्मुख करता है। परसन्मुख देखने से आत्मा का कुछ भी नहीं हो सकता; सर्वज्ञशक्तिवाले अपने आत्मा की ओर देखने से सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है। अनन्त काल परसन्मुख देखता रहे, तथापि वहाँ से सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होगी और निजस्वभाव सन्मुख देखकर स्थिर होने से क्षणमात्र में सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

अपने स्वभाव के अवलम्बन से तीन काल तीन लोक को जाननेरूप परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है; उसके बदले स्वभावगृह को छोड़कर, निमित्तादि परद्रव्यों के अवलम्बन से जो अपना परिणमन मानता है, उस अज्ञानी की व्यभिचारी बुद्धि है। निमित्त के आश्रय से लाभ होता है – ऐसी मान्यता कहो, मिथ्यात्व कहो, मूढ़ता कहो, संयोगी दृष्टि कहो, विषयों में सुखबुद्धि कहो, व्यभिचार कहो, अधर्म कहो या अनन्त संसार का मूलकारण कहो – उन सबका एक ही भाव है। जहाँ अपने सहजस्वरूप की रुचि नहीं है और पराश्रयभाव की रुचि है, वहाँ उपरोक्त समस्त भाव उसमें भरे ही हैं।

सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व साधकदशा में ही आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति करने की यह बात है। पूर्ण शक्ति को प्रतीति करके, उसका आश्रय लेने से साधकदशा प्रारम्भ होकर, पूर्णदशा प्रगट होती है।

साधक को शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर आदि की यात्रा का भाव आता है परन्तु उन तीर्थों के कारण मुझे शीघ्र मोक्ष हो जायेगा – ऐसा वह नहीं मानता। उसे ऐसी प्रतीति है कि निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थों को समानरूप से जानने की मेरे ज्ञान की शक्ति है; मेरे ज्ञानसामर्थ्य को दूर का या निकट का जानने में फेर नहीं पड़ता। जहाँ पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो गया, वहाँ दूर क्या और निकट क्या ? ज्ञान तो आत्मा में रहकर जानता है; कहीं पदार्थों के समीप जाकर उन्हें नहीं जानता। एक सर्वज्ञ ढाई द्वीप के मध्य में हों और दूसरे ढाई द्वीप के छोर पर हों, तो वहाँ बीच में विराजमान सर्वज्ञ को चारों ओर के पदार्थों का अधिक स्पष्ट ज्ञान हो और छोर पर विद्यमान सर्वज्ञ को सामनेवाले छोर के पदार्थों का, दूर होने के कारण कुछ कम ज्ञान हो – ऐसा नहीं है; दोनों की सर्वज्ञता समान ही है। यहाँ के पदार्थ का जैसा स्पष्ट ज्ञान निकटवर्ती सर्वज्ञ को होता है, वैसा ही स्पष्ट ज्ञान लाखों-करोड़ों

योजन दूर विद्यमान, सिद्ध भगवन्तों को होता है; सर्वज्ञता में अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्ति प्रत्येक जीव में त्रिकाल विद्यमान है।

'अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही भरी है'- इस प्रकार स्वभावसामर्थ्य की श्रद्धा करने से ही वह अपूर्व श्रद्धा जीव को बाह्य में उछाले मारने से रोक देती है और उसके परिणमन को अन्तर्मुख कर देती है। इस प्रकार एक सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसमें मोक्ष की क्रिया-धर्म की क्रिया आ जाती है। जो जीव, स्वभाव -सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्त की सन्मुखता से लाभ मानता है, उस जीव को विषयों में से सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है और न स्वभावबुद्धि हुई है। मस्तक काटनेवाला निमित्त मुझे हानिकर्ता है और भगवान की वाणी लाभदायक है; इस प्रकार पर विषयों से लाभ-हानि होने की जिसकी मान्यता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि, विषयबुद्धिवाला है। स्वभाव की बुद्धिवाला धर्मी जीव तो ऐसा जानता है कि मस्तक काटनेवाला हिंसक या दिव्यध्वनि सुनानेवाले सर्वज्ञ-वीतरागदेव - दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। उन ज्ञेयों के कारण मुझे कोई लाभ-हानि नहीं है और न उन ज्ञेयों के कारण मैं उन्हें जानता हूँ। राग-द्वेष के बिना समस्त ज्ञेयों को जान लेने की सर्वज्ञत्वशक्ति मुझमें विद्यमान है। कदाचित् अस्थिरता का विकल्प आ जाये, तथापि धर्मी को ऐसी श्रद्धा तो हटती ही नहीं। इसलिए जिस पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लिया है, उसी के अवलम्बन के बल से अल्प काल में उनके पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाती है।

[इस प्रकार अनेकान्तस्वरूपी आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ।]

[११]

स्वच्छत्वशक्ति

नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षण स्वच्छत्वशक्तिः ॥

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान, लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात्, अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे, दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं; उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।)।

हे जीव! अपने में ऐसी स्वच्छत्वशक्ति है कि तेरे उपयोगदर्पण में लोकालोक एक साथ ज्ञात हो जायें। तू उसे जानने की आकुलता छोड़ (ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, ऐसा नहीं; किन्तु वह तो मेरे ज्ञान में स्वच्छ स्वभाव का उदय है) तू अन्तर्मुख होकर नित्य निर्मलस्वरूप में निश्चल होते ही सर्व पदार्थ स्वयमेव तेरे उपयोग में प्रतिभासित होंगे - ज्ञेयों को जानने के लिए तुझे बाह्यदृष्टि देने की आवश्यकता नहीं है। जैसे, तेरे शुद्धस्वरूप में किञ्चित मलिनता नहीं है; इस प्रकार पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होने पर प्रगट उपयोगमय चैतन्य की स्वच्छता में विकार का अंश भी नहीं रह सकता है।

अमूर्तिक आत्म प्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अनेक-आकाररूप) - ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में है। जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं; उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार झलकानेवाली स्वच्छता प्रकाशित होती है।

अनन्त शक्तिवाले आत्मा के आधार से धर्म होता है; इसलिए उसकी शक्तियों द्वारा उसे पहचानने के लिए यह वर्णन चलता है। आत्मा के उपयोग में लोकालोक ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है। बाह्य में शरीर के धोने से आत्मा की स्वच्छता नहीं हो सकती; स्वच्छता तो आत्मा का ही गुण है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। अज्ञानीजन, चैतन्य के

स्वच्छ स्वभाव को भूलकर, शरीर की स्वच्छता में धर्म मानते हैं और शरीर की अशुचि होने से मानों अपने आत्मा में मलिनता लग गयी हो, ऐसा वे मानते हैं परन्तु आत्मा तो स्वयं स्वच्छ है, उसके उपयोग में लोकालोक ज्ञात होने पर भी मलिनता न लगे, ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है।

हे जीव! तेरी स्वच्छता ऐसी है कि उसमें जगत का कोई पदार्थ ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छता में सब दिखायी देता है; उसी प्रकार स्वच्छत्वशक्ति के कारण आत्मा के उपयोग में लोकालोक ज्ञात होता है। शरीर तो जड़ है, उसमें किसी को जानने की शक्ति नहीं है; रागादि भावों में भी ऐसी स्वच्छता नहीं है कि वे किसी को जान सकें; वे तो अन्ध हैं; आत्मा में ही ऐसी स्वच्छता है कि उसके उपयोग में सब ज्ञात होता है। स्वच्छता के कारण, आत्मा का उपयोग ही लोकालोक के ज्ञानरूप से परिणमित हो जाता है। शरीर स्वच्छ हो तो आत्मा के भाव निर्मल हों - ऐसा नहीं है। जगत के सर्व पदार्थ मेरे उपयोग में भले ही ज्ञात हों परन्तु वे कोई पदार्थ मेरी स्वच्छता को बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। बाह्य पदार्थ कहीं ज्ञान में नहीं आ जाते, परन्तु ज्ञान के उपयोग का ऐसा मेचक स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थों के ज्ञानरूप से परिणमित होता है तथापि अपनी स्वच्छता को नहीं छोड़ता। जिसने अपने ऐसे पवित्र उपयोगस्वभाव की प्रतीति की, वह जीव स्वसन्मुखता से पर्याय-पर्याय में पवित्रता प्रगट करता हुआ केवलज्ञान के सन्मुख होता जाता है।

लोकालोक को देखने के लिये जीव को कहीं बाहर नहीं देखना पड़ता, परन्तु जहाँ ज्ञान का उपयोग स्वरूप में लीन होकर स्वच्छरूप से परिणमित हुआ, वहाँ उसकी स्वच्छता में लोकालोक अपने आप आकर झलकते हैं। वस्तुपाल-तेजपाल के सम्बन्ध में एक ऐसी किवदन्ति प्रचलित है कि एक बार वे चोरों के भय से रुपये तथा गहने आदि सम्पत्ति को धरती में गाड़ने के लिए गड्ढा खोद रहे थे; वहाँ उस गड्ढे में से ही स्वर्ण-मुहरों के निधान निकल पड़े। यह देखकर उनकी स्त्री कहने लगी कि अरे! आपका धरती में गाड़ने से क्या प्रयोजन है? जहाँ पग-पग पर निधान निकल रहे हैं, वहाँ गाड़ना किसलिए? इस लक्ष्मी का तो ऐसा सदुपयोग करो कि जिसे कोई चुरा न सके - इस घटना के बाद उन्होंने मन्दिर बनवाए। उसी प्रकार यहाँ चैतन्य में ऐसी उपयोग लक्ष्मी का भण्डार भरा है

कि अन्तर्मुख गहराई तक उतरकर खोदने से केवलज्ञान के निधान प्रगट होते हैं और लोकालोक आकर उनमें झलकते हैं। उस उपयोग की स्वच्छता को कोई चुरा नहीं सकता। जिसके स्वभाव में ऐसे निधान भरे हैं, उसे किसी पर का आश्रय क्यों होगा? स्वभाव के आश्रय से पर्याय-पर्याय में पूर्ण निधान प्रगट होते हैं। आत्मा में ही ऐसी स्वच्छता भरी है कि कोई पर वस्तु या मन्दकषाय के आश्रय बिना ही उसका उपयोग, लोकालोक को जाननेरूप परिणमित होता है।

स्वच्छ दर्पण के सामने मोर हो, वहाँ दर्पण में ऐसा स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखायी देता है - मानों मोर दर्पण में प्रविष्ट हो गया हो! वहाँ वास्तव में दर्पण में मोर दिखलायी नहीं देता परन्तु दर्पण की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का उपयोग ही सारे जगत का मङ्गलदर्पण है; उसकी स्वच्छता में लोकालोक ऐसे स्पष्टरूप से ज्ञात होते हैं - मानों लोकालोक उसमें प्रविष्ट हो गये हों। वास्तव में कहीं लोकालोक आत्मा के उपयोग में प्रविष्ट नहीं हो जाते; लोकालोक तो बाहर ही हैं; आत्मा का स्वच्छ उपयोग ही उस स्वरूप से परिणमित हुआ है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कहीं बाह्य के लक्ष्य से उपयोग की स्वच्छता नहीं होती परन्तु त्रिकाली स्वच्छ उपयोगस्वभाव के सन्मुख होने से उपयोग की स्वच्छता प्रगट होती है। इस प्रकार स्वच्छत्वशक्ति द्रव्य -गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है। एक समय में जगत के अनेक पदार्थों को जाने, वैसे स्वच्छ आकाररूप उपयोग का परिणमन होने पर भी उसके खण्ड-खण्ड या उसमें मलिनता नहीं हो जाती, ऐसा स्वच्छत्वशक्ति का प्रताप है।

परसन्मुख देखने से अथवा शुभराग के कारण, उपयोग का स्वच्छत्व नहीं होता। शुभराग तो स्वयं मलिनता है; आत्मा का त्रिकाली स्वच्छ स्वभाव है, उसकी प्रतीति करके परिणमित होने से लोकालोक को प्रकाशित करे, ऐसा स्वच्छ उपयोग प्रगट होता है। वह उपयोग, परसन्मुख देखे बिना स्वयं अपने में लीन रहकर अपनी स्वच्छता में सबको जान लेता है। जैसे, कभी-कभी स्वयंवर आदि में कन्या को राजकुमारों की ओर देखना न पड़े, इसके लिए एक बड़ा स्वच्छ दर्पण रखते हैं; उस दर्पण में कन्या, राजकुमारों की सूरत देख लेती है; उसमें किसी की ओर देखने की या दूसरे के आश्रय की कन्या को आवश्यकता नहीं रहती; उसी प्रकार आत्मा में ऐसी स्वच्छता है कि पर-लोकालोक के सन्मुख देखे

बिना, स्वयं अपने स्वभाव की ओर देखते हुए निर्मल उपयोग भूमि में लोकालोक को देख लेता है। जिस प्रकार सती स्त्रियाँ, पर पुरुष की ओर आँख उठाकर नहीं देखतीं; उसी प्रकार पवित्र मूर्ति आत्मा, परसन्मुख देखे बिना ही लोकालोक को प्रकाशित करनेरूप परिणमित होने की शक्तिवाला है।

द्रोपदी, सीताजी आदि महान सती थीं; एक पति के अतिरिक्त किसी अन्य की स्वप्न में भी उनके इच्छा नहीं थी। द्रोपदी सती के एक ही पति था; स्वयंवर में उन्होंने पाँच पाण्डवों को वरमाला नहीं पहनायी, परन्तु एक अर्जुन का ही वरण किया था। पूर्व प्रारब्ध के योग से ऐसी झूठी बात उड़ गयी कि द्रौपदी के पाँच पति थे। अहो! युधिष्ठिर और भीम जैसे जेठ तो पितातुल्य थे तथा नकुल, सहदेव जैसे देवर, उन्हें पुत्रतुल्य थे। ऐसी पवित्र सती को पाँच पति माननेवाले मूढ़-मिथ्याभाषी हैं। सती के स्वप्न में भी ऐसा नहीं होता। सती सीता, द्रौपदी, राजुल आदि तो जगत की चन्द्रिकाएँ थीं, उन्हें आत्मा का भान था, अन्तर में ब्रह्म-आनन्द का रसास्वादन किया था; इसलिए विषय नीरस लगते थे, विषयों में किञ्चित् सुख नहीं मानती थीं। ऐसी पवित्र सतियाँ किसी अन्य की ओर नहीं देख सकतीं। यहाँ सतियों का दृष्टान्त देकर यह समझाना है कि जिस प्रकार पवित्र सतियाँ, अन्य पुरुषों के सामने नहीं देखतीं; उसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसा स्वच्छ-पवित्र स्वभावी है कि किसी अन्य की ओर देखे बिना, स्वयं अपने स्वभाव से ही लोकालोक को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। आत्मा, इन्द्रियों के अवलम्बन से या परज्ञेयों की सन्मुखता से नहीं जानता।

यह द्रव्यदृष्टि की बात है। वर्तमान पर्याय में कचास होने पर भी, स्वसन्मुख स्वभाव की प्रतीति करने की यह बात है। जितनी बहिर्मुखवृत्ति हो, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा पूर्ण स्वभाव अन्तर्मुख है। मेरे स्वभाव की स्वच्छता ऐसी है कि उसकी ओर देखने से सब ज्ञात हो जाता है। बाह्य में देखते हुए तो विकल्प उठते हैं और पूर्ण ज्ञात नहीं होता; लोकालोक को जानने के लिए बाह्य में लक्ष्य नहीं बढ़ाना पड़ता, परन्तु अन्तर में एकाग्र होना पड़ता है। अनन्त अलोकक्षेत्र, अनन्त काल और लोक के अनन्त पदार्थ - वह सब स्वभावसन्मुख देखने से ज्ञात हो जाता है। लोकालोक के सन्मुख देखकर कोई जीव लोकालोक का पार नहीं पा सकता, परन्तु ज्ञान अन्तर में स्थिर होने से लोकालोक का पार

पा लेता है। इस प्रकार धर्मी को अपने अन्तर्मुख स्वभाव की प्रतीति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू पर को जानने की आकुलता छोड़कर, अपने में स्थिर हो! पर को जानने की आकुलता करने से तो सारा ज्ञान विपरीतता में रुक जाएगा और पूर्ण नहीं जान सकेगा परन्तु यदि स्वरूप में स्थिर हो तो तेरे ज्ञान का ऐसा विकास प्रगट हो जायेगा कि लोकालोक सहज ही उसमें ज्ञात होंगे। इसलिए स्वभावसन्मुख होकर अपनी स्वच्छता के सामर्थ्य की प्रतीति कर और उसमें स्थिर हो। देखो, यह लोकालोक को जानने का उपाय!

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में ही लोकालोक झलकते हैं। लोक में मूर्तिक पदार्थ हैं, वे भी अमूर्तिक ज्ञान में ज्ञात होते हैं। मूर्तिक पदार्थों को जानने से ज्ञान, कहीं मूर्तिक नहीं हो जाता, क्योंकि मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान तो अमूर्तिक ही है। जगत में अनन्त आत्मा सदा पृथक-पृथक हैं; उनमें ज्ञानगुण है, उनके उपयोग का परिणमन है, उनका पूर्ण स्वच्छ परिणमन होने से उसमें लोकालोक ज्ञात होते हैं। सामने ज्ञेयरूप लोकालोक है परन्तु लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान उनसे पृथक है; लोकलोक का ज्ञान तो आत्मप्रदेशों में ही समा जाता है। एक स्वच्छत्वशक्ति को मानने से उसमें यह सब आ जाता है। जो यह सब स्वीकार न करे, उसे आत्मा के स्वच्छत्वस्वभाव की प्रतीति नहीं है।

दर्पण की स्वच्छता के कारण उसमें मयूरादि स्वयं प्रकाशित होते हैं। जिनमन्दिर में लगे हुए दोनों ओर के दर्पण में अनेक जिन-प्रतिमाओं की पंक्ति हो, ऐसा दिखायी देता है; वहाँ कहीं दर्पण में जिनप्रतिमाएँ नहीं हैं, किन्तु दर्पण की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है। अनेक प्रकार के रङ्ग और आकृतियाँ दर्पण में दिखलायी देती हैं, वह कहीं बाह्य की उपाधि नहीं है परन्तु दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है। उसी प्रकार आत्मा का ऐसा स्वच्छ स्वभाव है कि उसके उपयोग के परिणमन में लोकालोक का प्रतिबिम्ब झलक रहा है, अनन्त सिद्ध भगवन्त एक साथ ज्ञान में झलक रहे हैं; वहाँ ज्ञान में कहीं वे परद्रव्य नहीं हैं परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है; ज्ञान में लोकालोक की उपाधि नहीं है। अहो! ऐसे स्वच्छ ज्ञानस्वभाव में कहीं पर का अवलम्बन, विकार या अपूर्णता है ही कहाँ?

जिस प्रकार बाजार में किसी दुकान में दर्पण लगा हो, उसमें बाजार में आने

–जानेवाले हाथी, घोड़ी, मोटर, साइकिल, मनुष्य, स्त्री, कोयला, विष्टा इत्यादि विचित्र पदार्थ झलकते हैं परन्तु दर्पण को किसी पर राग–द्वेष नहीं होता; दर्पण स्वयं स्थिर रहता है और पदार्थ स्वयमेव उसमें झलकते हैं। उसी प्रकार आत्मा के चैतन्यदर्पण में विश्व के समस्त चित्र–विचित्र पदार्थ झलकते हैं – ऐसा उसका स्वभाव है परन्तु उनमें से किसी पर राग–द्वेष करने का उसका स्वभाव नहीं है। सिद्ध पर राग और अभव्य पर द्वेष करे, ऐसा उसमें नहीं है; वह तो निजस्वरूप में स्थिर रहकर वीतरागरूप से विश्व के प्रतिबिम्ब को अपने में झलका रहा है। दर्पण का दृष्टान्त दिया, वह दर्पण तो जड़ है; उसे पर की या अपने स्वभाव की खबर नहीं है; आत्मा तो लोकालोक–प्रकाशक चैतन्यदर्पण है; वह स्वयं अपने स्वभाव का तथा पर का प्रकाशक है। स्थिर होकर स्वयं अपने अतीन्द्रिय ज्ञानदर्पण में देखे तो उसमें अपना शुद्ध स्वरूप दिखायी दे और लोकालोक का भी ज्ञान हो जाये।

देखो, यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि निजस्वरूप को जानने से पर का ज्ञान हो जाता है। स्वभाव को जाने बिना, मात्र पर को ही जानने जाये तो वह मिथ्याज्ञान है, उसमें पर का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जहाँ स्वप्रकाशकतारूप निश्चय हो, वहीं प्रकाशकतारूप व्यवहार होता है।

जगत में स्व–पर दोनों वस्तुएँ हैं, और उन दोनों को जानने का ज्ञान का सामर्थ्य है परन्तु स्व में पर का अभाव है और पर में स्व का अभाव है—ऐसा जानना, वह अनेकान्त है और वही सत्य स्वरूप है। ऐसा सत्य स्वरूप जाने बिना, कोई सत्यवादी नहीं हो सकता। एकान्तवादी जो कुछ बोलता है, वह सब मिथ्या है – असत्य है। स्याद्वाद ही सच्चा सत्यवाद है। प्रत्येक वस्तु अपने–अपने स्वभाव–सामर्थ्य से परिपूर्ण है और पर से पृथक है – इस प्रकार अनेकान्त द्वारा सत्यवस्तुस्वरूप को पहचाने बिना, वीतरागी सत्य की घोषणा नहीं हो सकती।

आत्मा की स्वच्छशक्ति में विकार नहीं है और उस स्वच्छशक्ति में अभेद होकर परिणमित होने से पर्याय में भी मलिनता नहीं रह सकती। जिस प्रकार आँख के भीतर एक रजकण भी नहीं रह सकता; उसी प्रकार आत्मा के स्वच्छ उपयोग में विकार का अंश भी नहीं रह सकता।

[यहाँ ११वीं अनन्तधर्मात्मक आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१२]

प्रकाशशक्ति

स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः ॥

स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट), ऐसी स्वसंवेदनमयी (स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति।

चैतन्य की महिमा ऐसी है कि स्वयं अपने स्वसंवेदन से स्पष्ट अनुभव में आती है। चैतन्य की ऐसी महिमा को जाने तो अपूर्व कल्याण प्रगटे। आत्मा की महिमा अपनी अनन्त शक्तियों से ही है; किसी बाह्य वस्तु से आत्मा की महिमा नहीं है। जिसको मोक्ष में जाना हो, उसके लिए आचार्यदेव यह चैतन्य का दहेज देते हैं।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक प्रकाश नाम की शक्ति है। कैसी है वह शक्ति ? स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट), ऐसी स्वसंवेदनमयी, अर्थात् स्वानुभवस्वरूप प्रकाशशक्ति है।

ज्ञानमूर्ति आत्मा का स्वसंवेदन कैसा है ? कि स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है। आत्मा स्वयं अपने से ही प्रत्यक्ष स्वानुभव में आये, ऐसी उसकी प्रकाशशक्ति है। आत्मा में अनादि-अनन्त ऐसा प्रकाशस्वभाव है कि स्वयं अपने से प्रकाशमान है और स्वयं ही अपना स्पष्ट संवेदन करता है। आत्मा को अपना स्वसंवेदन करने में किसी पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्रियादि निमित्तों का संयोग हो तो आत्मा को अपना संवेदन हो - ऐसा नहीं है और आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष न कर सके, परोक्षरूप से ही आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान हो - ऐसा भी नहीं है क्योंकि प्रकाशशक्ति के कारण, आत्मा का स्वभाव स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वसंवेदनरूप है ! इन्द्रियों के आश्रय से जो व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान करता है, वह आत्मा की एक समय पर्यन्त की योग्यता है परन्तु आत्मा का त्रिकाली स्वभाव वैसा नहीं है। किसी संयोग से या राग से अनुभव में आये, ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है और मात्र परोक्षज्ञान से अनुभव में आये, ऐसा भी आत्मा नहीं है;

आत्मा का स्वभाव तो स्वयं अपने से अनुभव में आये और प्रत्यक्ष अनुभव में आये, ऐसा है। यदि निमित्त के अवलम्बन से आत्मा के स्वानुभव का प्रकाश होता हो तो आत्मा में स्वयंसिद्ध प्रकाशशक्ति नहीं रहती। श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव इत्यादि सबका स्वयं आत्मवस्तु में ही समावेश होता है; अपने श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव के लिये आत्मा को किसी पराश्रय की आवश्यकता नहीं है। पर से आत्मा को लाभ हो अथवा आत्मा, पर को लाभ दे - ऐसी शक्ति आत्मा में नहीं है।

आत्मा में जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, सुख, प्रभुत्वादि अनन्त गुण हैं; वे सब स्वयं प्रकाशमान हैं। किसी पर निमित्त के कारण प्रकाशित हों, ऐसा आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों का स्वभाव नहीं है; स्वयं अपने से ही स्पष्टतया अपने ज्ञान-आनन्द-शान्ति आदि का स्वसंवेदन करे - ऐसा आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। ज्ञानादि में परोक्षता रहे, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा की ऐसी शक्ति को न माने और एकान्त परोक्ष ही माने तो उसने आत्मा को जाना ही नहीं है।

श्री वीतरागी प्रतिमा, शास्त्र, इन्द्रियादि निमित्तों के कारण अथवा उस ओर के शुभविकल्प के कारण, मेरा ज्ञान प्रकाशित होता है - ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा की स्वयंसिद्ध स्पष्ट स्वानुभवरूप प्रकाशशक्ति को नहीं माना है; इसलिए उस शक्तिवाले आत्मा को भी उसने नहीं माना है। यदि ज्ञान, एक समय पर्यन्त के राग और निमित्तों के लक्ष्य से जानने में ही रुक जाए, परन्तु स्वसन्मुख होकर आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव न करे तो आत्मा का हित नहीं होता, क्योंकि पराश्रितरूप से कार्य करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो स्वयं प्रकाशमान स्वभाववाला है। आत्मा को अपने आश्रय से निर्मलता प्रगट हो - ऐसा उसका स्वभाव है परन्तु अपनी निर्मलदशा प्रगट करने के लिए किसी निमित्त का अथवा पर का अवलम्बन करना पड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

देखो, यह चैतन्य की महिमा! अपने में ऐसी अनन्त शक्तियाँ भरी हैं, उन्हीं से आत्मा की महिमा है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी इत्यादि बाह्य वस्तुओं से आत्मा की महिमा नहीं है। जिस प्रकार कन्या को ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं, उसी प्रकार जिन्हें मोक्ष में जाना हो, उन्हें आचार्यदेव आत्मा का दहेज बतलाते हैं। देख भाई! तेरे आत्मा में तेरी

अनन्त शक्तियाँ भरी हैं; उसकी महिमा को तू पहचान तो उसके अवलम्बन से अल्प काल में तेरी सिद्धदशा प्रगट हो जाएगी। जिस प्रकार आत्मवस्तु को किसी ने बनाया नहीं है परन्तु उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है; उसी प्रकार उसके ज्ञानादि अनन्त गुण भी स्वयं प्रकाशमान हैं। क्या इन्द्रियाँ हैं, इसलिए आत्मा है ? क्या मन है, इसलिए आत्मा है ? क्या पुण्य-पाप हैं, इसलिए आत्मा टिका है ? नहीं; इन्द्रियाँ, मन, पुण्य-पाप के कारण आत्मा नहीं टिका है परन्तु आत्मा तो स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त तत्त्व है; उसकी ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ भी स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त प्रकाशमान हैं और उसकी प्रति समय की अवस्था भी अपने से ही स्वयं होती है। देखो, यह आत्मा की प्रकाशशक्ति की महिमा! आत्मा की ऐसी महिमा को जाने तो अपूर्व कल्याण प्रगट हो!

अपने से पृथक-बाह्य पदार्थ हैं, उनमें एकमेक हुए बिना उन्हें स्पष्ट प्रकाशित करने का आत्मा का स्वभाव है। उन बाह्य पदार्थों के कारण, कहीं आत्मा उन्हें प्रकाशित नहीं करता, परन्तु स्वत: अपने प्रकाशस्वभाव से ही वह प्रकाशित करता है। पर को जानने के लिए बाह्य का अवलम्बन लेना पड़े, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा त्रिकाल है, वह स्वयं सत् है, किसी के द्वारा उसका निर्माण नहीं हुआ है। आत्मा के ज्ञानादि अनन्त गुणों में भी स्वयं प्रकाशित होने का स्वभाव है। पर्याय में पर के अवलम्बन के कारण एक समय पर्यन्त का जो विकार होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है और उसके आश्रय से आत्मा को धर्म नहीं होता। यदि ज्ञान अपने आत्मा का आश्रय छोड़कर, राग के या पर के आश्रय से ही कार्य करे तो वहाँ अधर्म होता है। पर से तो आत्मा पृथक है और अपने एक अंश में विकार है; उसमें अहंबुद्धि छोड़कर त्रिकाली ध्रुव सामर्थ्य से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करने की शक्ति आत्मा में अनादि-अनन्त है और वह श्रद्धा-ज्ञान आत्मा के अपने ही अवलम्बन से होता है; इसलिए वह स्वयं प्रकाशमान हैं, ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करने से ही जीव को धर्म होता है। इसके अतिरिक्त पर के अवलम्बन से जो श्रद्धा-ज्ञान हो, उससे जीव को कुछ भी लाभ नहीं होता। राग या निमित्तादि पर का अवलम्बन करने से आत्मा को कुछ भी लाभ हो - ऐसा कोई गुण, आत्मा में नहीं है और पर में भी ऐसा कोई गुण नहीं है कि उसका अवलम्बन करने से वह आत्मा को कुछ लाभ दे।

पराश्रय के किसी भी भाव से आत्मा को लाभ होता है - ऐसी मान्यता वह

मिथ्याबुद्धि है। जो पराश्रय से लाभ होना मानता है, वह पर का अवलम्बन छोड़कर आत्मा का अवलम्बन कहाँ से करेगा ? पराश्रय से लाभ माननेवाले को आत्मा की महिमा नहीं है परन्तु पर की महिमा है; इसलिए वह जीव मिथ्यादृष्टि-अधर्मी है।

अनेक जीव, निमित्त के कारण आत्मा को लाभ-हानि होना मान रहे हैं, वे निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव तो स्थूल मिथ्यादृष्टि हैं। निमित्त, अर्थात् पर द्रव्य; वह आत्मा को कुछ भी लाभ-हानि नहीं कर सकता। कुदेव-गुरु-शास्त्र तो धर्म के निमित्त भी नहीं हैं और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र भी अपने से पर द्रव्य हैं, उनके आधार से आत्मा का ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा के अपने आधार से ही ज्ञान होता है - ऐसे स्वाश्रय की प्रतीति में मुक्ति का परम पुरुषार्थ है।

आत्मा, अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है और उसकी तीनों काल की अवस्थाएँ भी स्वयंसिद्ध हैं; उसकी कोई भी अवस्था क्या पर के कारण हो सकती है ? अपनी अवस्था पर के कारण होती है - ऐसा जो मानता है, वह जीव स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित है; इसलिए परमार्थतः वह नपुंसक है। उसमें स्वभाव का पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य नहीं है; इसलिए वह पुरुष नहीं है; विपरीत दृष्टि के फल में परम्परा से वह निगोद का नपुंसक हो जाएगा। स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि का फल, सिद्धदशा है और निमित्ताधीन दृष्टि का फल, निगोददशा है।

कैसा है आत्मा का प्रकाशस्वभाव ? एक तो स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है। स्वयं प्रकाशमान है, इसलिए आत्मा अपने स्वरूप के सन्मुख रहकर स्वयं प्रकाशित होता है; इसलिए उसमें प्रत्यक्षपना ही आया। परलक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है, वह वास्तव में स्वयं प्रकाशमान स्वभाव नहीं है। परलक्ष्य से जो परोक्षज्ञान होता है, उससे सम्यक श्रद्धा-ज्ञान या चारित्र नहीं होता है। पर का लक्ष्य छोड़कर और परलक्ष्य से होनेवाले रागादि को हेय करके, अर्थात् ज्ञान को अन्तर्मुख करके त्रिकाली आत्मस्वभाव सन्मुख होना ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र का उपाय है। आत्मा के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति किए बिना भी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान या चारित्र नहीं होते।

आत्मा का स्वरूप स्वयं अपने से प्रगट हो - ऐसा है। परिपूर्ण आत्मा स्वयं अपने

स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है – ऐसा उसका स्वभाव है; परोक्षपना रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर के लक्ष्य से आत्मा को लाभ होगा – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है। निमित्त के अवलम्बन से जो परोक्षज्ञान होता है, वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है; वह एक समय की पर्याय की योग्यता है परन्तु वह हेय है; स्वयं प्रकाशमान ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानपिण्ड ही उपादेय है। परोक्षज्ञान से लाभ हो, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप ऐसे अपने आत्मस्वभाव के आश्रय से पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके – ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

आत्मा में प्रकाशशक्ति है, वह प्रकाशशक्ति कहीं पुस्तक में या भाषा में नहीं भरी है परन्तु आत्मा के ज्ञान में विद्यमान है; इसलिए आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है। पहले मङ्गलाचरण में भी आचार्यदेव ने कहा था कि – **'नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'** स्वयं अपनी ही अनुभूति से प्रकाशमान – ऐसे शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो! निमित्त –व्यवहार अथवा परोक्षज्ञान के अवलम्बन बिना ही चिदानन्दमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही प्रकाशमान है। वास्तव में ऐसे आत्मस्वभाव में कोई निमित्त–राग –व्यवहार या परोक्षज्ञान है ही नहीं; इसलिए उस निमित्त–राग–व्यवहार या परोक्षज्ञान का अभाव करने की बात भी नहीं रहती। स्वयं प्रकाशशक्तिवाले शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेने से अन्य सबका अवलम्बन छूट जाता है।

निमित्त के लक्ष्य से जो ज्ञान तथा राग होता है, वह पराश्रित व्यवहार है, उसके कारण आत्मा के किसी गुण का विकास हो – ऐसा नहीं है और उस पराश्रित व्यवहार का ग्रहण या त्याग करे, ऐसा कोई गुण भी आत्मा में नहीं है क्योंकि स्वभाव में तो उसका अभाव है ही और स्वभाव से प्रकाशमान ऐसे आत्मा का अवलम्बन लेने से पर्याय में से भी उस पराश्रित ज्ञान तथा राग का अभाव सहज हो ही जाता है; अर्थात्, स्वाश्रित पर्याय में उस पराश्रितभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती।

व्यवहार के आश्रय से आत्मा को लाभ हो, ऐसा तो नहीं होता और व्यवहार के लक्ष्य से व्यवहार का अभाव करना चाहे तो वह भी नहीं हो सकता। 'यह व्यवहार है और इसका अभाव करूँ' – ऐसे विकल्प से व्यवहार का अभाव नहीं होता, परन्तु राग की

उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा स्वयं प्रकाशशक्ति का परिणमन प्रगट होने से पराश्रयरूप व्यवहार का अभाव हो जाता है।

जिस प्रकार जहाँ सूर्य-प्रकाश का विस्तार हो, वहाँ अन्धकार रहता ही नहीं; उसी प्रकार स्पष्ट स्वानुभव द्वारा जहाँ आत्मा की स्वयं प्रकाशमान शक्ति विस्तृत हो, वहाँ पराश्रयभावरूप व्यवहार, राग अथवा परोक्षज्ञान नहीं रहते। स्वयं अपने से अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करे, ऐसा आत्मा का प्रकाशक स्वभाव है और उसमें परोक्षपने का अभाव है। ज्यों-ज्यों आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों परोक्षपना छूटता जाता है। देव-गुरु के अवलम्बन से, शास्त्र के अवलम्बन से, इन्द्रियादि निमित्त के अवलम्बन से अथवा मन के विकल्प से, ज्ञान करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है तथा परोक्षज्ञान भी आत्मा का स्वभाव नहीं है परन्तु स्वयं अपने स्वभाव से ही प्रत्यक्ष स्वानुभव करे - ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मा में सदैव है।

यद्यपि साधक के अभी पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और परोक्षज्ञान भी प्रवर्तमान है परन्तु उसे आत्मा के स्वभाव का अंशत: प्रत्यक्ष स्वसंवेदन हो गया है। यदि अंशत: भी प्रत्यक्ष संवेदन न हुआ हो और सर्वथा परोक्ष ही ज्ञान हो तो वह जीव अज्ञानी है और यदि सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रगट हो गया हो तथा किञ्चित् भी परोक्षपना न हो तो वह जीव केवलज्ञानी होता है।

साधकजीव की प्रतीति में तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय आत्मा आ गया है और पर्याय में अंशत: स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रगट हुआ है तथा अंशत: परोक्षपना भी है परन्तु साधक की प्रतीति का बल स्वयं प्रकाशमान, परिपूर्ण, प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय स्वभाव पर होने से उसकी दृष्टि में परोक्षपना गौण है; स्वभाव के आश्रय से वह अपनी पूर्णता की साधना करता है।

यथार्थरूप से आत्मा की एक भी शक्ति को समझे तो शक्तिमान ऐसा पूर्ण आत्मा और समस्त जैनशासन समझ में आ जाता है। समस्त जैनशासन का सार, शुद्ध आत्मा है; इसलिए जो शुद्ध आत्मा को समझा, उसने समस्त जैनशासन जान लिया। पर्याय में तो व्यवहार, परोक्षपना और निमित्तादि हैं, तब तो उनका निषेध किया जाता है। पर्याय में व्यवहार, परोक्षपना और निमित्त का अवलम्बन अनादि से चले आ रहे हैं परन्तु उनके

अवलम्बन से काम नहीं होता। इसलिए यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तेरी पूर्ण शक्ति तुझ में ही भरी है, उसे तू सँभाल और उसका अवलम्बन कर! अनादि काल से अपनी स्वभावशक्ति को भूलकर, निमित्त के अवलम्बन से ज्ञान करता आया है, तथापि अपनी स्वयंप्रकाशशक्ति का अभाव नहीं हुआ। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा को एक बार तो स्वीकार कर! किस प्रकार? कि इन्द्रियों और मन से पार होकर, स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मा के प्रत्यक्ष स्वानुभवपूर्वक एक बार स्वीकार कर, तो तेरे भवभ्रमण का नाश हो जाये... और तेरा आत्मा अतीन्द्रिय चैतन्य प्रकाश से जगमगा उठे।

आत्मा में प्रकाशशक्ति है, वह स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है; इसलिए उसमें पर के अवलम्बन का और परोक्षपने का अभाव है। परोक्षज्ञान होने का अत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो प्रत्यक्ष-स्पष्ट ज्ञान करने का है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति और अनुभव करे, उसने आत्मा की प्रकाशशक्ति को यथार्थरूप से जाना कहा जाता है।

देखो, यह आत्मा का प्रकाश! इसके अतिरिक्त अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि 'आत्मा के ध्यान में हमें प्रकाश का पुञ्ज दिखायी देता है।' - वह तो उनकी भ्रमणा है। अभी आत्मा कैसा है, उसकी भी खबर नहीं है तो उसका ध्यान कहाँ से होगा? आत्मा में कहीं मूर्तिक प्रकाश नहीं है परन्तु अतीन्द्रिय चैतन्य प्रकाश है। वास्तव में ज्ञानप्रकाशी आत्मा ही सबका प्रकाशक है। यदि आत्मा का ज्ञानप्रकाश न हो तो सूर्यादि के प्रकाश को जानेगा कौन? सूर्य का प्रकाश स्वयं अपने को नहीं जानता, उसे जाननेवाला तो ज्ञान है और वह ज्ञान, स्वयं प्रकाशमान है; वह स्वयं अपने को प्रत्यक्ष जानता है। यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय प्रकाशशक्ति आत्मा के समस्त गुणों में व्याप्त है, वह पृथक् नहीं रहती; इसलिए उस एक शक्ति की प्रतीति करते हुए अनन्त गुणों का पिण्ड पूर्ण आत्मा ही दृष्टि में आ जाता है। अखण्ड आत्मा को दृष्टि में किये बिना, उसकी एक-एक शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इस सम्बन्ध में पाँच बोल पहले कहे जा चुके हैं, उन्हें यहाँ भी लागू करना—

(१) आत्मा की प्रकाशशक्ति किसी पर के आश्रय से विद्यमान नहीं है; इसलिए परसन्मुख देखने से उस शक्ति की प्रतीति नहीं होती।

(२) आत्मा की प्रकाशशक्ति, विकार के आश्रय से विद्यमान नहीं है; इसलिए विकारसन्मुख देखने से भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(३) आत्मा की प्रकाशशक्ति त्रिकाल है, वह क्षणिक पर्याय के आश्रय से विद्यमान नहीं है; इसलिए पर्यायसन्मुख देखने से भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(४) आत्मा में एक प्रकाशशक्ति पृथक् विद्यमान नहीं है; इसलिए अनन्त शक्ति के पिण्ड में से एक शक्ति का भेद करके लक्ष्य में लेने से भी उसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

(५) आत्मा, अनन्त धर्म का पिण्ड है, उसी के आश्रय से यह प्रकाशशक्ति विद्यमान है; इसलिए उस अभेद आत्मा के सन्मुख देखने से ही इस शक्ति की यथार्थ स्वीकृति होती है। जहाँ अभेद आत्मा की दृष्टि हुई, वहाँ एक साथ अनन्त शक्तियाँ प्रतीति में आ गयीं।

निमित्तादि परवस्तुएँ तो आत्मा में कभी एक क्षण भी व्याप्त नहीं होतीं, विकार और परोक्षपना एक समय पर्यन्त की पर्याय में ही व्यापक हैं; त्रिकाली आत्मा में वे व्यापक नहीं हैं और यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप प्रकाशशक्ति तो आत्मा में त्रिकाल व्यापक है। सम्पूर्ण आत्मा के समस्त गुण-पर्यायों में वह व्यापक है। जिसने आत्मा की ऐसी स्वयंप्रकाशशक्ति को स्वीकार किया, उसके पर्याय में परोक्षज्ञान होने पर भी, उसका आदर नहीं रहा, परन्तु त्रिकाली स्वभाव का ही आदर रहा; उसी के आश्रय से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा होती है। यहाँ तो, आत्मा स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वानुभवरूप है - इस प्रकार अस्ति से बात की, परन्तु परोक्षपना नहीं है - इस प्रकार नास्ति की बात नहीं की। निश्चय अस्ति के अवलम्बन में व्यवहार का निषेध आ ही गया।

अज्ञानी कहते हैं कि 'निमित्त और व्यवहार के आश्रय से धर्म होने को आप अस्वीकार करते हैं, तो क्या निमित्त नहीं है ? व्यवहार नहीं है ?' - ऐसा कहकर वे निमित्त और व्यवहार के आश्रय से लाभ मनाना चाहते हैं परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! निमित्त और व्यवहार नहीं है, ऐसा किसने कहा ? - परन्तु उनके आश्रय से लाभ होता है - ऐसी बात कहाँ से लाया ? जगत में तो सब है; निमित्त है-उससे क्या ? - क्या उसके आश्रय से आत्मा को ज्ञान होता है ? व्यवहार का राग और विकल्प है, उससे क्या ? - क्या उसके द्वारा सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होते हैं ? ऐसा कभी नहीं होता। जीव को संसार है लेकिन

क्या वह संसार है; इसलिए आत्मा की मुक्ति होती है ? जैसे संसार है परन्तु वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है; उसी प्रकार निमित्त और व्यवहार हैं परन्तु वे कहीं धर्म के कारण नहीं हैं। संसार का नाश होने से मोक्षदशा प्रगट होती है; उसी प्रकार निमित्त और व्यवहार का अवलम्बन छोड़कर, परमार्थरूप आत्मद्रव्य का अवलम्बन करने से धर्म होता है। देखो, इसमें व्यवहार और निमित्त की स्थापना होती है परन्तु उन निमित्त या व्यवहार के आश्रय से किसी भी प्रकार धर्म होता है – इस बात की उत्थापना होती है। जो निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन करते-करते धर्म होना मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं – ऐसा निश्चय जानना और स्वयं ऐसी मान्यता छोड़कर, शुद्धस्वभाव की रुचि तथा अवलम्बन करना, वह कल्याण का उपाय है।

अहो! आचार्यदेव ने एक-एक शक्ति के वर्णन में पूर्ण भगवान को बतला दिया है। दिव्यध्वनि का सार, बारह अङ्गों का सार, शुद्ध आत्मा है। ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्य की प्रतीति, वह धर्म का प्रथम सोपान है; वही मुक्ति की प्रथम सीढ़ी है। पहले अपने शुद्ध आत्मद्रव्य का आश्रय किए बिना, सम्यक् प्रतीति नहीं होती और सम्यक् प्रतीति के बिना, अपने को व्रत-प्रतिमा या मुनित्व का मानना, वह तो अरण्य रुदन के समान है; उसे कौन सुनेगा ? आत्मसन्मुख होकर उसकी प्रतीति किये बिना, अन्तर से आत्मा उत्तर नहीं देता।

देखो, यह किसका वर्णन चल रहा है ? यह किसी बाह्य वस्तु का वर्णन नहीं है परन्तु अन्तर में अपनी चैतन्यवस्तु अनन्त गुणों से परिपूर्ण है – उसकी आचार्यदेव पहचान कराते हैं। तेरे आत्मा में प्रकाशशक्ति ऐसी है कि जो स्वयंप्रकाशमान है; लोकालोक को स्पष्ट जाने ऐसा, उसका सामर्थ्य और वह अपने आत्मा के स्वसंवेदनमय है। अपने को स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष जानती है और पर की भी प्रत्यक्ष जानती है। पर से आत्मा पृथक् है; इसलिए पर का प्रत्यक्षज्ञान न हो – ऐसा नहीं है; पर से भिन्न होने पर भी, पर को भी स्पष्ट -प्रत्यक्ष जानता है – ऐसा आत्मा का प्रकाशस्वभाव है। प्रत्यक्षपना कहीं पर में नहीं रहता; प्रत्यक्षपना तो ज्ञान में है।

कोई ऐसा कहे कि 'आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता' – तो ऐसा कहनेवाले ने चैतन्यतत्त्व को अन्ध माना हैए अर्थात् उसने चैतन्यतत्त्व को नहीं जाना है।

चैतन्यतत्त्व, अन्ध नहीं है कि उसे स्वयं अपना अनुभव करने के लिए किसी पर की सहायता की आवश्यकता हो! – वह तो ऐसा स्पष्ट प्रकाशमान है कि स्वयं ही अपना प्रत्यक्ष स्वानुभव करता है।

कोई कहे कि आत्मा का पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभव तो केवली को होता है; निचली दशा में नहीं होता, तो उसका समाधान :– यहाँ वस्तु के स्वभाव की बात है; वस्तु तो त्रिकाली केवली ही है। यदि वस्तु में पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान–सामर्थ्य न हो तो वह आएगा कहाँ से? और जहाँ ऐसी वस्तु की प्रतीति हुई, वहाँ स्वयं को अपनी मुक्ति की भी निःशङ्क खबर हो जाती है। आत्मा का स्वभाव स्वयं प्रकाशमान है; इसलिए उसे स्वयं अपनी खबर पड़ती है। 'हमारी मुक्ति कौन जाने कब होगी! – इसकी हमें कोई खबर नहीं पड़ती अथवा तो आत्मा में कितनी शुद्धता हुई और कितनी अशुद्धता दूर हुई, उसकी भी हमें खबर नहीं पड़ती' – ऐसा जो मानता है, उसने स्वयंप्रकाशमान आत्मा को जाना ही नहीं। स्वयं को अपनी खबर न पड़े – ऐसी बात आत्मा में है ही नहीं। अपने अपूर्व स्वानुभव के वेदन का प्रकाश स्वयं अपनी प्रकाशशक्ति ही करती है। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा के अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो और उसकी अपने को खबर न पड़े – ऐसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं ही स्वप्रकाशक है। आत्मा अपने प्रत्यक्ष अनुभव से प्रकाशमान है; मात्र अनुमान से परोक्ष जाने कि 'आत्मा ऐसा होना चाहिए' – तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं है। आत्मा अकेले परोक्षज्ञान से प्रकाशित नहीं होता, परन्तु स्पष्ट प्रगटरूप से अपने स्वसंवेदन की साक्षी लाता हुआ, स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है; अन्य किसी की साक्षी लेने नहीं जाना पड़ता। अपने स्वभाव का परिणमन हुआ, अपने को स्वभाव का वेदन हुआ – उसे प्रगटरूप से प्रकाशित करने की शक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कोई कहे कि हमें अपनी खबर नहीं पड़ती तो उससे कहते हैं अरे मूर्ख! तुझे अपनी खबर नहीं पड़ती!! तू चेतन है या जड़? जड़ को अपनी खबर नहीं पड़ती, परन्तु चेतन में तो स्वयं को और पर को जानने की परिपूर्ण शक्ति है। भाई! तू अपनी पूर्ण शक्ति को पहिचान!

स्वयं अपने से अजान रहे – ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है; 'न जानना' – ऐसी शक्ति ही आत्मवस्तु में नहीं है। 'मैं अपने को ज्ञात नहीं हो सकता' – यह तो अज्ञान से

खड़ी की हुई कल्पना है। आत्मा चैतन्यप्रकाशी प्रभु है, वह स्वयं अपने को यथार्थरूप से जान सकता है; स्वयं अपना साक्षात् अनुभव कर सकता है; उसमें शास्त्र से, भगवान से पूछने नहीं जाना पड़ता। शास्त्र में आत्मा का चाहे जितना वर्णन किया हो परन्तु उस शास्त्र का मर्म जानेगा कौन ? जाननेवाला तो आत्मा ही है न ! इसलिए आत्मा स्वयं अपने से ही प्रकाशमान है।

कोई-कोई जीव ऐसी शङ्का करते हैं कि अपने को अपनी खबर नहीं पड़ती, भगवान ने ज्ञान में देखा हो सो सच्चा ! परन्तु भाई ! तेरे ज्ञान में सन्देह का वेदन होता होगा तो भगवान तद्नुसार जानेंगे, और तू अपना अनुभव प्रगट करके निःशङ्कता प्रगट करे तो भगवान वैसा जानेंगे। जैसी वस्तुस्थिति हो, वैसी ही भगवान जानेंगे न ? और 'भगवान ने ज्ञान में देखा हो सो सच्चा !' – ऐसा कहा, वहाँ भगवान के ज्ञान का निर्णय तो तूने किया न ? – तो, जो भगवान के ज्ञान का निर्णय करता है, वह स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय क्यों नहीं कर सकेगा ? जो जीव, ज्ञानस्वभाव के सन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, उसे अपने अनुभव की निःशङ्क प्रतीति होती है।

अज्ञानी को आत्मा की रुचि नहीं है; इसलिए वह ऐसा कहता है कि हमें आत्मा की खबर नहीं पड़ती, परन्तु भाई ! तू आत्मा की रुचि करके उसकी सन्मुखता का बराबर प्रयत्न कर तो आत्मा की खबर पड़े बिना नहीं रहेगी। सांसारिक व्यापार-धन्धा अथवा रसोई इत्यादि के काम में 'हमें नहीं आता' – ऐसा नहीं कहते; वहाँ तो 'हम जानते हैं' – इस प्रकार अपने ज्ञातृत्व की बुद्धिमानी बतलाते हैं और यहाँ स्वयं अपने को जानने की बात आए, वहाँ इन्कार करते हैं। अरे भाई ! विपरीत दृष्टि के कारण तेरे ज्ञान में स्व की नास्ति और पर की अस्ति हो गयी है। 'सबको कौन जानता है ?' – तो कहता है कि मैं। 'तो तुझे अपनी खबर नहीं पड़ेगी ?' तो कहता है कि ना। वाह रे वाह ! आश्चर्य की बात है ! 'अमुक देश में ऐसे हवाई जहाजों का आविष्कार हुआ है जो अपने आप चलते हैं; इस लड़ाई में फलाँ देश हार जायेगा' – इस प्रकार वहाँ तो अपनी जानकारी बतलाता है – वहाँ अनजान नहीं बनता। तो हे भाई ! 'मेरा आत्मा चैतन्यमूर्ति है, मुझमें ऐसी अनन्त शक्तियाँ हैं और उनके आश्रय से अल्प काल में केवलज्ञान होकर मेरी मुक्ति होगी' – इस प्रकार अपने

आत्मा का निर्णय करने की शक्ति तुझ में है या नहीं ? जो पर पदार्थों को प्रकाशित कर रहा है, उसका अपना स्वयं प्रकाशमान स्वभाव है; इसलिए आत्मा स्वानुभव से अपने को स्पष्ट जाने, ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव। मुझे अपनी खबर नहीं पड़ती – यह बात हृदय से निकाल दे और तेरे आत्मा में प्रकाशशक्ति त्रिकाल है, उसका विश्वास कर, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति कर! प्रकाशस्वभावी आत्मा की प्रतीति करने से तुझे अपने आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होगा, और अल्प काल में तेरी मुक्ति होगी!

[–आत्मा की अनन्त शक्तियों में से प्रकाशशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। १२]

[१३]

असंकुचितविकासत्वशक्ति

क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असइकुचतविकाशत्वशक्तिः ॥

क्षेत्र और काल से अमर्यादित, ऐसी चिद्विलासस्वरूप (चैतन्य के विलासस्वरूप) असंकुचितविकासत्वशक्ति।

हे जीव! तेरी शक्ति ऐसी है कि सङ्कोच के बिना, विकास होवे। जिस भाव से तेरी पर्याय में सङ्कोच होवे व विकास रुके, वह भाव तेरा स्वरूप नहीं - ऐसा जानकर उसका अवलम्बन छोड़ और अनन्त स्वभावशक्ति को धारण करनेवाले ध्रुव ज्ञायक स्वरूप का अवलम्बन कर। उसके अवलम्बन से तेरी परिणति का ऐसा विकास होगा कि जिसमें सङ्कोच न रहे, विकार या अपूर्णता न रहे।

ज्ञानस्वभावी आत्मा में विद्यमान शक्तियों का वर्णन चल रहा है। उसमें तेरहवीं असंकुचितविकासत्वशक्ति का विवेचन चलता है। आत्मा के असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में चैतन्यस्वभाव की अमर्यादित शक्ति है; असंख्यप्रदेश में प्रभुता की शक्ति भरी है। सिद्ध की शक्ति इतने ही क्षेत्र में है; तीन काल-तीन लोक का ज्ञाता इतने स्वक्षेत्र में ही विद्यमान है। वहाँ, 'इतने अल्प क्षेत्र में ऐसा अपार स्वभाव कैसे हो सकता है ?' - इस प्रकार अल्प क्षेत्र के सन्मुख देखकर जो अपार स्वभाव में शङ्का करता है, वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के प्रदेश भले असंख्यप्रदेशी ही हों, परन्तु इतने क्षेत्र में ही उसमें अनन्त ज्ञान -दर्शन-आनन्द उत्पन्न करने की शक्ति भरी है। - इस प्रकार आत्मस्वभाव की अमर्यादित प्रभुता का विश्वास करने से पर्याय विकसित होती है; छोटे बड़े के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। किसी का आकार पाँच सौ हाथ का हो, वह महामूढ़ होता है तथा किसी का आकार सात हाथ का हो, वह केवलज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए क्षेत्र से स्वभाव का माप नहीं निकलता। देखो, आकाश, लोकव्यापी अनन्तानन्त प्रदेशी है और परमाणु एक प्रदेशी ही है तथापि जिस प्रकार अनन्त प्रदेशी आकाश अपने स्वभाव से त्रिकाल स्थित रहता है;

उसी प्रकार एक प्रदेशी परमाणु भी अपने स्वभाव से त्रिकाल स्थायी है; अपनी-अपनी सत्ता से दोनों परिपूर्ण हैं। आकाश में जितने अनन्त गुण हैं, उतने ही गुण एक परमाणु में भी हैं; आकाश का क्षेत्र बड़ा और परमाणु का क्षेत्र छोटा है तथापि उन दोनों में अपने-अपने समान ही गुण हैं। आकाश का क्षेत्र बड़ा है; इसलिए उसमें अधिक गुण हैं और परमाणु का क्षेत्र छोटा है; इसलिए उसमें कम गुण हैं - ऐसा नहीं है। इस प्रकार क्षेत्र से स्वभाव की शक्ति का माप नहीं निकलता। जीव, असंख्यप्रदेशी द्रव्य है, तथापि उसके स्वभाव में अनन्त काल और अनन्त क्षेत्र के पदार्थों को जानने की शक्ति भरी है। जो उस स्वभाव का विश्वास करे, उसकी अपार शक्ति का विकास हो जाता है। स्वभावसन्मुख देखने से ही स्वभाव का विश्वास होता है; इसके अतिरिक्त बाह्य में उसका अन्य कोई उपाय नहीं है।

आत्मद्रव्य के एक समय के परिणमन में अनन्त अमर्यादित शक्ति प्रगट होने की शक्ति है; वह शक्ति, पर के या पर्याय के आश्रय से नहीं, परन्तु द्रव्य के ही आश्रय से प्रगट होती है। ऐसा अमर्यादित चिद्वलास है। निमित्त तो पर है और पर्याय अपूर्ण है; उस पर जोर देने से उस मर्यादित के लक्ष्य से मर्यादितपना ही रहता है परन्तु विकास नहीं होता। त्रिकाली स्वभाव पर जोर देने से पर्याय में भी अमर्यादित शक्ति का विकास होता है।

जैसे, जो लोग उदार होते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि तुम्हें जितना चाहिए हो, ले जाओ; हमें कमी नहीं पड़ेगी। उसी प्रकार अनन्त शक्ति का पिण्ड प्रभु आत्मा, ऐसा उदार है कि यदि उसकी श्रद्धा करो तो वह विकास में किञ्चित् भी सङ्कोच नहीं रखेगा। अनन्त केवलज्ञान की पर्यायों का विकास हो, तथापि आत्मा में कभी सङ्कोच नहीं आता। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि उसका विश्वास करके अवलम्बन लेने से पूर्ण केवलज्ञान विकसित होता है; उसमें सङ्कोच नहीं रहता, परन्तु ऐसे आत्मा को समझने की दरकार करना चाहिए। बाह्य में बुद्धि लगाकर व्यर्थ का अभिमान करता है, उसके बदले अन्तर में अपने आत्मा को पकड़ने के लिए बुद्धि लगाना चाहिए; उसकी रुचि और उत्साह लाना चाहिए। अनन्त काल में पहले कभी नहीं की, ऐसी अपूर्व समझ का प्रयत्न भी अपूर्व होना चाहिए।

अहो! चैतन्य का विलास, चैतन्य का आनन्द, चैतन्य का मोक्षमार्ग और चैतन्य का मोक्ष - यह सब मेरे चैतन्यद्रव्य के हो आश्रय से है - ऐसी अन्तर श्रद्धा-ज्ञान करने से पर्याय का विकास प्रगट होता है, विकार (दोष) दूर होता है, शुद्धता बढ़ती है और

अमर्यादित ज्ञान-आनन्द का विलास विकसित होता है। जो जीव ऐसा नहीं जानता, वह वास्तव में देव-गुरु-शास्त्र को नहीं जानता, आत्मा को नहीं जानता और जैनशासन को भी नहीं जानता है।

पर्यायबुद्धि से लाभ होता है, यह तो बात ही नहीं है परन्तु 'पर्यायबुद्धि छोड़ दूँ' - ऐसी बात भी यहाँ नहीं ली है; त्रिकाली शक्ति के पिण्डरूप अभेद चैतन्यद्रव्य को ही दृष्टि में लेने की बात की है; उस द्रव्य पर दृष्टि करने से पर्यायदृष्टि रहती ही नहीं। अनादि काल से पर्यायबुद्धि के कारण ही जीव के यह संसार बना है। अन्तर में परिपूर्ण शक्ति के पिण्डरूप द्रव्य सदैव है परन्तु पर्यायबुद्धि छोड़कर कभी उस द्रव्य की ओर नहीं देखा है। अहो! त्रिकाल स्वभाव के अन्तर अवलोकन के आलस्य से ही मुक्ति रुकी है। जैसे, भगवान सामने ही विराजमान हों, परन्तु आँखें खोलने का आलस्य करे तो भगवान कैसे दिखायी देंगे? उसी प्रकार आत्मा स्वयं चैतन्यभगवान है, वह अपने पास ही है परन्तु अन्तरनेत्रों के आलस्य से उसे नहीं देखता और संसार में भटकता है।

लोग कहते हैं कि 'मारा नयणनी आलसे रे...निरख्या न हरि ने जरी।' हरि, अर्थात् अन्य कोई नहीं, परन्तु अपना आत्मा; 'नयणनी आलसे' अर्थात्, ज्ञानचक्षु के प्रमाद के कारण स्वयं अपने को नहीं देखा। जो पापों के ओघ को हरे, वह हरि; किस प्रकार हरे? कि हरि जो अपना शुद्ध चैतन्य परमेश्वर, उसे दृष्टि में लेते ही मिथ्यात्वादि पाप समूहों का नाश हो जाता है। मिथ्यात्वादि का नाश करना - यह कथन भी व्यवहार का है; वास्तव में तो शुद्ध चैतन्य की दृष्टि में उन मिथ्यात्वादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। देखो; यह प्रभु के दर्शनों की रीति!

यहाँ आचार्यदेव आत्मा को पामर कहकर उपदेश नहीं करते, परन्तु आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं; साक्षात् चैतन्यप्रभु की प्रगटता बतलायी जा रही है; तू अपने ज्ञाननेत्र खोलकर देखे - इतनी ही देर है। सङ्कोच और विकार हुआ है, वह क्षणिक पर्याय की योग्यता है परन्तु तेरी त्रिकाली शक्ति वैसी नहीं है; इसलिए उस विकार और संकुचित पर्याय की ही ओर देखने से आत्मा की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर देखने से आत्मा की प्रतीति होती है और उसमें से अमर्यादित असंकुचितविकास प्रगट होता है।

कोई कहे कि आत्मा में असंकुचितविकासत्वस्वभाव होने पर भी, अभी तक उसकी पर्याय में सङ्कोच क्यों रहा ? तो उसका कारण यह है कि जीव को अनादि काल से पर्यायबुद्धि है; इसलिए वह क्षणिक पर्याय जितना ही अपने को मानता है परन्तु अपने स्वभाव सामर्थ्य को ध्यान में नहीं लेता। यदि स्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र हो तो पर्याय में से सङ्कोच दूर होकर विकास हुए बिना न रहे। यहाँ तो द्रव्य-पर्याय सहित की बात है, अर्थात् साधक की बात है; साधक जीव ने अपनी स्वभावशक्ति को प्रतीति में लिया है और पर्याय में उसे उन शक्तियों का निर्मल परिणमन उछलता है। जो जीव अपनी स्वभावशक्ति को प्रतीति में नहीं लेता, उसे उसका निर्मल परिणमन नहीं उछलता – ऐसे जीव की यहाँ बात नहीं है।

जीव की पर्याय में अनादि से जो सङ्कोच है, वह किसी पर के कारण नहीं है परन्तु अपनी ही पर्याय में भूल के कारण है। जो जीव अपनी पर्याय की भूल को न पकड़े और पर के कारण मेरी पर्याय संकुचित है – ऐसा माने, वह जीव भले ही राग कम करके अनेक शास्त्रों की धारणा कर ले, तथापि उसे आत्मा का लाभ नहीं होता; और मेरी पर्याय में जो सङ्कोच है, वह मेरी अपनी भूल के कारण है; किसी पर के कारण नहीं है – ऐसा तो माने परन्तु यदि भूलरहित स्वभाव की ओर देखकर, उस भूल का नाश न करे तो उसे भी आत्मा का लाभ नहीं होता। आत्मा त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का पिण्ड है, उसकी सन्मुखता से ही आत्मा का लाभ होता है और सङ्कोच दूर होकर, विकास प्रगट होता है।

मेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है और परिणमन में सङ्कोच क्यों है – वह समझे बिना किसकी ओर देखकर पर्याय का विकास करेगा ? मन्दकषाय को ही जो जीव चैतन्य का विकास मान बैठा हो, उसे कषाय से भिन्न चैतन्यस्वभाव का भान नहीं है; इसलिए उसके चैतन्य का विलास प्रगट नहीं होता। मुख्य भूल कौन सी है और उस भूलरहित स्वभाव क्या है – वह न जाने और भ्रमणा में रह जाये, उसके चैतन्य का विकास नहीं होता। उसके कदाचित कषाय की मन्दता और ज्ञान का विकास भले हो, परन्तु उसमें आत्मा का हित नहीं है; वह चैतन्य का सच्चा विलास नहीं है। चैतन्य के विलास की अतीन्द्रिय मौज तो परम अद्भुत है।

कोई जीव, ज्ञान विकास के बल से यह मन में धारणा भी कर ले परन्तु आत्मा की

पर्याय में जो अपनी भूल है, वह न समझकर मात्र परसन्मुख ज्ञान के विकास से अन्य अनेक बातें जानता हो, तो भी उसकी भूल दूर नहीं होगी और न उसका अपूर्व कल्याण होगा। जिसे भूल का ही पता न हो, वह भूल दूर करके भगवान कैसे होगा? और यदि अपने स्वभाव में ही भगवानपना न भरा हो तो भी भगवान कैसे होगा? भगवानपना और भूल – इन दोनों को जो जीव समझ ले, उसके भूल दूर होकर अपने में भगवानपने का विकास हुए बिना नहीं रह सकता। मेरा स्वभाव क्या है और अन्तर की सूक्ष्म भूल कहाँ रह जाती है – उसकी खबर पड़े बिना, भले ही ग्यारह अङ्ग पढ़ा हो, तथापि जीव की भूल दूर नहीं हो सकती। यदि वर्तमान में भूल है तो निश्चित होता है कि निजस्वभाव की जैसी रुचि होना चाहिए, वैसी रुचि नहीं की है और यदि भूल न हो तो निजस्वरूप समझ में आ जाना चाहिए और उसके आनन्दादि का विलास खिलना चाहिए। मेरा सङ्कोचरहित स्वभाव कैसा है और अभी तक पर्याय में संकुचित क्यों रहा – इस बात को जो नहीं पकड़ सकता, वह जीव सङ्कोचपर्याय का नाश नहीं कर सकता और न उसके सङ्कोचरहित विकास प्रगट हो सकता है।

कई लोगों को ऐसा **प्रश्न** उठता है कि द्रव्य की पर्यायें तो क्रमबद्ध ही होती है, ऐसा आप कहते हैं तो उसमें पुरुषार्थ कहाँ आया?

उनका समाधान :- देखो भाई! द्रव्य की क्रमबद्धपर्यायें होती हैं – ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने यह भी निर्णय किया ही है कि वे पर्यायें, द्रव्य में से आती हैं; बाहर से नहीं आती; इसलिए ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि द्रव्य पर जाती है; और द्रव्य में तो सङ्कोचरहित विकास होने का स्वभाव है; इसलिए उस द्रव्यदृष्टि के बल से पर्याय में क्रमबद्ध विकास ही होता जाता है। इस प्रकार क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में द्रव्यदृष्टि और मोक्षमार्ग का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है।

प्रत्येक वस्तु दूसरी अनन्त वस्तुओं से पृथक है और निजस्वभाव से एकत्वरूप है, ऐसी स्वतन्त्र वस्तु का स्वभाव सामर्थ्य अमर्यादित है; उस वस्तु स्वभाव के आश्रय से होनेवाली अवस्था भी पर से पृथक और स्वभाव के साथ एकत्वरूप है; उस पर्याय में भी अमर्यादित शक्ति है। आत्मा, अमुक क्षेत्र और अमुक काल को ही जान सके – ऐसी मर्यादा

नहीं है परन्तु अमर्यादित क्षेत्र और अमर्यादित काल को जान ले – ऐसी उसके चैतन्यविलास की अमर्यादित शक्ति है। पाँच करोड़ मनुष्यों के समूह में काई लाउडस्पीकर द्वारा ऐसा बोले कि 'आत्मा अनन्त गुणों का भण्डार है, उसे पहिचानो!' – तो वहाँ सभी सुननेवालों को वैसा ही ख्याल आता है; और 'इस समय पाँच करोड़ मनुष्य ऐसा कथन सुन रहे हैं' – इस प्रकार पाँच करोड़ का ज्ञान एक क्षण में हो जाता है; पाँच करोड़ मनुष्यों का ज्ञान करने में पाँच करोड़ क्षण की देर नहीं लगती। ज्ञान का स्वभाव तो एक ही साथ सब जान लेने का है; उसमें मर्यादा, अर्थात् हीनता रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जहाँ आत्मा की ऐसी शक्ति का भान हुआ और उसका विकास हुआ, वहाँ अनन्त सिद्धभगवन्त, तीर्थङ्कर, केवलीभगवन्त, सन्त इत्यादि का ख्याल अपने ज्ञान में आ गया, फिर उस जीव को शङ्का नहीं रहती; दूसरों से पूछना नहीं पड़ता। आत्मा का ज्ञानसामर्थ्य ऐसा अपार और विशाल है कि एक उसी को जानने से सबका ज्ञान हो जाता है।

किसी भी एक शक्ति से आत्मा को पहिचानने से उसमें बहुत रहस्य आ जाता है। आत्मा का स्वभाव कैसा है; पर्याय में सङ्कोच क्यों है; विकास क्यों नहीं है और वह कैसे प्रगट होगा; स्वभाव की रुचि और पहचान कैसी होती है; जिनके स्वभाव का पूर्ण विकास प्रगट हो गया हो – ऐसे केवली की अन्तर-बाह्यदशा कैसी होती है; उस स्वभाव के साधक सन्त-मुनियों की दशा कैसी होती है; सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा कैसी होती है; पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टियों की दशा कैसी होती है – यह सब उसमें आ जाता है। आत्मा की एक भी शक्ति का ज्ञान करने से सारे द्रव्यों का, गुणों का, पर्यायों का, विपरीत दशा का, सम्यक्दशा का, सात तत्त्वों का, साधक का और सिद्ध का – सभी का ज्ञान हो जाता है। चैतन्य का अपार विलास प्रगट करके निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द की मौज करे, ऐसा अनादि-अनन्त गुण आत्मा में है। अविनाशी चैतन्यतत्त्व का विकास किसके आश्रय से प्रगट होता है? क्या नाश होने योग्य ऐसे शुभ विकल्परूप व्यवहार के आश्रय से, संयोग के आश्रय से, या क्षणिक पर्याय के आश्रय से अविनाशी चैतन्यतत्त्व का विकास होता है? अपना जो त्रिकाल अमर्यादित स्वभाव है, उसका विश्वास करने से चैतन्य का परिपूर्ण विकास हो जाता है।

जिसका आश्रय करने से क्षणमात्र में सङ्कोच दूर होकर अमर्यादित चैतन्यशक्ति का

विकास हो जाये – ऐसा इस आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मा का निर्णय करके उसका आश्रय करना ही धर्म है। देखो, इसमें अपने आत्मा के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय की बात नहीं की, भक्ति के शुभराग से धर्म होता है, यह बात भी उड़ गयी, व्यवहार के अवलम्बन का चूरा हो गया। निश्चय आत्मस्वभाव की दृष्टि में व्यवहार के अवलम्बन का अभाव है; तब फिर निमित्त और संयोग तो कहीं दूर रहे। सम्मेदशिखर या महाविदेहक्षेत्र इत्यादि बाह्य क्षेत्रों में जाऊँ तो मेरे चैतन्य का विकास हो जाए – यह बात नहीं रही, परन्तु अन्तर की चैतन्यसत्ता का आश्रय करने से अपार ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो जाता है; उस ज्ञान में सम्मेदशिखर और महाविदेहक्षेत्र आदि सब ज्ञात हो जाते हैं। सारी आत्मवस्तु ही अन्तर्मुखदृष्टि का विषय है। जैनशासन का एक भी रहस्य अन्तर की दृष्टि के बिना समझ में नहीं आ सकता।

जैसे, कोई सेठ हो और उसका मकान बाहर से झोंपड़े जैसा मालूम होता हो, परन्तु अन्दर जाकर देखे तो बड़ी विशालता हो और करोड़ों के मूल्य के हीरे-जवाहरात पड़े हों! उसी प्रकार सेठ, अर्थात् सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा असंख्यप्रदेशी क्षेत्रवाला होने पर भी, उसमें अनन्त स्वभाव सामर्थ्य भरा है। बाहर से शरीर या पर्याय को देखो तो कोठरी जैसा छोटा मालूम होता है परन्तु अन्तर द्रव्य को देखने से उसमें अनन्त शक्ति का भण्डार भरा है।

जैसे कोई अच्छा उदार सेठ हो, वह दुष्काल के समय दूसरों की सहायता नहीं माँगता, किन्तु दूसरों की सहायता के बिना स्वयं अकेला ही गुजारा करता है; उसी प्रकार जगत् का राजा चैतन्य भगवान आत्मा स्वयं अनन्त सामर्थ्य का भण्डार है, वह ऐसा उदार है कि अपने से संसारपर्यायरूपी दुष्काल को दूर करके अनन्त आनन्दमय मोक्षदशा प्रगट करने के लिए किसी पर की सहायता ले, ऐसा नहीं है – स्वयं अकेला ही अपनी स्वभावशक्ति से पर्याय का सङ्कोच दूर करके, विकास करके मोक्षदशा प्रगट करता है। असंकुचितविकासत्वशक्तिवाले भगवान आत्मा का आश्रय करने से, पर्याय में पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है। प्रथम जो ऐसी श्रद्धा भी न करे, उसमें चारित्रदशा की-मुनिपने की योग्यता ही नहीं होती।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तथा मुनिपना तो आत्मस्वभाव के ही आश्रय

से है; मोक्षमार्ग में निजस्वभाव की ही अपेक्षा है और पर की-निमित्त की उपेक्षा है; निश्चयस्वभाव का ही आश्रय है और व्यवहार की उपेक्षा है; अभेदद्रव्य की ही प्रधानता है और पर्याय की गौणता है। ऐसे मोक्षमार्ग की साधना करने से साधक की पर्याय में से सङ्कोच दूर होकर, पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है। चैतन्यस्वभाव में ऐसे अक्षय निधान भरे हैं कि उसमें से चाहे जितना निकालते ही रहो, तथापि न्यूनता नहीं आती। आत्मा कहता है कि मुझमें परिपूर्ण निधान भरे है, जो चाहिए हो ले जाओ; जितनी दशा चाहिए हो प्रगट करो; मुझमें कभी सङ्कोच नहीं आ सकता। परम अवगाढ़ श्रद्धा, दिव्य केवलज्ञान, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और अनन्त वीर्य - ऐसे अनन्त स्वचतुष्टयरूप अमर्यादितदशा मुझमें से प्रगट करो! परन्तु वे प्रगट कैसे होते हैं? कि अन्तर्मुख अवलोकन द्वारा ही वे प्रगट होते हैं; बाह्य में देखने से वे प्रगट नहीं होते। अन्तर्मुख होकर स्वभावशक्ति की प्रतीति करने पर, उसके अवलम्बन से पर्याय में क्रमशः सङ्कोच दूर होकर विकास होता जाता है और अल्प काल में पूर्णता प्रगट हो जाती है। वह पूर्णता प्रगट हो जाने के पश्चात, उसमें फिर कभी सङ्कोच नहीं होता। ऐसी तेरहवीं शक्ति की प्रतीति, वह तेरहवें गुणस्थान का कारण है।

[-तेरहवीं असंकुचितविकासत्वशक्ति का वर्णन यहाँ समाप्त हुआ।]

[१४]

अकार्यकारणत्वशक्ति

अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः ॥

जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता, ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति। (जो अन्य का कार्य नहीं है और अन्य का कारण नहीं है, ऐसा जो एक द्रव्य उस स्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति।)।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं देखी कि जिससे वह शरीरादि के कार्यों को करे। तो हे मूढ़! तू फिर सर्वज्ञ से अधिक चतुर कहाँ से हुआ कि मुफ्त में ही पर को करने का मानता है ?

आत्मा के स्वभाव को तो विकार के साथ भी कारण-कार्यपना नहीं, क्योंकि स्वभाव से आत्मा, विकार का कारण हो तो वीतरागता होने का अवसर तो दूर रहो, परन्तु भेदज्ञान होने का अवसर भी न रहे। आत्मा का स्वभाव तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों का ही कारण बने, ऐसा है। ऐसे स्वभाव को जो जाने, उसको वैसा कार्य प्रगटे, वह विकार का अकर्ता होवे।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। अभी तक तेरह शक्तियों का विवेचन हो गया है। चौदहवीं अकार्यकारणत्व है। आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय को कोई परवस्तु नहीं करती; इसलिए आत्मा अकार्य है और आत्मा किसी पर वस्तु के द्रव्य-गुण या पर्याय को नहीं करता; इसलिए आत्मा अकारण है; पर के साथ के कार्य-कारणभाव से रहित आत्मा स्वयं सर्व से भिन्न एक द्रव्यस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जो पहिचाने, उसके स्वभाव का कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा का कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसके अतिरिक्त कोई भी पर वस्तु, आत्मा के कार्य का कारण है ही नहीं। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु उसमें कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि जिससे आत्मा का पर कारण

हो। आत्मा का कारण पर नहीं है और पर का कारण, आत्मा नहीं है; आत्मा के कारण-कार्य, आत्मा में ही हैं और पर के कारण-कार्य, पर में हैं।

यह अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; इसलिए वास्तव में तो क्षणिक विकार का कार्य-कारणपना भी आत्मा में नहीं है। यदि त्रिकाली आत्मा, विकार का कारण हो, तब तो विकार सदैव होता ही रहे परन्तु ऐसा नहीं है और आत्मा, विकार का कार्य भी नहीं है, अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय, वह कारण और आत्मा का निश्चयसम्यग्दर्शन, वह कार्य - ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें प्रगट हुई, वे आत्मा में अभेद हैं; इसलिए जिस प्रकार व्यवहाररत्नत्रय के कारण से आत्मद्रव्य नहीं बनता; उसी प्रकार उसकी निर्मल - पर्याय से भी नहीं बनती। कारण-कार्य अभेद हैं; यहाँ विकार के साथ भी आत्मा का कारण कार्यपना स्वीकार नहीं किया है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि कर्म के कारण विकार होता है। यहाँ तो आत्मा की त्रिकाली शक्तियों की बात है; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखने से आत्मा में विकार होता ही नहीं; इसलिए आत्मा, विकार का कारण नहीं है - ऐसा समझना चाहिए।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ त्रिकाल हैं परन्तु शरीर -मन-वाणी या पुण्य-पाप—वे कोई आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में नहीं है; इसलिए उन शरीर-मन-वाणी द्वारा या पुण्य-पाप द्वारा आत्मा की महिमा नहीं है परन्तु अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा ही आत्मा की महिमा है। जिस प्रकार हलवाई की दुकान पर अफीम या घड़े नहीं मिलते, परन्तु मावा मिलता है और अफीमवाले की दुकान पर मावा नहीं, किन्तु अफीम ही मिलती है; जिसके पास जो हो, वह उसी के पास से मिलता है; उसी प्रकार आत्मा, ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणों का भण्डार है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने से उसमें से गुण मिलते हैं किन्तु विकार या जड़ उसमें से नहीं मिल सकते। पुण्य-पाप तो अफीम के गोले समान हैं, उनकी दुकान अलग है और शरीर-मन-वाणी की क्रिया, वह कुम्हार के घड़े जैसी है, उसमें से कहीं से आत्मा का धर्म मिले, ऐसा नहीं है और आत्मस्वभाव की दुकान से वह किसी काल नहीं मिल सकती। जड़ का कोई भी तत्त्व अथवा जड़ की क्रिया या पुण्य-पाप के विकारीभावों को आत्मा के अन्तरस्वरूप में ढूँढ़ें

तो वे नहीं मिल सकते और जड़ की क्रिया में या विकारीभाव में आत्मा के अन्तरतत्त्व को ढूँढ़े तो वह भी नहीं मिल सकता। जैसे, अफीमवाले की दुकान पर जाकर कोई कहे कि – 'शुद्ध दूध का दस सेर मावा दे दीजिये!' – तो वह मूर्ख ही माना जाएगा। अफीमवाले के पास अफीम का मावा होता है किन्तु दूध का मावा नहीं होता और कुम्हार के घर जाकर कोई कहे कि 'दस सेर ताजे पेड़े दे दीजिये!' तो वह भी मूर्ख ही कहलायेगा। कुम्हार के घर तो मिट्टी के पिण्ड होते हैं – वहाँ पेड़े नहीं मिल सकते और हलवाई की दुकान पर आकर कोई कहे कि – 'पाँच तोला असली अफीम दे दीजिए, अथवा पाँच घड़े दे दीजिए।' – तो वह भी मूर्ख ही है; उसी प्रकार आत्मा, अनन्त गुणों की मूर्ति हलवाई की दुकान जैसा है; उसके पास से आनन्दरस की प्राप्ति होती है, उसके बदले विकार में या जड़ की क्रिया में आनन्द लेने जाए अथवा उससे धर्म माने तो वह जीव परमार्थत: महान मूर्ख मिथ्यादृष्टि है। जो जीव, शरीर की क्रिया से या पुण्य से धर्म मानता है, वह जीव लोकव्यवहार में भले चाहे जैसा बुद्धिशाली माना जाता हो परन्तु परमार्थमार्ग में तो वह मूर्ख ही है। जिस प्रकार हलवाई की दुकान पर अफीम या घड़े लेने के लिए जानेवाला मूर्ख है; उसी प्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा के पास जड़ की क्रिया और विकार का कराना मानता है, वह भी मूढ़-मिथ्यादृष्टि ही है। अज्ञानी, शरीर की क्रिया से और पुण्य से आत्मा का बड़प्पन मानते हैं परन्तु शरीर की क्रिया या पुण्य का कारण हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। इसका अज्ञानी को भान ही नहीं है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसा अकार्यकारणपना है कि अपने स्वभाव से अन्य ऐसे किसी भी परद्रव्य या परभावों के साथ से कार्यकारणपना नहीं है। शरीर-मन-वाणी या देव-गुरु-शास्त्र सब आत्मा से अन्य हैं। उनसे इस आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता और यह आत्मा उनके कार्य को नहीं करता और पुण्य-पाप भी आत्मा के स्वभाव से अन्य हैं; इसलिए उनसे आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कुछ कार्य हों – ऐसा नहीं है और आत्मा, कारण होकर उन विकारीभावोंरूप कार्य को उत्पन्न करे – ऐसा भी नहीं है। ऐसा आत्मा का अनादि-अनन्त अकार्यकारणस्वभाव है। अपना कार्य, पर से नहीं होता और स्वयं, पर का कार्य नहीं करता – ऐसी अकार्यकारणत्वशक्ति तो यद्यपि समस्त द्रव्यों में है परन्तु इस समय आत्मा की पहिचान कराने के लिए उसकी शक्तियों का वर्णन चलता है। किसी भी

द्रव्य में ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्य के कार्य को करे और कोई भी द्रव्य ऐसा पराधीन नहीं है कि अपने कार्य के लिए पृथक् कारण की अपेक्षा रखे - ऐसा वस्तुस्वरूप है; यह जैनदर्शन का रहस्य है।

लोगों को ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है; इसलिए अज्ञान के कारण वे ऐसा देखते हैं कि मैंने पर का कार्य किया और पर के कारण मेरा कार्य हुआ। मकान के ऊपर मुँडेर डालने के लिए सौ मन की कैंची ऊपर चढ़ रही हो, वहाँ भ्रम से-संयोगी दृष्टि से अज्ञानी ऐसा समझता है कि पचास मजदूरों ने मिलकर शक्ति लगायी; इसलिए यह कैंची ऊपर उठी है। अब यथार्थ दृष्टि से देखने पर वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि मजदूर और कैंची दोनों बिलकुल पृथक-पृथक वस्तुएँ हैं; इसलिए किसी के कारण, दूसरे में कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मजदूरों का कार्य, मजदूरों में है और कैंची का ऊपर उठने का कार्य, कैंची में है। इसलिए कैंची उसके अपने कारण ऊपर उठी है; मजदूरों के कारण नहीं।

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर कैंची स्वयं भी मूलवस्तु नहीं है। कैंची तो अनन्त रजकणों के समूह से उत्पन्न हुई संयोगी वस्तु है। वास्तव में एक रजकण ने, दूसरे रजकण का स्पर्श ही नहीं किया है; कैंची का प्रत्येक रजकण स्वयं अपने भिन्न कार्य को कर रहा है; दो रजकण एकत्रित होकर एकमेकरूप से कार्य करते ही नहीं हैं। यदि इस प्रकार प्रत्येक रणकण के भिन्न-भिन्न कार्य को समझे तो पर की क्रिया करने का अभिमान उड़ जाता है और आत्मस्वभाव की ओर उन्मुखता हो जाती है।

तर्क से देखें तो भी मजदूरों ने कैंची को उठाया, यह बात नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक मजदूर पृथक्-पृथक् है। एक मजदूर ने, दूसरे को स्पर्श नहीं किया है; प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में पृथक्-पृथक् है। सभी मजदूरों की शक्ति एकत्रित हुई ही नहीं है, तब फिर मजदूरों ने कैंची को उठाया - यह बात कहाँ रही ? क्या एक मजदूर से सौ मन की कैंची उठती है ? नहीं उठ सकती। यदि एक मजदूर से कैंची न उठे तो दूसरे से भी नहीं उठ सकती, तीसरे से भी नहीं उठ सकती; इस प्रकर किसी मजदूर से नहीं उठ सकती। तब फिर सब मजदूर एकत्रित होकर कैंची उठाएँ, यह बात भी नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक मजदूर की शक्ति अपने-अपने में हैं; किसी की शक्ति अपने में से निकलकर, दूसरे

में नहीं जाती; इसलिए दो मजदूरों की शक्ति कभी एकत्रित नहीं होती। देखो, यह वीतरागी -विज्ञान की दृष्टि! सामने कैंची में दो परमाणु एकत्रित होकर कार्य नहीं करते और यहाँ दो मजदूर एकत्रित होकर कार्य नहीं करते; इसलिए किसी के कारण, दूसरे का कार्य हुआ -यह बात नहीं रहती। इस प्रकार समस्त वस्तुओं में परस्पर अकार्यकारणपना है।

आत्मद्रव्य का कार्य, अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं होता और आत्मा, अन्य किसी वस्तु के कार्य को नहीं करता; इसलिए आत्मा को धर्मकार्य किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता, परन्तु एक अपने द्रव्य के आश्रय से ही धर्मकार्य होता है। 'अकार्यकारण' शब्द में जो 'अ' है, वह कार्य और कारण दोनों के साथ लागू होता है, अर्थात् आत्मद्रव्य पर का कार्य नहीं है और पर का कारण भी नहीं है। जो जीव, वास्तव में समस्त परद्रव्यों के साथ अपना अकार्यकारणपना समझे, उसे स्वद्रव्य के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा में ऐसी शक्ति ही नहीं है कि वह पर के कार्य का कारण हो और अपने कार्य के लिये पर कारण की अपेक्षा रखे, ऐसी पराधीनता भी उसमें नहीं है। ऐसा समझ ले, उसे कहीं भी पर के साथ 'यह मेरा कार्य और यह मेरा कारण' - ऐसी एकत्वबुद्धि न रहे; इसलिए स्वभाव के आश्रय से निर्मलकार्य प्रगट हो। उसका कारण भी आत्मा स्वयं ही है; अन्य कोई कारण है ही नहीं। प्रत्येक समय की पर्याय स्वयं ही अपने कारण-कार्यरूप से वर्तती है। परमशुद्धदृष्टि में तो कारण-कार्य के भेद ही नहीं हैं; कारण-कार्य के भेद कहना, वह भी व्यवहार है।

निमित्तकारण द्वारा कार्य होता है - ऐसा जो माने, वह मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्मा के अकार्य-कारण स्वभाव का भान नहीं है। निमित्त की पहचान कराने के लिए 'इस निमित्त से यह कार्य हुआ' - ऐसा कहा जाता है परन्तु वह व्यवहार से ही है; वास्तव में निमित्त के कारण, कार्य होना मान ले तो उसके स्व-पर तत्त्व की एकत्वबुद्धि है, उसे यथार्थ कारण-कार्य की खबर नहीं है। कारण और कार्य पृथक्-पृथक् द्रव्यों में होते ही नहीं। कारण, एक द्रव्य में हो और उसका कार्य, दूसरे द्रव्य में हो - ऐसा नहीं हो सकता, तथापि जो ऐसा मानता है, उसे दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि है।

आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों स्वयं सिद्ध हैं। आत्मा

किसी ईश्वर का कार्य नहीं है, अर्थात् किसी ईश्वर ने आत्मा को नहीं बनाया है। अमुक पदार्थ एकत्रित होकर उसमें से आत्मा उत्पन्न हुआ – ऐसा नहीं है और निमित्त द्वारा, पुण्य पाप द्वारा या व्यवहार द्वारा आत्मद्रव्य की रचना नहीं हो सकती, अर्थात् उन किसी के द्वारा आत्मद्रव्य का अनुभव नहीं होता। कोई कहे कि व्यवहार के कारण, आत्मा के सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्र की रचना हुई है तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की रचना में आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं। आत्मा अपने कार्य में, किसी अन्य की सहायता नहीं लेता और न स्वयं किसी अन्य का कारण होता है – ऐसी स्वयंसिद्ध अकार्यकारणत्वशक्ति उसमें त्रिकाल है। भले लाखों वर्ष तक भगवान की भक्ति करे परन्तु पर के कारण, आत्मा में कार्य हो – ऐसा गुण, आत्मा में नहीं है और उस भक्ति का राग, कारण होकर उससे सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट हो जाये, ऐसा भी नहीं होता।

आत्मा का कार्य दूसरे से नहीं होता और आत्मा किसी अन्य की क्रिया नहीं करता। पर जीव बचा, वहाँ उसके बचने में आत्मा, कारण नहीं है; शरीर के हलन–चलन या बोलने में आत्मा, कारण नहीं है; पुण्य–पाप के परिणाम हों, उनमें भी आत्मद्रव्य, कारण नहीं है – ऐसा आत्मा की अकार्यकारणत्वशक्ति का सामर्थ्य है। ऐसा स्वभाव समझने से, पर के ऊपर दृष्टि नहीं रहती, परन्तु द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाती है। जड़कर्म हों, उनका कारण आत्मा नहीं है। क्षणिक विकारीपरिणाम हों, उनके कारणरूप से सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है; इसलिए ऐसे द्रव्य के सन्मुख देखनेवाले जीव को क्षणिक विकार की कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती। त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए त्रिकाली द्रव्य, विकार का कारण नहीं है। त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का कारण हो, ऐसा द्रव्य का स्वभाव है।

व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा नहीं बनता। यदि व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा बनता हो तो व्यवहाररत्नत्रय का नाश होने से आत्मा का भी नाश हो जाएगा और द्रव्य के आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह तो द्रव्य में अभेद है; इसलिए जिस प्रकार व्यवहाररत्नत्रय से द्रव्य नहीं बनता; उसी प्रकार निर्मलपर्याय भी उससे नहीं बनती। पर्याय, द्रव्य में से आती है या पर में से ? पर्याय तो द्रव्य में से ही आती है; इसलिए पर्याय का पिता स्वद्रव्य है।

स्वद्रव्य ही अपनी पर्याय का उत्पादक है; उसके बदले अन्य को उत्पादक मानना, वह कलङ्क है। जिस प्रकार पुत्र का जो पिता हो, उसके बदले किसी अन्य को पिता बतलाए तो वह लोकव्यवहार में कलङ्क है; उसी प्रकार निर्मलपर्यायरूप प्रजा का पिता, द्रव्य है; द्रव्य के आश्रय से वह पर्याय प्रगट हुई है, उसके बदले अन्य को उसका कारण बतलाना, वह कलङ्क है। पुण्य-पाप में से, निमित्त में से या व्यवहार में से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता और द्रव्यदृष्टि से देखो तो आत्मा का स्वभाव, उस पुण्य-पाप का या व्यवहार का कर्ता नहीं है। तब फिर आत्मा, देश का, समाज का कुछ करे या शरीर का कुछ करे अथवा पैसादि के लेनदेन की क्रिया करे - यह बात तो है ही नहीं।

जड़ की या पर की क्रिया तो आत्मा से नहीं हुई है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पुण्य -पाप, आत्मा से हुए, ऐसा भी नहीं है। पर्यायदृष्टि में पुण्य-पाप होता है परन्तु त्रिकाली दृष्टि से देखने पर आत्मा में पुण्य-पाप हैं ही नहीं; इसलिए आत्मा उसका कर्ता नहीं है। पर्याय-बुद्धिवाला जीव, यह बात यथार्थरूप से नहीं मान सकता। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि अनन्त स्वभाव की मूर्ति है, उसमें ऐसा कोई स्वभाव नहीं है कि जो विकार का कारण हो, अथवा पर के कार्य को करे!

यह आत्मा हो तो जगत का कार्य हो - ऐसा नहीं है और जगत के पदार्थ हों, उनके कारण आत्मा का कार्य होता है - ऐसा भी नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जो न पहिचाने, वह जीव, आत्मा से अनभिज्ञ, अर्थात् भानरहित है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा में ऐसा कोई गुण नहीं देखा है कि शरीर-मन-वाणी इत्यादि बराबर हों तो आत्मा में धर्म का कार्य हो और आत्मा के कारण, शरीर-मन-वाणी बराबर रहते हों, ऐसा भी कोई गुण, भगवान ने नहीं देखा है। तो हे मूढ़! तू सर्वज्ञ से अधिक चतुर कहाँ से निकला! आत्मा से पर का कार्य कभी होता ही नहीं, तब फिर तू व्यर्थ पर का कर्तापन क्यों मानता है? यदि शरीर-मन-वाणी इत्यादि के कार्य, आत्मा से होते हों तो उनसे आत्मा कभी पृथक् हो ही नहीं सकता और न अपना स्वकार्य करने के लिए उसे कभी निवृत्ति मिलेगी। इसी प्रकार द्रव्य स्वयं कारण होकर यदि पुण्य-पाप की रचना करे तो द्रव्य में से पुण्य-पाप कभी पृथक् ही न हो सकें; इसलिए वीतरागता तो न हो, परन्तु भेदज्ञान होने का अवसर भी न रहे। इसलिए द्रव्य स्वयं विकार का कारण नहीं है। ऐसा समझने से स्वभाव और

विकार का भेदज्ञान होता है और स्वभाव के अवलम्बन से विकार दूर होकर, वीतरागता प्रगट होती है।

(१) यदि अपना कार्य दूसरे से होता हो तो अपने में कुछ करना नहीं रहता; स्वकार्य प्रगट करने के लिए अपने स्वभावसन्मुख देखना भी नहीं रहता। और

(२) यदि आत्मा पर का कार्य करता हो तो वह पर की ओर ही देखता रहे और अपना कार्य करने के लिए उसे अवकाश न मिले; इसलिए उसमें भी स्वसन्मुख देखना नहीं आता। इसलिए ये दोनों मान्यताएँ बाह्यदृष्टि जीव की है।

जिसे अपने आत्मा का हित करना हो और मोक्षमार्ग की साधना करना हो, वह जीव, जगत की दरकार नहीं करता। 'जगत का क्या होगा?' – ऐसी चिन्ता में पड़ा रहे तो आत्महित की साधना कब करेगा? जगत का तो उसके अपने कारण से जैसा होना है, वैसा हो रहा है; जगत का भार मेरे सिर पर नहीं है; मैं अपने आत्मा को साध लूँ – इस प्रकार धर्मी जीव, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपना हित साध लेता है।

यहाँ भगवान कहते हैं कि – आत्मा में ऐसा अकार्यकारणस्वभाव है कि वह पर का कारण नहीं है और पर का कार्य भी नहीं है। इस शरीर के परमाणुओं में आत्मा का निवास नहीं है। शरीर से आत्मा का कुछ भी कार्य नहीं होता और आत्मा से शरीर का कोई कार्य नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव, पर का मोह करता है। पर में कर्तृव्य का राग और ज्ञातामात्र स्वभाव पर द्वेषरूप तिरस्कार को करता है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। मेरी अनन्त शक्तियाँ मुझमें हैं – ऐसा यदि जीव जान ले तो उसे अपनी अनन्त महिमा आये और पर की महिमा दूर हो जाये, और क्षणिक विकार की महिमा भी दूर हो जाये; इसलिए पर का स्वामित्व छोड़कर, स्वयं अपनी शक्ति की सँभाल करके सिद्धदशा की साधना करे। संसारी जीव, अनादि से अपनी निजनिधि को भूल रहा है; उसे सर्वज्ञदेव उसकी निधि बतलाते हैं। जिस प्रकार पुत्री को ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं; उसी प्रकार जीव को सिद्धदशारूपी ससुराल भेजने के लिए केवली भगवान, दहेज देते हैं। कोई पूछे कि यह आत्मा की अनन्त शक्तियों की बात किसलिए सुनाते हो? तो कहते हैं कि अब तुझे संसार

से सिद्धदशा में भेजना है; इसलिए तुझे तेरी ऋद्धि सौंपी जा रही है। 'तो आत्मा के साथ क्या देंगे ?' – आत्मा में अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हें बतलाकर उनकी अनन्ती निर्मल पर्यायें प्रगट करके आत्मा को सिद्धदशा में साथ भेजेंगे। उसका उपभोग सादि-अनन्त काल तक सिद्धदशा में साथ रहेगा, अर्थात् आत्मा की अनन्त शक्तियों की प्रतीति करे, उसके अल्प काल में ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

'अहो! मेरी अनन्त शक्तियाँ मुझमें है, अपने हित के लिए मुझे किसी अन्य का आश्रय नहीं है' – ऐसा समझने से दृष्टि बदल जाती है। जो ऐसा समझे, उसने संसार के साथ का सम्बन्ध तोड़कर आत्मा की सिद्धदशा के साथ सम्बन्ध बाँधा है। जिस प्रकार पुत्री जब तक माता-पिता के गृह में होती है, तब तक तो ऐसा मानती है कि यह मेरा घर है, और यह हमारी सम्पत्ति है परन्तु सगाई होते ही उसकी दृष्टि पलट जाती है कि यह घर और सम्पत्ति मेरी नहीं है; यह सब मेरे साथ नहीं आयेंगे, किन्तु जहाँ सगाई हुई है, वह घर और उसकी सम्पत्ति मेरी है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, अनादि काल से संसार में पल रहा है; शरीर, वह मैं हूँ, पुण्य-पाप मैं हूँ – इस प्रकार बालकरूप से वह मान रहा है। अब, अनन्त शक्ति के पिण्ड अपने भगवान आत्मा के साथ उसकी सगाई कराके ज्ञानी कहते हैं कि देख भाई! तुझे सिद्ध होना है न! ...'हाँ'... तो तेरे साथ तेरे अनन्त-गुणों की ऋद्धि आयेगी परन्तु यह शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, कुटुम्ब अथवा पुण्य-पाप कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। तेरे अनन्त गुणों की ऋद्धि सदैव तेरे साथ रहती है परन्तु शरीर या पुण्य-पाप वे कोई तेरे साथ सदैव रहनेवाले नहीं हैं। – ऐसा समझते ही जीव की दृष्टि पलट जाती है कि अहो! मेरी अनन्त शक्तियाँ मुझमें हैं, उनका ही मैं स्वामी हूँ, वही मेरा स्वरूप है; उन्हें भूलकर मैंने भ्रम से शरीर तथा पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माना था परन्तु वे कोई मेरा स्वरूप नहीं है, वे कोई मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं। देखो, सत्य समझते ही दृष्टि पलट जाती है; परसन्मुखदृष्टि थी, वह छूटकर स्वसन्मुखदृष्टि हो जाती है; उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है।

धर्मात्मा समझता है कि त्रिकाल स्थित रहनेवाला अनन्त शक्तिरूप स्वभाव है, वह मैं हूँ, और क्षणिक राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ, जगत की वस्तुएँ मुझे कारण नहीं हैं; उनसे मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और मेरे कारण जगत की वस्तुएँ नहीं हैं; इस प्रकार धर्मात्मा

जीव, पर का स्वामित्व छोड़कर, अपनी स्वभाव ऋद्धि का स्वामी होता है। पर से लाभ -हानि होते हैं - ऐसी दृष्टि उसके छूट गयी और आत्मा के साथ सगाई हो गयी है।

अहो! ज्ञानी कैसी मिष्ट-मधुर बात करते हैं! परन्तु अज्ञानी जीव को अनादिकालीन मोह है; इसलिए ऐसी हितकारी सत्य बात उसे नहीं रुचती और उल्टा झुँझला उठता है। भाई! तेरे अनन्त गुण त्रिकाल तेरे साथ रहनेवाले हैं; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप या शरीर, कुटुम्बादि कोई तेरे साथ नहीं आएँगे। इसलिए पर मेरा कारण और मैं पर का कारण - ऐसी बुद्धि छोड़; पर के साथ जो कारण-कार्यपना माना है, वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो कहते हैं कि उस मिथ्यामान्यता का कारण भी त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं है परन्तु जो ऐसा समझे, उसकी पर्याय में मिथ्यात्व रहेगा ही नहीं।

उपादान-निमित्त की बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भाई! जगत के कार्य तो उसके उपादान से होते हैं, हम तो मात्र उसके निमित्त हैं... परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई! अपनी दृष्टि में से एक बार पर के साथ का सब सम्बन्ध तोड़ दे! निमित्त होने की जिसकी दृष्टि है, उसकी दृष्टि पर के ऊपर है; जिसकी दृष्टि अनन्त गुण के पिण्ड आत्मा पर है, उसकी पर के ऊपर दृष्टि ही नहीं है; इसलिए 'मैं पर को निमित्त हूँ' - यह बात उसकी दृष्टि में कहाँ रही? पर का निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है, उसके स्वसन्मुख दृष्टि नहीं है परन्तु उसकी दृष्टि परोन्मुख है। स्वसन्मुख दृष्टि में तो आत्मा को पर के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना, पर्याय के निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। त्रिकाली आत्मा तो पर का या राग -द्वेष का निमित्तकारण भी नहीं है; यदि त्रिकाली आत्मा, रागादि का निमित्तकारण हो तो वह निमित्तपना कभी दूर नहीं हो सकता; सिद्ध में भी राग-द्वेष होते रहेंगे। इसलिए त्रिकाली स्वभाव, राग-द्वेषादि का निमित्तकारण भी नहीं है। पर्याय का अशुद्धउपादान, वह राग-द्वेषादि का कारण है परन्तु वह एक समयपर्यन्त का है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की बात चल रही है। पुण्य-पाप, आत्मा के अशुद्ध उपादान से होते हैं और कर्म उसमें निमित्त है - यह दोनों बातें पर में जाती हैं; आत्मा के शुद्धस्वभाव में वह कुछ है ही नहीं।

देखो, यह तो द्रव्यदृष्टि के अजर प्याले की बात है। ऐसी दृष्टि पचाने के लिए

अन्तर में जीव को कितनी पात्रता होती है ! सद्गुरु के प्रति विनय, बहुमान तथा वैराग्यादि की योग्यता उसमें होती ही है। चाहे जैसे स्वच्छन्दपूर्वक वर्ते और यह बात समझ में आ जाये – ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानप्रधान वर्णन में यह सब बात विस्तारपूर्वक आती हैं; इस समय तो दर्शनप्रधान वर्णन चल रहा है।

आत्मसिद्धि में कहा है कि:-

'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझें वे होंय।'

इसमें आत्मा के स्वभाव की और उसे समझने की बात की है परन्तु उसे समझनेवाले जीव को कैसे निमित्त होते हैं कि **'सद्गुरु आज्ञा जिनदशा निमित्तकारणमाय।'** सर्वज्ञ -वीतराग जिनदशा कैसी होती है, उसका विचार और सद्गुरु की आज्ञा, उस आत्मा का स्वरूप समझने में निमित्तकारण हैं; कुदेव-कुगुरु को मानता हो और आत्मा का स्वरूप समझ जाये – ऐसा नहीं हो सकता; उसके लिए यह बात की गयी है।

द्रव्यदृष्टि के विषय में अकेला अभेद आत्मा ही है,उसमें निमित्त की बात नहीं आती। ऐसी अभेददृष्टि से ही विकल्प टूटकर निर्विकल्प का अनुभव होता है। आत्मा, अकारण स्वभाव है, उसका अनुभव करने के लिए कोई अन्य कारण है ही नहीं। देव-गुरु का विचार करे, अथवा आत्मा है, वह नित्य है – इस प्रकार भेद से आत्मा के विचार करे, तो वह भी वास्तव में आत्मानुभव का कारण नहीं है। अपने अनुभव में व्यवहार की या पर को सहायता लेना पड़े, ऐसा आत्मा का स्वभाव ही नहीं है और आत्मा, पर का कारण हो, ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

प्रश्न :- क्या आत्मा के बिना बोला जा सकता है तो मुर्दे क्यों नहीं बोलते ? आत्मा हो तो भाषा बोली जाती है; इसलिए भाषा का कारण, आत्मा है या नहीं ?

उत्तर :- आत्मा की उपस्थिति हो और भाषा बोली जाए, उस समय भी उस भाषा का कारण आत्मा नहीं है परन्तु जड़ परमाणुओं के कारण भाषा हुई है। यदि भाषा का कारण आत्मा हो तो जब तक आत्मा हो, तब तक भाषा निकालती ही रहे ! शरीर ठीक रहे, वह जड़ की क्रिया है; आत्मा के कारण, शरीर ठीक नहीं रहता। सर्प काटे और विष चढ़ जाए, उस समय आत्मा होने पर भी क्यों अचेत पड़ा रहता है ? वह जड़ का कार्य है; आत्मा

उसका अकारण है। शरीर निरोगी हो, वज्रवृषभनाराचसंहनन हो, ब्रह्ममुहूर्त का समय हो, निर्जन वन हो, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की उपस्थिति हो, तो यह सब बाह्यपदार्थ कारण होकर आत्मा का कुछ कर देंगे - ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के अकार्यस्वभाव की खबर नहीं है; किन्हीं अन्य कारणों से आत्मा का कार्य हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा पर का कारण-कार्य हो तो वह एक द्रव्यस्वरूप न रहकर, अनेक द्रव्यस्वरूप हो जाए, परन्तु आत्मा तो पर का कारण नहीं है और पर का कार्य भी नहीं है - ऐसा एक द्रव्यस्वरूप है; ऐसा उसका अकार्यकारणस्वभाव है। ऐसे स्वभाव को दृष्टि में लेने से मुक्तिरूपी कार्य प्रगट हो जाता है।

आत्मा की अनन्त शक्ति का स्वयं में ही समावेश है। पर से तो वह बिलकुल भिन्न है; इसलिए पर का कुछ करे, ऐसी आत्मा की एक भी शक्ति नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि आत्मा में तो अनन्त शक्ति है; इसलिए वह पर का भी कर सकता है! परन्तु ऐसा माननेवाला मूढ़ है, उसने आत्मा को या आत्मा की शक्तियों को जाना ही नहीं है। आत्मा की अनन्त शक्तियों का कार्य, आत्मा में होगा या आत्मा से बाहर के पदार्थों में होगा और यदि आत्मा पर का कार्य करे, तो क्या परपदार्थों में उनका अपना कार्य करने की शक्ति नहीं है? आत्मा पर का करता है - ऐसा माननेवाले ने परद्रव्यों की शक्ति को भी नहीं जाना है और पर से भिन्न अपनी आत्मशक्ति को भी नहीं जाना है।

आत्मा में एक साथ अनन्त शक्तियाँ होने पर भी, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा ज्ञानस्वभाव है - ऐसा कहकर आत्मा की पहचान करायी जाती है; वहाँ ज्ञान कहने से दूसरी अनन्त शक्तियाँ भी ज्ञान के साथ आ जाती हैं - ऐसा अनेकान्त का स्वरूप है। यह बात स्पष्ट करने के लिए आचार्यदेव ने आत्मा की कुछ मुख्य-मुख्य शक्तियों का वर्णन किया है। अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सब वचनगोचर नहीं हो सकतीं; वचन में तो अमुक ही आ सकती हैं। अनन्त शक्तियों का एक साथ प्रतीति में लेते हुए शक्तिमान अभेद आत्मा, दृष्टि में आ जाता है और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है और उसमें अपनी अनन्त शक्तियाँ अनादि-अनन्त हैं। अहो! विचार तो करो कि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं तो उसकी महिमा कितनी!! जीव

ने अपनी महिमा का कभी यथार्थरूप से विचार किया ही नहीं। केवलज्ञान तो जिसके एक गुण की मात्र एक समय की पर्याय, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें होने का एक ज्ञानगुण का सामर्थ्य है और ऐसे अनन्त गुण जिसमें विद्यमान हैं, उस वस्तु की महिमा की क्या बात!! उस वस्तु की महिमा समझे तो उसमें अन्तर्मुख होकर आनन्द का वेदन करे!

भगवान आत्मा, ज्ञानमूर्ति स्वभाव से त्रिकाल सत् है; उसके अस्तित्व में अन्य कोई पदार्थ कारणरूप नहीं है; कोई ईश्वरादि उसका कर्ता नहीं है। आत्मा किसी कारण से नहीं बना है किन्तु स्वयंसिद्ध वस्तु है। किसी भी परवस्तु को या उसके कार्य को आत्मा नहीं करता और आत्मा को या आत्मा के किसी कार्य को परवस्तु नहीं करती। इस प्रकार आत्मा किसी का या पर का कारण नहीं है। शरीरादि जड़ पदार्थों में जो कार्य होता है, उसका कारण, आत्मा नहीं है तथा आत्मा में जो कार्य होता है, उसमें जड़पदार्थ, कारण नहीं हैं। आत्मा का ऐसा त्रिकाली स्वभाव है कि स्वयं किसी का कार्य या कारण नहीं है; इसलिए आत्मा किसी अन्य का कार्य नहीं है और न स्वयं कारणरूप होकर किसी के कार्य को उत्पन्न करता है। कोई पर कारण हुआ और आत्मा उसके कार्यरूप से उत्पन्न हुआ – ऐसा नहीं है तथा आत्मा, कारण हुआ और कोई परद्रव्य उसका कार्य हुआ – ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार किसी भी परवस्तु के द्रव्य, गुण या पर्याय के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध से रहित, एक द्रव्यरूप- ऐसा आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव है। आत्मवस्तु में ज्ञानादि अनन्त गुणों के साथ एक ऐसी 'अकार्यकारण' शक्ति भी है। 'अकार्य'-आत्मा के द्रव्य, गुण या पर्याय पर से नहीं हुए हैं और 'अकारण' आत्मा, स्वयं परवस्तु के द्रव्य-गुण या पर्याय को नहीं करता।

प्रभु! तेरे आत्मा में जिस प्रकार जाननेरूप ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसी प्रकार किसी अन्य का कार्य या कारण न हो – ऐसा अकार्यकारणस्वभाव भी उसमें त्रिकाल है। देखो, ऐसी समझ में तो महान सम्यक् एकान्त है, अर्थात् ज्ञान, पर की लीनता से विमुख होकर अपने स्वभाव में स्थित होता है। 'मेरा कोई करता है, अथवा मैं किसी का करता हूँ' – ऐसी मान्यता में तो स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या एकान्त हो जाता है परन्तु 'मैं किसी का कार्य या कारण नहीं हूँ; मेरा कोई कर्ता नहीं है' – ऐसे ज्ञान में स्व-पर की पृथकतारूप अनेकान्त है। पर में एकत्वबुद्धि, वह मिथ्या एकान्त है और स्व में एकत्वबुद्धि, वह

सम्यक्-एकान्त है, और स्व-पर के भेदज्ञान की अपेक्षा से वही सम्यक् अनेकान्त है। जो जीव, पर पदार्थों के साथ अपना कार्य-कारणपना मानता है, उसे स्व-पर की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है; ऐसे जीव को मुनित्व का या श्रावकत्व का कोई धर्म होता ही नहीं और उनका व्रतादि शुभराग, व्यवहाराभास है; उपचार से भी धर्म का कारण नहीं।

कोई पूछे कि 'मैं किस कारण हूँ ? मैं न होऊँ तो क्या आपत्ति है ?'

उत्तर - अरे भाई! 'मैं न होऊँ' - इसका अर्थ क्या ? तू तो सत् है, तेरा अकारण स्वभाव है; इसलिए तेरे अस्तित्व में कोई कारण है ही नहीं। प्रश्नकर्ता तू स्वयं बैठा है फिर 'न होऊँ तो' - यह बात ही कहाँ रही ? तथा तू जगत की सत् वस्तु है, तो सत् को अन्य कौन कारण होगा ? इसलिए द्रव्य का कोई कारण है ही नहीं।

कोई ऐसा पूछे कि - द्रव्य का कारण भले कोई न हो, परन्तु 'मैं चेतन हूँ और जड़ नहीं हूँ' - इसका कारण क्या ? कोई द्रव्य, चेतन और कोई जड़-इसका क्या कारण ?

उत्तरः जो चेतन है, वह अपने स्वभाव से ही चेतन है और जो जड़ है, वह अपने स्वभाव से ही जड़ है; उस स्वभाव में कोई कारण है ही नहीं; इसलिए यह चेतन क्यों और यह जड़ क्यों - ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता।

इसी प्रकार कोई पर्याय में भी ऐसा पूछे कि - 'इस समय ऐसी ही पर्याय क्यों हुई; दूसरी क्यों न हुई ?' तो उसका उत्तर यह है कि - उस द्रव्य का पर्यायस्वभाव ही वैसा है। जिस द्रव्य में जिस समय जो पर्याय होने का स्वभाव हो, वही होता है; अन्य पर्याय नहीं होती - ऐसा उसका स्वभाव है; उसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में अकार्यकारणस्वभाव विद्यमान है। 'ऐसा क्यों ?' - ऐसा कारण ढूँढ़ना नहीं रहता। द्रव्य-गुण-पर्याय जिस प्रकार सत् है, उन्हें वैसा ही जान लेना आत्मा का स्वभाव है; जानने में बीच में 'ऐसा क्यों ?' - ऐसा प्रश्न उठाने का, ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न :- वस्तु में अकार्यकारणशक्ति है; इसलिए त्रिकाली द्रव्य को या गुण को तो पर का कार्यकारणपना नहीं है - यह बात ठीक है परन्तु पर्याय तो नवीन प्रगट होती है; इसलिए उसका कारण तो पर है न ? पर्याय में तो पर का कार्य-कारणपना है न ?

उत्तर :- जो अकार्यकारणस्वभाव है, वह द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है; इसलिए जिस प्रकार द्रव्य-गुण का कारण कोई अन्य नहीं है; उसी प्रकार पर्याय का कारण भी अन्य कोई नहीं है। अरे भाई! क्या त्रिकाली द्रव्य कभी भी वर्तमान पर्यायरहित होता है? द्रव्य अपनी किसी न किसी पर्यायसहित ही होता है; पर्यायरहित द्रव्य कभी होता ही नहीं। यदि पर्याय का कारण पर को कहा जाए तो उसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य स्वयं पर्यायरहित, अर्थात् द्रव्य ही नहीं है। भेद करके कहना हो तो द्रव्य, कारण और पर्याय, कार्य - ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि पर्याय उस द्रव्य की ही है परन्तु यहाँ तो यह भेद की बात ही नहीं लेना है; यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को अकारण सिद्ध करना है। तब फिर पर्याय का कारण परवस्तु है - यह तो बात ही कहाँ रही? जिसने अकार्यकारणरूप द्रव्यस्वभाव को स्वीकार किया, उसकी पर्याय भी अन्तर्मुख होकर द्रव्य में अभेद हुई है; इसलिए वह पर्याय भी रागादि अशुद्धता का कार्य-कारण नहीं है और यदि पर का कार्यकारणपना माने तो वह पर्याय परसन्मुख है, उसने अन्तर के द्रव्य को स्वीकार नहीं किया है; जिसने अन्तर के द्रव्य को स्वीकार किया है, उसकी दृष्टि भिन्न कारण-कार्य पर नहीं होती।

प्रत्येक शक्ति के वर्णन में बहुत रहस्य है। इस एक अकार्यकारणशक्ति को बराबर समझे तो आत्मा की स्वतन्त्रता समझ में आ जाये। पश्चात चाहे जैसे संयोगों में भी ऐसा न माने कि पर के कारण मुझे कुछ होता है और यह भी न माने कि मैं पर का कुछ कर देता हूँ; इसलिए उसकी प्रतीति में कहीं भी राग-द्वेष करना नहीं रहा। ऐसी वीतरागी श्रद्धा होने के पश्चात, अल्प राग-द्वेष हों, वहाँ धर्मी जानता है कि यह राग-द्वेष कोई पर नहीं कराता और न इन राग-द्वेषों के द्वारा मैं पर के कोई कार्य कर सकता हूँ; मेरे निर्मल द्रव्यस्वभाव में यह राग-द्वेष हैं ही नहीं; इसलिए मेरा द्रव्य भी राग का कारण नहीं है, मात्र अवस्था की उस प्रकार की भूमिका है परन्तु उतना ही मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार धर्मी जीव को सर्व समाधान और विवेक वर्तता है।

आत्मा का अकार्यकारणस्वभाव होने से उसका त्रिकाल परवस्तु के कारण बिना ही चल रहा है; आत्मा को अपने कार्य के लिए परवस्तु की आवश्यकता हो - ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। तथापि, मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता - ऐसा अज्ञानी मान बैठा

है, वह उसका मिथ्या अभिप्राय है। यह मिथ्या अभिप्राय ही संसार का मूलकारण है। जहाँ मिथ्या अभिप्राय हो, वहाँ तीव्र राग-द्वेष हुए बिना नहीं रह सकते।

मैं एक स्वत:सिद्ध वस्तु हूँ, मेरा कोई कारण नहीं है और न मैं किसी का कारण हूँ। यदि मुझे पर के साथ कारण-कार्यपना हो तो स्व-पर की एकता हो जाए; इसलिए मैं पर से भिन्न एक स्वद्रव्य ही न रहूँ, किन्तु परद्रव्यरूप हो जाऊँ! परन्तु मैं तो मेरा एक द्रव्यस्वरूप ही हूँ; किसी भी परद्रव्य के साथ मुझे कारण-कार्यपना नहीं है - ऐसी यथार्थ समझ करना, वह संसार के नाश का कारण है।

[वीर सं० २४८८ भाद्रपद शुक्ला ५-६ के दिन का प्रवचन] *

१४ वीं अकार्यकारणत्वशक्ति भी अनन्त शक्तियों के साथ ही भगवान आत्मा में सदा विद्यमान हैं। जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता, ऐसे एक स्वद्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मा में है। राग द्वारा या निमित्त से जीव का कार्य होगा, पराश्रय व्यवहार से शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी कार्य होगा, तथा जीव से राग के कार्य—पर पदार्थों के कार्य हों, ऐसी शक्ति आत्मा में नहीं है - ऐसी अनेकान्तमय जैनधर्म की नीति है।

पर द्रव्य-क्षेत्र-काल, वह कारण तथा (आत्मा में) सम्यग्दर्शनादि शुद्धपर्याय, वह कार्य - ऐसा नहीं है। देखो, निमित्ताधीनदृष्टि को उड़ा दिया है। भगवान का समवसरण, महाविदेहक्षेत्र, चौथा-काल, व्रजवृषभनाराचसंहनन (वज्रकाय) इत्यादि बाह्य सामग्री हो तो आत्मा में धर्मरूपी कार्य होगा, ऐसा नहीं है। व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव हो तो आत्मा में वीतरागता प्रगट होगी, ऐसा नहीं है क्योंकि अकार्यकारणत्वगुण, आत्मा में है किन्तु उससे विरुद्ध कोई गुण, आत्मा में नहीं है।

शास्त्र में निमित्त के कथन बहुत आते हैं। ज्ञानी के समीप धर्मश्रवण, जातिस्मरण, वेदना, देवदर्शन आदि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्तकारण हैं - उसका अर्थ ऐसा है कि भेदज्ञान द्वारा राग से तथा पर से निरपेक्ष निश्चय चैतन्यदेव स्वयं जागृत हो, स्वसन्मुख हो - उस निश्चयसम्यग्दर्शन का नाम देवदर्शन है। जब आत्मा में निश्चयदशारूपी कार्य

---

* यह प्रवचन सन् 1960 में प्रकाशित गुजराती आत्म-प्रसिद्धि में अनुपलब्ध है। - सम्पादक

प्रगट किया, तब वहाँ निमित्त कौन था, यह बताने के लिए उसको व्यवहारसाधन कहा जाता है। निश्चय के बिना व्यवहार किसका ?

प्रश्न :- जिनेन्द्रदेव के दर्शन से निद्धत और निकाचित् कर्मों का नाश हो जाता है - इसका अर्थ भी इसी प्रकार से है कि निमित्त का ज्ञान कराने के लिए यह व्यवहारनय का कथन है किन्तु कोई भी परद्रव्य तेरा कार्य करने के लिए अयोग्य ही है। अनन्त बार निमित्तों के समीप में गया, किन्तु कार्य क्यों नहीं हुआ ? घातियाकर्मों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय, वह कारण है और उसके द्वारा आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कार्य होगा, ऐसा नहीं है। जीव ने ऐसा भाव किया तो उसे निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त, निमित्तरूप से है किन्तु किसी भी समय में उपादान के कार्य का कारण हो सके, ऐसी उसमें शक्ति नहीं है, तथा उसके द्वारा आत्मा में कार्य हो सके - ऐसा कोई भी गुण, आत्मा में नहीं है।

निचली भूमिका में राग होता है परन्तु नवतत्त्वों का विकल्प, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग, महाव्रत का राग, नयपक्ष आदि का राग है; इसलिए आत्मा में शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है - ऐसा नहीं है और भूमिकानुसार ऐसा राग बिलकुल न हो, मात्र छट्ठे गुणस्थान के योग्य (केवल) वीतरागता ही हो, ऐसा भी नहीं है। अंशत: बाधकदशा है; इसलिए साधकदशा है, ऐसा भी नहीं है। अपूर्ण ज्ञान है; इसलिए राग है - ऐसा नहीं है। यहाँ न्याय से कहा जा रहा है। जैसा वस्तु का स्वरूप है और उसकी जहाँ जो मर्यादा है, उसको जानने की ओर ज्ञान को सम्यक्रूप से ले जाना, उसे न्याय कहते हैं।

वीतरागभाव है, वही मोक्षमार्ग है; उस कार्य की उत्पत्ति के लिए कोई क्षेत्र, संयोग, काल, कारण हो सकते हैं - ऐसा नहीं है। शास्त्र में व्यवहार के कथन आते हैं किन्तु उसका अर्थ इतना है कि 'उपादान निजगुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय' - ऐसा जानना, वह व्यवहार के ज्ञान का प्रयोजन है।

भगवान श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें 'अकार्यकारणत्व' नाम का एक गुण ऐसा है कि पर से तेरा कार्य नहीं होता और तू पर का कर्ता नहीं है - स्वामी नहीं है। केवल अभूतार्थनय से निमित्तकर्ता कहना, वह तो कथनमात्र ही है; वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

श्री समयसारजी की ११वीं गाथा, जिनशासन का प्राण है।

'व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है॥११॥'

क्या किसी से किसी अन्य का कार्य नहीं हो सकता? विरोध है – एकान्त है, निमित्त-व्यवहार को उड़ाते हैं – ऐसा संयोगी दृष्टिवाले पुकार करते हैं। किन्तु यह सब जो ज्ञेयरूप से है, उसे कौन उड़ा सकता है? शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि अकार्यकारणत्वशक्ति और छह कारक-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणशक्ति प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय में स्वतन्त्र है; इसलिए अन्य कारणों की खोज करने की व्यग्रता व्यर्थ है।

आत्मा में तीनों काल, स्वभावरूप अनन्त शक्तियाँ हैं। शक्तिवान आत्मा में रागादि विभावभाव नहीं है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का शुभ राग आता है किन्तु उसकी मर्यादा आस्रव और बन्ध तत्त्व में है, संसार ही उसका फल है। शक्तिवान आत्मा में आस्रव है ही नहीं।

स्वभावरूप शुद्धकारणकार्यशक्ति तुझमें है। यदि तुझमें न हो तो कहाँ से आयेगी? श्री धवल शास्त्र में एक स्थान में निमित्त-व्यवहार का ज्ञान कराने के लिए ऐसा कथन किया है कि ज्ञानी को शुभभाव से कथञ्चित् संवर-निर्जरा होती है; छहढाला में आता है कि सत्यार्थकारण, वह निश्चय है और वहाँ निमित्त बताना, वह व्यवहारकारण है। तथा व्यवहार को निश्चय का कारण कहा है, उसका अर्थ यह है कि – इस भूमिका में इस काल में ऐसा ही निमित्त होता है, इतनी बात सत्य है किन्तु निमित्त से उपादान में कार्य होगा, शुभराग से आत्मा में धीरे-धीरे शुद्धि होगी, यह बात तीनों काल में असत्य है।

यहाँ तो ४७ शक्तियों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक शक्ति स्वतन्त्रता से सुशोभित अखण्डित प्रतापसम्पदा से परिपूर्ण है, पर के कारण-कार्यपने से रहित है तथा प्रत्येक शक्ति में दूसरी अनन्त शक्तियों का भाव(रूप), प्रभुत्व और सामर्थ्य है, वह निश्चय से है। इससे यह सिद्ध होता है कि हे आत्मा! तेरी अनन्त शक्तियों का कार्य-कारण तुझसे ही है; पर से नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और परभाव के द्वारा तेरा कोई भी कार्य नहीं होता। प्रथम से ही इस परम सत्य की श्रद्धा करके, अनादि की मिथ्याश्रद्धा का त्याग करने की यह बात है।

जो कुछ भी नहीं समझते, ऐसे अज्ञानी जीवों को पहले पुण्य करने का उपदेश देना चाहिए; शुभरागरूप व्यवहार करते-करते धीरे-धीरे निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी कार्य होगा—ऐसी मान्यता मिथ्या है और ऐसा उपदेश, सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाली विकथा है। मिथ्या मान्यता के समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है - इसकी लोगों को खबर ही नहीं है।

निमित्त तथा व्यवहार उनके स्थान में होते हैं, इसका निषेध नहीं है तथा उनका ज्ञान कराने के लिए सच्चे निमित्त का, शुभभाव का स्वरूप बतलाया जाता है किन्तु कोई ऐसा मानें कि उसके द्वारा कल्याण हो जाएगा तथा प्रथम शुभराग करने योग्य है तो वे जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के महापाप का बन्ध करते हैं। अज्ञानता कोई बचाव नहीं है।

विकथा के पच्चीस प्रकार कहे हैं किन्तु उन शब्दों में विकथा नहीं है; उस प्रकार का बुरा भाव, वह विकथा है। उसमें एक बोल दंसण भेदिनी कथा है, उसे मिथ्यात्वरूपी महापाप को पुष्ट करनेवाली पापकथा कहा है।

श्री समयसारजी, गाथा ३ में कहा है कि विश्व के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्याय को ही प्राप्त होकर परिणमन करते हैं। अपने में एकाकार विद्यमान रहते हुए अपने अनन्त धर्मों के समूह का स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एक आकाशक्षेत्र में विद्यमान हैं फिर भी अपना अंशमात्र भी स्वरूप नहीं छोड़ते और पररूप परिणमन नहीं करते।

जाग रे जाग! तेरी अनन्त चैतन्यऋद्धि, अक्षयगुणों का निधान तेरे स्वाधीन है, तुझ में एक साथ है, निकट ही है, उसको देख। जड़कर्म और रागादि, आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा, नित्य अरूपी है, वह जड़शरीर को स्पर्श नहीं करता। सभी पदार्थ अपने में अपने द्वारा अपना कार्य अपने आधार से, अपने से ही करते हैं। अन्य का आश्रय करना, अन्य कारकों की अपेक्षा मानना, अपने से भिन्न पदार्थ की आवश्यकता मानना, वह व्यर्थ का खेद है।

प्रत्येक के अपने स्वतन्त्र कारण-कार्य हैं। स्वरूप के लक्ष्य से इतना निःसन्देह निर्णय करे तो 'मैं पर का करूँ, पर मेरा करे, मैं दूसरे को निमित्त बनूँ तो उसके कार्य होंगे,

इस मिथ्या अहङ्कार की महान आकुलता नष्ट होकर, त्रिकाली ज्ञातास्वभाव की दृष्टिसहित सच्ची समता प्रगट होती है।'

तीन काल और तीन लोक में प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता को देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान फरमाते हैं कि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। स्वचतुष्टय में, पर चतुष्टय किसी प्रकार से नहीं है। जो जिसमें नहीं है, वह उसका क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए कोई भी द्रव्य किसी भी प्रकार से, दूसरे को स्पर्श नहीं कर सकता। तेरा काम तुझमें है, तेरे आधीन है – ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वतन्त्र स्वभाव तीनों काल है। सत्यस्वरूप का ज्ञान नहीं है, सत्य को समझना भी नहीं है और धर्म तो करना है। क्या धर्म पर में से आता है?

वर्तमान की चतुराई से पैसे की प्राप्ति नहीं होती। चतुराई की पर्याय, जीव में जीव के आधार से होती है और रुपयों की जाने-आने की या रुकने की पर्याय, जड़ में जड़ के आधार से होती है।

अकारणकार्यत्वशक्ति आत्मा में तथा उसके गुण-पर्याय में व्याप्त है; उसमें 'कोई कार्य, किसी अन्य से नहीं किया जा सकता' इन शब्दों में महान मर्मरूप सिद्धान्त भरा है। विश्व के समस्त द्रव्यों को स्वतन्त्रता ऐसा बतलाती है कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का न तो कुछ कर सकता है और न करा सकता है; ऐसा गुण, आत्मा की अनन्त शक्ति का रूप (स्वसामर्थ्य) धारण करके विद्यमान है।

अपना मोक्षमार्गरूपी कार्य, देव-शास्त्र-गुरु और समवसरण में नहीं है, उनके द्वारा तेरा कार्य नहीं होता। दर्शनमोह का क्षय, अपने द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेने से होता है। अपने में ऐसा यथार्थ प्रयत्न करे तो केवली, श्रुतकेवली को निमित्त कहा जाता है। निमित्त है; इसलिए उपादान में कार्य हुआ, ऐसा नहीं है। पर को कारण कहना, वह उपचार है, व्यवहार है; इसलिए वह सच्चा कारण नहीं है। अनन्त गुण सम्पन्न स्वद्रव्य के ऊपर दृष्टि देने से, शुद्धपर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है, ऐसी शक्ति आत्मा में है लेकिन पर का तथा राग का कारण-कार्य बने, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। शुभराग, कारण— व्यवहाररत्नत्रय, कारण और निश्चयरत्नत्रय, कार्य – ऐसा आत्मा में नहीं है। अहो! यह तेरे

स्वाधीनता की आश्चर्यजनक महिमा है। यदि मुक्ति के उपाय के प्रारम्भ में ही स्वाधीनता की श्रद्धा और यथार्थ पुरुषार्थ न हो तो उसे मुक्ति का क्या स्वरूप है, स्वतन्त्रता का स्वरूप क्या है, हित का ग्रहण और अहित का त्याग किसे कहते हैं, सर्वज्ञ वीतरागदेव ने क्या कहा है, उसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। संयोगीदृष्टिवाला स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मा की इच्छा से शरीर चले, शुभराग से वीतरागता हो – ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।

शरीर की क्रिया हो, सामने पदार्थ हो, इन्द्रियाँ हों, प्रकाश हो तो आत्मा को ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। पूर्व की पर्याय, कारण तथा वर्तमान पर्याय, उसका कार्य, ऐसा नहीं है, पर्याय में से पर्याय नहीं आती। परपदार्थ, कारण और सम्यग्दर्शन, कार्य, ऐसा नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल तथा परभाव, कारण और आत्मा में शुद्धता या अशुद्धता प्रगट होना, वह कार्य – ऐसा नहीं है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप शुभराग, कारण तथा निश्चयरत्नत्रय, कार्य – ऐसा कारण-कार्य आत्मा में तीनों काल में नहीं है। पहले व्यवहार, बाद में निश्चय – ऐसा नहीं है। लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आ जाये, ऐसा नहीं बनता; उसी प्रकार राग करते-करते वीतरागता हो जाये, ऐसा नहीं बनता।

मैं एक समय में अनन्त शक्तियों का भण्डार परिपूर्ण ज्ञानघन हूँ, उसमें दृष्टि देने से आत्मा ही कारण और उसकी शुद्धपर्याय कार्यरूप प्रगट होती है – ऐसी शक्ति, आत्मा में है किन्तु अपनी पर्याय, कारण और शरीरादि परपदार्थों में हलन-चलन आदि फेरफार हो, एक जीव के कारण, दूसरे की पर्याय उत्पन्न हो जाये, ऐसा कोई गुण, आत्मा में नहीं है। अपने से ही, अपने आधार से अपना कार्य होता है; पर से अपना कुछ भी न हो और स्वयं, पर का कुछ भी करने के लिए समर्थ न हो सके, ऐसी शक्ति आत्मा में है। इससे ऐसा समझना कि आत्मा का तीनों काल परवस्तु के बिना ही चल रहा है, अपने कार्य के लिए परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की आवश्यकता पड़े – ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। तथापि उससे विपरीत माने तो उसका मिथ्या अभिप्राय ही अनन्त दुःखरूप संसार का कारण बनता है। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ पराश्रय की और राग की रुचि होती ही है; इसलिए उसको किसी भी प्रकार से राग का अभाव नहीं होता। अभिप्राय में निरन्तर तीव्र राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार युक्ति से, परीक्षा द्वारा, वस्तु की मर्यादा को जानकर, पर के साथ मेरा किसी भी प्रकार से कारण-कार्य नहीं है। मैं तो पर से भिन्न और अपनी अनन्त शक्तियों

से अभिन्न हूँ – इस प्रकार निर्णय करके पर में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व की श्रद्धा छोड़कर, सर्वथा राग की उपेक्षा करनेवाला ज्ञायकस्वभाव सन्मुख दृष्टि करना, स्वसंवेदन ज्ञान और निजस्वरूप में लीनता करना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

आचार्यदेव ने कहा है कि सुखी होने के लिये बाह्य साधनों को मिलाने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतन्त्र होते हैं। परतन्त्र होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में अकार्यकारणत्वशक्ति सदा ही विद्यमान है, जिससे अपने कार्य के लिये अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं है। आत्मा, पर का कारण बने तो परद्रव्य परिणमन करेगा, ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, देह से भिन्न है। मन, वाणी, शुभाशुभ विकल्पों से रहित और ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हूँ – इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की दृष्टि, शक्तिवान चैतन्यद्रव्य के ऊपर पड़ी है, वह दृष्टि, स्वरूप को स्वतन्त्र तथा अनन्त शक्तियों के भण्डाररूप अवलोकन करती है।

द्रव्य, अर्थात् अनन्त गुणों का पिण्ड, संख्या अपेक्षा से अपनी अनन्त शक्तियों से (गुणों से) परिपूर्ण यह पदार्थ है और प्रत्येक समय में द्रव्य के आश्रय से अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें प्रगट होती हैं। गुण, प्रगट नहीं होते। गुण, सामान्य एकरूप नित्य रहते हैं, उनके विशेषरूप कार्य को पर्याय कहते हैं, वे अपने से हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव से नहीं हैं, पर के कारण-कार्यरूप से नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव, प्रारम्भ से ही स्व-पर को इस प्रकार से स्वतन्त्र जानता है तथा अपनी अकारणकार्यत्व आदि अनन्त शक्तियों को धारण करनेवाले अपने आत्मद्रव्य को अपनेरूप से मानता है, उसी को उत्कृष्ट-ध्रुव और शरणरूप मानता है। स्वद्रव्य को कारण बनाने से उसका शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप कार्य प्रगट होने लगता है; किसी संयोग या शुभविकल्प-व्यवहार को कारण बनाये तो शुद्धता प्रगट होगी, ऐसा नहीं है।

जैसे, सुवर्ण सुवर्णरूप से है; अन्य धातुरूप से नहीं है। सुवर्ण में पीलापन, चिकनापन और वजन आदि एक ही साथ हैं; उसी प्रकार एक सेकण्ड के असंख्यवें भाग में, अर्थात् एक समय में अनन्तानन्त गुणों का समूह प्रत्येक आत्मा में अनादि अनन्त एक साथ है; इसलिए उसका आदि और अन्त नहीं है; उसमें रही हुई अकार्यकारणत्वशक्ति ऐसा बतलाती

है कि – आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वच्छता, प्रभुता आदि गुण और उनकी विकासरूप पर्यायें, प्रत्येक समय में उत्पाद-व्ययरूप उनसे ही हुआ करती हैं। जो हैं, वे उन्हीं से किये जा सकते हैं; इसलिए परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालादि द्वारा नहीं किये जा सकते। ज्ञानी को निचली भूमिका में राग होता है किन्तु उस शुभराग से आत्मा के गुण की पर्याय का उत्पन्न होना – वृद्धि होना या ध्रुवरूप से रहना, ऐसा नहीं बनता। आत्मा स्वयं निज शक्ति से अखण्ड, अभेद है, उसके आश्रय से, स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ से भूमिकानुसार निर्विकल्प वीतरागभावरूप से अनन्त गुणों की पर्यायों का उत्पाद प्रत्येक समय में हुआ ही करता है; उसका अस्तित्व, उत्पन्न होना, बदलना तथा ध्रुवरूप से रहना आत्मद्रव्य के आश्रय से ही है; पर के आश्रय से नहीं है।

व्यवहार के (शुभराग के) आश्रय से भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा वीतरागभाव त्रिकाल में नहीं होता। राग तो चैतन्य की जागृति को रोकनेवाला विपरीतभाव है, आस्रव है। आस्रव तो बन्ध का ही कारण है; बन्ध का कारण, वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। इस पर से सिद्ध होता है कि व्यवहार के आश्रय से किसी का शुद्धतारूपी कार्य होता ही नहीं। व्यवहार, साधन तथा निश्चय, साध्य – ऐसा कथन आये तो वहाँ ऐसा समझना कि इसका अर्थ ऐसा नहीं है किन्तु स्वद्रव्य के आश्रय से ही वीतरागता प्रगट होती है, वहाँ पर निमित्तरूप से किस प्रकार का राग था, उससे विरुद्ध प्रकार का राग निमित्तरूप से नहीं था, यह बताने के लिए उसको व्यवहारसाधन कहा जाता है तथा इस प्रकार के रागरूप निमित्त का अभाव करके जीव, वीतरागता प्रगट करता है – ऐसा बताने के लिए उस प्रकार के शुभराग को व्यवहाररत्नत्रय को परम्परा मोक्ष का कारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में राग, वह वीतरागता का सच्चा कारण नहीं हो सकता – ऐसा प्रथम से ही निर्णय करना चाहिए।

जैसे, छोटी पीपर में परिपूर्ण चरपराहट और हरा रंग प्रगट होने की योग्यता शक्तिरूप से विद्यमान है, उसे घिसने पर चरपराहट का प्रगट अनुभव होता है; उसी प्रकार आत्मा में अनादि-अनन्त अनन्त गुण हैं, उनके साथ ही अकारणकार्यत्वशक्ति भी द्रव्य में, गुण में, और पर्याय में व्याप्त है; उसकी स्वाधीनता की दृष्टि, स्वाधीनता का ज्ञान और आचरण न करके, पराश्रय की रुचि रखकर अनन्तबार द्रव्यलिङ्गी मुनि हुआ, उससे क्या हुआ?

'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।' अकेले शुभ में-पुण्य में अधिक समय तक कोई जीव रहता ही नहीं है; पुण्य के बाद पाप आता ही है।

शास्त्र पढ़े, हजारों लोगों को उपदेश दिया, किन्तु अन्तर में अपनी अविनाशी चैतन्य ऋद्धि और अनन्त स्वाधीन शक्ति की महिमा का स्वीकार नहीं किया; इसलिए चौरासी के अवतार विद्यमान हैं।

अहो! अन्य किसी से तेरा कोई भी कार्य नहीं होता और न तू किसी के लिए कारण है - यह संक्षिप्त महान मन्त्र है। सम्यग्दर्शनादि कार्य, तेरे स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट होते हैं। आत्मद्रव्य स्वयं ही कारणपरमात्मा है, उसके ऊपर दृष्टि करे तो शुद्ध सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट होती है। तीनों काल इसी प्रकार शुद्धिरूपी कार्य का उत्पन्न होना, वृद्धि होना और टिकना स्वद्रव्य के आश्रय से ही होता है; राग से या निमित्त से नहीं होता। इस बात का सर्व प्रथम निर्णय करना चाहिए। परीक्षा किए बिना, परपद में अपना भला-बुरा मानकर दुःखी होता है। दुःखी होने के उपाय को भ्रान्ति से सुख का उपाय मान लेता है... जो भूल को समझेगा, वह उसे दूर कर सकता है। भूल, अर्थात् अशुद्धतारूपी कार्य, आत्मद्रव्य के आश्रय से नहीं होता; इसलिए अशुद्धतारूपी कार्य को आत्मद्रव्य का कार्य कहते ही नहीं हैं।

यहाँ द्रव्यदृष्टि से आत्मद्रव्य का वर्णन चलता है। द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, अर्थात् पुण्य-पाप की रुचि को छोड़कर, अनन्त गुणों को धारण करनेवाला मैं आत्मद्रव्य हूँ, उसमें एकमेकपने की दृष्टि देने से ज्ञानदर्शनादि तथा अकार्यकारणत्वशक्ति अपने द्रव्य -गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है, उसमें अन्य कारण नहीं है। व्यवहारकारण और निश्चयकार्य - ऐसा नहीं है। निश्चयरत्नत्रय तो शुद्धभाव है; वह अन्य के द्वारा किया जाये - ऐसा भाव नहीं है। शुद्धपर्यायरूपी कार्य का मैं कर्ता तथा वह मेरा कार्य है, किन्तु शुभराग से वह कार्य होता है, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है तथा आत्मा, राग की उत्पत्ति में कारण हो - ऐसा कोई भी गुण आत्मा में नहीं है। यदि ऐसा गुण हो तो रागादि कभी भी दूर होंगे ही नहीं।

क्या पर को कारण मानना ही नहीं? यह सूक्ष्म बात है। व्यवहारकारण तो कथनमात्र कारण है; सच्चा कारण नहीं है। वास्तव में जो निमित्त से कार्य होना मानता है, वह निमित्त

को निमित्तरूप से न मानकर, उसी को निश्चय, उपादान मानता है, जो दो द्रव्यों को एक माननेरूप मिथ्यात्व है।

जीव को अपनी पर्याय में जब तक पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक दया, दान, व्रतादि का शुभराग भी आता है किन्तु किसी भी प्रकार का राग, आत्मा में शुद्धिरूपी कार्य का कारण हो सके, ऐसा गुण (ऐसा शक्ति) राग में नहीं है और शुभराग से, अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा में निश्चयरत्नत्रयरूपी कार्य हो, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है। पुण्य से, भक्ति आदि के शुभराग से, व्यवहार से, भगवान की मूर्ति से अथवा साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान के दर्शन से - वाणी से, आत्मा को शान्ति या भेदज्ञान की प्राप्ति हो जाये - ऐसा कोई गुण किसी भी आत्मा में नहीं है। अहो! ऐसी स्पष्ट बात सुनकर राग की रुचिवाले पुकार करेंगे, लेकिन अरे प्रभु!...सुन, तुझमें पूर्ण सामर्थ्यसहित अकार्यकारणत्व नाम का गुण है, वह यह प्रसिद्ध करता है कि अन्य से तेरा कोई कार्य किञ्चित् भी नहीं हो सकता। पर से मेरा कार्य और मुझसे पर का कार्य होता ही नहीं, किन्तु स्व से ही स्व का कार्य होता है - यह त्रिकाल अबाधित नियम है। संयोग में एकताबुद्धि से देखनेवाला दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य, स्वशक्ति से ही ध्रुव रहकर उसकी पर्याय के कारण-कार्यभाव द्वारा, नवीन-नवीन पर्यायरूप कार्य को करता है। यदि तुझमें पर के कार्य का कारण बनने की शक्ति हो तो सदा उसके कार्य में तुझे वहाँ उपस्थित रहना पड़ेगा और पर से तथा राग से तेरा कार्य होता है - यह बात सत्य हो तो पर का संयोग और राग तेरे किसी भी कार्य से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते।

यदि व्यवहार से निश्चयधर्म प्रगट होता हो तो सदा व्यवहार का लक्ष्य रखकर संसार में रुकना पड़ेगा और स्वलक्ष्य-स्वसन्मुख होने का अवसर ही नहीं रहेगा। इसलिए एक ही सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है कि भेदज्ञानपूर्वक मेरे अखड ज्ञानानन्दस्वरूपी स्वद्रव्य में एकाग्र होने से, स्व का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शनादि शुद्धिरूपी कार्य प्रगट होता है।

पराश्रय करते-करते स्वाश्रयरूप वीतरागता की उत्पत्ति होती हो तो वह तो अनन्त काल से करता आया है तो फिर स्वसन्मुख होने का क्या प्रयोजन? परलक्ष्य से, परद्रव्य के अवलम्बन से तो सङ्कल्प-विकल्प की उत्पत्ति होती है, वह तो राग है। राग के लक्ष्य

से अन्तर में एकाग्रदृष्टि होती ही नहीं। जब तक व्यवहार से, निमित्त के आश्रय से कार्य होना मानता है, तब तक त्रिकाली स्वभाव में राग-व्यवहार नहीं है तथा स्वाश्रय से ही लाभ होता है - ऐसी यथार्थ दृष्टि नहीं होती।

अकार्यकारणत्वगुण यह प्रसिद्ध करता है कि राग से तथा निमित्त से तेरा कार्य नहीं होता; यदि होता हो तो राग और निमित्तों का आश्रय करनेरूप कार्य को जीव छोड़े ही नहीं, किन्तु अनन्त ज्ञानी महापुरुष शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप एक शुद्धात्मा में ही लीन होकर स्वाश्रय से मुक्ति के सुख को प्राप्त हुए हैं।

जो ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य के कार्य में कारण हूँ, वह अपने अभिप्राय में तीनों काल के अनन्त परद्रव्यों के कार्यों में मैं कारण हूँ - ऐसा मानता है; इसलिए उसको पर का संग कभी छूटेगा ही नहीं।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त गुणों से ध्रुव रहकर प्रत्येक समय में नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न करती है - उत्पाद-व्यय और ध्रुवरूप से स्वयं ही वर्तती है। यदि पर के कारण उत्पाद-व्यय होते हों तो पर के सम्बन्ध से छूट सकेगा नहीं तथा स्वभाव में एकाग्रता भी नहीं कर सकता। राग, मेरा कार्य है - ऐसा जो मानता है, वह राग की रुचि में पड़ा है, राग मेरा कारण और शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान मेरा कार्य अथवा राग-द्वेष-मोहभाव का मैं कारण - ऐसी मान्यतावाला संसार में परिभ्रमण करता ही रहेगा।

आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अनन्त अविकारी गुणों का पिण्ड है, उसमें एक अंश भी आस्रव-मलिनता का प्रवेश नहीं है, उसका ग्रहण-त्याग नहीं है - ऐसा निर्णय करे, तभी भावभासनसहित शुद्धात्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन होगा।

आत्मा, वीतरागता में कारण है और राग में कारण नहीं है - इसका नाम अनेकान्त है। अपने दोष से क्षणिकपर्याय में राग होता है किन्तु ज्ञानी उसे आत्मा का कार्य मानते ही नहीं, क्योंकि आत्मा विकारी और विकार जितना नहीं है। आस्रव और उसके कारण-कार्य को जीवतत्त्व नहीं माना गया। आत्मद्रव्य, राग में कारण हो, या राग का (व्यवहाररत्नत्रय का) कारण हो तो राग करने का उसका स्वभाव सिद्ध हुआ, जो कभी भी नहीं छूट सकता। वस्तु एक समय में परिपूर्ण है। अबन्ध परिणामी आत्मा, राग की और बन्ध को कभी

स्पर्शता ही नहीं है; यदि राग को और बन्ध को स्पर्श करे तो आत्मा और आस्रव दो तत्त्व भिन्न सिद्ध नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि, मात्र स्वभाव के ऊपर होने से अपने को नये कर्म के बन्धनरूपी कार्य का मैं कारण हूँ, पर की क्रिया का मैं निमित्तकर्ता हूँ – ऐसा नहीं मानता। जीव, पर के कार्य का निमित्तकर्ता हो तो परद्रव्यों के कार्यों के समय उसकी उपस्थित रहना ही पड़ेगा तथा वह वहाँ से नहीं छूट सकेगा। आत्मद्रव्य, राग का कारण हो तो वह राग से नहीं छूट सकेगा, ऐसा जाने तो ही ४७ शक्तियाँ तथा ऐसी अनन्त शक्तियों को धारण करनेवाले आत्मा में दृष्टि करके अपूर्व अनुभव कर सकेगा।

अहो! अपूर्व कार्य क्या है, सत्य क्या है, द्रव्य, गुण, पर्याय तथा उनकी स्वतन्त्रता किस प्रकार से है, यह कभी सुना ही नहीं। सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार मिथ्यात्वादि आस्रवतत्त्व क्या है तथा उससे रहित आत्मतत्त्व क्या है, ज्ञातापना क्या है? – इन बातों को अज्ञानी जीवों ने अनन्त काल में कभी लक्ष्य में लिया ही नहीं। कहा है कि –

दौड़त दौड़त दौड़त दोड़ियो, जेती मननी दौड़ जिनेश्वर, प्रेम प्रतीत विचारों ढूँकड़ी।
गुरुगम लेजो जोड़ जिनेश्वर, धर्मजिनेश्वर गाऊं रंग शुं।

जब तक अपनी दृष्टि, संयोग और पुण्य-पाप में पड़ी है, तब तक अपनी कल्पना द्वारा पर से लाभ और हानि मानता है परन्तु सत्य-असत्य का निर्णय करके अपूर्व वस्तु अपने में ही है, स्वाश्रय करना ही मुक्ति का उपाय है – ऐसी दृढ़ता न करे तो उसने गुरु को पहिचाना ही नहीं है तथा उसने वीतरागदेव की आज्ञा नहीं मानी है। देव, शास्त्र, गुरु ये परपदार्थ हैं, वे तेरे कार्य के कारण नहीं हो सकते तथा तुझमें ऐसी शक्ति नहीं है कि परद्रव्य के कारण तेरा कार्य हो जाए।

चैतन्यद्रव्य में अनादि-अनन्त अनन्त गुण विद्यमान हैं, जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और तीनों काल की सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उसमें स्वयं कारणकार्यरूप से होना, पर से न होना, पर के आधीन कभी न होना, ऐसा गुण है और पर के लिए निमित्तकारण हो सके, पर से-राग से उसका कार्य हो सके – ऐसा गुण आत्मा में नहीं है। इस बात को अनेकान्त प्रमाण से निश्चित करे, तभी पराश्रय से छूटकर, स्वाश्रयरूप धर्म, अर्थात् सुखी होने का उपाय कर सकता है।

श्री समयसारजी गाथा १०५ में यह बात आयी है कि आत्मा में कर्मबन्धन में निमित्त होने का स्वभाव ही नहीं है, यदि हो तो छूट नहीं सकता, राग की उत्पत्ति करने का जीव का स्वभाव हो तो वह भी छूट नहीं सकता। भूमिकानुसार योग्य शुभराग होता अवश्य है, लेकिन शुभराग है; इसलिए चौथे-पाँचवें-छठे-सातवें गुणस्थानों में वीतरागता है, ऐसा नहीं है। पर के कारण, राग के आश्रय से, व्यवहार के आलम्बन से वीतरागता का, अर्थात् शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का उत्पन्न होना, वृद्धि होना या टिकना नहीं है - ऐसा अकार्यकारणत्वशक्ति प्रसिद्ध करती है।

तेरा वीतराग-विज्ञानघन स्वभाव है। जैसे, लैंडी पीपर में पूर्ण शक्ति थी, वह प्रगट हुई है, उसी प्रकार तुझमें पूर्ण सामर्थ्य से भरपूर अनन्त गुण सदा भरे पड़े हैं। जो है, उसमें एकत्व की दृष्टि करके स्वसन्मुख हो तो सम्यक् भावश्रुतज्ञान में तेरा सच्चा स्वरूप लक्ष्य में आ जाएगा। ध्रुव ध्येय प्राप्त करने की दृष्टि होने पर, दृष्टि में से संसार बन्धन छूट जाता है। इस प्रकार स्वाश्रय से ही जन्म-मरण तथा औपाधिकभावों का नाश होकर, शक्ति में जो शुद्धता थी, वह प्राप्त होती है।

पर के कार्यों में निमित्तकर्ता की दृष्टिवाले को राग और विकार की रुचि रहती ही है; इसलिए उसे ज्ञातास्वभाव का अनादर और पर में कर्तृत्व का आदर है। इसलिए उसे ज्ञातास्वभाव का अनादर और पर में कर्तृत्व का आदर है। इसलिए उसके फलस्वरूप एकेन्द्रियनिगोद में उसे (निमित्तकर्ता को) जाना ही पड़ेगा, क्योंकि वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध ही मानता है; वह सर्वज्ञ को तथा उनकी वाणी के अर्थ को भी नहीं मानता। सत्य के विरोध का फल, एकेन्द्रिय पशुपद है किन्तु आत्मा के स्वभाव में ऐसा पद है ही नहीं तथा उसके कारणरूप गुण भी नहीं है। आत्मा में प्रमाण-प्रमेय शक्ति है परन्तु किसी के साथ कारण-कार्यरूप होने की शक्ति नहीं है - पर के कारण-कार्य के लिए प्रत्येक द्रव्य, गुण तथा उनकी पर्याय अयोग्य है; लायक नहीं है। श्री समयसारजी गाथा ३७२ तथा उसकी टीका में यह बात आचार्यदेव ने अत्यन्त स्पष्ट कही है।

सम्यग्दृष्टि जीव, ऐसा मानता है कि कर्मबन्ध में मेरा निमित्तपना नहीं है, वर्तमान में चारित्र का अल्पदोष है, किन्तु वह स्वाश्रय की दृष्टि का कार्य नहीं है। चैतन्यस्वरूप

जीवद्रव्य का कार्य रागादि आस्रव नहीं है, कारण कि - आस्रव का कार्य निश्चय से पर में जाता है।

अहो! तुझमें चैतन्यसामर्थ्य को सुशोभित करें - ऐसी अनन्त शक्तियाँ, प्रतापवन्त ऐसे स्वद्रव्य के आश्रय से भरी पड़ी हैं। ऐसे स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है। परमार्थ का पन्थ तीनों काल में एक ही प्रकार का होता है। यह तो अमृत परोसा जा रहा है। यह कठिन तथा उच्च भूमिका की बात नहीं है। समझने की योग्यतावाले चैतन्य को ही आचार्यदेव ने आत्मऋद्धि बतायी है। इसी का आदर, आश्रय, महिमा करे तो पराश्रय की पामरता छूट जायेगी।

अहो! चैतन्य...तेरी ऋद्धि तुझमें ही है। अनन्त, अपार ज्ञानानन्द का भण्डार तुझमें सदा विद्यमान है। 'ज्यां चेतन त्यां सकल गुण केवली बोले ऐम, प्रगट अनुभव स्वरूपनो निर्मल करो सप्रेम रे, चैतन्यप्रभु, प्रभुता तारि रे चैतन्यधाममां।'

प्रत्येक आत्मा, असंख्य प्रदेशी है। उसका सच्चा स्वरूप, शरीर से, राग से, पुण्य से-व्यवहाररत्नत्रय से भिन्न है। ज्ञानानन्दस्वभाव से तू अस्तिरूप है तथा तुझमें व्यवहार, निमित्त, पुण्य-पाप की नास्ति है, ऐसे स्वतन्त्र अस्ति-नास्ति स्वभाव के कारण तू सदा स्वतन्त्र है।

प्रत्येक आत्मा की अनन्त गुणसम्पन्न प्रभुता शुद्ध है, उसमें एकत्व की दृष्टि करके, उसमें ही शुद्ध प्रेम करो। व्यवहार, निमित्त उनके स्थान में होते हैं किन्तु उनकी रुचि छोड़े, तभी पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से पूर्ण स्वरूप की रुचि और सम्यग्दर्शन होगा। दूसरे किसी भी प्रकार से दुःख से मुक्त हुआ नहीं जा सकता। बाह्य में, पुण्य में, देह की क्रिया में, राग में अंशमात्र भी चैतन्य का अस्तित्व नहीं है। बाह्य में तो हो-हा, मान-बड़ाई तथा कामभोगबन्धन की बात ही सुनने में आयेगी।

अरे! भगवान आत्मा, तू पर के कारण-कार्यरूप से नहीं है। यह बहुत ही सुगम सिद्धान्त है। समयसारजी में ४७ शक्तियों का वर्णन करके, ४७ कर्म प्रकृतियों का नाश तथा सर्वज्ञपद को प्राप्त करने का उपाय बतला दिया है। भेदज्ञान द्वारा प्रथम से ही श्रद्धा में सर्व प्रकार के राग का त्याग और सर्वज्ञ वीतरागस्वभाव का आदर करने की यह बात है। राग

होने पर भी ज्ञानी उसे हेयरूप से जानता है। जो किसी भी प्रकार के राग को हितकर मानता है, परद्रव्य से लाभ-हानि का होना मानता है, मैं पर का कार्य कर सकता हूँ - ऐसा मानता है, उसे आत्मा की एक भी शक्ति की प्रतीति नहीं है।

अरे प्रभु, एक बार स्वतन्त्रता की श्रद्धा तो कर! मेरा आत्मा, राग का कारण नहीं तथा राग के कारण से, निमित्त से शुद्धतारूपी कार्य हो जाए - ऐसा कोई गुण मुझ में नहीं है। जो राग से, निमित्त से, लाभ मानता है उसे सम्यग्दर्शन नहीं है; सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, चारित्र, निश्चय या व्यवहार कुछ भी नहीं होता।

अनन्त काल के बाद बड़ी कठिनाई से इस अत्यन्त दुर्लभ अवसर में सत्यस्वरूप श्रवण करने को मिलता है तथापि उसकी उपेक्षा करता है कि यह तो निश्चयनय का कथन है। धर्म के नाम से बाह्य में खूब धन खर्च करे किन्तु व्याख्यान सुनते समय निद्रा आवे तो वह सत्य-असत्य का निश्चय कैसे करेगा और अन्तर में स्वसन्मुख होकर यथार्थ परिणमन भी कैसे करेगा?

आत्मा आदि छहों द्रव्य तथा प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय, पर के द्वारा किये हुए नहीं हैं परन्तु अकृत्रिम हैं। है, उसे कौन बना सकता है? पर्याय तो नयी-नयी होती है, उस कार्य का नियामक कोई जड़कर्म या भगवान है? नहीं, क्योंकि वस्तु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है, तथा उसकी शक्तियाँ भी अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध हैं। प्रत्येक समय में अनन्त गुणों की पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप से बदलती ही रहती हैं; इसलिए कहा है कि वस्तु की शक्ति किसी अन्य कारणों की अपेक्षा रखती ही नहीं; अन्य को कारण कहना, वह तो निमित्त बताने के लिए व्यवहारकथन है।

वास्तव में द्रव्य-गुण-पर्याय - यह तीनों प्रत्येक द्रव्य में अपने सत्पने से ही हैं; पर से, राग से नहीं हैं। इसलिए जीव में भी चाहे उसकी पर्याय अशुद्ध हो या शुद्ध हो, उसका कर्ता, उसके साथ तन्मय रहनेवाला द्रव्य ही है। उसका कर्ता कोई ईश्वर अथवा जड़कर्म नहीं है। अन्यमती, ईश्वर, ब्रह्मा, विधाता को कर्ता मानते हैं; उसी प्रकार जैन नाम धारण करक, अपने को पर के कार्य का निमित्तकर्ता माने, जड़कर्म जीव को राग-द्वेष, सुख-दुःख कराता है - ऐसा माने, वह भी प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता का नाश करनेवाला

मिथ्यादृष्टि है। अशुद्धदृष्टि से वह, मात्र अपने में मिथ्या मान्यता का कर्ता हो सकता है किन्तु पर का कर्ता तो तीन काल और तीन लोक में भी नहीं हो सकता।

यदि निमित्त से कार्य होता हो तो साक्षात् परमात्मा तीर्थङ्करदेव के पास समवसरण में (धर्मसभा में) गया, वहाँ सच्चा ज्ञान क्यों नहीं हुआ? क्या भगवान के पास किसी का कल्याण रखा है कि वे दे दें? सर्वज्ञदेव आत्मा को हाथ में पकड़कर समझाएँ – ऐसा नहीं है। यदि सर्वज्ञ भगवान से कल्याण होता हो तो एक ज्ञानी, सभी का कल्याण कर देगा, किन्तु ऐसा कभी बनता ही नहीं। भगवान तो प्रत्यक्ष अपने ज्ञान द्वारा देखकर कहते हैं कि तू मेरे जैसी परिपूर्ण अमर्यादित शक्ति का स्वामी है। तुझ में अकार्यकारणत्वशक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक समय में तेरी स्वतन्त्रता दिखलाती है। देव, शास्त्र, गुरु और शरीर सभी परद्रव्य हैं। क्षायिकसम्यक्त्व, श्रद्धागुण की पर्याय तेरे कारण से उत्पन्न होती है; परद्रव्य के कारण से नहीं। रागरूपी कार्य में सम्यग्दर्शन कारण नहीं है। स्वद्रव्य के आलम्बन के अनुसार जितनी वीतरागपरिणति प्रगट हुई, वह भी राग की क्रिया का कारण नहीं है, अन्य तो निमित्तमात्र ही है। उपादान और निमित्त के झगड़े अज्ञानता से ही उत्पन्न होते हैं। वस्तु की कोई भी शक्ति, अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखती तथा अन्य का कार्य करे, ऐसी शक्ति (योग्यता) वस्तु में नहीं है। ऐसा निर्णय करे तभी स्वद्रव्य को पहिचान सकेगा और स्वाश्रित दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होगा। शुद्धपर्यायरूपी कार्य, स्वद्रव्य से ही होता है; शरीर से, मन, विकल्प या वाणी से नहीं होता – ऐसी स्वतन्त्र वस्तुस्थिति लक्ष्य में न आये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

स्वतन्त्रता से सुशोभित अनन्त शक्तियों का धारक मैं आत्मा हूँ, उसमें स्वसंवेदनज्ञान प्रगट न करे तो शुभराग तथा निमित्त का पक्ष नहीं छूटेगा। धर्म की प्राप्ति के लिए अपने माने हुए विधि-विधान अनन्त बार किये, तथापि आत्महितरूप कार्य कभी नहीं हुआ। सत्य बात श्रवण करने को मिले तो उससे क्या हुआ? मजदूरों के यहाँ भी भाट-बारोट आकर उनकी सैकड़ों-हजारों वर्ष पुरानी वंशावली को पढ़कर सुनाते हैं किन्तु दिन भर के श्रम से थके हुए वे मजदूर लोग हुक्का-बीड़ी तथा बातों में तल्लीन रहते हैं, तब बारोट उनको कहता है कि तुम्हारे पूर्वज महान प्रतापी हो गए, उनके गुणगान सुनाता हूँ, जरा सुनो तो सही। तब वे कहते हैं कि 'लवती गला' अर्थात्, तुम अपनी सुनाते रहो, हम अपना

कार्य कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार आचार्यदेव संसारी दु:खी प्राणी को सत्य बात श्रवण कराते हैं कि तेरे कुल में ही सर्वज्ञ पिता हो गये हैं, उनकी बात कहता हूँ। शुद्धपर्याय के पिता, चैतन्यद्रव्य हैं, उनमें कितनी शक्तियाँ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उसे आचार्यदेव तुझे समझाते हैं। अरे! तेरी अपार शक्तियों की महिमा बतलायी जा रही है।

ज्ञानानन्दमय पूर्ण-अखण्ड द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देने से शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है - यह अपूर्व बात कही जा रही है। सांसारिक रुचिवाले प्राणी कहते हैं कि - आपके पास बहुत ऊँची दशा की बात है, वह बात इस समय नहीं। अभी हममें इतनी योग्यता कहाँ है? ऐसा माननेवाले का अमूल्य समय, तत्त्व का अनादर करने में चला जाता है।

अहो! आत्मा की पर्याय में राग, कारण नहीं है तथा राग की उत्पत्ति में आत्मद्रव्य, कारण नहीं है। पर की पर्याय का भी मैं कारण नहीं हूँ - ऐसा प्रथम निर्णय करे, वह जीव स्वसन्मुख हो सकता है। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवसहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और उसमें विशेष आनन्दमय लीनता का होना सो चारित्र है।

बाह्य में, शरीर की या शुभराग की क्रिया में, विकल्प में आत्मा का चारित्र नहीं है - ऐसा भगवान ने कहा है।

[इस प्रकार १४वीं अकार्यकारणत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१५]

परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति

परात्मनिमित्तक ज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः।

पर और स्व जिनके निमित्त हैं, ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति। (पर जिनके कारण हैं, ऐसे ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के और स्व जिनका कारण है, ऐसे ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति।) ॥

स्व-पर को परिपूर्ण रीति से जाने, ऐसा आत्मा का स्वभाव सामर्थ्य है। आत्मा के स्वभाव सामर्थ्य को जो जाने, उस जीव को 'मैं मेरा कार्य नहीं साध सकूँगा' ऐसा अनुत्साह का भाव नहीं रहेगा; उसी प्रकार 'मैं पर का करूँ' ऐसा अभिमान भी न रहे, अर्थात् पर से उदासीन होकर स्वभाव का उत्साह बढ़े। स्वभावशक्ति के विश्वास से चाहे जैसे प्रसङ्गों में भी, वह उत्साहहीन नहीं होगा... किन्तु उत्साहपूर्वक वह स्वकार्य को साधेगा।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा, पर से निराला है, उसके स्वभाव में अपने अनन्त गुण एक साथ विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन चलता है। अभी तक चौदह शक्तियों का वर्णन हुआ है। चौदहवीं शक्ति में ऐसा कहा है कि आत्मा को किसी भी परद्रव्य के साथ कार्यकारणपना नहीं है। अब आत्मा में स्व-पर के ज्ञाता होने का और स्व-पर के ज्ञेय होने का स्वभाव है - वह बात करते हैं। पर और स्वयं जिनका निमित्त है, ऐसे ज्ञेयाकार तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकशक्ति आत्मा में है; इसलिए आत्मा स्व-पर का ज्ञाता हो और स्व-पर का ज्ञेय हो, ऐसा उसका स्वभाव है। पर का करने की बात उड़ाकर फिर यह बात की है। आत्मा में पर का करने की शक्ति नहीं है परन्तु पर को जानने की शक्ति है, और वह भी अकेले पर को जानने की नहीं, किन्तु स्व-पर दोनों को जानने की शक्ति है तथा आत्मा अन्य का कार्य नहीं होता परन्तु अन्य के ज्ञान का ज्ञेय हो, ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा, मात्र पर को ज्ञात हो और स्वयं अपने को

ज्ञात न हो – ऐसा नहीं है परन्तु स्व और पर दोनों का ज्ञेय हो, ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा स्व-पर दोनों को जानता तो है ही परन्तु पर का कार्य नहीं करता; कार्य तो मात्र स्व का ही करता है। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप होकर स्व-पर को जानता है, आत्मा के ज्ञानाकार में परज्ञेय निमित्त हैं और पर के ज्ञान में यह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव है। अपने ज्ञान को और परज्ञेयों को – इस प्रकार स्व-पर दोनों को ग्रहा करे, अर्थात् जाने, ऐसी आत्मा की परिणम्यशक्ति है। तथा स्व-पर दोनों के ज्ञान में ग्रहण हो, अर्थात् ज्ञात हो, ऐसी आत्मा की परिणामकशक्ति है; इस प्रकार आत्मा, परिणम्यपरिणामकशक्तिवाला है। इस शक्ति में ज्ञान और प्रमेयत्व, दोनों भावों का समावेश हो जाता है।

आत्मा स्वयं अपने को और पर को जाने, ऐसी उसकी शक्ति है, और अपने तथा पर के ज्ञान का ज्ञेय हो, ऐसी आत्मा की शक्ति है। इसके अतिरिक्त पर के साथ कारण-कार्यादि कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के ज्ञानपरिणाम में भी ज्ञेय निमित्त हैं, और पर जीवों के ज्ञान में स्वयं निमित्त है; परज्ञेयों को जानने के स्वभावरूप परिणमित होने की शक्ति तो आत्मा की अपनी है; कहीं पर ज्ञेयों के कारण, ज्ञान नहीं होता और आत्मा स्वयं अपने ज्ञान में ज्ञात हो, यह बात भी इस शक्ति में समा जाती है।

वाणी, ज्ञेय है। उस ज्ञेय को जानने की आत्मा की शक्ति है परन्तु उस ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है, और अनन्त सिद्धभगवन्त, अरहन्तभगवन्तादि के ज्ञान में प्रमेय होने का आत्मा का स्वभाव है और स्वयं अपने ज्ञान में अनन्त सिद्धभगवन्त, अरहन्त भगवन्तादि को जाने, ऐसी आत्मा की शक्ति है। भगवान! यह तेरे सामर्थ्य की बात चल रही है। तुझे अपनी सामर्थ्य की महिमा भासित नहीं हुई है; इसलिए पर को महिमा देकर भटक रहा है; यदि स्वभाव-सामर्थ्य की महिमा को समझ ले तो पर की महिमा दूर हो जाए और परिभ्रमण का अन्त आए। तुझमें अपना स्वयं का और पर का ज्ञान करने की शक्ति है और अपना तथा पर का ज्ञेय होने की शक्ति है। तेरी एक-एक पर्याय में स्व-पर का ज्ञान करने की और स्व-पर का ज्ञेय होने की शक्ति है। यह समझे तो 'स्वयं अपने को ज्ञात नहीं हो सकता' – ऐसी शंका न रहे। आत्मा मात्र पर को ही जानता है – ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं है। आत्मा में ऐसी दुगुनी शक्ति है कि वह स्व और पर दोनों

को एक समय में जान सकता है। शरीर चले अथवा रोग हो, उसे जानने की आत्मा की शक्ति है परन्तु शरीर को लाने की अथवा रोग को दूर करने की आत्मा की शक्ति नहीं है।

जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि उसे जानने की सामर्थ्य आत्मा में न हो। परिपूर्ण जाने, ऐसा आत्मा का स्वरूप है; अपूर्ण जाने या राग-द्वेष हो, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा को पर्याय में धर्म होता है और स्वयं को उसकी खबर नहीं हो सकती, ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा की इस शक्ति को नहीं माना है। आत्मा में जो धर्मपर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय स्वयं अपने को जानती है, त्रिकाली द्रव्य-गुण को जानती है और पर को जानती है - ऐसी उसकी सामर्थ्य है। ज्ञान कहीं अन्धा नहीं है कि वह स्वयं अपने को न जाने। धर्मी जानता है कि 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी।' आत्मा के ज्ञातास्वभाव में स्वयं अपने को जानते हुए, लोकालोक भी ज्ञात हो - ऐसा स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है।

स्व-पर को जाने और स्व-पर का ज्ञेय हो, ऐसी परिणम्यपरिणामकशक्ति, मात्र जीव में ही है; इसलिए वह विशेष है। प्रमेयत्वगुण तो समस्त द्रव्यों में है परन्तु स्व-पर को जानने की सामर्थ्य, जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं है। जीव में तो ज्ञातापना और प्रमेयत्वपना (ज्ञेयपना) दोनों हैं; इसलिए जीव की सामर्थ्य दुगुनी है। जड़द्रव्य में अपने को अथवा पर को जानने की शक्ति नहीं है; मात्र जीव का प्रमेय होने की उसकी शक्ति है। जीव को कुछ करे, ऐसी कोई शक्ति जड़ में नहीं है। जड़ में ज्ञान नहीं है; इसलिए वे जड़पदार्थ, आत्मा को विषय (प्रमेय) बनाए, ऐसी उनमें शक्ति नहीं है। आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि स्वयं स्व-पर ज्ञेयों को ज्ञान का विषय बनाए, और स्व-पर के ज्ञान का विषय बने। जो ऐसे स्वभाव को जान ले, उसे पर की ओर से उदासीनता हुए बिना नहीं रहती, और स्वभाव-धर्म में शंका नहीं रहती; स्वयं अपने धर्म को वह निःशङ्करूप से जान लेता है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जानता हो, उस जीव को 'मैं अपना कार्य नहीं कर सकता' ऐसा अनुत्साहभाव नहीं रहता; इसलिए पर से उदासीनता होकर स्वभाव का उत्साह बढ़ता है। मैं अपने आत्मा को नहीं पहिचान सकता - ऐसा वह अनुत्साहित नहीं होता; इसलिए जो ऐसी प्रतीति करे, उसके आत्मा की कोई शक्ति, हीन नहीं रहती परन्तु अल्प काल में पूर्णता हो जाती है।

मैं स्व-पर का प्रकाशक हूँ और स्व-पर के ज्ञान का ज्ञेय होने का मेरा स्वभाव है, ऐसा मानकर स्वयं अपने आत्मा को ही अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाकर एकाग्र होने से, उस पर्याय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप, इन चारों आराधनाओं का समावेश हो जाता है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा को ज्ञेय बनाना, वह मोक्षमार्ग है।

अहो! आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते वीतरागी सन्तों ने आत्मा की शक्तियों का अद्‌भुत वर्णन किया है। आत्मा में तो एक साथ अनन्त शक्तियाँ हैं परन्तु भाषा में तो कुछ ही आती हैं; इसलिए यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन करके फिर 'इत्यादि...' कहकर आचार्यदेव समेट लेंगे। सन्त कहते हैं कि अहो! कितने नाम लिए जाएँ? शब्द अल्प हैं और आत्मा की शक्तियाँ अनन्त हैं, तब फिर भाषा से कैसे पूरा पड़ सकता है? अनन्त शक्तियों का पृथक्-पृथक् वर्णन हो सके, ऐसे शब्द ही कहाँ हैं और ऐसा समय भी कहाँ है? हमें तो अपने आत्मा का कार्य करना चाहिए! हमें अपना केवलज्ञान लेने का कार्य करना है। हम केवलज्ञान प्रगट करेंगे, उसमें अनन्त शक्तियाँ प्रत्यक्ष दिखायी देंगी; वाणी में सब कुछ नहीं आता, तथापि यहाँ जो शक्तियों का वर्णन किया है, उसमें आचार्यदेव ने बहुत-बहुत रहस्य भर दिया है।

आत्मा में अनादि-अनन्त एक ऐसी शक्ति है कि स्वयं ज्ञाता भी हो और ज्ञेय भी हो, स्वयं अपना भी ज्ञाता हो और पर का भी ज्ञाता हो; और अपना ज्ञेय हो और पर के ज्ञान का भी ज्ञेय हो। आत्मा की ऐसी शक्ति को परिणम्यपरिणामकशक्ति कहते हैं। आत्मा, पर को नहीं जानता अथवा स्वयं अपने को नहीं जानता - ऐसा जो मानता है, उसने आत्मा की इस शक्ति को नहीं जाना है; इसलिए वह आत्मा को ही नहीं समझा है। आत्मा में स्व-पर का ज्ञेय होने का स्वभाव है, ऐसा कहा परन्तु उससे ऐसा नहीं समझना कि इन्द्रियज्ञान से भी आत्मा ज्ञात होता है। आत्मा, इन्द्रियज्ञान से ज्ञात नहीं होता, ऐसा उसका सूक्ष्म स्वभाव है, और अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात हुए बिना न रहे, ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा का ज्ञान, स्व-पर दोनों को जाननेवाला है; इसलिए सबको जानने का ज्ञान का स्वभाव है परन्तु कहीं राग-द्वेष करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है। चारित्र के अपराध से राग-द्वेष हों, उन्हें भी जानने की ज्ञान की शक्ति है और वे राग-द्वेष, ज्ञान के ज्ञेय होते

हैं। देखो, राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि स्व-पर को जान सके परन्तु ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि स्व-पर को जान ले और शरीरादि पर वस्तुओं में ऐसी योग्यता है कि ज्ञान के ज्ञेय हों, परन्तु ज्ञान को कुछ लाभ-हानि करे - ऐसी सामर्थ्य उनमें नहीं है; और ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि समस्त ज्ञेयों को जाने, परन्तु किसी ज्ञेय में फेरफार करे, ऐसी उसकी शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सामनेवाले पदार्थ ज्ञात हों, ऐसी उसकी योग्यता है और सामनेवाले पदार्थों में भी उस प्रकार की योग्यता है किन्तु सामनेवाले पदार्थों में दर्पण कुछ भी नहीं करता; उसी प्रकार आत्मा के स्वच्छ ज्ञानदर्पण में समस्त पदार्थ अवभासित हो, अर्थात् ज्ञात हो, ऐसी उसकी शक्ति और सामनेवाले पदार्थों में भी ऐसा प्रमेयस्वभाव है परन्तु इस समय सामनेवाले पदार्थों की शक्ति का वर्णन नहीं करना है, इस समय तो आत्मा की शक्तियों का वर्णन करना है। स्व-पर को जानने की और स्व-पर का प्रमेय होने की आत्मा की शक्ति है। आत्मा की यह शक्ति उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; इसलिए द्रव्य भी ज्ञात होता है, गुण भी ज्ञात होते हैं और पर्यायें भी ज्ञात होती है; ज्ञान उन सबको जानता है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान है परन्तु राग-द्वेषादि भाव कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में विद्यमान नहीं हैं; वे तो मात्र चारित्रगुण की एक समय की पर्याय में व्यापक हैं। उसी समय साथ में दूसरे अनन्त गुणों की पर्यायें वर्तती हैं, उनमें वह राग व्याप्त नहीं होता। ऐसा होने पर भी अनन्त गुणों के शुद्ध पिण्ड पर दृष्टि न रखकर, क्षणिक राग जितना ही मैं हूँ - राग हितकर है, ऐसा अज्ञानी अनुभवन करता है, वह मिथ्यात्व है। क्षणिक राग का आदर करके, अनन्त गुणों का अनादर करना, वह अनन्त संसार का, अर्थात् अनन्त दुःख का कारण है।

राग, सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं है परन्तु ज्ञान, सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है और प्रमेयत्व भी सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त है। आत्मा के ज्ञान में सब कुछ जानने की शक्ति है; कोई भी द्रव्य-गुण-पर्याय, आत्मा के ज्ञान में ज्ञात हुए बिना नहीं रहते। यदि पूरा न जाने तो उस ज्ञान का परिणमन अपूर्ण है; पूर्ण ज्ञान में कुछ भी ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। यहाँ दृष्टि के विषय में तो पूर्ण स्वभावसामर्थ्य की ही बात है। अन्तर्मुख होकर उसकी प्रतीति

करने से शरीर-मन-वाणी अथवा राग-द्वेष, यह सब ज्ञान से पृथक् रहें और ज्ञात करनेयोग्य ही रहें। आत्मा, स्व-पर का ज्ञाता हुआ और स्वयं अपना ज्ञेय भी हुआ - ऐसा ज्ञान करना, वह धर्म है। ऐसे ज्ञान के बिना, अन्य किसी प्रकार से धर्म नहीं हो सकता।

चौदहवीं अकार्यकारणशक्ति में ऐसा कहा है कि आत्मा, पर का कारण नहीं है। शरीर का हलन-चलन ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसी आत्मा की शक्ति है परन्तु शरीर के हलन -चलन में कारण हो सके, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है और परवस्तु ऐसी पराधीन नहीं है कि वह आत्मा के कारण हलन-चलन करे और उसमें ऐसी शक्ति भी नहीं है कि वह आत्मा को ज्ञान करने में सहायक हो; उसमें मात्र ज्ञेय होने का स्वभाव है और आत्मा का ज्ञातास्वभाव है। बस! पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व-पर को जाननेवाला और स्व-पर के ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य, ऐसा मेरा स्वभाव है परन्तु उससे आगे बढ़कर रागादि को करे, ऐसी कोई त्रैकालिक शक्ति नहीं है। पर्याय में जो क्षणिक रागादि होते हैं, वे कहीं पर के कारण नहीं होते परन्तु वह अपनी ही पर्याय का अपराध है परन्तु सदैव राग को करता ही रहे - ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है और आत्मा, शरीरादि पर के कार्य करे अथवा परवस्तु आत्मा का कार्य करे, ऐसा कदापि नहीं होता। निमित्त की मुख्यता से कभी कार्य नहीं होता, मात्र कथन होता है; जैसे, घी का घड़ा कहा जाता - होता नहीं।

आत्मा, स्व-पर का ज्ञेय होता है—ऐसा कहा, वहाँ पर का, अर्थात् दूसरे जीवों के ज्ञान का ज्ञेय होता है परन्तु कहीं जड़ का ज्ञेय नहीं होता, क्योंकि जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह किसी को ज्ञेय बना सके। जड़ को किञ्चित् खबर नहीं है परन्तु आत्मा को अपनी और जड़ की - दोनों की खबर है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को जानने से स्वयं को अपनी खबर पड़ती है। 'सम्यग्दर्शन तो अरूपी सूक्ष्म वस्तु है; इसलिए आत्मा को उसकी खबर नहीं पड़ती' - ऐसा अज्ञानी मानते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। अपने में सम्यग्दर्शनपर्याय प्रगट हुई, उसे भी ज्ञेय करने की आत्मा की शक्ति है। यदि स्वयं को अपनी खबर नहीं पड़े तो निःशङ्कता कैसे हो और स्वभाव की प्रतीति में निःशङ्कता हुए बिना, साधक जीव वस्तु की साधना कैसे करे? ज्ञान जागृत हुआ और प्रतीति हुई, वहाँ स्वभाव का सन्देह नहीं रहता।

राग-द्वेष में ज्ञान का ज्ञेय होने की योग्यता है परन्तु उस राग-द्वेष में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह जाने अथवा जानने की सहायता दे। व्यवहाररत्नत्रय का जो शुभराग है, वह ज्ञान का ज्ञेय है परन्तु वह ज्ञान में सहायक नहीं है और ज्ञानस्वभाव में ऐसी शक्ति है कि वह स्व -पर सबको जाने, राग को भी जाने, परन्तु राग को उत्पन्न करे अथवा उससे लाभ ले, ऐसा उसका (ज्ञानस्वभाव का) स्वरूप नहीं है।

इस जगत् के अनन्तानन्त पदार्थों में कोई जीव है, कोई जड़ है; जीव है, वह जीव के कारण है और जड़ है, वह जड़ के कारण है; किसी के कारण कोई नहीं है। कोई कहे कि 'यह जीव क्यों ?' - तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है; 'यह जड़ क्यों ?' तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है। जिस प्रकार चेतन और जड़ पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से ही चेतन या जड़ है, उनका अन्य कोई कारण नहीं है; उसी प्रकार उन चेतन और जड़पदार्थों की प्रत्येक समय की अवस्था भी अपने-अपने कारण से है। कोई पूछे कि 'ऐसी पर्याय क्यों हुई ?' - तो कहते हैं कि ऐसा ही उनका पर्यायस्वभाव है; अन्य कोई उनका कारण नहीं है। जो द्रव्य, जो गुण, जो पर्याय जैसी है, वैसा ही उसे जाने, ऐसा आत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, ऐसे स्वभाव के निर्णय से सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती है। ऐसे स्वभाव का निर्णय किये बिना, कभी भी सम्यग्ज्ञान या वीतरागता नहीं हो सकती।

आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि शरीरादि की जो क्रिया हो, उसके ज्ञानरूप से परिणमित हो परन्तु शरीरादि की क्रिया को करनेरूप परिणमित हो, ऐसी आत्मा की शक्ति नहीं है। मिथ्यादृष्टि, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नहीं जानता और पर कर्तृत्व मानता है परन्तु पर का कर्ता तो वह भी नहीं हो सकता; वह अपने राग-द्वेष-मोह का कर्ता होता है।

कोई कहे कि इस समय तो जीव को देह का संयोग है न ? परन्तु संयोग का अर्थ है पृथकता। जीव और देह इस समय भी पृथक् हैं; इसलिए उनका संयोग कहा गया। यदि वे पृथक न होते, किन्तु एकमेक होते तो उसे संयोग नहीं कहा जाता, परन्तु स्वभाव कहा जाता। संयोग तो दो पृथक् पदार्थों का होता है; इसलिए दो पदार्थों का संयोग कहते ही उन दोनों का भिन्नत्व सिद्ध होता है। इस समय भी जीव और शरीर, दोनों 'दो' पदार्थ हैं या 'एक' है ? यदि दोनों एक हों तो संयोग नहीं कहा जा सकता। इस समय भी वे दोनों

पृथक्-पृथक् दो पदार्थ हैं। इस प्रकार भिन्नत्व के ज्ञानपूर्वक संयोग को जानना, वह व्यवहार है परन्तु भिन्नत्व के ज्ञान बिना, मात्र संयोग को जानने जाएगा तो उसमें जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि से मिथ्याज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा।

देखो, दूध और पानी का संयोग है परन्तु उन दोनों का स्वभाव भिन्न है; इसलिए अग्नि पर चढ़ाने से पानी भाप बनकर उड़ जाता है और दूध गाढ़ा होकर उसका मावा बन जाता है। दोनों एक ही स्थान पर विद्यमान होने पर भी और दोनों को अग्नि का एक-सा निमित्त होने पर भी, दोनों के स्वभाव पृथक् है; इसलिए ऐसा होता है। उसी प्रकार आत्मा और शरीर एक ही क्षेत्र में होने पर भी, उनका स्वभाव भिन्न है; आत्मा में तो सिद्धदशा का अभेदभाव प्रगट होता है और शरीर के परमाणु छिन्न-भिन्न होकर उड़ जाते हैं। संयोग के समय भी स्वभाव की भिन्नता है। मिथ्यादृष्टि जीव, त्रिकाली स्वभाव को न देखकर, मात्र संयोग को देखते हैं; इसलिए उनकी दृष्टि पर में से नहीं हटती। छहों द्रव्यों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है और प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी काललब्धि है। अकेले जीव में ही काललब्धि है, ऐसा नहीं है परन्तु प्रत्येक परमाणु में भी उसकी अपनी समय-समय की काललब्धि है। सभी स्वतन्त्रतया अपनी काललब्धि से परिणमित हो रहे हैं, जीव उनका कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है।

जीव का स्वभाव, स्व-पर ज्ञेयों का 'ग्रहण करने का' है। 'ग्रहण' का अर्थ यह नहीं है कि हाथ से परद्रव्य को पकड़ता है; जीव के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं कि वह परद्रव्य को पकड़े; ग्रहण करना, अर्थात् जानना - ऐसा समझना चाहिए। स्व-पर, ज्ञेय कहे, उसमें त्रिकाली द्रव्य-गुण और उनमें अभेद हुई वीतरागी पर्याय, वह स्वज्ञेय है और व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह परज्ञेय है क्योंकि वह जीव का स्वभाव नहीं है। यह समझने से श्रद्धा-ज्ञान में शुद्ध चैतन्य का ग्रहण हुआ और विपरीत मान्यता का त्याग हुआ, वह अपूर्व धर्म है। यहाँ द्रव्यदृष्टि से आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की बात है। यदि उसकी श्रद्धा करे तो पर्याय में रागादि की मुख्यता न रहे परन्तु ज्ञानस्वभाव की मुख्यता-अधिकता रहे; इसलिए जो रागादि हों, उनमें पर्यायबुद्धि न रहे।

बीस वर्ष का इकलौता पुत्र बीमार हो जाये, वहाँ ज्ञान उसे जानता है तथा उसे बचाने

की इच्छा होती है, उसे भी ज्ञान जानता है परन्तु ज्ञान में या इच्छा में ऐसी शक्ति नहीं है कि पुत्र के शरीर को निरोगी बना दे। इच्छा और राग-दोनों ज्ञान के ज्ञेय हैं; ज्ञान वास्तव में इच्छा को भी नहीं करता, तब फिर वह पर को बचाए, यह बात ही कहाँ रही ?

समवसरण में साक्षात् भगवान विराज रहे हों, उनकी सेवा का भाव हो और भगवान की मूर्ति की स्थापना करके उनकी भक्ति का भाव आये, परन्तु वहाँ धर्मात्मा जानते हैं कि वास्तव में भगवन इस आत्मा का कुछ भी नहीं कर देते; भगवान भी मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। इसी प्रकार जड़कर्म भी ज्ञान के ज्ञेय हैं; राग कराके आत्मा को परिभ्रमण कराएँ, ऐसी शक्ति उनमें नहीं है। कर्मों में ऐसा कोई गुण नहीं है कि वे आत्मा को परिभ्रमण कराएँ, तब फिर कर्म, आत्मा को परिभ्रमण कराते हैं, यह बात कहाँ से लाया ? कर्म भी ज्ञेय हैं और तुझमें उन्हें भी जानने की शक्ति है। देखो, यह ज्ञानसामर्थ्य की महिमा ! अमुक निमित्त से लाभ होता है और अमुक से हानि होती है, यह बात ही नहीं रहती; ज्ञान में सब ज्ञेय हैं, उसमें वीतरागभाव है। यह इष्ट और यह अनिष्ट, ऐसा ज्ञान में नहीं है और ज्ञेय में भी नहीं है। इसमें ज्ञान की पुष्टि होती है और निमित्ताधीनदृष्टि नाश होती है।

विकार को करे, ऐसा भी आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, तब फिर जड़ को या पर को करे - यह तो बात ही कहाँ रही ? जिस प्रकार ईश्वर, जगत का कर्ता है - ऐसा माननेवाले अन्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; उसी प्रकार कोई जैनमतानुयायी भी यदि ऐसा माने कि जड़कर्म, जीव के गुण-दोष का कर्ता हैं; आत्मा पर का कर्ता है, तो वे भी मिथ्यादृष्टि ही हैं। जीव, कर्मों को नहीं करते और कर्म, जीव को परिभ्रमण नहीं कराते; जीव न तो शरीर में रहता है और न शरीर को चलाता है; जीव तो नित्य अपने अनन्त गुणधाम असंख्य प्रदेशों में रहता है। वास्तव में जीव या शरीर कोई मरते नहीं हैं क्योंकि जीव का या शरीर के रजकणों का सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र उनको अवस्था अपने-अपने कारण बदलती रहती है। इसलिए मैं पर जीव को मारता हूँ या बचाता हूँ - ऐसी मान्यता, वह अज्ञान है। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि स्व-पर सबको जाने और स्व-पर के ज्ञान में ज्ञात हो। आत्मा के ऐसे स्वभाव को समझे बिना, राग कम करके पुण्य-बन्ध करे तो भी मिथ्या अभिप्राय के कारण चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करेगा ही, परन्तु जन्म-मरण का अन्त नहीं आएगा।

यह आत्मा की त्रिकाली शक्तियों का वर्णन चल रहा है। आत्मा की कोई भी शक्ति

पर के या राग के आश्रय से नहीं है, क्षणिक पर्याय के अथवा एक-एक शक्ति के आश्रय से भी वह नहीं है, परन्तु अनन्त शक्ति के पिण्डरूप आत्मद्रव्य के आश्रय से ही सब शक्तियाँ विद्यमान हैं; इसलिए द्रव्यसन्मुख देखकर ही इन समस्त शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

आत्मा में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह दूसरों को समझा दे परन्तु दूसरों के ज्ञान में ज्ञात हो और स्वयं दूसरों को जाने, ऐसी उसकी सामर्थ्य है। ज्ञानस्वभाव की महिमा का विश्वास करने से अपने में स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो जाता है और अन्य जिन जीवों में उस प्रकार का ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो, उनके ज्ञान में ज्ञेय होने का भी आत्मा का स्वभाव है।

यदि कोई ऐसा माने कि केवली भगवान इस आत्मा की तीनों काल की पर्यायों को वर्तमान में नहीं जानते, किन्तु जब जो पर्याय हो, उस समय उसे जानते हैं तो उसने आत्मा के प्रमेय-स्वभाव को ही नहीं माना है और केवली को भी नहीं माना है; वह जीव, स्थूल मिथ्यादृष्टि है। अपने स्वभाव से ही स्व-पर को जाने, ऐसा आत्मा का सामर्थ्य है, उसके बदले जो वाणी-शास्त्रादि से ज्ञान का होना मानता है, उसे भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है। पर पदार्थों में आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय होने का स्वभाव है परन्तु वे ज्ञान के कारण हों, ऐसा तो उनका भी स्वभाव नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्याय, तीनों ज्ञान में ज्ञात हों - ऐसा स्वभाव है; यदि तीनों ज्ञान में ज्ञात न हों तो वे ज्ञेय नहीं रहते और उनका सत्पना ही सिद्ध नहीं होता और यदि ज्ञान में उन तीनों का जानने का सामर्थ्य न हो तो वह ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान का स्वभाव सबको जानने का है और ज्ञेय का स्वभाव, ज्ञान में प्रमेय होने का है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को न जाने और वस्तु को मात्र नित्य ही माने अथवा सर्वथा क्षणिक ही माने तो वह ज्ञान अप्रमाण है; उसे प्रमाणज्ञान ही नहीं है परन्तु मिथ्याज्ञान है; उस ज्ञान के अनुसार प्रमेय वस्तु जगत में नहीं है और जैसी वस्तु है, वैसा उसे ज्ञान नहीं है। आत्मा के परिणम्यपरिणामकस्वभाव को बराबर समझ ले तो मिथ्याज्ञान न रहे। इस एक शक्ति में स्व-पर प्रकाशक ज्ञान और प्रमेयत्व दोनों की सिद्धि हो जाती है।

[यहाँ पन्द्रहवीं परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१६]

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।

जो कम-बढ़ नहीं होता, ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (निश्चित्तया यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति।

अनन्त शक्तियों का पिण्ड ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा है। वह अग्राह्य ऐसे परद्रव्य को अथवा विकार को ग्रहता नहीं, और गृहीत ऐसे निजस्वभाव को कभी छोड़ता नहीं; सदा अपने ज्ञानस्वरूप में निश्चल रहता है। - इस प्रकार धर्मी अपनी आत्मा को ग्रहण -त्यागरहित एकरूप देखता है। ऐसे स्वरूप के अवलम्बन से उसको पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट होता है और रागादि टलते जाते हैं।

ज्ञानस्वरूप कहकर आत्मा की पहचान करायी, वहाँ ज्ञान के साथ दूसरे अनन्त धर्म भी विद्यमान हैं। उनमें एक त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है; इसलिए आत्मा नियतरूप से ऐसे स्वरूप में रहता है जो न्यूनाधिक नहीं होता। देखो, इसमें पर्यायबुद्धि के धुर्रे उड़ जाते हैं। पर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं और विकार का ग्रहण-त्याग भी आत्मा के त्रिकालीस्वरूप में नहीं है। त्रिकालीस्वरूप में विकार को छोड़ूँ और निर्मलपर्याय को ग्रहण करूँ - ऐसा भी नहीं है; वह तो पर्यायदृष्टि में है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर, आत्मा अपने ज्यों का त्यों स्वरूप में निश्चलरूप से विद्यमान है; वह त्रिकाल सिद्धसमान है, उसके स्वभाव में किञ्चित् न्यूनाधिकता नहीं होती। पर्याय में विकार हो और वह दूर होकर निर्मलता प्रगट हो परन्तु उससे त्रिकाली द्रव्य में कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। वर्तमान अंश की ओर देखें तो पर्याय में न्यूनाधिकता दिखायी देती है परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव से देखने पर आत्मा न्यूनाधिकतारहित नियत एकरूप स्वरूप में ही स्थित है, एकरूप है। पर्याय के अंश में जो न्यूनाधिकता दिखायी देती है, वह व्यवहारनय का विषय है; इसलिए अभूतार्थ है। यहाँ भूतार्थदृष्टि में उसका निषेध करके कहते हैं कि

आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, ग्रहण-त्याग से रहित है; उसमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करने से पर्याय में राग दूर होकर, वीतरागभाव हो जाता है परन्तु वह भी व्यवहार का विषय है। यहाँ तो सम्यक् निश्चय की प्रधानता है; व्यवहार की प्रधानता नहीं है।

आत्मा में परद्रव्य का तो ग्रहण-त्याग नहीं है परन्तु राग का ग्रहण-त्याग भी आत्मा के त्रिकालीस्वभाव में नहीं है। त्रिकालीस्वभाव तो राग के अभावस्वरूप ही है; राग का त्याग करूँ और निर्मलपर्याय को ग्रहण करूँ - ऐसा त्रिकालीस्वभाव में नहीं है। यदि त्रिकालीस्वभाव में राग का ग्रहण-त्याग हो तो वह त्रिकाल होता ही रहे। सिद्धदशा में भी आत्मा, राग का ग्रहण-त्याग करता ही रहे, तो पूर्णता कभी हो ही नहीं सकती; इसलिए द्रव्यस्वभाव से आत्मा को राग का ग्रहण-त्याग नहीं है, ऐसा त्यागोपादानशून्यत्वस्वभाव है।

त्रिकालीस्वभाव से देखने पर आत्मा एकरूप है, उसके स्वरूप में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। संसारपर्याय के समय आत्मा के त्रिकाली गुणों में से कुछ कम हो गया और मोक्षपर्याय प्रगट होने पर कुछ बढ़ गया - ऐसा नहीं है; अथवा संसारदशा में अल्प पर्याय प्रगट हो, उस समय द्रव्य में शक्तिरूप से बहुत कुछ शेष रहा और मोक्ष की पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस समय द्रव्य में शक्ति अल्प रह गयी - ऐसा भी नहीं है। इस समय तो आत्मा के एकरूप अस्तिस्वभाव की बात है, पर्याय में राग का त्याग अथवा शुद्धता की वृद्धि होती है, उसकी प्रधानता नहीं है क्योंकि वह पर्याय तो अभेद स्वभावोन्मुख है; इसलिए उस पर्याय की प्रधानता नहीं रही, परन्तु अभेदद्रव्य की ही प्रधानता रही। इसलिए अभेददृष्टि करना, वह धर्म का मूल है।

जिस प्रकार कड़ा-कुण्डल-हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ बदलने पर भी सुवर्ण कम-अधिक नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में हीनता-अधिकतारूप परिणमन होने पर भी, उसके त्रिकाली द्रव्य-गुण का सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता। धर्मात्मा जीव की दृष्टि ऐसे स्वभाव पर है, विकार को दूर करने पर धर्मात्मा की दृष्टि नहीं है; स्वभाव की दृष्टि से उसका विकार दूर अवश्य होता जाता है परन्तु वह विकार दूर करने पर उसकी दृष्टि नहीं है।

विकार को दूर करूँ – ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह पर्यायबुद्धि है क्योंकि विकार के लक्ष्य से विकार दूर नहीं होता। त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि में तो हीनपर्याय का त्याग और पूर्ण पर्याय का ग्रहण भी नहीं है। त्रिकालीस्वभाव की दृष्टि से पर्याय में वैसा हो अवश्य जाता है परन्तु उस पर्याय के सन्मुख दृष्टि नहीं है; दृष्टि तो द्रव्योन्मुख हो गयी है।

मैं इस राग को छोड़ दूँ – ऐसी बुद्धि से जो लाभ माने, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि 'राग को छोड़ दूँ' – ऐसे लक्ष्य से भी विकार की उत्पत्ति ही होती है तथापि उसे विकार को छोड़ने का साधन मानता है; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के मूलस्वभाव में राग नहीं है; इसलिए उस स्वभाव की दृष्टि करके, उसमें एकाग्र रहने से पर्याय में राग की उत्पत्ति ही नहीं होती – यही राग के त्याग की रीति है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से राग का त्याग करना माने, वह अज्ञानी है।

आत्मा के त्रिकाली गुणों में विकार का ग्रहण-त्याग नहीं है और उनमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती – ऐसे स्वभाव की दृष्टि, वह द्रव्यदृष्टि है, वह सम्यक्दृष्टि है और वही प्रथम धर्म है। देखो, आत्मा का ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसमें पहले मतिश्रुतरूप अल्प पर्याय थी और पश्चात पूर्ण केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई; वहाँ मतिश्रुतरूप अल्प पर्याय के समय, ज्ञानगुण की शक्ति अधिक थी और केवलज्ञानरूप पूर्ण पर्याय प्रगट होने पर ज्ञानगुण की शक्ति अल्प रही – ऐसा नहीं है। हीन या अधिक चाहे जैसी पर्याय प्रगट हो, परन्तु द्रव्य-गुण का सामर्थ्य तो अनादि-अनन्त एकरूप है; वह न्यूनाधिक नहीं होता, ऐसा द्रव्यस्वभाव है। अहो! ऐसी दृष्टि में कितनी वीतरागता है!! पर्याय को बुद्धि छोड़कर, दृष्टि त्रिकाली द्रव्य में अभेद हुई, वहाँ प्रतिक्षण धर्म होता है।

पर्याय में विपरीत मान्यता, वह अधर्म है, त्रिकाली द्रव्य में उसका ग्रहण नहीं है और ऐसा जो समझे, उसके तो पर्याय में भी विपरीत मान्यता नहीं रहती।

प्रश्न :- मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ – ऐसा विचार करे तो?

उत्तर :- यह ठीक है, किन्तु उसकी रीति क्या है, वह समझना चाहिए न? 'मिथ्यात्व को दूर करूँ' – ऐसे लक्ष्य से क्या मिथ्यात्व दूर होता है और 'सम्यक्त्व प्रगट करूँ' – ऐसे विकल्प से क्या सम्यक्त्व प्रगट होता है? – ऐसा तो नहीं होता। ध्रुव

चिदानन्दस्वभाव अनादि-अनन्त एकरूप है, उसमें मिथ्यात्व को दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ - ऐसे भेद नहीं हैं। उस स्वभाव की रुचि और महिमा करके, उसमें एकाग्र होने से पर्याय में मिथ्यात्व का व्यय और सम्यक्त्व का उत्पाद हो जाता है। इसलिए ऐसे एकरूप स्वभाव को जानकर उसमें दृष्टि और एकाग्रता करना, वह धर्म की रीति है।

अज्ञानी जीव, देह के संयोग को और राग को ही आत्मा मान रहे हैं परन्तु आत्मा तो ज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड है; राग की उपाधि या देह का संयोग, वह सच्चा स्वरूप नहीं है - ऐसे आत्मा को अज्ञानी नहीं पहचानता; इसलिए यहाँ आत्मा के स्वभाव का वर्णन करके उसकी पहचान कराते हैं। हे भाई! राग तेरा असली-नित्य (स्थायी) स्वरूप नहीं है किन्तु क्षणिक उपाधिभाव है; वह राग छूट जाने से तेरे स्वभाव में से कुछ भी कम नहीं हो जाता और पर्याय में ज्ञानादि की वृद्धि होती है, वह तेरे स्वरूप में से आती है; वह कहीं बाहर से नहीं आती; इसलिए उस शुद्धता की वृद्धि होने से द्रव्य में कुछ वृद्धि हो गयी - ऐसा नहीं है।

आत्मा, पर के ग्रहण-त्याग से रहित, अपने एकरूप स्वरूप में निश्चल है। यदि आत्मा, पर का ग्रहण करे तो बढ़ जाए और यदि अपने ज्ञानादि गुणों को छोड़ दे तो कम हो जाए - ऐसा कभी नहीं होता। आत्मा ने अपने स्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है और न पर को कभी ग्रहण किया है। समाधितन्त्र में श्री पूज्यपादस्वामी भी कहते हैं कि -

यदग्राह्यं न ग्रह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्व तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥

जो अग्राह्य को, अर्थात् ग्रहण न होनेयोग्य - ऐसे परपदार्थ को और विकार को ग्रहण नहीं करता और गृहीत को, अर्थात् ग्रहण किए हुए ऐसे अपने शाश्वत स्वभाव को छोड़ता नहीं है; सर्व को सर्व प्रकार से जानता है, ऐसा स्वसंवेद्य तत्त्व मैं हूँ। आत्मा सदैव अपने एकरूप स्वरूप में निश्चल है; उसकी दृष्टि और उसका अनुभव, वह मोक्षमार्ग है।

अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'जैनधर्म तो त्यागप्रधान धर्म है', परन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा, पर को ग्रहण करे या छोड़े, यह बात ही जैनधर्म में नहीं है। जैनधर्म तो अनेकान्तमार्ग है और उसमें स्वभाव की अस्ति की प्रधानता है; राग के

त्याग की प्रधानता नहीं, क्योंकि राग का त्याग तो 'नास्ति' है परन्तु किसकी 'अस्ति' के बल पर राग की नास्ति करेगा? स्वभाव की अस्ति के अवलम्बन से पर्याय में राग की नास्ति हो जाती है; इसलिए जैनधर्म में भूतार्थस्वभाव की अस्ति की प्रधानता है।

आत्मा की अस्ति में पर की तो नास्ति है; इसलिए पर का त्याग करूँ – यह बात तो वस्तु मैं है ही नहीं और राग का त्याग, सत् वस्तु के अवलम्बन के बिना नहीं हो सकता; इसलिए ध्रुव वस्तु का अवलम्बन ही जैनधर्म है। जैनमार्ग कहो, वीतरागमार्ग कहो, अनेकान्तमार्ग कहो, मोक्षमार्ग कहो अथवा अहिंसाधर्म कहो – अपने आत्मस्वभाव के अवलम्बन में ही उन सबका समावेश हो जाता है।

'त्यागोपादानशून्य' कहकर आत्मा के त्रिकाल अस्तिरूपस्वभाव की स्थापना की है। पर को ग्रहण करूँ या छोड़ूँ, वह तो आत्मा में नहीं है और अपनी पर्याय में अशुद्धता को छोड़कर, शुद्धता ग्रहण करना, वह भी व्यवहार है। निश्चय से तो वस्तु अपने स्वरूप में ही त्रिकाल एकरूप है; उसमें कहीं ग्रहण या त्याग नहीं है, उसमें कुछ न्यूनाधिक नहीं होता। अज्ञानी के भी ऐसा हो स्वभाव है परन्तु उसे अपने स्वभाव का भान नहीं है। अपने ऐसे स्वभाव का भान होने से, पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

वस्तु अखण्ड परिपूर्ण है, उस खण्ड वस्तु की दृष्टि करने से अवस्था में निर्मलता होती है और अशुद्धता दूर होती है। धर्मी जीव की दृष्टि के विषय में अखण्ड निर्मलतत्त्व है; इसलिए वस्तु में नयूनाधिकता नहीं है – ऐसा कहकर यहाँ वस्तुस्वभाव की दृष्टि करायी है परन्तु अपनी अवस्था में विकार है, उसका बिलकुल स्वीकार ही न करे तो उसे दूर करने का उद्यम कहाँ से करेगा और विकाररहित अपने शुद्धस्वभाव को न पहचाने तो विकार को किसके अवलम्बन से दूर करेगा? इसलिए द्रव्य और पर्याय दोनों को यथावत् जानना चाहिए। द्रव्य-पर्याय की संधि किए बिना, एकान्त को पकड़ ले तो कहीं धर्म नहीं हो सकता।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपने स्वरूप का भान है। उस स्वरूप में निर्विकल्प एकाग्रता न रह सके, उस समय वे शुभविकल्प में भी युक्त होते हैं परन्तु वास्तव में शुभराग कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। कोई अज्ञानी प्राणी भी व्यवहार में तीव्र कषायभाव छोड़कर, राग

को कम करता हो तो वहाँ वह मन्दराग कहीं धर्म नहीं है, तथापि उसे राग कम करने को मना नहीं किया जा सकता। जब धर्मी की दृष्टि में पुण्यभाव का भी आदर नहीं है, तब फिर पापभावों को बढ़ाने की तो बात ही कहाँ से हो सकती है ? परन्तु कोई पापभावों को कम करके, पुण्यभावों में धर्म मानकर सन्तोष मान ले तो उससे कहते हैं कि भाई ! यह धर्म नहीं है; धर्म तो अन्तर में तेरे सहजस्वभाव की वस्तु है। पर के ग्रहण-त्याग से रहित अखण्ड एकरूप वस्तु तेरे अन्तर में विराजमान है; उसकी दृष्टि के बिना, तुझे सच्ची स्थिरता नहीं होगी और स्थिरता के बिना, चारित्र अथवा केवलज्ञान नहीं होगा; इसलिए प्रथम यथार्थ वस्तु की महिमा समझकर, उसमें दृष्टि कर।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सब एक साथ ही वर्त रही हैं; उनमें यह शक्ति पहली और यह दूसरी - ऐसे नम्बर नहीं लिखे हैं परन्तु भाषा में तो क्रम से ही आती हैं और आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक की महिमा अधिक और दूसरी की महिमा कम - ऐसे भेद नहीं है; सर्व शक्तियाँ अपनी-अपनी पूर्ण महिमा धारण करती है। ज्ञान की महिमा अधिक और दर्शन की महिमा कम - ऐसा नहीं है। अभेद आत्मद्रव्य में सर्व शक्तियाँ एक साथ ही प्रवर्तमान हैं; उनमें कालभेद या क्षेत्रभेद नहीं है।

आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्वस्वभाव है; इसलिए आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों पर के ग्रहण-त्याग से रहित हैं। आत्मा की चारित्रदशा-मुनिदशा प्रगट हो, वहाँ वस्त्रों का संयोग देखा ही नहीं - यह बराबर है, तथापि वस्त्रादि को छोड़े या निर्दोष आहार को ग्रहण करे - ऐसा चारित्र का स्वभाव नहीं है; चारित्र का स्वभाव तो आत्मा में लीन होने का है। उसी प्रकार ज्ञानगुण में जानने का स्वभाव है परन्तु परज्ञेयों को ग्रहण करे या छोड़े - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। इस प्रकार आत्मा के सर्व गुण-पर्यायें पर के ग्रहण-त्याग से रहित हैं; ऐसा स्वरूप समझे, उसका परिणमन पर से विमुख होकर स्वद्रव्योन्मुख हुए बिना नहीं रहता। मुझमें पर का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं, मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-सुख इत्यादि किन्हीं भी गुणों का पर में से ग्रहण नहीं होता; इसलिए मुझे परसन्मुख देखना नहीं रहता और मुझमें हीनाधिक पर्याय के समय भी मेरा द्रव्य तो अपने एकरूप स्वरूप में ही निश्चलरूप से स्थित है - इस प्रकार द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में, पर्याय की मुख्यता नहीं रहती, अर्थात् द्रव्य के आश्रय से मोक्षमार्गरूपपरिणमन हो जाता है।

आत्मा के अपने स्वरूप को भूलकर, अनादि से चार गतियों में परिभ्रमण किया, परन्तु वहाँ उसने अपने द्रव्यस्वभाव को कभी छोड़ा नहीं है और जड़ शरीरादि को वास्तव में कभी ग्रहण नहीं किया है; जड़ से तो वह सदैव पृथक् ही रहा है। आत्मा के द्रव्य में, गुण में अथवा पर्याय में, परद्रव्य का ग्रहण है ही नहीं। धर्मात्मा जीव की दृष्टि में मात्र अपनी शुद्ध चिदानन्द आत्मा ही है। अज्ञानी जीव, भ्रान्ति से विकार को ग्रहण करता है परन्तु परद्रव्य का ग्रहण या त्याग तो ज्ञानी या अज्ञानी किसी के नहीं है। 'अरहन्त' अर्थात् कर्मरूपी शत्रु का हनन करनेवाले – ऐसा उपचार से कहा जाता है परन्तु वास्तव में अरहन्त भगवान के आत्मा में जड़कर्म का ग्रहण या त्याग नहीं है। जड़-चेतन की भिन्नता को भी न समझे और ऐसा माने कि आत्मा, जड़ का ग्रहण-त्याग करता है तो उसे धर्म कहाँ से होगा? ऐसा जीव अपनी मिथ्या कल्पना से अपने को धर्मी, व्रतधारी या मुनि भले मानता हो, परन्तु धर्म किसे कहते हैं, इसकी भी उसे खबर नहीं है।

आत्मा का अपना जो असली स्वरूप है, उसे आत्मा कभी छोड़ता नहीं है और पर द्रव्यों का आत्मा में अभाव है; इसलिए उन्हें वह कभी ग्रहण नहीं करता है। अज्ञानी मानते हैं कि बाह्यत्याग, वह धर्म है परन्तु भगवान कहते हैं कि अरे भाई! बाह्यवस्तु का त्याग, आत्मा कभी करता ही नहीं; आत्मा में बाह्यवस्तु हो, तब तो वह उसे छोड़े न? 'मैंने बाह्यवस्तु का त्याग किया' – ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसने बाह्यवस्तु को आत्मा में प्रविष्ट हुआ माना है; उसकी उस मान्यता में स्व-पर की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा तो अखण्ड विज्ञानघन है, उसमें बीच में ऐसी पोल नहीं है कि परवस्तु उसमें प्रविष्ट हो जाये।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – ऐसे चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे हैं, वे चारों प्रकार जीव की पर्याय में ही हैं; कहीं परद्रव्य में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है। अर्थ, अर्थात् लक्ष्मी आदि प्राप्त कर लूँ—ऐसी इच्छारूप विपरीत पुरुषार्थ करता है और वह जीव की पर्याय में उस प्रकार का पापभाव होता है, उसे अर्थपुरुषार्थ कहा है परन्तु कहीं जड़लक्ष्मी का ग्रहण आत्मा में नहीं है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – ऐसे चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे, उनमें धर्मपुरुषार्थ वह पुण्यभाव है; अर्थपुरुषार्थ, अर्थात् धन प्राप्ति का पुरुषार्थ और

कामपुरुषार्थ, अर्थात् विषय-वासना का भाव - वे दोनों पापभाव हैं; चौथा मोक्षपुरुषार्थ वह आत्मस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप पवित्रभाव है। इनमें पहले तीन प्रकार का पुरुषार्थ, जीव ने पूर्व काल में अनन्त बार किया है परन्तु मोक्ष का पुरुषार्थ पहले कभी क्षणमात्र भी नहीं किया है; इसलिए वह अपूर्व है। पूर्व में अनन्त काल में जीव ने अपनी पर्याय में पुण्य-पाप का पुरुषार्थ किया, परन्तु परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किसी जीव ने कभी किया ही नहीं है। ऐसी ही वस्तुस्थिति की मर्यादा है।

(छह बहिनों के ब्रह्मचर्य-ग्रहण का दिन)

[वीर सं. २४७५, कार्तिक शुक्ला १३, रविवार]

यह आत्मा के स्वभाव की बात चल रही है। भगवान आत्मा में त्रिकाल अनन्त शक्तियाँ हैं; जितनी शक्तियाँ सिद्धभगवान में हैं, उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मा में हैं; प्रत्येक आत्मा अपनी प्रभुता का पिण्ड है। आत्मा में त्यागोपादानशून्यत्व नाम की शक्ति है; इसलिए जो कभी न्यूनाधिक नहीं होती, ऐसे अपने निश्चित् स्वरूप में आत्मा विद्यमान है। पहले अनादि काल निगोददशा में रहा; इसलिए कहीं द्रव्य कम नहीं हो गया है और सिद्धदशा प्रगट होने से द्रव्य बढ़ नहीं जाता; उसी प्रकार जब अल्प दशा प्रगट हो, उस समय द्रव्य में बहुत शक्ति शेष रही और परिपूर्ण सिद्धदशा प्रगट होने से द्रव्य में कम शक्ति रही - ऐसा भी नहीं है। द्रव्य सामर्थ्य सदैव ज्यों का त्यों है; वह कभी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे द्रव्य को लक्ष्य में लेकर, उसमें पर्याय को एकाग्र करने से आनन्द का अनुभव होता है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है और शरीर-मन-वाणी तो मृत कलेवर हैं। उस शरीर-मन-वाणी को आत्मा ने कभी ग्रहण नहीं किया है और न उन्हें आत्मा कभी छोड़ता है और पर्याय में जो पुण्य-पापादि विकार होते हैं, वे भी त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं; इसलिए उस विकार को छोड़ूँ और निर्मलदशा को ग्रहण करूँ - ऐसा भी त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में नहीं है। पर्याय में वैसा होता अवश्य है किन्तु त्रिकाल द्रव्य की दृष्टि से देखें तो आत्मा न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे आत्मा को दृष्टि में लेना, वह धर्म है। दृष्टि स्वयं पर्याय है परन्तु वह द्रव्य में अन्तर्मुख होकर अभेद होती है।

पर के ग्रहण-त्याग की बात आत्मा के द्रव्य-गुण में तो नहीं है और एक समयपर्यन्त

की पर्याय में भी पर का ग्रहण या त्याग नहीं है। एक समयपर्यन्त की अवस्था में पुण्य -पाप है परन्तु त्रिकाली स्वभाव में तो उनका भी ग्रहण-त्याग नहीं है - ऐसे एकरूप स्वभाव की दृष्टि, वह द्रव्यदृष्टि है और वह द्रव्यदृष्टि, सो सम्यग्दृष्टि है।

केवलज्ञान पर्याय, त्रिकाली ज्ञानगुण में से प्रगट होती है तथापि गुण कम होकर वह पर्याय नहीं होती, गुण का सामर्थ्य तो ज्यों का त्यों परिपूर्ण रहकर पर्याय होती है। जिस प्रकार थैली में सौ रुपये हों, उसमें से एक रुपया निकाल लेने पर एक रुपया कम हो जाता है, वैसा यहाँ गुण में नहीं है; पर्याय प्रगट होने से गुण का सामर्थ्य कम नहीं हो जाता। - ऐसा ही अचिन्त्य स्वभाव है। केवलज्ञान और सिद्धदशा आये कहाँ से ?... तो कहते हैं कि द्रव्य में से; द्रव्य में कुछ कम हुआ ?... तो कहते हैं कि नहीं। देखो, यह वस्तुस्वभाव! संसारदशा हो, साधकदशा हो या सिद्धदशा हो - परन्तु द्रव्य-गुण में कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। अल्प-अधिक दशा होती है, वह पर्यायदृष्टि का विषय है; यहाँ द्रव्यस्वभाव की प्रधानता है क्योंकि द्रव्य की दृष्टिपूर्वक ही पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है।

बाह्य का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में नहीं है; अन्तर में निर्मलदशा का ग्रहण और विकार का त्याग, वह पर्याय अपेक्षा से है किन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से तो वह भी नहीं है। आत्मा अपनी पर्याय में पुण्य-पाप करे अथवा वीतरागता करे, तो भी ऐसी शक्ति नहीं है कि पर का ग्रहण या त्याग करे। राग करके दूसरे को सहायता दे सके या द्वेष करके दूसरे को हानि पहुँचा सके - ऐसी उसकी शक्ति नहीं है। आत्मा अपने में सच्चे श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करे, किन्तु उससे कहीं वह सच्चे देव-गुरु-शास्त्र निकट लाये या कुदेव-कुगुरु -कुशास्त्र को दूर करे - ऐसी शक्ति उसमें नहीं आ जाती। आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय में पर को ग्रहण करने या छोड़ने की शक्ति नहीं है। पर की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय में विकार का त्याग या अविकारभाव का ग्रहण, वह भी एक समयपर्यन्त की पर्याय का-अंश का ही स्वभाव है; अंशी ऐसी त्रिकाली द्रव्य के स्वभाव में कुछ नया ग्रहण-त्याग नहीं है - ऐसा आत्मा का त्यागोपादानशून्यत्वस्वभाव है। आत्मा का ऐसा स्वभाव, पूर्व अनन्त काल में जीव ने एक क्षण भी नहीं जाना है; यदि उसे जान ले तो अल्प काल में मुक्ति हुए बिना न रहे। जिसकी इस संसार परिभ्रमण से थकान मालूम हुई हो और मुक्ति

की आवश्यकता हो, उसे मुक्ति कहाँ ढूँढ़ना चाहिए ? – आत्मा की मुक्ति, पर में ढूँढ़े तब तो नहीं मिल सकती; पुण्य-पाप में भी नहीं मिल सकती; वर्तमान अपूर्ण पर्याय में नहीं मिल सकती; विकार को छोड़ूँ और निर्मलता प्रगट करूँ – ऐसे लक्ष्य से भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु जिसमें विकार का भी ग्रहण त्याग नहीं है, ऐसे ध्रुव-एकरूप द्रव्यस्वभाव में ढूँढ़े तो उसमें से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। ध्रुवस्वभाव सन्मुख होकर, उसका अवलम्बन लेने से पर्याय में मुक्ति हो जाती है।

पर का ग्रहण-त्याग तो त्रिकाली द्रव्य में भी नहीं है और अवस्था में भी नहीं है; अब अपने में देखना रहा। अपनी पर्याय में भी विकार को दूर करूँ – इस प्रकार पर्याय-सन्मुख लक्ष्य करने से विकार दूर नहीं होता, परन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है फिर भी जो पर्याय के लक्ष्य से विकार का छूटना मानता है, उसके अभिप्राय में मिथ्यात्व है। पर्याय के लक्ष्य से विकार नहीं छूटता, परन्तु द्रव्य के लक्ष्य से एकाग्र होने से विकार दूर होकर निर्विकारीदशा प्रगट हो जाती है; इसलिए यहाँ एक समय की अवस्था गौण करके – उस पर भार न देकर, त्रिकाली द्रव्य की मुख्यता करके उसी के अवलम्बन का उपदेश है, यही मोक्षमार्ग की रीति है। इसके अतिरिक्त अवस्था की मुख्यता करके, उसी पर दृष्टि रखने से धर्म नहीं होता। द्रव्यस्वभाव-सन्मुख दृष्टि के बिना, सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और मिथ्यात्व दूर नहीं होता।

सवेरे प्रवचनसार की ८० वीं गाथा में ऐसा कहा था कि जो अरहन्त के द्रव्य-गुण -पर्याय को जानता है, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है; उसमें भी द्रव्यदृष्टि की यही बात है। वहाँ अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय बतलाकर, आत्मा का त्रिकाली स्वभाव बतलाया है। विकार छोड़े और निर्विकाररूप से परिणमित हो, ऐसे दो भेद त्रिकाली स्वभाव में नहीं हैं। पर्याय में वे भेद हैं परन्तु साधक की दृष्टि में वे गौण हैं क्योंकि पर्याय के विकार का त्याग, पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता, परन्तु द्रव्य के लक्ष्य से ही विकार का त्याग होता है; इसलिए मोक्षमार्ग में सदैव निश्चय की ही मुख्यता है और कभी-कभी पर्याय की मुख्यता भी साधक की दृष्टि में हो जाती है – ऐसा नहीं है। त्रिकाल के साधक जीवों की दृष्टि में द्रव्य की ही मुख्यता है; साधक की दृष्टि में से द्रव्य

की मुख्यता एक समय भी नहीं छूटती। विकार का त्याग और निर्विकार का ग्रहण, पर्याय में होता है परन्तु वह कब होता है ? – जब त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करे, तब वैसा होता है; इसलिए आत्मा के स्वभाव में विकार का भी ग्रहण–त्याग नहीं है; इसलिए उसमें कुछ कम–अधिक नहीं होता – ऐसा कहकर यहाँ एकरूप त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करायी है।

अज्ञानी जीवों को ऐसा लगता है कि हम यह सब लेते और छोड़ते हैं परन्तु अरे भाई! तू तो आत्मा है, पर द्रव्य तुझसे भिन्न है; तेरा स्वभाव उन परद्रव्यों के ग्रहण–त्याग से रहित है; परद्रव्य को ग्रहण करे या उसका त्याग करे ऐसी शक्ति आत्मा में है ही नहीं। क्या आत्मा है; इसलिए जगत के पदार्थ हैं ? – ऐसा नहीं है और आत्मा की पर्याय है; इसलिए जड़ की पर्याय है, ऐसा भी नहीं है। जगत का प्रत्येक तत्त्व अपने–अपने में स्वतन्त्र है। पर के ग्रहण त्याग से रहित और पर्याय की हीनाधिकता के भेदों को गौण करके आत्मा के एकरूप निश्चलस्वरूप को देखना, वह इन शक्तियों के वर्णन का सार है।

[इस प्रकार त्यागोत्पादानशून्यत्व नाम की १६ वीं शक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१७]

अगुरुलघुत्वशक्ति

षटस्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।

षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूप से परिणमित, स्वरूपप्रतिष्ठत्व के कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप), ऐसा जो विशिष्ट (खास) गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति। [इस षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि का स्वरूप, 'गोम्मटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिए। अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में पतित-समाविष्ट वस्तुस्वभाव की वृद्धि-हानि जिससे (जिस गुण से) होती है और जो (गुण) वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है - ऐसा कोई गुण आत्मा में है; उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्वशक्ति भी आत्मा में है।]

अगुरुलघुत्वशक्ति के कारण स्वरूप में प्रतिष्ठित, ऐसा आत्मा स्वयं शोभायमान है; दूसरे के कारण उसकी शोभा नहीं। आत्मा, परमात्मा बने, इसके जैसी शोभा कौन सी और जिसमें से अनन्त काल तक परमात्मदशा प्रगट होती रहे - ऐसे आत्मस्वभाव की शोभा की तो क्या बात?

अब, आत्मा को अनन्त शक्तियों में 'अगुरुलघुत्व' नाम की शक्ति है - उसका वर्णन करते हैं। षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित और स्वरूप प्रतिष्ठितपने के कारणरूप जो विशिष्ट गुण है, उस स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। आत्मा की पर्याय में छह प्रकार की वृद्धि-हानि होने पर भी, यह अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों स्थित रहता है - ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है। यह सूक्ष्म स्वभाव केवलीगम्य है।

१. अनन्त गुणवृद्धि;	१. अनन्त भागहानि;
२. असंख्य गुणवृद्धि;	२. असंख्य भागहानि;
३. संख्यात गुणवृद्धि;	३. संख्यात भागहानि;

४. संख्यात भागवृद्धि;	४. संख्यात गुणहानि;
५. असंख्य भागवृद्धि;	५. असंख्यात गुणहानि;
६. अनन्त भागवृद्धि;	६. अनन्त गुणहानि।

–उपरोक्तानुसार छह प्रकार से वृद्धि तथा छह प्रकार से हानि होती है, उसरूप अगुरुलघुगुण का कोई सूक्ष्म परिणमन होता है, वह केवलीगम्य है।

इस अगुरुलघुत्वशक्ति के कारण, द्रव्य अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहता है; वस्तु अपने स्वरूप में स्थिर रहती है। अनन्त गुणों का भण्डार आत्मा कदापि अपने स्वरूप को छोड़कर, पररूप नहीं होता; उसके अनन्त गुण बिखरकर छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते। यह अगुरुलघुस्वभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है; इसलिए द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़कर, अन्यथा नहीं हो जाता; द्रव्य का कोई भी गुण अपने स्वरूप को छोड़कर, अन्य गुणरूप नहीं हो जाता; और द्रव्य की कोई भी पर्याय, दूसरी पर्यायरूप नहीं हो जाती, – सब अपने-अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। द्रव्य, अनादि-अनन्त अपने स्वरूप में स्थित है, उसी से उसकी शोभा है। अपने द्रव्य की त्रैकालिक शोभा को भूलकर, पर से अपनी शोभा मानकर, जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है। उसे यहाँ आचार्यदेव स्वभाव की शोभा बतलाते हैं—

अरे जीव! सुन्दर-शरीरादि जड़ में तो तेरी शोभा नहीं है और जीव, संसार में भटका – ऐसी बन्धन की बात करने में भी तेरी शोभा नहीं है; तेरा आत्मा अपने एकत्व शुद्धस्वरूप में प्रतिष्ठित है, उसी में तेरी त्रिकाली शोभा है; और उसकी पहिचान से पर्याय में शोभा प्रगट होती है। पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, यहाँ द्रव्य की बात है। अपने स्वरूप में आत्मा त्रिकाल शोभायमान हो रहा है – ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है।

लोग, बाह्य प्रतिष्ठा और शोभा से बड़प्पन मानते हैं; यहाँ आचार्य भगवान, आत्मा की स्वरूपप्रतिष्ठा बतलाकर उसकी महिमा समझाते हैं; यह समझने से पर्याय भी द्रव्योन्मुख होकर निर्मलरूप से शोभित हो उठती है। इसके अतिरिक्त पैसे से, शरीर से, वस्त्र से या गहनों से – अरे! पुण्य से भी आत्मा की शोभा मानना, वह सच्ची शोभा नहीं है किन्तु कलङ्क है। स्वरूपप्रतिष्ठित आत्मा स्वयं शोभायमान है; किसी दूसरे से उसकी

शोभा नहीं है। आत्मा, परमात्मा हो – इससे बढ़कर दूसरी कौन-सी शोभा होगी! और जिसमें से अनन्त काल तक परमात्मदशा प्रगट होती रहे – उस द्रव्यसामर्थ्य की शोभा की तो क्या बात की जाये!! महान शोभा त्रिकाली द्रव्य में है, उसी के आधार से पर्याय में शोभा प्रगट हो जाती है। सिद्धदशा-वह पर्याय की शोभा है, वह एक समयपर्यन्त की है और द्रव्य की शोभा त्रिकाल है। एक समय की पर्याय में शोभा कब प्रगट होती है... ? त्रिकाल शोभायमान द्रव्य के सन्मुख दृष्टि करे, तब! जो ऐसा समझे, उसकी उन्मुखता द्रव्यस्वभाव की ओर हो जाती है, वह पर से अपनी शोभा नहीं मानता; इसलिए उसकी दृष्टि में पर के प्रति वीतरागभाव हो जाता है – इस प्रकार इसमें धर्म आता है।

आत्मा का ज्ञानपरिणमन घटते-घटते उस ज्ञान का सर्वथा अभाव होकर आत्मा जड़ हो जाये – ऐसा कभी नहीं हो सकता और ज्ञानपरिणमन बढ़कर केवलज्ञान होने के पश्चात्, ज्ञान बढ़ता ही रहे – ऐसा भी नहीं हो सकता और आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, उनमें से एक भी गुण कभी न्यूनाधिक नहीं होता। पर्याय में न्यूनाधिकता होने पर भी, त्रिकाली द्रव्य-गुण न्यूनाधिक नहीं होते। हीन अवस्था के समय आत्मा के कुछ गुण कम हो गये – ऐसा नहीं है और पूर्ण अवस्था प्रगट होने से आत्मा के गुण बढ़ गये, ऐसा भी नहीं है। एकरूप स्वरूप में प्रतिष्ठा से भगवान आत्मा त्रिकाली महिमावन्तरूप से सुशोभित हो रहा है। ऐसे शोभायमान द्रव्य की दृष्टि करने से पर्याय में वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है परन्तु उस पर्यायभेद पर दृष्टि नहीं है क्योंकि वह पर्याय स्वयं अन्तरोन्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य की शोभा में समा गयी है।

आत्मा की अगुरुलघुशक्ति, वस्तु की त्रिकाली स्वरूप में स्थिर रहने का कारण है। पूर्व काल में निगोद अवस्था थी, उस समय साधक अवस्था के समय या सिद्धदशा के समय, आत्मा सदैव अपने स्वरूप में ही स्थित है। आत्मा के अनन्त गुण हैं, वे सब अगुरुलघुस्वभाववाले हैं। पर्याय में हानिवृद्धि भले हो, परन्तु अनन्त गुण अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित हैं। -ऐसी स्वरूपप्रतिष्ठा अनादि-अनन्त है।

जिस प्रकार जिनबिम्ब प्रतिष्ठा नवीन भी होती है और अनादि कालीन जिनबिम्ब भी जगत में हैं; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य जिनबिम्ब अनादि से अपने स्वरूप में

ही प्रतिष्ठित है और उसके अवलम्बन से पर्याय में नवीन प्रतिष्ठा (निर्मलतारूपी शोभा) प्रगट होती है। इस प्रकार आत्मा का अगुरुलघुस्वभाव सदैव स्वरूप में प्रतिष्ठित रहने का है। यह अगुरुलघुस्वभाव, सम्पूर्ण द्रव्य में, उसके अनन्त गुणों में और समस्त पर्यायों में विद्यमान है। प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वभाव से अगुरुलघु है।

त्रिकाल ज्यों का त्यों ध्रुव, स्वरूपप्रतिष्ठा का कारण है। सर्व गुणों को समतौल रखने का कारण, सर्व गुण-पर्यायों के आधारभूत ऐसा एक स्वभाव अनादि-अनन्त है, वह समस्त गुण-पर्यायों में अभेद है; उसकी शोभा की अपार महिमा है। अहो! ऐसी महिमा से जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, वह जीव अकेली पर्याय की शोभा में ही सब-कुछ अर्पण नहीं कर देता, परन्तु द्रव्य-गुण को भी साथ ही साथ रखता है। अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए, परन्तु वे कहाँ से हुए? त्रिकाली द्रव्य में सामर्थ्य था, उसमें से हुए हैं। इसलिए उस त्रिकाली सामर्थ्य का अपार माहात्म्य है। इस प्रकार त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव, पर्याय का समतौलपना बना रखता है। अज्ञानी जीव, अकेली पर्याय की महिमा में अटक जाता है; द्रव्य की ध्रुव महिमा की उसे खबर नहीं है। श्री आचार्य कहते हैं कि हे भाई! अपने त्रिकालीस्वरूप से ही तेरी शोभा है - ऐसा हमने बतलाया है,उसे समझकर तू अकेली पर्याय के बहुमान में न रुककर, त्रिकाली द्रव्य का बहुमान कर! ऐसा करने से द्रव्यदृष्टि में सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें सहज ही प्रगट हो जाएँगी और तेरा आत्मा, पर्याय से भी सुशोभित हो उठेगा।

प्रत्येक आत्मा, अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य परमेश्वर है। पैसा, मकान-स्त्री-परद्रव्य अथवा पुण्य, आत्मा की सच्ची सम्पत्ति नहीं है; चक्रवर्ती का वैभव या इन्द्रपद की विभूति द्वारा आत्मा की महत्ता नहीं है; अपनी अनन्त शक्तिरूप शाश्वत सम्पत्ति - जो कि आत्मा से कभी पृथक् न हो, वही आत्मा की सच्ची सम्पत्ति है। वही आत्मा का सच्चा वैभव है और उसी से आत्मा की महत्ता है। ऐसे स्वभाव के बहुमान से पर्याय में ज्ञानादि प्रगट हों, उनका अभिमान नहीं होता। जिसे चैतन्य की महत्ता का भान नहीं है और जो तुच्छबुद्धि है, उसी को अल्प पर्याय का और पर का अभिमान होता है। पच्चीस-पचास वर्ष तक शरीर का संयोग रहे, उसी को अज्ञानी अपनी सारी जिन्दगी मानते हैं परन्तु आत्मा तो अपनी अनन्त शक्ति से अनादि-अनन्त जीवन जीता है, यही उसकी सारी जिन्दगी है। बाह्य में

लक्ष्मी आदि का संयोग आये, वहाँ अपनी सम्पत्ति मानकर अज्ञानी अभिमान करता है किन्तु वह संयोग तो अल्प काल रहकर छूट जानेवाला है; वह आत्मा के साथ स्थायीरूप से रहनेवाला नहीं है। इसलिए वह आत्मा की सम्पत्ति नहीं है। अनन्त गुणों का निधान भीतर त्रिकाल भरा हुआ है, उस शाश्वत सम्पदा को अज्ञानी नहीं पहिचानता। यदि उस निधान को पहचाने तो पर का अभिमान छूट जाए और अनादिकालीन हीनता का अन्त होकर सिद्धपद के निधान प्रगट हों। इसलिए त्रिकाली शक्ति की शोभा की महिमा करना ही सम्यग्दर्शन और सिद्धपद का उपाय है।

आत्मा के अनन्त गुणों में एक ज्ञानगुण है,वह भी त्रिकाल है, उसकी एक समय की पूर्ण निर्मल केवलज्ञान अवस्था में तीन काल-तीन लोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं - ऐसा उसका अनन्त सामर्थ्य है। अहो! अचिन्त्य सामर्थ्यवान और विकल्परहित —ऐसा पूर्ण शुद्धस्वभावरूप जो केवलज्ञान है, उसकी महिमा कितनी? और जिस द्रव्य के आश्रय से वह केवलज्ञान प्रगट हुआ, उसके अपार सामर्थ्य की महिमा की तो क्या बात!! केवलज्ञान होने के पश्चात् ज्यों की त्यों पर्याय, प्रति समय होती रहती है। केवलज्ञान की एक पर्याय की अपेक्षा, दूसरी पर्याय में जानने का सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता; सामर्थ्य ज्यों का त्यों रहता है, तथापि उसमें भी अगुरुलघुगुण का सूक्ष्म परिणमन तो प्रति समय होता ही रहता है - ऐसा ही कोई अचिन्त्य स्वभाव है, वह केवलीगम्य है। देखो, यह केवलज्ञान की गम्भीरता! छद्मस्थ के ज्ञान में ही यदि सब कुछ ज्ञात हो जाये, तब फिर केवलज्ञान का माहात्म्य ही कहाँ रहा? केवलज्ञान में जो ज्ञात होता है, वह सब छद्मस्थ नहीं जान सकता परन्तु अपने आत्महित के लिए जो प्रयोजनभूत हो, उसे तो सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ भी बराबर नि:सन्देहरूप से जान सकता है। आत्मा के अगुरुलघुस्वभाव का कोई ऐसा अचिन्त्य सूक्ष्म परिणमन है, वह केवलीगम्य है।

[-यहाँ सत्रहवीं अगुरुलघुत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[१८]

उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति

क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः ॥

क्रमप्रवृत्तिरूप और अक्रमप्रवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है, ऐसी उत्पादव्यय-ध्रुवत्वशक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।)।

वस्तु के स्वभाव का यह वर्णन है। वस्तु के स्वभाव का जो निर्णय करे, उसको अपने में स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्याय शुरु हो जाती है। किसी भी शक्ति से आत्मस्वभाव का निर्णय करते समय, ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमता है... अर्थात्, उस ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि होती है... यही उसका फल है।

आत्मा में अनन्त धर्म होने पर भी उसे 'ज्ञानस्वरूप' कहा है क्योंकि ज्ञान, उसका लक्षण है। – कौनसा ज्ञान ? – कहते हैं कि जिस ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर लक्ष्य को लक्ष्य में लिया, वह ज्ञान लक्षण हुआ और उस लक्षण ने अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध किया। ज्ञान ने अन्तर्मुख होकर आत्मा को पकड़ लिया; इसलिए उसके साथ श्रद्धा-आनन्द-सुख-जीवन-प्रभुता-स्वच्छता-वीर्य-कर्तृत्वादि अनन्त शक्तियाँ भी निर्मलतारूप परिणमित हो रही हैं किन्तु उनमें ज्ञान ही स्व-पर प्रकाशकरूप से प्रसिद्ध होने के कारण, ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा की पहिचान करायी है और इसलिए अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान के साथ दूसरी अनन्त शक्तियाँ उल्लसित होती हैं; इसलिए अनेकान्त है। ज्ञानपरिणमन के साथ निर्मलरूप से उल्लसित होनेवाली शक्तियों का यह वर्णन चल रहा है। उनमें से सत्रह शक्तियों का विवेचन हो गया है; अब अठ्ठारहवीं उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति का विवेचन होता है। यह शक्ति मुख्यरूप से समझनेयोग्य है।

क्रमप्रवृत्तिरूप और अक्रमप्रवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है, ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्व नाम की शक्ति है, यह शक्ति भी आत्मा में त्रिकाल है।

देखो, अभी हाल क्रमबद्धपर्याय की बात स्पष्टरूप से प्रगट होने पर कोई ऐसा कहे कि – 'पर्याय क्रमबद्ध ही हो, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।' किन्तु यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि सारा द्रव्य ही क्रमबद्धपर्यायरूप से परिणमित होने के स्वभाववाला है। द्रव्य की उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति ही ऐसी है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमित होती है और गुण, अक्रम एक साथ वर्तते हैं। पर्याय को क्रमबद्ध न माने तो उसने उत्पादव्ययध्रुवशक्ति को ही नहीं माना है और यह शक्ति अनन्त गुणों में व्यापक होने से अनन्त गुण भी अपनी -अपनी क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमित होते हैं। अज्ञानी तो कहते हैं कि – 'आत्मा में क्रमबद्धपर्याय हो, ऐसी एक भी शक्ति नहीं है;' जबकि यहाँ कहते हैं कि द्रव्य के समस्त गुणों का स्वभाव क्रमबद्धपर्यायरूप से ही परिणमन करने का है।

पर्यायें, उत्पाद-व्ययरूप हैं और गुण, ध्रुवरूप हैं; उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें, क्रमवर्ती हैं और ध्रुवरूप गुण, अक्रमवर्ती हैं। सभी गुण एक साथ अक्रम से वर्तते हैं; इसलिए उन्हें अक्रमवर्ती कहा है किन्तु समस्त गुणों की पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं। क्रमबद्धपर्याय का जो सिद्धान्त है, उसके समक्ष अज्ञानी ऐसी दलील करते हैं कि – 'पर्यायें क्रमबद्ध ही हों, ऐसा कोई गुण, आत्मा में नहीं है।' किन्तु यहाँ उसका स्पष्टीकरण आ जाता है कि द्रव्य के समस्त गुणों में ऐसा स्वभाव है कि गुणरूप से ध्रुव रहकर, क्रमबद्धपर्यायों रूप से परिणमित होते हैं। इस प्रकार उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति से सारा द्रव्य, क्रम-अक्रम स्वभाववाला है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रारम्भ में गाथा ३०८ से ३११ में *आचार्यदेव ने यह बात स्पष्ट की है कि जीव और अजीव समस्त 'द्रव्य अपने क्रमबद्धपर्याय परिणामस्वरूप से परिणमित होते हैं।' अज्ञानी कहते हैं कि क्रमबद्ध परिणमित होने का कोई गुण नहीं है; आचार्यदेव कहते हैं कि सारा द्रव्य ही ऐसा है। द्रव्य के प्रत्येक गुण में भी ध्रुवरूप रहने

---

* **इन गाथाओं पर पूज्य गुरुदेवश्री के क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप दर्शानेवाले प्रवचन 'ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव' नाम से हिन्दी और गुजराती भाषा में उपलब्ध है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अध्ययन करनेयोग्य है।**
– सम्पादक

और क्रमरूप परिणमित होने का स्वभाव है। इस एक उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्ति को बराबर जान ले तो पर्याय उल्टी-सीधी या निमित्त के कारण होती है - ऐसी विपरीत दृष्टि न रहे।

पुनश्च, ध्रुवउपादान और क्षणिकउपादान की बात भी इसमें आ जाती है। त्रिकाली स्वभाव, वह ध्रुवउपादान है और एक-एक समय की पर्याय की योग्यता, वह क्षणिकउपादान है। प्रत्येक समय की क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपना क्षणिकउपादान है; इसलिए निमित्त के कारण पर्याय हो, यह बात नहीं रहती। आत्मा के गुण का ध्रुवत्व होने से, वह ध्रुवउपादान है और वह अक्रमवर्ती है तथा पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप होने से क्षणिकउपादान हैं और क्रमवर्ती हैं। इस प्रकार आत्मा के उत्पादव्ययध्रुवत्वस्वभाव में ध्रुवउपादान और क्षणिक -उपादान दोनों आ जाते हैं।

ध्रुवउपादान अक्रमवर्ती है, अर्थात् समस्त गुण ध्रुवरूप से एक साथ सहवर्ती हैं; पहले ज्ञान, फिर दर्शन, फिर सुख - ऐसा क्रम उनमें नहीं है और क्षणिकउपादान क्रमवर्ती हैं; इसलिए पर्यायें एक के बाद एक होती हैं। सिद्धपर्याय के समय संसारपर्याय नहीं होती; संसारपर्याय के समय सिद्धपर्याय नहीं होती; मतिज्ञान के समय केवलज्ञान नहीं होता; केवलज्ञान के समय मतिज्ञान नहीं होता - इस प्रकार पर्यायें क्रमवर्ती हैं किन्तु गुण तो सब एक साथ ही वर्तते हैं। संसारदशा के समय या सिद्धदशा के समय उतने के उतने गुण सदैव एक साथ वर्तते हैं। इस प्रकार क्रम और अक्रमवर्तीरूप वस्तुस्वभाव है। गुणरूप से सदैव अचल रहने की और पर्यायरूप से प्रति समय पलटने की वस्तु की शक्ति है; उसका नाम उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्मा के परिणमन में वह उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

ज्ञानी अपनी ऐसी शक्तिवाले आत्मा को पहचानकर, उसके आश्रय से निर्मलरूप से परिणमित होते हैं; इसलिए उनके शक्ति निर्मलरूप से उछलती हैं। यद्यपि अज्ञानी के भी ऐसी शक्तियों का परिणमन है परन्तु उसे उसकी पहचान नहीं है; इसलिए वह शक्तिस्वभाव का आश्रय करके परिणमित नहीं होता और अकेले पर के लक्ष्य से ही परिणमन करता है; इसलिए उसके विपरीत परिणमन होता है। यहाँ तो ऐसी बात है कि- अन्तर में अनन्त शक्ति के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर, उसके सन्मुख

एकाकार अभेद होकर निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हो, वही आत्मा का सच्चा परिणमन है; उसी में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। स्वभाव से च्युत होकर, एकान्त पराश्रय से विकाररूप परिणमित हो, उसमें वास्तव में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। इसलिए सचमुच वह आत्मा नहीं है और इसी से अज्ञानी को आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

पर्याय में क्रमवर्तीपना तो ज्ञानी और अज्ञानी-दोनों को है, किन्तु ज्ञानी के स्वभावोन्मुखता के कारण, क्रमवर्तीपर्यायें निर्मल होती हैं और अज्ञानी को परोन्मुखता के कारण क्रमवर्तीपर्यायें मलिन होती हैं। विभावरूप परिणमन, वह शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं है; शक्ति में अभेद होकर निर्मलस्वभावरूप परिणमन हो, वही उसका यथार्थ परिणमन है। अक्रमरूप गुण और कर्मरूप पर्यायें - ऐसे गुण-पर्यायों के पिण्डरूप आत्मस्वभाव का आश्रय करके जीव परिणमित हुआ, तब उत्पाद-व्यय-ध्रुव इत्यादि शक्तियों का यथार्थ भान हुआ और तभी शक्तियों का सच्चा परिणमन प्रगट हुआ। इस प्रकार साधकदशा की यह बात है। शक्ति तो त्रिकाल है किन्तु पहले अभानदशा में उसका विभावपरिणमन था और भान होने पर उसका स्वभावपरिणमन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से निर्मलपरिणमन होता है, वह इन शक्तियों की पहिचान का फल है।

आत्मा में शक्तियाँ और उनका परिणमन तो सदैव है किन्तु अनादि काल से वह परिणमन पराश्रित होने से संसार है। यदि वह परिणमन स्वाश्रित हो तो संसार न रहे। आत्मा की अनन्त शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति को पृथक् लक्ष्य में लेने से शक्ति का निर्मल परिणमन नहीं होता, किन्तु विकार होता है। आत्मा एक साथ अनन्त शक्तिसम्पन्न है; अनन्त शक्ति के पिण्डरूप जो स्वभाव है, उसके अवलम्बन से परिणमित होने पर मोक्षमार्गरूप परिणमन होता है; उस परिणमन में अनन्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं और वही शक्तियों का यथार्थ परिणमन है। विभाव, आत्मा का यथार्थ परिणमन नहीं है - ऐसा कहकर उसकी बात उड़ा दी, यानि अज्ञानियों को उस शक्ति का निर्मल-मोक्षमार्गरूप परिणमन नहीं होता। यहाँ जो बात चल रही है, वह तो शक्तियों के निर्मलपरिणमन की बात है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके अनेकान्त द्वारा जिसने भगवान आत्मा को प्रसिद्ध किया है, उसके अभेद परिणमन में यह समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से उछलती हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व तो समस्त जीवों को अनादि काल से है ही; उत्पाद-व्यय -ध्रुवरहित कोई जीव एक क्षण भी नहीं हो सकता, किन्तु ज्ञानी अपने ऐसे स्वभाव को जानता हुआ, उसके आश्रय से निर्मलतारूप उत्पन्न होता है और अज्ञानी उस स्वभाव को नहीं जानता; इसलिए पराश्रय से विकाररूप उत्पन्न होता है - बस! इसी में धर्म-अधर्म का समावेश हो जाता है। स्वाश्रित निर्मलपरिणमन, वह धर्म और मोक्षमार्ग है तथा पराश्रित विकारीपरिणमन, वह अधर्म और संसार है।

जिस प्रकार अभव्य जीव के भी ज्ञानगुण तो अनादि-अनन्त परिणमित होता है; ज्ञान, परिणमन के बिना एक समय भी नहीं होता, किन्तु उसे अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है; इसलिए वह ज्ञानशक्ति का आश्रय करके परिणमित नहीं होता, इसी कारण उसे ज्ञानशक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं होता। ज्ञानशक्ति के साथ अभेद होकर परिणमित न होकर, पर के साथ एकता मानकर परिणमित होता है, वह ज्ञान का यथार्थ परिणमन नहीं है। ज्ञानशक्ति के साथ एकता करके परिणमित हो, वही ज्ञान का यथार्थ परिणमन है। उसी प्रकार यह उत्पादव्ययध्रुवशक्ति भी समस्त जीवों में त्रिकाल है और उसका परिणमन भी हो रहा है किन्तु अज्ञानी को स्वभाव में अभेद परिणमन नहीं है; इसलिए अकेला विभावरूप परिणमन है, वह विभावरूप परिणमन भी उसकी अपनी शक्ति का विपरीत परिणमन है, वह पर के कारण नहीं है। यदि विभावरूप परिणमन पर के कारण होता हो तो उस समय उसकी शक्ति का अपना तो कोई कारणपना ही न रहा; इसलिए शक्ति ही नहीं रही, और शक्ति के बिना, आत्मा भी नहीं रहा! इसलिए यह दृष्टि विपरीत है। विभावपरिणमन भी उसका अपना है किन्तु वह स्वभाव के साथ एकमेक नहीं है; इसलिए वह शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं है - ऐसा ज्ञानी जानते हैं। जो अकेले विभाव के ही क्रमरूप परिणमित हो, उसको वास्तव में आत्मा ही नहीं कहते। यद्यपि 'आत्मा' मिटकर वह कहीं जड़ नहीं हो गया है किन्तु उसे स्वयं कहाँ आत्मा की खबर है? उसे स्वयं आत्मा की खबर नहीं है; इसलिए उसकी दृष्टि में आत्मा है ही नहीं। क्रम और अक्रमरूप से वर्तन के स्वभाववाला आत्मद्रव्य है, उसका आश्रय (रुचि और लीनता) करके जो परिणमित हुआ, उसी को आत्मा की प्रसिद्धि हुई है, यानी जो स्वाश्रय करके निर्मलतारूप से परिणमित हुआ, वही वास्तव में आत्मा है।

'आत्मा का क्रम-अक्रम स्वभाव है; इसलिए उसकी पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी' - ऐसा कोई कहे तो उसकी बात झूठ हैं। आत्मा के क्रम-अक्रम स्वभाव (उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति) को वह समझा नहीं है। भाई! अक्रमपना तो गुणों की ध्रुवता की अपेक्षा से है; पर्याय अपेक्षा से कहीं अक्रमपना नहीं है; पर्यायें तो कमवर्ती स्वभाववाली ही हैं।

वस्तु के समस्त गुण सहभावी हैं, अर्थात् एक साथ सर्व प्रदेश में हैं; एक-दूसरे का साथ नहीं छोड़ते; इसलिए उनसे क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है और पर्यायें, क्रमभावी हैं; इसलिए एक के बाद दूसरी होती है। दो पर्यायें एक साथ नहीं होतीं; इसलिए उनमें कालभेद है।

पर्यायें क्रमवर्ती होने पर भी उल्टी-सीधी नहीं हैं किन्तु नियत हैं। जिस प्रकार वस्तु के सर्व गुण एक साथ ही वस्तु में सर्व प्रदेशों में व्याप्त है, उनमें से कभी कोई गुण कम या अधिक नहीं होता; उसी प्रकार वस्तु के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में तीन काल की पर्यायें अपने-अपने समय में व्याप्त हैं। तीन काल की पर्यायों का प्रवाह, नियत विद्यमान है; पर्यायों की क्रमबद्धधारा की सन्धि कभी नहीं टूटती। इस प्रकार पर्याय को 'क्रमवर्ती' कहने से उसका अर्थ 'निश्चित् क्रमबद्ध' होता है - उसका स्पष्टीकरण किया।

कोई ऐसा कहे कि 'क्रमवर्ती' का अर्थ मात्र 'एक के बाद एक' - इतना ही करना चाहिए; एक के बाद एक होनेवाली पर्याय में अमुक समय अमुक ही पर्याय होगी - ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। क्रमवर्तीपर्याय कहने से एक के बाद एक तो ठीक, किन्तु किस समय कौन पर्याय होना है, उसका क्रम भी निश्चित है। प्रमेयकमलमार्तण्ड (३-२८) में 'क्रमभाव' के लिए नक्षत्रों का दृष्टान्त दिया है।

जिस प्रकार २८ नक्षत्र निश्चित् क्रमबद्ध हैं; ७ बार (दिन) निश्चित् क्रमबद्ध हैं; उसी प्रकार द्रव्य की तीनों काल की पर्यायें भी निश्चित क्रमबद्ध हैं। पर्यायों की क्रमबद्ध न माने तो वस्तु में उत्पाद-व्यय सिद्ध नहीं होते; उत्पाद-व्यय के बिना, ध्रुवता भी नहीं रह सकती और उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के बिना, वस्तु ही 'सत्' सिद्ध नहीं होती, क्योंकि 'सत्' सदैव उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त ही होता है; उत्पाद-व्यय-ध्रुवरहित कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। अहो! एक उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति के वर्णन में ही कितना रहस्य भरा है!

यहाँ २८ नक्षत्रों का उदाहरण देते समय २८ मूलगुण याद आ गये। देखो, प्रकृति के नक्षत्र २८ हैं और मुनियों के मूलगुण भी पूरे २८ हैं – ऐसा प्राकृतिक मेल है। मुनिदशा भी सहज ही प्राकृतिकस्वभाव के साथ सम्बन्ध रखनेवाली है न!

–उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति तो प्रत्येक आत्मा में सदैव है किन्तु जो जीव, उत्पाद –व्यय–ध्रुवस्वभावी आत्मा का लक्ष्य करके परिणमित हो, उसे इस शक्ति का भान हुआ कहा जाता है और उसी को इसका यथार्थ परिणमन होता है। इसी प्रकार सभी शक्तियों में समझना चाहिए। जैसे कि प्रभुत्वशक्ति तो समस्त आत्माओं में त्रिकाल है किन्तु अज्ञानदशा में उसका भान न होन से, उसका विकारीपरिणमन है। जब प्रभुत्वस्वभाव का भान करके उसके आश्रय से परिणमित हुआ, तब प्रभुता का यथार्थ परिणमन हुआ और उसी प्रकार अकार्यकारणशक्ति भी प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल है; उसका परिणमन भी सदैव होता ही रहता है किन्तु अज्ञानी को उस शक्ति का भान नहीं है; इसलिए उसे उसका वास्तविक परिणमन नहीं होता। ज्ञानी को अपने अकार्यकारणस्वभाव का (–विकार का कार्य नहीं और विकार का कारण नहीं – ऐसे ज्ञानस्वभाव का) भान होने से पर्याय भी उस स्वभावरूप परिणमित हो गयी; इसलिए पर्याय में भी अकार्यकारणपना व्याप्त है। इस प्रकार सभी शक्तियाँ, द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों में व्याप्त होती हैं। यह मुख्य समझनेयोग्य बात है। कोई ऐसा कहे कि अकार्यकारणपना पर्याय में नहीं होता तो उसने वास्तव में अकार्यकारणशक्ति को जाना ही नहीं है। अकार्यकारणशक्ति को यथार्थरूप से जान ले और पर्याय में उसका निर्मलपरिणमन न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है। उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति तो जड़ में भी है किन्तु उसकी शक्ति उसी में है, आत्मा में उसका नास्तिपना है। यहाँ तो आत्मा के ज्ञानमात्र भाव के साथ रहनेवाली शक्तियों का यह वर्णन है। यह शक्तियाँ ज्ञानमात्र भाव के साथ परिणमित होती हैं; जिसे ज्ञानमात्र भाव की खबर नहीं है और अकेले विभाव का ही परिणमन वर्तता है, उसके शक्ति का यथार्थ परिणमन नहीं है। पर्याय के क्रम को इधर –उधर मोड़ देने की बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्याय के क्रम में जिसके अकेले विभाव का ही परिणमन है, उसे भी वस्तु के क्रम–अक्रमस्वभाव की खबर नहीं है। वस्तु के क्रम –अक्रम स्वभाव को जाने तो स्वसन्मुख परिणमन हुए बिना न रहे और उसके क्रम में

अकेला विभावपरिणमन रहे ही नहीं, किन्तु साधकदशा हो जाये। विभावपरिणमन में क्रमपना होने पर भी, वह आत्मा की त्रैकालिक शक्ति के अवलम्बन से हुआ परिणमन नहीं है; इसलिए वास्तव में वह आत्मा ही नहीं है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नाम की शक्ति एक है और क्रम-अक्रमरूप वर्तन उसका कार्य है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि क्रम-अक्रमपना अकेली उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति में ही है, और दूसरे गुणों में नहीं। उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति द्रव्य की है; इसलिए द्रव्य के सर्व गुणों में भी वह व्यापक है; इसी से प्रत्येक गुण, गुणरूप से ध्रुव रहकर, क्रमवर्तीपर्यायरूप से परिणमित होता है - ऐसा क्रम-अक्रमपना प्रत्येक गुण में भी है और ऐसे द्रव्य का आश्रय लेकर परिणमित होने से शक्ति का यथार्थ (सम्यक्; निर्मल) परिणमन होता है। - इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय अभेद होकर परिणमित हुए, उसी को वास्तव में आत्मा कहा जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप को समझने पर, ध्रुव के आश्रय से पर्याय का निर्मल -परिणमन होने लगता है।

द्रव्य, ध्रुवरूप रहकर पर्याय प्रति समय बदलती है; प्रत्येक गुण भी ध्रुव रहकर बदलता है और पर्याय नियमित क्रमानुसार बर्तती है। इस प्रकार वस्तु क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तन करने के स्वभाववाली है। क्रम-अक्रमरूप वर्तन कहो या उत्पाद-व्यय-ध्रुवता कहो; क्रम तो उत्पाद-व्यय को सूचित करता है और अक्रम, ध्रुवता को। विकारीपर्याय या निर्मलपर्याय, प्रत्येक अपने अपने क्रम में वर्तती है; उनमें से जो किसी भी पर्याय के निश्चित्क्रम को इधर-उधर करने में मानता है, उसे वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है - ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है। इसमें मुख्य विशेषता यह है कि वस्तु के ऐसे स्वभाव का जो निर्णय करता है, वह वस्तुस्वभाव का ज्ञाता हुआ; इसलिए उसके अपने में निर्मलपर्याय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। स्वभावशक्ति की प्रतीति होने पर, उसके आश्रय से निर्मलपर्याय परिणमित होने लगती है फिर साधकदशा में अल्प विकार का परिणमन रहा, उसका वह ज्ञाता है; विकार का वास्तव में कर्ता नहीं है और न उस पर्याय के क्रम को इधर-उधर करने की बुद्धि है। देखो, किसी भी शक्ति से आत्मा का निर्णय करने पर, ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमन करता है - यही उसका फल है।

आत्मा की उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है। आत्मा में ज्ञान के साथ

उत्पाद-व्यय-ध्रुवता भी प्रति समय हो रही है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब गुणरूप से ध्रुव रहकर, प्रति समय एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिवर्तित होते रहते हैं। आनन्द भले ही ज्यों का त्यों रहता है किन्तु जो पहले समय का आनन्द था, वही दूसरी समय नहीं रहता, दूसरे समय आनन्द की नयी अवस्था का उत्पाद और पहली अवस्था का व्यय होता है, तथा आनन्दगुण की अखण्डरूप से ध्रुवता बनी रहती है - इस प्रकार पर्याय, उत्पाद-व्यय से क्रमवर्ती है और गुण, ध्रुवरूप से अक्रमवर्ती है - ऐसा वस्तुस्वभाव है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' - ऐसा सूत्र का वचन है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पाद -व्यय-ध्रुवतायुक्त है। प्रति समय नयी पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश और द्रव्य-गुण की स्थिरता, समस्त वस्तुओं में होती है। उनमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें, क्रमवर्ती है; एक साथ समस्त पर्यायें नहीं वर्ततीं, किन्तु एक के बाद एक वर्तती है और ध्रुवरूप गुण, अक्रमवर्ती हैं, समस्त गुण, त्रिकाल एक साथ ही वर्तते हैं।

देखो, यह वस्तुस्वरूप! अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने से ही हैं। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही एक अवस्था बदलकर, दूसरी अवस्थारूप होता है। यह बात समझे तो मेरी अवस्था दूसरा कोई बदल देता है - ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अपने ध्रुवस्वभाव की ओर उन्मुखता हो; ध्रुव के साथ पर्याय की एकता होने से निर्मलपर्यायरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

जिस समय अपूर्व सिद्धदशा का उत्पाद, उसी समय संसारदशा का व्यय और आत्मद्रव्य की ध्रुवता:, जिस समय सम्यग्दर्शन का उत्पाद, उसी समय मिथ्यात्वदशा का व्यय, और श्रद्धागुण की ध्रुवता - इस प्रकार एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना है। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना वस्तु में त्रिकाल है किन्तु जब उसका भान करके स्वाश्रय से परिणमित हो, तब निर्मलता का उत्पाद और मलिनता का व्यय होता है।

आत्मा के उत्पाद-व्यय अपने से ही हैं; इसलिए विकार भी अपने से ही होता है। यह तो ठीक, किन्तु अपनी पर्याय में जिसे मात्र विकार की ही उत्पत्ति भासित होती है, उसने वास्तव में आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना। 'मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव मुझमें ही हैं' - ऐसा जिसने निर्णय किया, वह किस ओर देखकर किया? मेरे स्वभाव से ही मेरे

उत्पाद-व्यय-ध्रुव हैं - ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि तो अपने स्वभाव पर आयी; इसलिए उसके मात्र विकार की ही उत्पत्ति नहीं रह सकती, उसके तो स्वभावदृष्टि में निर्मलपर्याय प्रगट होकर साधकदशा प्रारम्भ हो जाती है। जिसे ऐसी साधकदशा होती है, उसी को पर्याय के विकार का यथार्थज्ञान होता है - यह मूलभूत न्याय है।

अपने कारण से क्रमबद्ध 'विकार' होता है - इस प्रकार मात्र विकारदृष्टिवाले को वास्तव में क्रमबद्धपर्याय की अथवा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है, क्योंकि यदि शक्ति की प्रतीति हो जाये तो शक्तिवान के अवलम्बन से निर्मलपरिणमन प्रारम्भ हुए बिना न रहे। त्रिकाली गुणी के साथ अभेद होकर पर्याय का परिणमन हो, वह धर्म है।

'सर्वज्ञ भगवान ने क्रमबद्धपर्याय में देखा है; इसलिए मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होते हैं' - इस प्रकार मात्र विकार के क्रम को देखनेवाले की दृष्टि महान विपरीत है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! तू सर्वज्ञ का नाम न ले; तूने सर्वज्ञदेव को माना ही नहीं है। तू सर्वज्ञ को नहीं मानता, किन्तु मात्र विकार ही देखता है; तुझे क्रमबद्धपर्याय की भी खबर नहीं है। जो सर्वज्ञदेव को प्रतीति में ले, उसके तो अपनी साधकदशा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है, मात्र विकार का क्रम उसके नहीं रहता। जिसे स्वभाव के आश्रय से अमुक निर्मलपरिणमन हुआ है और शेष अल्प विकार रहा है - ऐसे साधक जीव की यह बात है। उसी को अपने क्रम-अक्रम स्वभाव की (उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वभाव की) तथा सर्वज्ञदेव की सच्ची प्रतीति हुई है। अकेले विकार के वेग में बहता हुआ आत्मा, स्वभावशक्ति की प्रतीति कहाँ से करेगा? जो विकार के प्रवाह में बह रहा है, वह जीव किसके आधार से स्वभाव की प्रतीति करेगा और किसके आधार से सर्वज्ञ को मानेगा? स्वभावोन्मुख जीव, विकार को भी यथावत् जानेगा और वही सर्वज्ञता को यथार्थतया मानेगा।

(१) जिस प्रकार कर्म का उदय हो, उसी प्रकार विकार होता है - ऐसा माननेवाले की मान्यता महान विपरीत है।

(२) कोई दूसरा ऐसा कहे कि सर्वज्ञभगवान ने अपनी पर्याय में विकार का होना ही देखा है; इसलिए विकार होता है - तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है।

(३) तीसरा कोई ऐसा कहे कि पर्याय का क्रमबद्ध होने का स्वभाव है; इसलिए

विकार होता है तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है। वास्तव में उसने क्रमस्वभाव को जाना ही नहीं। जिसके मात्र विकार का ही क्रम वर्तता है, उसे वास्तव में क्रमबद्धपर्याय को श्रद्धा नहीं हुई है।

(४) चौथा कोई ऐसा कहे कि विकार होता है, उतना ही आत्मा है अथवा शुभराग, वह धर्म का कारण है तो उसकी मान्यता भी विपरीत है।

(५) मेरा आत्मा उत्पादव्ययध्रुवत्व आदि अनन्त शक्तियों का पिण्ड है – इस प्रकार अनन्त गुणों के पिण्डरूप ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करने से, गुणों में अक्रमता और पर्याय में निर्मल क्रम – ऐसे आत्मा का अनुभव हुआ और उसी को शक्तियों का सच्चा परिणमन हुआ, उसी ने यथार्थ रीति से सर्वज्ञदेव को जाना, उसी को क्रमबद्धपर्याय का भान हुआ; वह कर्म से विकार होना नहीं मानता और विकार से लाभ नहीं मानता। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता रखकर, अस्थिरता के अल्प विकार को वह ज्ञाता, यथावत् ज्ञेयरूप से जानता है।

पर्याय अन्तरोन्मुख होकर, त्रिकाली द्रव्य-गुण के साथ अभेद होकर परिणमित हुई, तभी सचमुच 'आत्मा को' माना है और तभी आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अथवा गुणपर्यायरूप स्वभाव है, उसकी सच्ची प्रतीति कब हुई कहलाती है ? तो कहते हैं कि गुणी के अवलम्बन से निर्मलपर्याय प्रगट करे तब। जो मात्र विकार को ही देखते हैं और उसी में तन्मय होकर परिणमित होते हैं, उन्होंने वास्तव में अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा को स्वीकार नहीं किया है। यदि अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा को माने तो उसके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि निर्मलपरिणमन हुए बिना न रहे। किसी भी शक्ति की प्रतीति, ध्रुव स्वभाव के आश्रय से ही होती है। अभेद आत्मस्वभाव का आश्रय लिए बिना, उसकी एक भी शक्ति की यथार्थ पहिचान नहीं होती।

आत्मा के अनन्त स्वभावों में से एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा वस्तुरूप से नित्यस्थायी रहकर, उसमें प्रति समय नयी-नयी अवस्थाएँ होती रहती हैं – ऐसा उसका स्वभाव है। वह अवस्था यदि अपने स्वभाव के

साथ एकता करके परिणमित हो तो निर्मल होती है और यदि पर के साथ एकता मानकर परिणमित हो तो मलिन होती है।

यहाँ तो उत्पाद-व्ययरूप पर्याय को क्रमवर्ती कहा है, उसमें से 'क्रमबद्धपर्याय' की बात निकलती है। इस क्रमबद्धपर्यायरूप स्वभाव के निर्णय में विकार की बात नहीं है किन्तु निर्मलपर्याय की ही मुख्य बात है तथापि उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि विकारीपर्याय उल्टी-सीधी हो जाती है! परन्तु क्रमबद्धस्वभाव का निर्णय करनेवाले की दृष्टि साधक -स्वभाव पर होती है; इसलिए वह दृष्टि विकार को स्वीकार नहीं करती, इसलिए निर्मलपर्याय की ही मुख्यता है।

एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता, यह तो जैनशासन की मुख्य बात है; उत्पाद -व्यय और ध्रुवता तीनों एक समय में; ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति करें तो वीतरागी दृष्टि हो जाए। जिस प्रकार रवि-सोम-मङ्गल सातों बार एक के बाद क्रमशः होते हैं; उसी प्रकार पर्यायें क्रमशः होती हैं। पहले समय की अवस्था, दूसरे समय नहीं रहती किन्तु उसका व्यय हो जाता है। कोई जीव, एक पर्याय को दूसरे समय रखना चाहे तो भी नहीं रह सकती - ऐसा ही स्वभाव है। इसलिए क्या करना चाहिए? - कि ध्रुवस्वभाव जो नित्य स्थायी शुद्ध ज्यों का त्यों है, उसके सन्मुख देख और उसमें दृष्टि की एकाग्रता कर तो उस ध्रुव के आधार से पर्याय का निर्मल परिवर्तन हो जाएगा। वहाँ भी प्रति समय परिवर्तन तो होगा, किन्तु वे पर्यायें निर्मलज्ञान-आनन्दस्वरूप होती जाएँगी।

एक समय की पर्याय, दूसरे समय नहीं रहती; दूसरे समय नयी पर्याय हो - ऐसा उत्पाद-व्ययस्वभाव है और द्रव्य का कभी विनाश न हो, ऐसा ध्रुवस्वभाव है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव पृथक्-पृथक् नहीं हैं किन्तु एक ही वस्तु का वैसा स्वभाव है। ज्ञानी या अज्ञानी सभी आत्माओं को उत्पाद-व्यय-ध्रुव प्रति समय वर्तते ही हैं किन्तु उनमें अन्तर इतना है कि ज्ञानी के तो स्वभावदृष्टि से निर्मलपर्यायों की उत्पत्ति होती जाती है और अज्ञानी के विकार में ही आत्मबुद्धि होने से विकारीपर्यायों की उत्पत्ति होती है। बस, यही धर्म-अधर्म है; मोक्षमार्ग और संसारमार्ग इसी में आ जाते हैं।

मेरे आत्मा में एक साथ अक्रमरूप से अनन्त गुण प्रवर्तमान हैं और पर्याय प्रति

समय मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव से बदलती हैं - इस प्रकार, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभावी आत्मा को पहचानकर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करे, वहाँ मिथ्यात्व का उत्पाद रहता ही नहीं।

आत्मा का कौन-सा समय पर्यायरहित होता है ? उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति आत्मा में अनादि अनन्त है; इसलिए तीन काल में एक भी समय पर्यायरहित नहीं है; उत्पाद -व्यय-ध्रुवस्वभाव से प्रति समय पर्यायें होती ही रहती हैं। इसलिए निमित्त आये तो पर्याय होती है और न आये तो नहीं होती - यह बात नहीं रहती। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा होने पर ज्ञातादृष्टापने का वीतरागभाव प्रगट होता है; पर्याय के क्रम को बदलने की या राग के कर्तृत्व की बुद्धि नहीं रहती। उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति में क्रम-अक्रमता आती है, उस क्रम-अक्रमता की प्रतीति अकेली पर्याय को देखने से नहीं हो सकती; अनन्त शक्तिवान स्वभाव की ओर देखने से ही क्रम-अक्रमपने की प्रतीति होती है और ऐसी प्रतीति करनेवाले को पर्यायबुद्धि नहीं रहती। इस प्रकार पर्यायबुद्धि का नाश और स्वभावबुद्धि की उत्पत्ति, इन शक्तियों को समझने का फल है।

उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति, आत्मा में भी है और जड़ में भी है। आत्मा के उत्पाद -व्यय-ध्रुव में शरीर की क्रिया नहीं है; शरीर की क्रिया तो जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में है। प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरे से भिन्न हैं। मन-वाणी-देह-लक्ष्मी आदि के उत्पाद-व्यय का आत्मा में अभाव है। उन जड़ के उत्पाद-व्यय, आत्मा से भिन्न हैं; इसलिए उनसे आत्मा में कुछ नहीं होता और न आत्मा उनका कुछ करता है। शरीर-लक्ष्मी आदि जड़ का सदुपयोग करके मैं धर्म प्राप्त करूँ, यह बात भी नहीं रहती। कोई ऐसा विचार करे कि खरगोश के सींगों पर मैं अच्छी चित्रकारी करूँ, तो वह उसकी भ्रमणा है, क्योंकि खरगोश के सींगों का अभाव है। जिस प्रकार खरगोश के सींगों का अभाव है; उसी प्रकार आत्मा में देहादि जड़ का अभाव है; इसलिए उन देहादि के सदुपयोग द्वारा धर्म करूँ - यह भी अज्ञानी की भ्रमणा ही है।

अपने ज्ञानस्वभाव के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में आत्मा वर्तता है; अकेला पुण्य-पाप में प्रवर्तमान हो, वह वास्तव में आत्मा नहीं है और जड़ की क्रिया में तो आत्मा कभी वर्तता ही नहीं है; जड़ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में जड़ वर्तता है। अज्ञानी, पर की क्रिया का

अभिमान करके, अपने अनन्त गुणों का अनादर करता हुआ अनादि काल से विकार में ही प्रवर्तमान है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। अपने गुण-पर्यायों में अभेद होकर वर्ते, वह आत्मा है। आत्मा और उसके गुण-पर्यायों में सचमुच भेद नहीं है। अनादि से अपने गुण-पर्यायों में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप से आत्मा प्रवर्तमान ही है किन्तु अज्ञानी उस ओर नहीं देखता; इसलिए विकाररूप परिणमित होता है। अपने स्वभाव सन्मुख होकर निर्मल -दशारूप परिणमित होना और मलिनता का नाश करना तथा ध्रुवरूप से स्थित रहना - वह आत्मा का कर्तव्य है। कर्तव्य कहो या मोक्ष का उपाय कहो। अज्ञानी अपने ऐसे कर्तव्य से च्युत होकर विकाररूप परिणमित होता है किन्तु पर में तो वह भी किञ्चित् कर्तव्य नहीं कर सकता। वस्तु के उत्पाद-ध्रुवस्वभाव को बराबर समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जाएँ। वस्तु स्वभाव को स्वीकार किए बिना, किसी प्रकार धर्म नहीं हो सकता और न मिथ्यात्वादि पाप मिट सकते हैं।

जिसने ज्ञानानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसका स्वीकार किया, उसे आत्मा के अनन्त गुणों का आदर है और क्षणिक विकार का आदर नहीं है। जहाँ अनन्त गुणों का आदर है, वहाँ चारित्रदोष की आशक्ति से अल्प पाप परिणाम हों, तथापि वे बहुत मन्द हैं, अनन्त गुणों के आदर के निकट उनकी कोई गिनती नहीं है और अज्ञानी जीव, आत्मस्वभाव के अनन्त गुणों का अनादर करके क्षणिक विकार का आदर करता है - वह जीव पुण्यपरिणाम करता हो, तथापि उस समय भी धर्म के अनादर के अनन्त पाप का सेवन कर रहा है। मूलधर्म क्या है और मूलपाप क्या है, उसे समझे बिना जीवों का अधिकांश भाग पुण्य में या बाह्यक्रिया में ही धर्म मानकर अटक रहा है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! अनन्त गुणों का आधार ऐसा तेरा आत्मस्वभाव है, उसका आदर करना ही मुख्य धर्म है और उस स्वभाव का अनादर ही महान पाप है। स्वभाव के आदर से विकार दूर होता है; उसके बदले जो विकार के आधार से विकार को दूर करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव का तिरस्कार कर रहा है।

शरीर-मन-वाणी के परिवर्तन की क्रिया (उत्पाद-व्यय) आत्मा में स्वरूप में नहीं है; इसलिए वह क्रिया, आत्मा की नहीं है और न आत्मा को उससे धर्म होता है।

पुण्य-पाप के उत्पाद-व्ययरूप क्रिया, जीव की पर्याय में होती है किन्तु वह

विकारीक्रिया है; वह भी जीव को हित का कारण नहीं है, उसके लक्ष्य से हित नहीं होता।

जीव की पर्याय में निर्मलता के उत्पादरूप क्रिया हो, वह धर्म है किन्तु उस निर्मलता की उत्पत्ति किसके लक्ष्य से होती है ? पर्याय सन्मुख लक्ष्य रखने से तो विकार की उत्पत्ति होती है, निर्मलपर्याय के लक्ष्य से भी निर्मलता की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए पर्याय का लक्ष्य भी हितकारी नहीं है। पूर्ण शक्तिसम्पन्न ध्रुवस्वभाव है, उसी के लक्ष्य से सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय प्रगट होती हैं और वही हितरूप है। यहाँ आचार्य भगवान आत्मा की शक्तियाँ बतलाकर, उन्हीं का आश्रय कराना चाहते हैं।

आत्मा का एक ऐसा स्वभाव है कि क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तमान हो। समस्त गुण एक साथ अनादि-अनन्त अक्रम विद्यमान हैं और अनादि-अनन्त काल की पर्यायें क्रमवर्तीरूप से स्थित हैं। वे अपने व्यवस्थित क्रमानुसार एक के बाद एक वर्तती हैं - ऐसा क्रमवर्ती स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को स्वीकार करने पर, एक-एक पर्याय या एक-एक गुण से दृष्टि हटकर, अनन्त गुणों के पिण्डरूप अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि स्थिर हो जाती है, और उस दृष्टि में क्रमशः निर्मलपर्यायों को उत्पत्ति होती है। इसका नाम साधकदशा और यही मोक्ष का मार्ग है!

अपने ऐसे स्वभाव का यथार्थ श्रवण करके उसका ग्रहण और धारण, पूर्व अनन्त काल में एक क्षण भी नहीं किया है। जो जीव, एक बार भी ज्ञानी के पास से ऐसे स्वभाव की बात सुनकर अन्तरङ्ग उल्लासपूर्वक उसे ग्रहण कर ले तो अल्प काल में उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। मेरा स्वभाव क्या है ? ऐसा लक्ष्य करके जीव ने कभी सच्चा श्रवण नहीं किया। पूर्व काल में कभी सुनने को मिला और धारणा भी की, किन्तु आत्मा में उसे अपना बनाकर नहीं जमाया।

देखो, यह आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभावी वस्तु है; उसके ज्ञानादि गुण नये बनाये गये हैं या अकृत्रिम हैं ? यदि नये बनाये गये हों तो वे क्षणिक होंगे और उनका नाश हो जाएगा; इसलिए आत्मा का ही नाश हो जाएगा - किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। 'पर्यायें' नवीन उत्पन्न होती हैं और उसका नाश होता है किन्तु गुण कभी नये उत्पन्न नहीं होते और न उनका कभी नाश होता है। गुण तो वस्तुनिष्ठ हैं, वस्तु में अनादि-अनन्त स्थित हैं। वस्तु

या उसके गुण, नवीन उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उसकी अवस्था नयी होती है और वस्तु या उसके गुणों का नाश भी नहीं होता, किन्तु उसकी पर्यायें नष्ट होती हैं। जैसे कि-जीव में सिद्धपर्याय की उत्पत्ति नवीन होती है और संसारपर्याय नष्ट हो जाती है किन्तु कहीं जीवद्रव्य या उसके ज्ञानादि गुण, नये उत्पन्न नहीं होते और न उनका नाश होता है; वे तो सिद्धदशा या संसारदशा के समय ध्रुवरूप रहते हैं। ऐसा उत्पादव्ययध्रुवत्वस्वभाव है।

वस्तु के समस्त गुण, ध्रुवरूप से एक साथ रहते हैं किन्तु पर्यायें एक साथ प्रवर्तमान नहीं होतीं - एक के पश्चात् एक वर्तती है। जिस प्रकार सुवर्ण में उसका पीलापन, वजन आदि एक साथ रहते हैं किन्तु उसकी हार, मुकुट आदि अवस्थाएँ एक साथ नहीं वर्ततीं - ऐसा ही उसका पर्यायस्वभाव है। हार टूटकर, मुकुट हुआ, वहाँ वह अवस्था स्वर्णकार ने नहीं की है किन्तु सुवर्ण ही उत्पाद-व्यय वर्तता है - ऐसा ही उसका पर्यायस्वभाव है। हार टूटकर, मुकुट हुआ, वहाँ वह व्यवस्था स्वर्णकार ने नहीं की है, किन्तु सुवर्ण के ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के कारण उसमें मुकुट अवस्था की उत्पत्ति और हार अवस्था का व्यय तथा सुवर्ण की ध्रुवता है। जो वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव को नहीं जानता, वही दूसरे के कारण अवस्था का होना मानता है; उसकी मान्यता वस्तुस्वभाव से विपरीत, अर्थात् मिथ्या है।

पुनश्च, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव के लक्ष्य से वीतरागता होती है; उत्पाद-व्यय के लक्ष्य से राग-द्वेष होता है। जिस प्रकार सुवर्ण में हार अवस्था का नाश होकर, मुकुट -अवस्था की उत्पत्ति हुई; वहाँ जो पुरुष हार-अवस्था की इच्छा रखता है, उसे उस अवस्था का व्यय होने से द्वेष होता है, जो पुरुष मुकुट-अवस्था की इच्छा रखता है, उसे उस अवस्था की उत्पत्ति होने से राग होता है किन्तु जो पुरुष, सुवर्ण की ध्रुवता को देखता है, उसे तत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि सुवर्ण तो हार या मुकुट-अवस्था के समय ज्यों का त्यों ध्रुव है। उसी प्रकार आत्मा के ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से वीतरागता होती है और क्षणिक पर्याय के उत्पाद-व्यय के लक्ष्य से तो राग-द्वेष होता है।

पर से उत्पाद-व्यय हो, ऐसी बात तो है ही नहीं। जिस प्रकार सुवर्ण में ताँबे का जो भाग होता है, वह उसका मूलस्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्मा को पर्याय में राग-द्वेष

हो, वह आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है; इसलिए आत्मा के स्वभाव को देखनेवाला, राग -द्वेष से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वीतरागता-निर्मलतारूप से उत्पन्न होता है। यहाँ स्वभावदृष्टि में निर्मलक्रम की बात है। वस्तु का ऐसा स्वभाव है कि क्रमबद्धपर्यायरूप से उत्पन्न हो, उस स्वभाव को जो बदलना चाहे, वह मिथ्यादृष्टि होती है। क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तमान जो ज्ञायकस्वभाव है, उसमें एकाग्र होनेवाला जीव, सम्यग्दृष्टि होकर निर्मलपर्याय में क्रमशः आगे बढ़ता-बढ़ता केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तु का स्वभाव, वह धर्म है, उसका यह वर्णन है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवतारूप जो वस्तुस्वभाव है, उसका भान होने पर, पर्याय में धर्म का प्रारम्भ होता है। मेरा ज्ञानस्वभाव अनन्त गुणों का भण्डार है - ऐसी जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ क्रम-अक्रम वर्तनरूप उत्पादव्यय -ध्रुवत्वशक्ति की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है और ऐसी स्वभाव की प्रतीति होने पर, शक्ति के भण्डार में से निर्मलपर्यायों का क्रम भी प्रारम्भ हो गया। इस प्रकार शक्ति के साथ पर्याय को सम्मिलित करके यह बात कही है।

क्षणिकपर्याय के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होने से हानि होती है, उसके बदले पर्याय के लक्ष्य से लाभ होना (सम्यग्दर्शनादि होना) माने, वह मिथ्यादृष्टि है। पर्याय के आश्रय से लाभ माननेवाला क्षणिकपर्याय को ही वस्तु का सर्वस्व मानता है; इसलिए वह पर्याय को दृष्टि छोड़कर, द्रव्यस्वभाव में दृष्टि नहीं करता; इसलिए उसे सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है। ध्रुवस्वभाव, अर्थात् परमज्ञायकस्वभाव, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्रता करने से वीतरागी समभाव रहता है; मात्र पर्याय के विश्वास से कदापि वीतरागी समभाव नहीं रह सकता।

आत्मा का स्वभाव, वीतरागी ज्ञाता है, उसी स्वभाव की ओर ढलकर ज्ञाता रहे तो क्रमबद्धपर्यायों का वीतरागभाव से यथावत् ज्ञाता रहता है किन्तु जो ज्ञातृत्व से च्युत होकर फेरफार करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। जिस प्रकार प्रकृति क्रम में सात दिन या अठ्ठाईस नक्षत्रों का जो क्रम है, वह कभी बदल नहीं सकता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है, उसके ज्ञान में भूल होती है। उसी प्रकार पदार्थों की समस्त पर्यायों का जो क्रम है, वह कभी परिवर्तित नहीं होता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है, उसके

ज्ञान में भूल होती है; इसलिए वह ज्ञाता न रहकर मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति करके क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता ही रहता है। साधकदशा के क्रम में बीच में अस्थिरता का जो राग होता है, उसका भी वह ज्ञाता है।

देखो यह 'क्रमबद्धपर्याय' की अटपटी बात है... किन्तु सरल होकर ज्ञानस्वभाव की महिमा लाकर समझना चाहे तो बिल्कुल सीधी है, यह अपने स्वभाव के घर की बात है। यह अन्तर में जमे बिना किसी प्रकार मार्ग हाथ नहीं आ सकता। सबका ज्ञाता स्वयं है; स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किए बिना, ज्ञान का सच्चा कार्य कहाँ से होगा?

श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि–

'घट पट आदि जाण तुं तेथी तेने मान;
जाणनारने मान नहि, कहिये केवुं ज्ञान?'

अपने ज्ञान में घट–पटादि ज्ञात होते हैं, उन घट–पटादि को तो माने, किन्तु उनका ज्ञान करनेवाले अपने ज्ञानस्वभाव को न पहचाने तो वह ज्ञान कैसा? वह ज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान है। अरे भाई! तू पर को तो जानता है और जो ज्ञाता स्वयं है, उसे नहीं जानता – यह आश्चर्य है। उसी प्रकार यहाँ क्रमबद्ध में भी विकार का और पर का क्रम माने, किन्तु उस क्रम का ज्ञान करनेवाले अपने ज्ञायकस्वभाव को न जाने तो वह ज्ञान कैसा है? – कहते हैं कि मिथ्या है।

पहले अल्प ज्ञान हो और फिर अधिक हो जाये, वहाँ मेरा ज्ञानस्वभाव बदलकर (परिणमित होकर) यह विशेषज्ञान आया है – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता, किन्तु शास्त्रादि बाह्य संयोगों से ज्ञान प्राप्त हुआ – ऐसा वह मूढ़ मानता है; इसलिए संयोगों का लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे ज्ञानस्वभाव का परिणमन होकर उसमें से यह ज्ञान आया है; ऐसा जानने पर ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यग्ज्ञान होकर परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। यदि राग के आश्रय से ज्ञान में वृद्धि होती हो तो राग बढ़ने से ज्ञान बढ़ता जाये और अति राग से परमात्मदशा प्रगट हो जाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। राग का सर्वथा अभाव होने के पश्चात् ही केवलज्ञान और परमात्मदशा प्रगट होती है; इसलिए राग, ज्ञान का कारण नहीं है और संयोग के लक्ष्य से ज्ञान में वृद्धि नहीं

होती, परन्तु संयोग का लक्ष्य छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभाव में लक्ष्य करके लीन होने पर ही केवलज्ञान होता है; इसलिए संयोग के लक्ष्य से ज्ञान नहीं बढ़ता। सम्यग्दर्शन के लिए, सम्यग्ज्ञान के लिए या सम्यग्चारित्र के लिए अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई आधार है ही नहीं। धर्म में अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी के आश्रय का अभाव है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव से आत्मा तो अपने गुणों में अक्रमरूप वर्तता है और पर्यायों में क्रमरूप। इस प्रकार क्रम-अक्रमरूप से प्रवर्तन ही आत्मा का वर्तन है। इसके सिवा आत्मा कभी अपने गुण-पर्यायों से बाहर नहीं वर्तता; इसलिए बाह्य में आत्मा का वर्तन है ही नहीं। अमुक प्रकार से आहार लेना और अमुक वेश में रहना - इस प्रकार आहार या वेश में सचमुच आत्मा का वर्तन नहीं है; उसमें तो जड़ का वर्तन है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय में वर्तता है, वही उसका वर्तन है।

आत्मा का वर्तन कैसे सुधरे? अनादि काल से संयोग और विकार में अपनत्व मानकर, विकारीपर्याय में वर्तता है, वह अशुद्ध वर्तन है; संयोग और राग से पार, ज्ञानानन्दस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानने से निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं। उन निर्मलपर्यायों के क्रम से वर्तना, वह आत्मा का शुद्ध वर्तन है और वही मोक्ष का कारण है। स्वभावोन्मुख होने पर ऐसा शुद्ध वर्तन हुआ, उसमें त्याग और प्रतिज्ञ - आदि सबका समावेश हो जाता है। जो शुद्ध वर्तन प्रगट हुआ, उसके विपरीतता का (असत्यादि का) त्याग ही वर्तता है, और उसमें असत्य का अभाव ही वर्तता है; इसलिए न करने की प्रतिज्ञा भी उसमें आ ही गयी। सर्व प्रथम स्वभाव की सच्ची समझ करना ही अनादि कालीन असत्य का त्याग है। मिथ्यादृष्टि को अनादि से 'धर्म का त्याग' है, वह अधर्म है; आत्मा की सच्ची समझ होने पर उस अधर्म का त्याग हो जाता है। प्रथम सच्ची समझ द्वारा अनादि कालीन मिथ्यात्व का त्याग किये बिना, अव्रत आदि का त्याग कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ कहते हैं कि उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति से द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में वर्तता है। इसमें 'वर्तने' पर भार है। गुण में अक्रमरूप वर्तता है और पर्याय में क्रमरूप वर्तता है - कौन वर्तता है? आत्मद्रव्य। इसलिए ऐसा निर्णय करनेवाले को किसी भी पर्याय में आत्मद्रव्य की दृष्टि-प्रतीति नहीं छूटती। प्रत्येक पर्याय में अखण्ड द्रव्य वर्तता है; इस

प्रकार वर्तनेवाले पर (द्रव्य पर) दृष्टि गयी, वहाँ पर्यायबुद्धि छूटकर, पर्याय में निर्मलता हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक आत्मा का ऐसा स्वभाव है किन्तु यहाँ दूसरे आत्मा का काम नहीं है; स्वयं अपने स्वभाव का निर्णय करके स्वोन्मुख होने की बात है। जो स्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता हुआ, वह अपने स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य से पर को ज्यों का त्यों जानता है। स्वसन्मुख होकर स्वभाव में वर्तन हो, वहाँ विकार या संयोग का वर्तन नहीं रहता और निर्विकार असंयोगीदशा प्रगट होती है, उसका नाम मोक्ष है।

आत्मस्वभावोन्मुख होकर, 'आत्मा पवित्र है' - ऐसा जिस ज्ञानपर्याय ने जाना, वह पर्याय स्वयं भी पवित्र हुई है, पवित्रस्वभाव के आश्रय से उसमें भी पवित्रता की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार स्वभावशक्ति की प्रतीति का फल, मुक्ति है।

बाह्य में रूखा भोजन करें, उसे लोग धर्म मान लेते हैं किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि अरे भाई! जड़ से और राग से अपने आत्मा की भिन्नता का तुझे भान नहीं है और उसे तू धर्म मानता है, तो तू रूखा नहीं किन्तु चिकना ही खाता है; तू राग की चिकनाई का ही उपभोग कर रहा है किन्तु राग से रूखा, ऐसा जो वीतरागी ज्ञानभाव है, उसकी तुझे खबर नहीं है। तुझमें मिथ्यात्वरूपी चिकनाई भरी है, वह महान अधर्म है। राग को या जड़ के संयोग को ज्ञानी अपना आत्मस्वरूप नहीं मानते, किन्तु अपने आत्मा का रागादि से भिन्न ही अनुभव करते हैं; ज्ञानानन्दस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान में उन्हीं को रूखा-रागरहित भाव है; आत्मा के शान्तरस से परिपूर्ण और राग के रस से रहित, ऐसा जो ज्ञानी का भाव है, वही धर्म है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवतास्वभाव से आत्मा स्वयं प्रतिक्षण परिणमित होता है और ध्रुवरूप से स्थित भी रहता है। शब्दों के कारण, ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेषज्ञानरूप से परिणमित होता है। ध्रुवज्ञानस्वभाव के आधार से अज्ञान का नाश होकर सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न - यदि सुनने के कारण, ज्ञान नहीं होता तो फिर किसलिए सुनें?

उत्तर - सुनने के कारण, ज्ञान नहीं होता - यह बात सच है, किन्तु वह निर्णय

किसने किया ? जिसने ऐसा निर्णय किया है, उसके राग की दिशा बदलकर सत्श्रवणादि की ओर ढले बिना नहीं रहेगी। जिज्ञासु भूमिका में मिथ्यात्व के निमित्तों की ओर की वृत्ति छूटकर, सत् निमित्तों की ओर ही वृत्ति जाती है और ज्ञानी के निकट से सत्श्रवण का भाव, सत्श्रवण का प्रेम और उत्साह आता है। 'वाणी से ज्ञान नहीं होता; इसलिए सुनने का क्या काम है ?' – ऐसा स्वच्छन्द का भाव, उसे आयेगा ही नहीं। सत्श्रवण के समय भी मन्थन तो अपने ही भाव का हो रहा है न! हाँ, श्रवण के समय भी राग पर या पर्याय पर उसका भार नहीं होता, किन्तु ज्ञानी जो स्वभाव समझाना चाहते हैं, उस स्वभाव की ओर ही उसका भार होता है... जहाँ से ज्ञान का प्रवाह आता है, ऐसे द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन करना ही ज्ञानी बतलाते हैं और सच्चे श्रोता का भार भी उसी पर है। इसके सिवा, राग से या वाणी से ही लाभ मानकर, उस पर जो भार दे, वह सच्चा श्रोता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं कहते।

पुनश्च, सत्स्वभाव का भान होने के पश्चात्, ज्ञानी को भी बारम्बार सत्श्रवण का भाव आता है; वहाँ सचमुच वाणी सुनने का राग नहीं किया है किन्तु अपनी निर्बलभूमिका होने से राग हो गया है और उस राग का लक्ष्य, सत् निमित्त की ओर ही ढलता है। उस राग और श्रवण के समय भी ज्ञान की रुचि का जोर तो अपने सत्स्वभाव की ओर ही है; निमित्त या राग पर उसकी रुचि का जोर नहीं है। रुचि का जोर किस ओर काम कर रहा है, उस पर धर्म-अधर्म का आधार है। आत्मा का उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाव है, उसे पहचाने तो पर की या विकार की ओर रुचि का जोर न रहकर, ध्रुव स्वभावोन्मुख ही हो जाए। आत्मा में उत्पाद -व्यय-ध्रुवता आदि अनन्त शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित हो रही हैं।

प्रश्न – आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, ऐसा भगवान ने देखा है; इसलिए कहते हो – या आत्मा में हैं, उसे जानकर कहते हो ?

उत्तर – वस्तु के स्वभाव में ऐसा है और भगवान ने भी ऐसा ही देखा है, किन्तु भगवान की प्रतीति किसने की ? सर्वज्ञ भगवान की प्रतीति करनेवाले के अपना ज्ञान है न!! इसलिए अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, उसी में यह सब आ जाता है। अपने ज्ञानस्वभाव

की प्रतीति को साथ लिये बिना, अकेले भगवान के नाम से माने, वह यथार्थमार्ग नहीं है। यह बात तो अपने आत्मा को साथ लेकर है। अपने आत्मा की ओर उन्मुख होकर, उसकी प्रतीति किये, बिना भगवान की या भगवान के मार्ग की सच्ची पहचान नहीं होती। यहाँ आत्मा की शक्तियों के वर्णन में भी, अभेद आत्मस्वभाव के आश्रयपूर्वक ही उसकी शक्तियों का निर्णय हो सकता है – ऐसा समझना।

[आत्मा की अनन्त शक्तियों में से, अठ्ठारहवीं उत्पादव्ययध्रुवशक्ति का वर्णन यहाँ पूरा हुआ।]

[१९]

परिणामशक्ति

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति।

द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित (स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति।

महिमावन्त् भगवान आत्मा अनन्त धर्मों से प्रसिद्ध है। सर्व सन्त और सर्व शास्त्र प्रसिद्धरूप से उसकी महिमा गाते हैं... अन्तर में ऐसे आत्मा की प्रसिद्धि किस प्रकार हो, उसकी यह बात है। हे जीव! अनन्त शक्तिसम्पन्न तेरी आत्मा को जानकर, तू राजी हो... खुशी हो... आनन्दित हो।

आत्मा के हित की सच्ची लालायिततावाला जीव उसके प्रयत्न के लिए मुहूत न बनावे... अपूर्व अन्तर प्रयत्न जगे, तब ही आत्मा की प्राप्ति होगी।

यह आत्मा को शक्तियों का वर्णन चल रहा है। ज्ञानस्वरूप आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ उल्लसित होती हैं, वह आचार्यदेव ने बतलाया है। उन शक्तियों के द्वारा अनन्त शक्ति के पिण्डरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मा को पहिचान कर, उसमें एकाग्र होने पर श्रद्धा -आनन्दादि का निर्मलपरिणमन होता है, उसका नाम धर्म है।

श्रद्धा का मूल, ज्ञान का मूल, आनन्द का मूल आत्मा है; वह आत्मा कैसा है ? इसे जब तक यथार्थरूप से न जाने—अनुभव न करे, तब तक श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के अंकुर नहीं फूटते। आनन्द कौन से पदार्थ में भरा है ? - जिसके सन्मुख होने से आनन्द का वेदन हो। आत्मा क्या वस्तु है ? जिसे लक्ष्य में लेकर चिन्तवन करने से आनन्द हो। उसका जब तक यथार्थ श्रवण-ग्रहण-धारण और निर्णय भी न हो, तब तक चिन्तन कहाँ से करेगा तथा उसके आनन्द का अनुभव कहाँ से होगा ? अहो! महिमावन्त भगवान आत्मा, अनन्त धर्मों

से प्रसिद्ध है; उसकी महिमा प्रसिद्धरूप से सर्व सन्त और शास्त्र गाते हैं किन्तु उस ओर उन्मुख होकर अपनी पर्याय में जीव ने कभी उसकी प्रसिद्धि नहीं की। भगवान आत्मा की प्रसिद्धि कैसे हो, अर्थात् पर्याय में उसका प्रगट अनुभव कैसे हो, वह यहाँ बतलाते हैं।

स्वसंवेदन ज्ञानरूप लक्षण द्वारा भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है। ज्ञानलक्षण को अन्तरोन्मुख करके, आत्मा को लक्ष्य बनाने से चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनुभव होता है। उस अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ श्रद्धा, आनन्द, वीर्य, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्त शक्तियाँ भी साथ ही उछलती हैं; इसलिए अनन्त शक्तियों में से कुछ शक्तियों का यहाँ आचार्यदेव ने वर्णन किया है, उनमें 'जीवत्व' से लेकर 'उत्पादव्यय -ध्रुवत्व' तक की १८ शक्तियों पर विस्तृत प्रवचन हो गये हैं। अब, १९वीं परिणामशक्ति है।

परिणामशक्ति कैसी है? 'द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित, सदृश और विसदृश जिसका रूप है, ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति है।' आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में यह शक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

पहले तो ऐसा कहा कि ध्रौव्य, व्यय और उत्पाद-यह तीनों द्रव्य के स्वभावभूत हैं; किसी अन्य के कारण नहीं हैं। जिस प्रकार ध्रुव-स्थितिपना अपने स्वभाव से ही है, किसी अन्य के कारण नहीं है; उसी प्रकार प्रति क्षण नयी पर्याय की उत्पत्ति भी अपने स्वभाव से ही है, पर के कारण नहीं है। जो पर निमित्त के कारण, आत्मा के परिणामों का उत्पन्न होना मानता है, उसने परिणामशक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना। उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य के स्वभावभूत है और द्रव्य का अस्तित्व ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव से आलिङ्गित है, अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुव की भिन्न-भिन्न तीन सत्ताएँ नहीं हैं किन्तु एक ही सत्ता उन तीनों से एक साथ स्पर्शित है; उस सत्ता का अस्तित्व ध्रुवता की अपेक्षा से तो सदृश है और उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से विसदृश है। ऐसे अस्तित्वमात्रमय परिणामशक्ति है। ध्रुवता के बिना, परिणाम काहे में होगा और उत्पाद-व्यय के बिना परिणाम किस प्रकार होगा? उत्पाद-व्यय और ध्रुवता के बिना परिणाम हो नहीं सकता; इसलिए कहा है कि ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिङ्गित ऐसे एक अस्तित्वमात्रमय परिणामशक्ति है। 'उत्पादव्यय -ध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'सत् द्रव्य लक्षणं' - इन दोनों महत्वपूर्ण (तत्वार्थसूत्र के) सूत्रों का इसमें समावेश हो जाता है। अस्तित्वमात्र कहकर सत्पना बतलाना है।

यद्यपि परिणामशक्ति तो आत्मा और जड़, समस्त द्रव्यों में है किन्तु इस समय तो आत्मा की बात है। प्रत्येक आत्मा में परिणामशक्ति त्रिकाल है। अज्ञानदशा, साधकदशा अथवा सिद्धदशा – उस प्रत्येक के समय परिणामशक्ति का परिणमन तो वर्त ही रहा है किन्तु परिणामशक्तिवाले आत्मा का भान करके उसका आश्रय करने से परिणामशक्ति का निर्मल परिणमन होता है। इस प्रकार शक्तियों का निर्मल परिणमन हो, वही धर्म है; उसी में आत्मा की प्रसिद्धि है।

जिस प्रकार घर में लाखों के मूल्य का एक आभूषण पड़ा हो, किन्तु जब तक उसकी प्रसिद्धि नहीं है, अर्थात् उसकी खबर नहीं है, तब तक तो वह घर में होने पर भी न होने के समान ही है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा, ज्ञान-आनन्दादि अनन्त शक्तियोंरूपी आभूषणों से भरपूर है किन्तु जब तक उसका भान नहीं है, तब तक वह अप्रसिद्ध है, अर्थात् अज्ञानी का तो आत्मा विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है, उसे उसकी प्रसिद्धि नहीं है और अन्तर्मुख होकर आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करने से उसकी प्रसिद्धि होती है, अर्थात् आत्मा की शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित होकर उसका प्रगट अनुभव होता है। ऐसी आत्मा की प्रसिद्धि हो, उसका नाम धर्म है।

अठ्ठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति के वर्णन में अनेक स्पष्टीकरण आ गये हैं, तदनुसार यहाँ भी समझना। अठ्ठारहवीं शक्ति में क्रमप्रवृत्ति और अक्रमप्रवृत्ति कहकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये थे और यहाँ सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्व कहकर, परिणामशक्ति बतलायी है। ध्रुव अपेक्षा से सदृशता है और उत्पाद-व्यय-अपेक्षा से विसदृशता है – ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव के बिना, परिणाम हो ही नहीं सकता। अकेली ध्रुवरूप नित्यता ही हो और उत्पाद-व्यय न हो तो प्रति क्षण नये परिणाम की उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार यदि सर्वथा क्षणिकता ही हो तथा ध्रुवता न हो तो दूसरे क्षण वस्तु का सत्पना ही न रहे; इसलिए नये परिणाम भी काहे में से होंगे ? इस प्रकार अज्ञान दूर होकर, ज्ञान; दुःख दूर होकर, आनन्द और संसार दूर होकर, मोक्ष इत्यादि परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के बिना नहीं हो सकते। इसलिए कहा है कि यह परिणामशक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुव से बुने हुए अस्तित्वमय है। आचार्यदेव ने एक-एक शक्ति में गूढ़रूप से वस्तुस्वरूप को गूँथ दिया

है। अनादिकालीन अज्ञान में से पलट कर अन्तर्मुख होकर, नित्य स्थायी ज्ञानस्वभाव के साथ एकता करके अनुभव किया, वहाँ ज्ञान का निर्मलपरिणमन हुआ और उस परिणमन में ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव से बुना हुआ अस्तित्व भी साथ ही है, अर्थात् ज्ञान के साथ परिणमनशक्ति भी साथ ही उछलती है; इसलिए अनेकान्त अबाधितरूप वर्तता है।

ध्रुवता तथा व्यय और उत्पाद – ये तीनों मिलकर आत्मा का अस्तित्व है। अकेली पर्याय को ही देखें और ध्रुवद्रव्य को प्रतीति में न ले तो अस्तित्व की प्रतीति नहीं होती; इसलिए मात्र पर्यायदृष्टि द्वारा आत्मशक्ति की प्रतीति नहीं हो सकती – यह मुख्य रहस्य है।

पुनश्च, कहा कि उत्पाद-व्यय-ध्रुव, वह द्रव्य के स्वभावभूत है, वह अपने से ही होता है। पर्याय की उत्पत्ति, पर के कारण होती है अथवा निमित्त आये, वैसी पर्याय होती है – ऐसा जो मानता है, उसने उत्पाद को स्वभावभूत नहीं माना; इसलिए उत्पाद-व्यय -ध्रुवरूप अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ और ऐसा होने से अनन्त शक्तिवाला आत्मा ही सिद्ध नहीं हुआ। इस प्रकार पर के कारण जो पर्याय की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उसकी पर्याय में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में सदृशपना और विसदृशपना दोनों विद्यमान हैं। गुणों की ध्रुवता अपेक्षा से सदृशता है, अर्थात् एकरूपता रहती है – गुण ज्यों के त्यों रहते हैं और अवस्था के उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से विसदृशता है, अर्थात् अन्य-अन्यपना है। एक अवस्था का व्यय होता है और दूसरी की उत्पत्ति होती है – इस प्रकार उसमें विसदृशपना है किन्तु गुणों में से एक का व्यय होकर, दूसरे की उत्पत्ति हो – ऐसा नहीं है, वे तो ज्यों के त्यों रहते हैं; इसलिए उनमें सदृशपना है। पर्याय में 'विसदृशपना' कहा, वह वहीं विकारोपना सूचित नहीं करता बल्कि परिवर्तनपना सूचित करता है। सिद्धभगवन्तों को सदैव ज्यों की त्यों निर्मलपर्याय ही होती रहती है, तथापि वहाँ भी पर्याय का विसदृशपना तो है ही। ज्यों की त्यों पर्यायें होने पर भी पहली पर्याय, दूसरी नहीं है और दूसरी, वह तीसरी नहीं है – इस प्रकार विसदृशपना है।

ध्रुवशक्तिरूप से वस्तु एकरूप होती है किन्तु पर्यायरूप से एकरूप नहीं होती। यदि ध्रुवरूप से एकरूप न हो और विसदृश हो तो आत्मा, चेतन मिटकर जड़ हो जाए, किन्तु

ऐसा नहीं होता। चेतन तो चेतनरूप ध्रुव रहता है और यदि पर्याय से भी एकरूपता हो तो संसारपर्याय दूर होकर, मोक्षपर्याय हो ही नहीं सकती, किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु ध्रुवरूप से सदृश-एकरूप रहती है, तथापि पर्याय में उत्पाद-व्ययरूप विसदृशपना है-ऐसा वस्तु का स्वभाव है। उत्पाद-व्यय, यह दोनों एक ही नहीं हैं; उत्पाद तो सद्भाव है और व्यय, अभाव है; वे दोनों एक ही समय में होने पर भी, उनमें भिन्न-भिन्न पर्याय की विवक्षा है। जो नष्ट हो गयी, उस पर्याय की अपेक्षा से व्यय है, वर्तमान वर्तती हुई पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है और अखण्डरूप गुण की अपेक्षा से ध्रुवता है। ऐसा उत्पाद-व्यय-ध्रुव का स्वरूप है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवसहित अस्तित्व है, और ऐसे अस्तित्वमय परिणामशक्ति है। ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में यह शक्ति भी साथ ही है। यह शक्ति न हो तो परिणाम ही कहाँ से होगा? ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके पूर्ण आत्मा को लक्ष्य बनाकर उसका अनुभव करने से एक साथ यह सब शक्तियाँ उसमें परिणमित हो रही हैं - निर्मलरूप से उल्लसित हो रही हैं।

प्रश्न : पर्याय में विकार भी है तो सही?

उत्तर : विकार है, वह सचमुच शक्ति का परिणमन नहीं है क्योंकि शक्ति का परिणमन, वास्तव में उसी को कहते हैं जो शक्ति के साथ अभेद होकर निर्मलरूप से परिणमित हो। जो शक्ति का आश्रय छोड़कर, पर के आश्रय से विकाररूप परिणमित हो, उसे वास्तव में शक्ति का परिणमन नहीं कहते। साधक को अनन्त शक्ति के पिण्डरूप आत्मा के आश्रय से शक्ति का निर्मलपरिणमन होता है और किञ्चित् अशुद्धता है, वह शुद्धद्रव्य की दृष्टि में अभूतार्थ है - गौण है; इसलिए उसका अभाव ही माना है। पर्याय में अल्प विकार होने पर भी उसका अभाव कहना, वह अपूर्व अन्तरदृष्टि की बात है; वह उसी की समझ में आ सकती है, जिसकी दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर हो।

यहाँ जिन शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो आत्मा के अतिरिक्त जड़ में भी हैं किन्तु यहाँ तो आत्मा की ही बात है और उसमें भी जिसकी पर्याय में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है - ऐसे साधक जीव को लक्ष्य करके यह बात कही है। ज्ञानमात्र आत्मा के अनुभव में साधक को अनन्त शक्तियाँ किस प्रकार उछलती हैं, वह

यहाँ बतलाना है। अज्ञानी को तो आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है, आत्मा के ज्ञानलक्षण की भी उसे खबर नहीं है; वह तो रागलक्षणवाला या शरीरलक्षणवाला ही आत्मा को मानता है; आत्मा की या उसकी शक्ति की उसे खबर ही नहीं है। अहो! इन शक्तियों का वर्णन करके तो आचार्यदेव ने आत्मा के स्वभाव की अद्‌भुत महिमा प्रसिद्ध की है; ज्ञानमात्र आत्मा में कितनी गम्भीरता भरी है, उसे खोलकर बतलाया है।

प्रश्न : यदि एक ज्ञानमात्रभाव में ही इन सब शक्तियों का समावेश हो जाता है, तो फिर इतनी सारी शक्तियों का अलग-अलग वर्णन किसलिए करते हो? इन सब शक्तियों को समझने में तो बड़ी मेहनत होती है।

उत्तर : अरे भाई! इन शक्तियों को समझ ले तो अन्तर में आनन्द की तरङ्गें उछलने लगें। इसे समझने में 'मेहनत' नहीं है किन्तु अनन्त काल की थकावट दूर करने का यह मार्ग है। और 'ज्ञानमात्र भाव में समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है' - ऐसा कहा, वह तो अभेद अनुभव की अपेक्षा से कहा है, अर्थात् ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके जहाँ अभेद आत्मा को अनुभव में लिया, वहाँ कहीं भिन्न-भिन्न शक्तियों का विचार नहीं है; वहाँ तो अभेद आत्मा के परिणमन में समस्त शक्तियाँ एक साथ निर्मलरूप से परिणमित हो रही हैं। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव में समस्त शक्तियों का समावेश हो जाता है, ऐसा कहा है किन्तु अकेले ज्ञानगुण में कहीं अन्य समस्त गुण नहीं आ जाते। यदि एक गुण में, दूसरे समस्त गुण आ जायें तब तो एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो गया! किन्तु ऐसा नहीं है। 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' द्रव्य के आश्रय से अनन्त गुण विद्यमान हैं किन्तु एक गुण के आश्रय से, दूसरे गुण नहीं हैं - इस प्रकार अनन्त गुण से अभेदरूप आत्मवस्तु की दृष्टि करने के लिए यह वर्णन है। आत्मा का स्वभाव अनेकान्तमय किस प्रकार है, अर्थात् उसमें अनन्त धर्म किस प्रकार है, वह स्पष्ट समझाने के लिए आचार्यदेव ने यह वर्णन किया है। इसलिए जिज्ञासुओं को यह बात अवश्य ही समझना चाहिए।

इस एक आत्मा का अन्य पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; इसलिए यहाँ पर के साथ सम्बन्ध की बात ही नहीं है और विकार की भी बात नहीं है, क्योंकि पर के साथ का सम्बन्ध छोड़ देने से अकेले आत्मस्वभाव में विकार नहीं है। विकार, यह आत्मा का

स्वभाव नहीं है। यह तो आत्मा के स्वभाव की बात है; आत्मा के स्वभाव में कैसे-कैसे धर्म विद्यमान हैं, वह यहाँ बतलाते हैं। इस प्रकार 'अनेकान्त', आत्मा को पर से अत्यन्त भिन्न और अपने अनन्त धर्मों से परिपूर्ण बतलाता है - ऐसे आत्मा को जानना, उसकी श्रद्धा करना, अनुभव करना, वह मुक्तिमार्ग है।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, वे सब 'सत्' हैं। आत्मा भी अनन्त हैं, प्रत्येक आत्मा भिन्न -भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। द्रव्य का लक्षण 'सत्' है, वह सत्पना उत्पाद-व्यय-ध्रुवता, यह तीनों मिलकर द्रव्य का सत्पना है। 'ध्रुवता', अर्थात् वस्तु में नित्य स्थायी रहने का भी स्वभाव है और 'उत्पाद-व्यय', अर्थात् बदलने का भी स्वभाव है। स्थायी रहना और बदलना - यह दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु यह दोनों मिलकर ही द्रव्य का सत्पना है - ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवतायुक्त सत्ता के बिना, द्रव्य के परिणाम सिद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा की परिणामशक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्तामय है। एक परिणामशक्ति में नित्यपना और अनित्यपना दोनों का समावेश होता है।

नित्यता का निर्णय करनेवाला तो अनित्य है; यदि पर्याय बदलती न हो तो अनादि कालीन अज्ञानदशा पलटकर ज्ञानदशा हुए बिना, आत्मद्रव्य की नित्यता का निर्णय कौन करेगा? नित्यता का निर्णय तो पर्याय में होता है और वह पर्याय, अनित्य है तथा यदि निर्णय करनेवाला आत्मा अखण्ड नित्य स्थायी न हो तो उस निर्णय के फल को कौन भोगे और वह निर्णय किसके आधार से करे? इसलिए वस्तुरूप से आत्मा स्वयं नित्य भी है; सदैव 'मैं...मैं' - ऐसे संवेदन से उसकी नित्यता का अनुभव होता है और पर्याय में दुःख-सुख, अज्ञान-ज्ञान इत्यादि अनेक परिवर्तनों के अनुभव से, उसकी अनित्यता सिद्ध होती है। हे जीव! शरीर और रागादि को अलग कर देने से अकेला ज्ञान रहा, वह भी स्वतः ऐसे परिणाम -स्वभाववाला है; उसमें आनन्द है, प्रभुता है, स्वच्छता है, चैतन्यमय जीवन है इत्यादि अनन्त शक्तियाँ, तेरे ज्ञानमात्र स्वभाव का अभिनन्दन करती हैं। इसलिए तू पर की ओर न देखकर, अन्तर्दृष्टि करके ऐसे अपने आत्मस्वभाव को देख... अपने आत्मा के अनन्त निधान को देख। उसे देखते ही तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा और कहीं पर के आश्रय से लाभ होने की मिथ्याबुद्धि दूर हो जाएगी।

सदृशता और विसदृशता – ऐसे दोनों स्वभाववाला तेरा अस्तित्व है। अशुभ विचार बदलकर शुभ होते हैं – यह तो सबको अनुभव सिद्ध है; विसदृशता के बिना विचार परिवर्तन नहीं हो सकता और पहले मैं अशुभविचार में था तथा अब शुभविचार में हूँ – इस प्रकार अपनी अखण्डता का अनुभव होता है, वह सदृशता के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार सदृशता और विसदृशता (अर्थात्, उत्पाद-व्यय और ध्रुवता) के बिना, परिणामरूप कार्य हो ही नहीं सकता। एक परिणामशक्ति में यह सब आ जाता है। परिणामशक्ति आत्मा की है; इसलिए अपनी पर्याय के उत्पाद-व्यय (सम्यक्त्व का उत्पाद, मिथ्यात्व का व्यय इत्यादि) अपने स्वभाव ही होते हैं; किन्हीं कर्म आदि निमित्तों के कारण, आत्मा के परिणाम नहीं होते।

आत्मा, गुणरूप से स्थायी रहता है और अवस्था से बदलता है; उत्पाद-व्ययरूप से बदलना और ध्रुवरूप से स्थायी रहना – ऐसा ही उसका स्वभाव है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव-यह तीन भिन्न-भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं किन्तु तीनोंरूप एक ही सत्ता है। यदि वस्तु स्थित रहकर बदले, तभी नया कार्य होता है। यदि स्थित ही न रहे तो उसका नाश हो जाए और यदि बदले ही नहीं तो कार्य न हों। जैसे कि-लकड़ी के रजकण बदलें तो वह जलकर राख हो जाती हैं; यदि वे बदलें ही नहीं तो राख न हो। इसी प्रकार, प्रत्येक वस्तु का उत्पाद -व्यय-ध्रुव स्वभाव है।

जैसे-दस तोला सुवर्ण की वर्तमान में हार अवस्था है, वह बदलकर चूड़ी हुई; वहाँ पूरा दस तोला सुवर्ण स्थित रहकर, हार में से चूड़ी अवस्थारूप परिवर्तित हुआ है; इसलिए वह सुवर्ण स्थित भी रहा है और बदला भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय -ध्रुवरूप परिणामस्वभाववाली है। यहाँ वस्तु का सूक्ष्म स्वभाव समझाने के लिए, सुवर्ण का स्थूल उदाहरण है। आत्मा तो स्वाभाविक वस्तु है, सुवर्ण कहीं मूल-स्वाभाविक वस्तु नहीं है, वह तो संयोगी वस्तु है। यह संयोग की बात स्वभाव में पूरी तरह लागू नहीं होती। सुवर्ण के भाग करते-करते, जिसके किसी प्रकार दो भाग न हो सकें, ऐसा अन्तिम पाइन्ट (परमाणु) रहे, वह मूलवस्तु है। सुवर्ण तो नष्ट भी हो सकता है किन्तु परमाणु कभी नाश नहीं होता। यहाँ तो दृष्टान्तरूप से समझाने के लिए सुवर्ण को मूलवस्तु माना जाता है। जिस प्रकार आकार बदलने पर भी सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है; लकड़ी नहीं हो जाता और

सुवर्णरूप से ध्रुव रहने पर भी उसके विविध आकार बदलते हैं। सुवर्ण तो संयोगी वस्तु होने से अल्प काल टिकता है; उस अल्प काल के दृष्टान्त पर से त्रिकाली वस्तु का स्वभाव समझ लेना चाहिए। आत्मा में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञानादि अवस्थाएँ बदलती हैं और ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यहाँ तो यह विशेष बतलाना है कि स्थित रहकर, अवस्था बदलती है; वह अपने स्वभावभूत है। किसी अन्य के कारण आत्मा स्थित नहीं रहता और किसी अन्य के कारण उसकी अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार अन्य समस्त पदार्थों में भी अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवता वर्तती है।

देखो, ऐसे वस्तुस्वभाव की प्रतीति, वह वीतरागता का कारण है। किसी दूसरे के कारण सुख-दुःख होते हैं, यह बात ही नहीं रहती। जगत में जो जीव दुःखी हैं, वे अपनी पर्याय के ही वैसे उत्पाद से दुःखी हैं और अपनी दुःखपर्याय को बदलकर सुखपर्याय का उत्पाद भी वे स्वयं करें तो होता है; दूसरा जीव उनकी पर्याय नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति का पिण्ड है किन्तु उसकी सम्भाल न करके, शरीर पर लक्ष्य रखकर 'शरीर ही मैं हूँ' - ऐसा मानता है और शरीर में कुछ होने पर मुझे हुआ, ऐसा मानकर अपनी भिन्न सत्ता को भूल जाता है; इसलिए जीव दुःखी है। जब तक स्वयं देह से भिन्न चैतन्यसत्ता की सम्भाल न करे, तब तक उसका दुःख दूर नहीं होता।

यह एक सिद्धान्त है कि दुःख किसी बाह्य संयोग के कारण नहीं हुआ है; इसलिए बाह्य संयोग द्वारा दुःख दूर नहीं होता, किन्तु स्वयं विपरीतभाव से दुःख उत्पन्न करता है वह अपने सीधे भाव से मिटता है। दूसरा कोई न तो दुःख दे सकता है और न मिटा सकता है।

देखो, 'मैं दुःख दूर करूँ' - ऐसा विचार आता है किन्तु 'मैं आत्मा का ही नाश कर डालूँ' - ऐसा विचार नहीं आता; अर्थात् स्वयं नित्यस्थायी रहकर दुःख अवस्था बदलकर, सुख अवस्था करना चाहता है। इस प्रकार 'मुझे दुःख दूर करके सुखी होना है'- इसी में उत्पाद-व्यय-ध्रुव की ध्वनि आ जाती है। आत्मा त्रिकाल है और दुःख क्षणिक है, वह दुःख दूर हो सकता है। दुःख कौन दूर करता है? जिसने उत्पन्न किया, वह; दूसरे देखनेवाले ने कहीं वह दुःख उत्पन्न नहीं किया है; इसलिए वह उसे दूर नहीं कर सकता।

शरीर में रोग होने पर, अपना अस्तित्व उससे भिन्न होने पर भी, अपने भिन्न अस्तित्व को चूककर 'यह रोग मुझे हुआ' – ऐसी मिथ्या कल्पना से स्वयं दु:खी होता है। मैं तो चैतन्य हूँ, देह के उत्पाद-व्यय-ध्रुव से, मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव बिलकुल भिन्न हैं; मेरे उत्पाद -व्यय-ध्रुव में मेरी अनन्त शक्तियाँ परिणमित हो रही हैं – इस प्रकार स्वशक्ति की सम्भाल करे तो उसमें कहीं दु:ख है ही नहीं।

मैं पर का दु:ख दूर नहीं कर सकता – ऐसा ज्ञानी को भान होने पर भी, राग की भूमिका में दु:खी जीवों के प्रति (उस प्रसङ्ग के कारण नहीं, किन्तु अपने राग के कारण) करुणा आदि का भाव हो जाता है; केवली भगवान आदि वीतरागी जीवों को ऐसा राग नहीं होता। धर्मात्मा को किसी समय रोग होता है और औषधि करने का राग भी होता है, किन्तु वहाँ विवेक वर्तता है कि रोग के कारण, राग नहीं है और राग के कारण, औषधि आदि की अथवा रोग मिटने की क्रिया नहीं होती तथा राग या दवा, वह कहीं दु:ख मिटने का उपाय नहीं है। मेरी सहनशीलता की निर्बलता के कारण, राग होता है; वह राग भी मेरे चिदानन्दस्वरूप में नहीं है; चिदानन्दस्वरूप के आश्रय से राग टालना, वह दु:ख दूर करने का उपाय है – इस प्रकार ज्ञानी यथार्थ उपाय को जानते हैं; इसलिए राग की ओर उसके अभिप्राय का जोर नहीं जाता; इसलिए उसका राग अत्यन्त-मन्द है। अज्ञानी तो सब विपरीत मानता है – रोग के कारण, राग मानता है और राग द्वारा औषधि आदि का संयोग प्राप्त कर सकता हूँ – ऐसा मानता है; इसलिए संयोग से दु:ख दूर करने का उपाय मानता है; इसलिए उसका जोर संयोग और राग की ओर ही जाता है, इसलिए उसका राग महान शक्तिवान है। इस प्रकार दोनों के रागसम्बन्धी अभिप्राय की दिशा में महान अन्तर है।

अज्ञानी अनुकूल संयोग से सुख और प्रतिकूल संयोग से दु:ख, ऐसा मानता है; इसलिए दु:ख दूर करके, सुख करने के लिए वह संयोग की ओर ही देखता रहता है किन्तु संयोग से भिन्न अपने आत्मा की ओर देखना उसमें नहीं होता; इसलिए उसे संयोग के आश्रय से राग-द्वेष होते ही रहते हैं; वीतरागी शान्ति का अनुभव नहीं होता।

ज्ञानी, अपने को संयोगों से सुख-दु:ख नहीं मानते; उन्हें अनुभव है कि सुख अपने स्वभाव में ही है और जितनी बहिर्मुखवृत्ति जाये, उतना दु:ख है; इसलिए वे दु:ख दूर करने

के लिए पर की ओर नहीं देखते, किन्तु अपने स्वभाव के अन्दर के अनुभव की ओर झुकते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की शक्तियाँ बतलाकर, स्व-द्रव्योन्मुख होना बतलाते हैं।

जगत के समस्त द्रव्य, सत् हैं और उनकी परिवर्तनशीलता उनके स्वभाव से ही है; उसके बदले अज्ञानी उनकी सत्ता को अस्वीकार करके कहता है कि - मैं उन्हें बदल सकता हूँ, यानि वह सचमुच अपनी चैतन्यसत्ता को पर से भिन्न स्वीकार नहीं करता; विपरीत अभिप्राय द्वारा स्वयं अपनी सत्ता का ही घात करता है, उसका नाम आत्मघात है और उस आत्मघात को महान पाप कहा है। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव, मेरी सत्ता में ही हैं और पर के उत्पाद-व्यय-ध्रुव, पर की सत्ता में ही हैं; दोनों की सत्ता भिन्न-भिन्न है। स्व से है, पर से नहीं; इसलिए एक के उत्पाद-व्यय-ध्रुव में, दूसरे का कोई हाथ नहीं है। ऐसा जानकर स्वयं अपनी शुद्ध चैतन्यसत्ता को श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में अङ्गीकार करना और पर सत्ता को अपने से भिन्न यथावत् जानना, ऐसा भेदज्ञान आत्मा को जीवित रखता है - आत्मा को प्रसिद्ध करता है। उससे आत्मा जैसा है, वैसे स्वभाव से प्रसिद्ध होकर मुक्ति होती है।

'मैं' और 'वह' - ऐसे दो भेद होते हैं, वे ही बतलाते हैं कि स्व और पर वस्तु की सत्ता भिन्न-भिन्न है; यदि भिन्न सत्ता न हो तो 'यह मैं' और 'यह वह' - ऐसे दो भेद न पड़ें। स्व-पर की सत्ता भिन्न-भिन्न होने पर भी परवस्तु के कार्य मुझसे होते हैं - ऐसा जो मानता है, वह परवस्तु की स्वतन्त्र सत्ता का अधिकार छीनना चाहता है; पर को अपने आधीन मानकर उसकी स्वाधीनता को नष्ट करना चाहता है किन्तु परवस्तु तो कहीं उसके आधीन होकर परिणमित नहीं होती; इसलिए वह अज्ञानी, पर के आश्रय से परिणमित होता हुआ आकुल-व्याकुल होकर स्वयं अपनी स्वाधीनता का घात करता है।

जिस प्रकार एक राजा की सत्ता पर, दूसरा राजा अधिकार करने जाये तो वहाँ युद्ध होता है; उसी प्रकार चैतन्य और जड़, दोनों पदार्थ अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता के राजा हैं, तथापि आत्मा, पर को अपना मानकर, उसकी सत्ता में हस्तक्षेप करने जाये तो वहाँ विसंवाद उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् आत्मा की पर्याय में शुद्धता का घात होकर, अशुद्धता हो जाती है - दु:खी हो जाता है - संसार हो जाता है। पर से अत्यन्त विभक्त और अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों से एकत्व, ऐसी अपनी चैतन्यसत्ता को जानकर - श्रद्धा करके, उसमें

स्थिर रहने से शुद्धता होती है – सुख होता है – मुक्ति होती है और स्वभावाश्रित स्वतन्त्रता से आत्मा शोभायमान होता है।

अहो! जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, उसे इसी समय यह समझनेयोग्य है। आत्मा को भव से छुड़ाने तथा कल्याण करने की जिसे सच्ची लगन लगी हो, वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति छोड़कर, आत्महित का उद्यम करता है। पहले अन्य कार्य कर लें, फिर आत्मा का हित करेंगे – ऐसी अवधि वह बीच में नहीं डालता और उसे ऐसी काल की मर्यादा भी नहीं होती कि अमुक दिन के भीतर हो आत्मा समझ में आ जाये तो समझना है, हमारे पास अधिक समय नहीं है। जहाँ रुचि हो, वहाँ काल की मर्यादा नहीं होती। जिसे आत्मा की रुचि हो – सच्ची लगन हो, वह उसके प्रयत्न के लिये कालावधि नहीं बाँधता और जिसे ऐसी लगन हो, वह अवश्य ही अल्प काल में आत्महित साध लेता है। जिसे संसार में पैसे की प्रीति है, वह ऐसी अवधि निश्चित् नहीं करता कि अमुक समय में ही पैसा मिलेगा तो लूँगा; वहाँ तो काल की चिन्ता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसी में सारा जीवन व्यर्थ गँवा देता है। उसी प्रकार जिसे आत्मा की रुचि जागृत हुई है, वह ऐसी कालावधि नहीं बाँधता कि मैं अमुक समय तक ही आत्मा को समझने का प्रयत्न करूँगा, वह तो काल की चिन्ता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसे अवश्य आत्मा का अनुभव होता है।

आत्मा की रुचि के अभ्यास में जो काल व्यतीत हो, वह भी सफल है। अभी बाहर के व्यापारादि कार्य कर लें, फिर आराम से आत्महित करेंगे – इस प्रकार जो अवधि बाँधता है, उसे वास्तव में आत्मा की लगन नहीं लगी है। अरे, आत्मा की चिन्ता के बिना अनन्तानन्त काल व्यतीत हो गया, तथापि मेरे भवभ्रमण का अन्त नहीं आया; इसलिए अब तो ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे मेरा आत्मा इस भवभ्रमण से छूट जाये – इस प्रकार जिसे अन्तर से आत्मार्थ जागृत हो, वह आत्महित के प्रयत्न बिना एक क्षण भी नहीं गँवाता और ऐसा अपूर्व आन्तरिक प्रयत्न उदित हो, तभी आत्मा की प्राप्ति होती है। भाई! कोई दूसरा तेरा हित कर दे, ऐसा नहीं है; तू ही अपने स्वभाव का उद्यम करके अपना हित कर! स्वभाव भूलकर तूने अभी तक परभाव से अपना अहित किया, अब सत्समागम से यथार्थ स्वभाव को समझकर तू ही अपना अपूर्व हित कर!

अभी जो पर का करने के भाव में रुकता है, वह आत्महित का प्रयत्न कहाँ से करेगा ? यह आत्मा कहीं पर जीव को बचा नहीं सकता, किन्तु पर को बचाने का शुभभाव करे, वह पुण्य है। उस भाव के कारण पर जीव बच जाये, ऐसा नहीं हो सकता तथा उस भाव से आत्मा का कोई हित भी नहीं हो सकता और वह पापभाव है – ऐसा भी नहीं है। वह मात्र पुण्यबन्ध का कारण है। जीवदया के शुभभाव को, पाप कहनेवाले तो मूढ़ हैं; उसे धर्म माननेवाले भी मूढ़-अज्ञानी हैं तथा उस भाव से आत्मा पर का कुछ कर सकता है – ऐसा माननेवाले भी मूढ़-अज्ञानी ही हैं। पर से और पर की ओर के शुभभाव से भी, पार – ऐसे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को पहिचाने, वही धर्मी है।

कुछ मूढ़ जीव ऐसा भी मानते हैं कि काल के अनुसार धर्म भी बदलना चाहिए; आजकल आत्मा को समझने का काल नहीं है, आजकल तो देशसेवा के कार्य में लग जाना ही धर्म है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! क्या आजकल तेरा आत्मा मर गया है ? आत्मा त्रिकाल है तो उसका धर्म भी त्रिकाल एकरूप वर्तता है। क्या चौथे काल का आत्मा भिन्न प्रकार का और पञ्चम काल का भिन्न प्रकार का होता है ? नहीं; आत्मा तो वही है, काल के बदलने से कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं बदल जाता, इसलिए चौथे काल में धर्म का जो स्वरूप था, वही वर्तमान में है। 'एक होय त्रण काल मां परमारथनो पंथ' – धर्म का स्वरूप त्रिकाल एक ही है, उसमें किसी काल फेरफार नहीं होता। जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता। जैनधर्म तो वस्तु का स्वरूप है, अर्थात् आत्मा की शुद्धता, वह जैनधर्म है। आत्मा को काल की मर्यादा में नहीं बाँधा जा सकता; वस्तुस्वरूप का नियम नहीं बदला जा सकता। वस्तुस्वरूप किसी काल विपरीत नहीं होता। चेतनवस्तु जड़ बन जाये अथवा जड़वस्तु चेतन हो जाये – ऐसा किसी काल में नहीं होता तथा जो विकारीभाव हैं, उनसे धर्म हो जाये – ऐसा भी कभी नहीं होता; इसलिए वस्तु स्वभावरूप जैनधर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता।

आत्मा की सत्ता त्रिकाल है; वह गुणरूप से ध्रुव-स्थित रहकर, पर्यायरूप से बदलती है। ऐसे सत्स्वभाव को जिसे श्रद्धा हो, वह समझता है कि मेरे सत् को पर का आश्रय नहीं है ऐसा यथार्थ भान होने से परसन्मुख वृत्ति न रहकर, स्वभावोन्मुख हो जाती है; इसलिए उसे स्वभाव के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप धर्म होता है।

मूढ़ प्राणी कहते हैं कि पहले संसार सुधार लें, फिर धर्म करेंगे, तो उनसे कहते हैं कि अरे भाई! विकारीभाव ही संसार है; वह संसार तो काले कोयले के समान है; यदि उसे सफेद करना हो तो सुलगा दे... अर्थात्, संसार कभी सुधर नहीं सकता; इसलिए स्वभाव के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरण द्वारा विकार को जलाकर तू संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर ले।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है; इसलिए उसके स्वभाव से ही उसका परिणमन होता है किन्तु अज्ञानी जीव, स्वभाव को न देखकर, संयोग से ही देखता है; इसलिए संयोग के कारण कार्य हुआ - इस प्रकार वह विपरीत देखता है। यह 'देखत-भूल' अर्थात् दृष्टि का दोष ही संसार का मूल है और वस्तु के यथार्थ स्वभाव को देखना, वह मोक्ष का मूल है। वस्तुस्वभाव को जाने बिना, बाह्य से ज्ञान की पहिचान नहीं होती और यह भी नहीं जाना जा सकता कि ज्ञानी किस प्रकार धर्म करते हैं। इस सम्बन्ध में बन्दर का दृष्टान्त है इस प्रकार कि—

एक बार कुछ लोगों ने यात्रा करते समय जङ्गल में डेरा डाला। जाड़े के दिन थे, कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी; इसलिए आसपास से सूखे पत्ते और घास इकट्ठा करके उसमें चिंगारी रखकर आग जलाई और तापने बैठे। पेड़ों पर बैठे हुए बन्दर यह सब देख रहे थे। उन्हें भी ठण्ड लग रही थी; इसलिए सोचा कि हम भी इसी तरह आग जलाकर ठण्ड से बचें। उन्होंने घास-पत्ते तो इकट्ठे कर लिए, लेकिन अब चिंगारी कहाँ से लाएँ? मनुष्यों ने कोई चमचमाती हुई वस्तु रखी थी - ऐसा सोचकर उड़ते हुए जुगनुओं को पकड़ा और घास के ढेर में रखा! इस प्रकार बहुत परिश्रम किया, किन्तु बन्दरों से आग नहीं जल पायी और न उनकी ठण्ड ही दूर हुई। उसी प्रकार ज्ञानियों ने तो आत्मा में चैतन्य चिन्गारी प्रगट की है; अन्तर में अतीन्द्रिय स्वभाव की सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-रमणता प्रगट की है; अन्तर में अतीन्द्रिय स्वभाव की सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा उन्हें धर्म होता है और शुभराग के समय वे पूजा-भक्ति-दया दानादि में भी वर्तते हैं। वहाँ अज्ञानी जीव (बन्दरों की भाँति) ज्ञानियों की चैतन्य चिन्गारी को तो नहीं पहिचानते और मात्र पूजा-भक्ति, दया-दानादि शुभक्रिया से ज्ञानियों को धर्म होता होगा - ऐसा समझकर स्वयं भी उसकी को धर्म मानकर, पूजा-भक्ति आदि में वर्तते हैं। ज्ञानी की मात्र बाह्य शुभक्रिया

देखकर, अज्ञानी उसे धर्म मान लेते हैं किन्तु चैतन्य चिन्गारी को नहीं जानते; इसलिए उन्हें धर्म नहीं होता। इस प्रकार स्वभाव को न देखकर, अज्ञानी संयोग को ही देखते हैं। ज्ञानी को उपदेश का भाव आये और हजारों-लाखों जीवों को हित का उपदेश दें, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह दूसरों का भला करते दिखायी देते हैं; इसलिए यही धर्म का उपाय है! किन्तु भाई, तूने जो देखी, वह क्रिया वास्तव में ज्ञानी ने की ही नहीं है और ज्ञानी ने जो क्रिया की है, उसे तूने देखा ही नहीं है। वास्तव में वाणी या राग की क्रिया के कर्ता ज्ञानी नहीं हैं; उन्होंने तो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणता ही की है और उसी के द्वारा धर्म होता है। इसे समझे बिना, मात्र बाह्यक्रिया की नकल करे, वह तो बन्दर की भाँति 'अकल के बिना नकल' है, उसमें धर्म या कल्याण नहीं है।

महावीर भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तक तपश्चर्या की-ऐसा कहें, किन्तु यह न जाने कि भगवान के आत्मा ने अन्तर में क्या किया- उनकी तपश्चर्या का स्वरूप न जाने और आहार छोड़कर ऐसा मान ले कि मैंने भी तपश्चर्या की है तो उसमें किञ्चित् धर्म नहीं है। अहो! भगवान ने तो अन्तर के चैतन्यस्वभाव में लीन होकर आनन्द का अनुभव किया था और उस आनन्द की लीनता में आहार की वृत्ति ही नहीं उठती थी - ऐसी उनकी तपश्चर्या थी। वहाँ अन्तर में आनन्द की लीनता हुई, उसे तो मूढ़ जीव देखते नहीं हैं और मात्र बाह्य के आहारत्याग को ही धर्म मान लेते हैं, वह भी उपरोक्त दृष्टान्त की भाँति 'अकल के बिना नकल' है; उसमें धर्म नहीं है।

धर्म की सत्ता आत्मा में है; जिसकी वृत्ति आत्मसन्मुख है, उसे सर्वत्र धर्म होता है और जिसकी परसन्मुखवृत्ति है, वह चाहे जहाँ हो... वन में हो, मन्दिर में हो या साक्षात् भगवान के पास हो... किन्तु उसे धर्म नहीं होता; किन्तु जहाँ गुण भरे हैं, उसमें तो वह देखता नहीं है। अपने में गुण भरे हैं, वहाँ जो दृष्टि नहीं करता, उसे धर्म नहीं होता। अज्ञानी को मिथ्याश्रद्धा के कारण पूर्ण आत्मा ढँक गया है, उसे यथार्थ आत्मा बतलाकर आचार्यदेव आत्मा की प्रसिद्धि कराते हैं; इसलिए इस समयसार की टीका का नाम भी 'आत्मख्याति' (आत्मा की प्रसिद्धि) रखा है।

भाई! तेरा आत्मा, ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध है, आत्मा को ज्ञानलक्षणवाला कहने से

उस ज्ञान के साथ आनन्दादि अनन्त शक्तियाँ साथ ही हैं। उनमें एक परिणामशक्ति भी है; एक साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवता से आलम्बित, सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्व को आत्मा अपनी परिणामशक्ति द्वारा धारण कर रखता है। इस परिणामशक्ति में 'ध्रुवउपादान' और 'क्षणिकउपादान' दोनों का समावेश हो जाता है। सदृशता अथवा ध्रुवता तो ध्रुवउपादान है और विसदृशता अथवा उत्पाद-व्यय, वह क्षणिकउपादान है - ऐसी परिणामशक्ति को पहिचानने पर 'निमित्त से कार्य होता है' - ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाती है तथा स्वभावाश्रित अनन्त गुणों का निर्मल परिणमन होता है। यही सिद्धि का साधन है।

ऐसे अपने आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न करना ही प्रत्येक का प्रथम कर्तव्य है। आजकल तो लोग, बाह्य में कर्तव्य-कर्तव्य करते हैं। देश का कर्तव्य, कुटुम्ब का कर्तव्य, पुत्र का कर्तव्य, युवकों का कर्तव्य - इस तरह अनेक प्रकार से बाह्य कर्तव्य मनाते हैं और लम्बे-चौड़े भाषण देते हैं किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि भाई! यह सब बाह्य कर्तव्य तो निरर्थक है - व्यर्थ की परेशानी है। इस आत्मा को समझना ही सबका सच्चा कर्तव्य है; उस कर्तव्य का एक बार पालन करे तो मोक्ष प्राप्त हो।

देखो, यह आत्मा का कर्तव्य! बाह्य में कहीं आत्मा का कर्तव्य है? कहते हैं - नहीं; बाह्य का तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता, तथापि कर्तव्य माने तो वह मिथ्याभिमान है। तेरा स्वदेश तो तेरा आत्मा है, अनन्त गुणों से परिपूर्ण असंख्यात प्रदेशी आत्मा ही तेरा 'स्वदेश' है; उसे पहचानकर उसकी सेवा कर, वह तेरा कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त बाहर का देश तो 'परदेश' है, उसमें तेरा कर्तव्य नहीं है। अब, भीतर जो शुभराग होता है, वह तो कर्तव्य है न? - तो कहते हैं कि नहीं; राग भी वास्तव में कर्तव्य नहीं है। राग करता स्वयं है किन्तु वह कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उसमें अपना हित नहीं है। जिसमें अपना हित न हो, उसे कर्तव्य कैसे कहा जा सकता है? अन्तर में अपने चैतन्यमूर्ति आनन्द से भरपूर आत्मा को पहचानकर उसके आश्रय से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना और इस प्रकार आत्मा को भव दु:ख से छुड़ा लेना, वह प्रत्येक जीव का कर्तव्य है।

यह शरीर तेरा नहीं है, शरीर में तेरा कोई कर्तव्य नहीं है और शरीर तुझे शरण नहीं है। तेरी अनन्त शक्ति में राग नहीं है; राग तेरा कर्तव्य नहीं है और राग तुझे शरण नहीं है। तेरा आत्मा, अनन्त शक्ति सम्पन्न है, वहीं तेरा स्वरूप है।

उस शक्ति की सम्भाल करके उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, वह तेरा कर्तव्य है और वह शक्ति ही तुझे शरणभूत है।

इसलिए उसे पहिचानकर उसकी शरण ले और अपना कर्तव्य पूरा कर। मैं पर का कर दूँ - ऐसी मान्यता में जो रुकता है, वह अपना वास्तविक कर्तव्य चूक जाता है। इसलिए हे भव्य! तू पर का करने की बुद्धि छोड़ और आत्महित में अपनी बुद्धि जोड़। आत्मा की सम्भाल कर, उसकी शरण ले और उसकी शरण में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके अपने आत्मा को भवभ्रमण से छुड़ा... और इस प्रकार अपना कर्तव्य पूरा कर। यह मनुष्यभव पाकर अब आत्मा को भव दुःख से छुड़ाना ही हे जीव! तेरा कर्तव्य है।

आत्मा अपनी अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है; उसमें कोई शक्ति कम नहीं है कि दूसरे के पास से ले! और न उसकी कोई शक्ति अधिक है कि दूसरे को दे! आत्मा अपनी शक्ति न तो दूसरे को देता है और न दूसरे के पास से शक्ति लेता है। पर की शक्ति, पर में और अपनी शक्ति, अपने में। समस्त द्रव्य अपनी-अपनी शक्तियों से परिपूर्ण हैं। अपने ऐसे स्वभाव का निर्णय करें तो पर से लाभ लेने की पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अन्तरस्वभाव के आश्रय की वृत्ति हो जाये - इसलिए हे भाई! तू जरा विचार तो कर कि तेरे गुण कहाँ से आते हैं? तेरे गुणों की स्थिरता अथवा दोष दूर होकर निर्मलपर्याय की उत्पत्ति किसी दूसरे के कारण नहीं है किन्तु तेरे आत्मा के परिणामस्वभाव से ही है। किसी के आधार से तेरे गुण-पर्याय नहीं निभ रहे हैं और तू आधार होकर किसी के गुण-पर्याय को नहीं निभाता है; इसलिए तू किसी अन्य से सन्तुष्ट हो या किसी अन्य को सन्तुष्ट कर दे - ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; अपने आत्मा का अवलम्बन करके तू स्वयं सन्तुष्ट हो (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप हो), ऐसा तेरा स्वभाव है। इसलिए अपने आत्मा की निज शक्ति को सम्भालकर तू प्रसन्न हो! अपने निज वैभव का अन्तर अवलोकन करके तू आनन्दित हो। 'अहो! मेरा आत्मा ऐसा परिपूर्ण शक्तिवान.. ऐसा आनन्दस्वभावी है।' - इस प्रकार आत्मा को जानकर सन्तुष्ट हो! हर्षित हो!! आनन्दित हो!!! जो आत्मा को यथार्थरूप से पहचान ले, उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता ही है। इसलिए आचार्यदेव आत्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन करके कहते हैं कि हे भव्य! ऐसे आत्मा को जानकर तू आनन्दित हो!

[-यहाँ उन्नीसवीं परिणामशक्ति का वर्णन हुआ।]

[२०]

अमूर्तत्वशक्ति

कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्ति।

कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये सहज, स्पर्शादि-शून्य (स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित), ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति।

भाई! एक बार तेरे स्वभाव हर्ष ला... घबरा मत... हताश न हो! स्वभाव का उत्साह लाकर तेरी शक्ति को उछाल!

अहो! आनन्दस्वभावी चैतन्य भगवान स्वयं विराज रहा है.... किन्तु अपने सन्मुख न देखकर, विकार के ही सन्मुख देखता है, उससे विकार का ही वेदन होता है; यदि स्वभावसन्मुख देखे तो आनन्द का वेदन हो।

समयसार में आचार्यदेव ने आत्मा को 'ज्ञायकमात्र' कहा है। ज्ञायकमात्र कहा, उसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में एक ज्ञानगुण ही है और दूसरे कोई गुण हैं ही नहीं। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे भी अनन्त गुण आत्मा में अनादि-अनन्त विद्यमान हैं परन्तु ज्ञानादि गुणों से विरुद्ध ऐसे रागादि विकार से, और जड़ से आत्मस्वभाव की भिन्नता बतलाने के लिए, उसे ज्ञानमात्र कहा है और इस प्रकार ज्ञान को लक्षण बनाकर, अनन्त गुणों से अभेद आत्मा लक्षित कराया है। ज्ञानलक्षण से लक्षित होनेवाले आत्मा में कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। उन्नीसवीं 'परिणामशक्ति' का वर्णन हो चुका है, अब २० वीं 'अमूर्तत्व' नामक शक्ति का वर्णन करते हैं।

'कर्मबन्धन के अभाव से व्यक्त किये गए सहज, स्पर्शादिरहित, ऐसे आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तत्वशक्ति है।' ज्ञानमात्र परिणमन में यह शक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

आत्मा, असंख्यप्रदेशी अखण्ड वस्तु है। आत्मा के प्रदेश अमूर्त हैं, उनमें वर्ण, गन्ध, रस या स्पर्श नहीं है। असंख्य प्रदेशों में चैतन्य, सुख-वीर्य और सत्ता से भरपूर तथा

जड़ से रहित, ऐसा अमूर्त आत्मा है। आत्मा के असंख्य प्रदेशों में काला-लाल-हरा-पीला या सफेद, ऐसा कोई वर्ण नहीं है; सुगन्ध या दुर्गन्ध, ऐसी कोई गन्ध भी आत्मा में नहीं है। आत्मा के असंख्य प्रदेश आनन्दरूपी रस से भरपूर हैं किन्तु चरपरा-कड़वा-कसायला -खट्टा या मीठा - ऐसा कोई रस आत्मा में नहीं है तथा रूखा-चिकना, ठण्डा-गर्म, नर्म -कठोर या हलका-भारी, ऐसा कोई स्पर्श भी आत्मप्रदेशों में नहीं है। आत्मा, वर्ण-गन्ध -रस-स्पर्श से शून्य, अमूर्तिक प्रदेशोंवाला हैं। ऐसा अमूर्तिक आत्मा, इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही अनुभव में आता है।

यहाँ आचार्यदेव ने आत्मप्रदेशों को 'कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गए'- ऐसा कहकर निर्मलपर्याय को भी साथ मिलाकर अमूर्तत्वशक्ति का वर्णन किया। इस प्रकार प्रत्येक शक्ति के साथ उस-उस शक्ति का निर्मलपरिणमन भी बतलाते जाते हैं। शक्ति को पहचानकर, उसका सेवन करने से उस शक्ति का निर्मलपरिणमन होता है।

मूर्त कर्म और शरीर के सम्बन्ध में विद्यमान होने पर भी, आत्मा कहीं मूर्त नहीं हो गया है; इस समय भी आत्मा, अमूर्तस्वभावी ही है। भाई! मूर्त, ऐसे कर्म या शरीर तेरे अमूर्त आत्मा के साथ किञ्चित् एकमेक नहीं हो गए हैं। अमूर्त, ऐसा तेरा चैतन्य आत्मा और मूर्त, ऐसे जड़कर्म-दोनों एकक्षेत्र में होने पर भी, स्वभाव से सर्वथा पृथक हैं। सिद्धदशा में कर्म बन्ध का सर्वथा अभाव होने पर, साक्षात् अमूर्तपना प्रगट हुआ, यह बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा तेरा अमूर्तस्वभाव है। सिद्धभगवन्तों को जो अमूर्तपना प्रगट हुआ, वह कहाँ से प्रगट हुआ है? पहले से ही आत्मा का अमूर्तस्वभाव था, वही प्रगट हुआ है। पहले आत्मा, मूर्त था और फिर कर्म टलने से अमूर्त हुआ - ऐसा कुछ नहीं है। पर्याय में मूर्त के सम्बन्ध से आत्मा को मूर्त कहना, वह तो उपचार ही है; वास्तव में आत्मा कहीं मूर्त नहीं है। कर्मोपाधि की ओर न देखने से सहज आत्मप्रदेश अमूर्त हैं। आत्मा के अमूर्तपने का निर्णय करे तो मूर्तिक पदार्थों (शरीर-कर्मादि) के साथ एकत्वबुद्धि छूट जाये और रागादि विकार यद्यपि अरूपी हैं, तथापि वह कर्मसम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं; इसलिए जहाँ कर्म का सम्बन्ध तोड़ दिया, वहाँ विकार के साथ की एकत्वबुद्धि भी छूट जाती है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मेरा ज्ञान, जड़ में चला जाता है, अथवा तो जड़ का रस (गुलाबजामुन का स्वाद आदि) मेरे ज्ञान में आ जाता है किन्तु वास्तव में कहीं अमूर्तिक ज्ञान, मूर्तपदार्थ

में नहीं चला जाता और मूर्तपदार्थ का रस, कहीं अमूर्तिकज्ञान में नहीं आ जाता, किन्तु उस स्वाद आदि को जानने पर, वहीं राग करके उसमें अटक जाता है और ज्ञान के वास्तविक स्वाद को भूल जाता है - भिन्न ज्ञान को भूल जाता है। इस प्रकार अज्ञान से उसे जड़ के साथ एकत्वपने की बुद्धि हो गयी है। ज्ञानी तो जानते हैं कि - हमारा अमूर्तिकज्ञान, जड़ से पृथक् ही है और राग से भी पृथक् है। मेरा ज्ञान तो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादवाला है।

चेतन या जड़, अमूर्त या मूर्त-जैसी वस्तु हो, वैसे ही उसके गुण-पर्यायें होते हैं। आत्मा, अमूर्तिक वस्तु है; वह द्रव्य अमूर्त, उसके सब गुण अमूर्त तथा उसकी पर्यायें भी अमूर्त हैं। जड़-पुद्गल, मूर्त हैं; वह द्रव्य मूर्त, उसके गुण मूर्त तथा उसकी पर्यायें (कर्म -शरीरादि) भी मूर्त हैं। इस प्रकार अमूर्तिक और मूर्तिक दोनों वस्तुओं के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव त्रिकाल भिन्न-भिन्न हैं। एकक्षेत्रावगाहीपना होने पर भी, दोनों के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा के प्रदेश, अमूर्तिक हैं और शरीर-कर्मादि के प्रदेश, मूर्त हैं। आत्मा, अमूर्तिक होने से उसका ज्ञान भी अमूर्त है, उसका सम्यग्दर्शन भी अमूर्त है, उसका आनन्द भी अमूर्त है - इस प्रकार अतीन्द्रियज्ञान का ही विषय होने का उसका स्वभाव है। ऐसे अमूर्त चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि करने पर, जहाँ उसके अवलम्बन से मूर्त कर्मादि समस्त पदार्थों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध टूटा, वहाँ साक्षात् अमूर्त ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक शक्ति का वर्णन करते हुए उस शक्ति की निर्मलपर्याय को तथा सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को साथ ही साथ रखकर यह बात है। द्रव्य की दृष्टि से ही इन शक्तियों की यथार्थ पहचान होती है और इस प्रकार शक्ति की यथार्थ पहचान होने से, उसकी निर्मल -पर्याय होती हैं। - इस प्रकार द्रव्य, गुण और निर्मलपर्याय की सन्धि है। कोई कहे कि द्रव्य-गुणों को माना, किन्तु निर्मलपर्याय नहीं हुई, तो ऐसा होता ही नहीं, उसने वास्तव में द्रव्य-गुण को माना ही नहीं है। निर्मलपर्याय के बिना, द्रव्य-गुण को माना किसने? - माननेवाली तो पर्याय ही है। जो पर्याय, द्रव्योन्मुख होकर द्रव्य को मानती है, वह तो द्रव्य के साथ अभेद हुई निर्मलपर्याय ही है।

यहाँ अमूर्तत्वशक्ति में भी 'कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये...आत्मप्रदेश'

– ऐसा कहकर शक्ति की निर्मलपर्याय बतलायी है तथा पहले संसारदशा में कर्मबन्ध निमित्तरूप से है – ऐसा भी बतलाया है। आत्मा को संसारपर्याय है और उसके निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी है – उसका अस्वीकार करनेवाला उसके अभाव का प्रयत्न नहीं करेगा। यदि जीव, अवस्था की अशुद्धता को तथा उसके निमित्त को यथावत् जान ले तथा अपनी शुद्धशक्ति को पहिचान ले, तभी शुद्धशक्ति का अवलम्बन करके पर्याय में से अशुद्धता दूर करके, शुद्धता प्रगट करे। आत्मा को कर्मों का सम्बन्ध तो कृत्रिम-उपाधिरूप है और कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त हुए आत्मप्रदेश, सहज स्वाभाविक हैं। ऐसे सहज आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तिकपना है – वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है; इसलिए आत्मा त्रिकाल, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित है।

हे भाई! यह शरीर तो जड़-मूर्तिक है, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवाला है, वह तेरा नहीं है; तू तो चैतन्यस्वरूप-अमूर्त है; वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित है। तेरे अमूर्त आत्मप्रदेशों में शरीर, मन-वाणी अथवा राग-द्वेष नहीं भरे हैं किन्तु ज्ञान-श्रद्धा-सुख-वीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। जिस प्रकार गुड़ में मिठास भरी है किन्तु कहीं उसमें कड़वाहट नहीं भरी है; उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं किन्तु विकार नहीं भरा है। विकार तो ऊपरी भाव है, अन्तर के गहरे स्वभाव में विकार नहीं है। आत्मा की स्वभावशक्ति को पकड़कर, उसके आनन्द के अनुभव में लीन रहने से आहार की ओर वृत्ति ही न जाये, उसका नाम उपवास है और ऐसा तप, वह धर्म है। 'आत्मा, आहार लेता है – वह उसने छोड़ दिया, उसके नाम उपवास' – ऐसा अज्ञानी मानते हैं किन्तु भाई! आत्मा तो अमूर्त है, वह मूर्तिकआहार को ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता ही है। आत्मा के कहीं हाथ-पैर नहीं हैं कि वह मूर्तिकवस्तु को ग्रहण करे अथवा छोड़े!

आत्मा को वर्तमान पर्याय से देखने पर, उसे कर्म का सम्बन्ध तथा रागादि भावबन्ध है किन्तु वह वास्तव में आत्मा नहीं है क्योंकि उसके आश्रय से आत्मा का हित नहीं होता। आत्मा तो अपनी त्रिकाली शक्तियों का पिण्ड है, उसके आश्रय से विकार की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा की कोई शक्ति, विकार की उत्पादक नहीं है।

प्रश्न : यदि आत्मा की कोई शक्ति, विकार की उत्पादक नहीं है तो विकार क्यों उत्पन्न होता है ?

उत्तर : यदि आत्मा की त्रिकाली शक्ति, विकार की उत्पादक हो तो विकार कभी दूर हो ही नहीं सकता, परन्तु शक्ति तो त्रिकाल स्थायी रहकर, विकार दूर हो जाता है; इसलिए विकार वास्तव में शक्ति का परिणमन नहीं है। शक्ति का आश्रय न करके परद्रव्य का आश्रय किया, इसलिए विकार की उत्पत्ति हुई; इसलिए उस समय का पराश्रयभाव स्वयं ही विकार का उत्पादक है। शुद्ध उपादानरूप शक्ति के आश्रय से विकार नहीं होता; इसलिए शक्ति, विकार की उत्पादक नहीं है। इस प्रकार जो आत्मा के स्वभाव के साथ एकता करे, उसी को (निर्मलपर्याय को ही) यहाँ आत्मा की पर्याय माना है; जो पर्याय आत्मा के साथ एकता न करे, उसे (मलिनपर्याय को) वास्तव में आत्मा की पर्याय मानते ही नहीं। यद्यपि वह होती है आत्मा में, किन्तु आत्मा के शुद्धस्वभाव की मुख्यता में, वह अभाव समान ही है।

अपनी पर्याय में अशुद्धता है, उसे यदि स्वीकार ही न करे तो दूर करने का उद्यम कैसे करेगा और यदि उतना ही अपने को मान ले तो भी उसे टालने का उद्यम कहाँ से करेगा? मेरे त्रिकाली स्वभाव में यह अशुद्धता नहीं है – ऐसा जानकर शुद्धस्वभाव का आदर करने से अशुद्धता का अभाव होकर, शुद्ध सिद्धपद प्रगट होता है। अभी तो अमूर्त आत्मा की श्रद्धा करने से जो भी इन्कार करे और मूर्त कर्मवाला ही आत्मा को माने तो उसे सिद्धपद कहाँ से प्रगट होगा?

आत्मा की पर्याय में विकार है, कर्म का सम्बन्ध है – उसका स्वीकार, वह व्यवहार है और आत्मा त्रिकाली शक्ति से परिपूर्ण है, शुद्ध है, उसमें विकार या बन्धन नहीं है –ऐसे आत्मस्वभाव का स्वीकार, सो निश्चय है। वहाँ जो जीव, अकेले व्यवहार का ही स्वीकार करके उसके आश्रय में रुकता है, वह तो मिथ्यादृष्टि–अधर्मी है। जो जीव, शुद्ध आत्मस्वभाव को दृष्टि में लेकर, उसका आश्रय करता है, वह सम्यग्दृष्टि–धर्मात्मा है; उसे शुद्धद्रव्य के आश्रय से पर्याय भी निर्मल होती जाती है और कर्म के साथ का निमित्त सम्बन्ध छूटता जाता है।

मूर्तकर्म के अभावरूप अमूर्तशक्ति, आत्मा में त्रिकाल है किन्तु कर्म के साथ सम्बन्ध बना रखे, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। कर्म के साथ सम्बन्ध बाँधे, ऐसी

योग्यता एक समयपर्यन्त विकार की है किन्तु आत्मा की शुद्धशक्ति की दृष्टि में तो उसका भी अभाव है।

आत्मा, अमूर्त धर्मवाला है; इसलिए किसी मूर्त की (शरीरादि की) सहायता से उसे धर्म हो – ऐसा वह नहीं है। इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं, वे अमूर्त आत्मा के धर्म में सहायक नहीं हैं; आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव अमूर्त-अतीन्द्रिय है, उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म होता है। आत्मा में ऐसी निर्मलशक्तियाँ तो त्रिकाल हैं ही, किन्तु स्वयं अपनी शक्ति का सेवन नहीं करता; इसलिए वह शक्ति उछलती नहीं हैं – निर्मलतारूप परिणमित नहीं होती। यदि पर्याय को अन्तर्मुख करके शक्ति का सेवन करे तो वह शक्ति, पर्याय में भी निर्मलतारूप से उछले, उसका नाम धर्म है। अपनी वर्तमान पर्याय को स्वभावोन्मुख न करके, परोन्मुख करे तो वह मलिन होती है, अर्थात् अधर्म होती है और अपनी वर्तमान पर्याय को अपने त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख करने से, वह निर्मल होती है और मूर्तकर्म के साथ का सम्बन्ध टूटकर, साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है; वहाँ आत्मा की अमूर्तशक्ति शुद्धरूप से परिणमित हो जाती है। ऐसा अनन्त शक्तिवान ज्ञानस्वभावी आत्मा की श्रद्धा का फल है।

[–यहाँ २०वीं अमूर्तत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२१]

अकर्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न जो परिणाम, उन परिणामों के करण के उपरमस्वरूप (उन परिणामों को करने की निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति। (जिस शक्ति से आत्मा, ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों से किये गये परिणामों का कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मा में है)।

हे भाई! विकाररहित तेरे ज्ञायकस्वभाव को प्रसिद्ध करके सन्त कहते हैं कि तू घबरा मत! तेरे स्वभाव की महिमा सुनकर तू प्रसन्न हो!

सिद्धभगवान में जो नहीं, वह तेरे स्वरूप में भी नहीं, और सिद्ध भगवान में जो है, वह तेरे स्वरूप में है... ऐसा जानकर, विकार के कर्तृत्व से विराम पाकर शान्त हो!

'समस्त, कर्म से किये गए और ज्ञातृत्वमात्र से पृथक् जो परिणाम, उन परिणामों के करण के उपरमस्वरूप, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है।' ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मा का अनुभव करते हुए, उसमें इस शक्ति का परिणमन भी साथ ही वर्तता है। जहाँ ज्ञान में आत्मस्वभाव को पकड़ा, वहाँ विकारीभावों का कर्तृत्व छूट जाता है – विराम को प्राप्त होता है, वह अकर्तृत्वशक्ति का निर्मलपरिणमन है। शुभ-अशुभ समस्त परिणाम, आत्मा के ज्ञायकभाव से पृथक् हैं; इसलिए पर्याय जहाँ ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ उसमें ज्ञातापना ही रहा और शुभ-अशुभपरिणामों का कर्तृत्व वहाँ उपरम को प्राप्त हुआ – छूट गया। इस प्रकार ज्ञानमात्र भाव में विकार को न करे, ऐसा अकर्तृत्वशक्ति का परिणमन भी है। यहाँ विकार के अकर्तृत्व की अपेक्षा से अकर्तृत्वशक्ति बतलायी है और ४२वीं कर्तृत्वशक्ति कहकर, वहाँ निर्मलपर्याय का कर्तापना बतलाएँगे। अपनी पर्याय के छहों कारकरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है – ऐसी उसकी शक्ति है, उसका वर्णन आगे आएगा।

विकारीभाव करने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है, ज्ञान से वे विकारीभाव पृथक् है; इसलिए उन्हें कर्मकृत कहा है; उसमें विकार से भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलाने का प्रयोजन है। 'विकारीभाव मेरे ज्ञान द्वारा किये गये नहीं हैं किन्तु कर्मकृत हैं' – ऐसा माननेवाले की दृष्टि कहाँ पड़ी है ? उसकी दृष्टि तो अपने ज्ञानस्वभाव पर पड़ी है। साधक जीव, ज्ञाता –स्वभाव की दृष्टि के बल से निर्दोषतारूप ही परिणमित होता है; इसलिए उसे मिथ्यात्वादि अशुभपरिणामों का कर्तृत्व तो रहा ही नहीं है और जो अल्प रागादिभाव होते हैं, उनकी मुख्यता नहीं है– उन्हें ज्ञायकभाव से भिन्न जाना है; इसलिए उनका भी अकर्तृत्व ही है; इस प्रकार विकारीभावों को कर्मकृत कहा है। ऐसा अकर्तृत्व समझनेवाला साधक जीव, पर्याय में भी अकर्तारूप परिणमित हुआ है, उसकी यह बात है परन्तु जो जीव, विकार से भिन्न ऐसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि तो नहीं करता, विकार से लाभ मानकर उसका कर्तृत्व नहीं छोड़ता, ज्यों का त्यों मिथ्यात्व सेवन करता रहता है और कहता है कि 'विकार तो कर्म का कार्य है – ऐसा शास्त्र में कहा है' – तो वह जीव, शास्त्र का नाम लेकर मात्र अपने स्वच्छन्द का ही पोषण करता है; आत्मा की अकर्तृत्वशक्ति उसकी प्रतीति में आयी ही नहीं है क्योंकि अकर्तृत्वशक्ति को स्वीकार कर ले तो पर्याय में मिथ्यात्वादि का कर्तृत्व रहेगा ही नहीं, अर्थात् उसके मिथ्यात्वादिभाव उपशम को प्राप्त होंगे।

आत्मा में अकर्तृत्वस्वभाव तो अनादि अनन्त है, वह सदैव विकार से उपरमस्वरूप ही है, उस स्वरूप की अपेक्षा से आत्मा, विकार का कर्ता है ही नहीं। जिसने ऐसे स्वभाव को स्वीकार किया, उसे पर्याय में भी मिथ्यात्वादि का अकर्तृत्व हो जाता है। मिथ्यात्वभाव होता है और उसका अकर्ता है – ऐसा नहीं, किन्तु मिथ्यात्वभाव उसे होता ही नहीं और अस्थिरता का जो अल्प राग रहता है, उसका श्रद्धा में स्वीकार नहीं है; इसलिए उसका भी अकर्ता है। अज्ञानी जीव, अपने अकर्तास्वभाव को भूलकर, पर्याय की विपरीतता से विकार के कर्तारूप परिणमित होता है; पर का कर्तृत्व तो अज्ञानी को भी नहीं है। पर से तो आत्मा अत्यन्त भिन्न है; इसलिए उसका तो कर्तृत्व है ही नहीं, इसलिए यहाँ पर के अकर्तृत्व की बात नहीं ली, किन्तु अज्ञानदशा में विकार का कर्तृत्व है; इसलिए ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उसे विकार का अकर्तृत्व समझाते हैं। भाई ! तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण है, वह कहीं विकार से परिपूर्ण नहीं है; विकार तो उससे बाहर है; इसलिए तेरा

स्वभाव, विकार के अकर्तारूप है – ऐसा तू समझ! जो ऐसी अकर्ताशक्ति को समझ ले, वह विकार का कर्ता क्यों होगा? – वह क्षणिक विकार को ही आत्मा क्यों मानेगा? विकार से छूटकर उसकी पर्याय शुद्ध ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो जाती है। अहो! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होने से ज्ञाता परिणाम हो गये – वह इस शक्ति की पहचान का फल है।

धर्मी, स्वभावदृष्टि में रहने से ज्ञातारूप परिणमित होते हैं; अल्प विकार रहा, उसके भी ज्ञातारूप से परिणमित होते हैं, कर्तारूप परिणमित नहीं होते; इसलिए उस विकार को टालने की आकुलता भी उन्हें नहीं है। स्वभाव के वेदन की मुख्यता में उन्हें समता और शान्ति है। विकार से उपराम पाकर वह आत्मा उपशान्त हो गया है। 'अहो! मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, मेरे ज्ञान में पर का या विकार का कर्तृत्व नहीं है, मेरे कर्तृत्व के बिना ही जगत के कार्य हो रहे हैं; मेरे ज्ञातापरिणाम, राग के भी कर्ता नहीं हैं; अपने ज्ञायकभाव के अतिरिक्त मुझे सर्वत्र अकर्तृत्व ही है' – इस प्रकार धर्मी जीव अपनी अकर्तृत्वशक्ति को निर्मलरूप से उल्लसित करता है।

ज्ञायकस्वभावी आत्मा की अकर्तृत्वशक्ति ऐसी है कि उसका स्वभाव कभी भी राग के कर्तारूप परिणमित नहीं होता और ऐसे स्वभाव की ओर ढली हुई पर्याय भी राग के अकर्तारूप परिणमित हो गयी है। आत्मा के ऐसे स्वभाव को पहचाने बिना, रागादि विकार का कर्तृत्व दूर नहीं होता, अर्थात् धर्म नहीं होता।

लोग कहते हैं कि 'निवृत्ति लो...' लेकिन निवृत्ति कहाँ से लेना है? पर से तो आत्मा पृथक ही है; इसलिए उससे तो निवृत्त ही है, अनादि काल से क्षण-क्षण विकार को अपना स्वरूप मानकर उसमें वर्त रहा है, उससे निवृत्त होना है। उससे निवृत्ति कैसे हो? – कि आत्मा का ज्ञायकस्वरूप विकार से त्रिकाल निवृत्त ही है, ऐसे स्वभाव को पहचानकर, उसमें जो पर्याय ढली, वह पर्याय, विकार से निवृत्त हो जाती है। विकार से निवृत्त ऐसे ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करते-करते, साधक को पर्याय में निवृत्ति बढ़ती जाती है; प्रति क्षण वीतरागता में वृद्धि होने से उसे राग का साक्षात् अकर्तृत्व हो जाता है। – इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप आत्मा को पहचानने से मुक्ति होती है।

वस्तु के अनेकान्तस्वरूप को भूलकर, एकान्तमार्ग पर चलनेवाले अज्ञानी जीव

को आत्मशक्तियों की पहिचान द्वारा अनेकान्तमय आत्मस्वरूप बतलाकर मोक्षमार्ग में ले जाते हैं। अरे जीव! तेरे आत्मा में ज्ञान की सहचारिणी अनन्त शक्तियाँ एक साथ हैं; अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण अपने ज्ञानमूर्ति आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले तो पर्याय में अनन्त शक्ति का निर्मलपरिणमन होते-होते मुक्ति हो, और विकार के साथ एकत्व की तेरी एकान्तबुद्धि छूट जाए।

त्रिकाली चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वभाव, ज्ञान-दर्शन-आनन्द है; विकार करने का उसका स्वभाव नहीं है; इसलिए समस्त विकारीभावों को कर्म द्वारा किया गया कहकर ज्ञायकस्वभाव में उसका अकर्तृत्व बतलाया है; इस प्रकार शुद्धज्ञायक आत्मा की दृष्टि करायी है। जो जीव, शुद्ध ज्ञायक आत्मा की दृष्टि करे, उसी को इन अकर्तृत्वादि शक्तियों का यथार्थस्वरूप समझ में आता है। जैसी शुद्धशक्ति है, वैसा ही रूप पर्याय में आये, तभी शक्ति की सच्ची पहचान हुई है।

पर्याय में जीव, स्वयं विकारीभाव करता है; कहीं कर्म नहीं कराते, किन्तु जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर है, वह शुद्ध आत्मा से विरुद्ध ऐसे विकारीभावों का कर्ता नहीं होता और जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर नहीं है किन्तु कर्मों पर है, वही विकार में एकत्वबुद्धि द्वारा उसका कर्ता होता है। कर्म की दृष्टि में ही उस विकार का कर्तृत्व है; इसलिए उसे कर्मकृत कहा है। स्वभावदृष्टि में उसका कर्तृत्व नहीं है; इसलिए स्वभावदृष्टिवाला आत्मा उसका अकर्ता ही है। यहाँ सम्यग्दृष्टि के विषयभूत-ध्येयभूत शुद्ध आत्मा को बतलाना है; इसलिए निर्मलपर्याय तो उसमें अभेदरूप से आ जाती है किन्तु मलिनपर्याय उसमें नहीं आती। शुद्ध आत्मा की दृष्टि में मलिनता नहीं है; इसलिए उस दृष्टि में मलिनता को कर्मकृत ही कहा जाता है।

हे भाई! तू कौन है? उसकी यह बात है। तू आत्मा है, तो कितना है और कैसा है? - तू त्रिकाल है, अपनी अनन्त शक्ति और उसकी निर्मलपर्यायों जितना तू है; विकार को उत्पन्न करे, ऐसा तू नहीं है। तेरे आत्मा की अनन्त शक्तियों में ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जो विकार करे।

अज्ञानी कहता है कि - 'आत्मा अपनी समझ में नहीं आता; हम तो पुण्य करते

रहेंगे और सांसारिक सुख भोगेंगे ?' – उससे ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ़ ! पुण्य करने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है। आत्मा का अनादर करके तू पुण्य फल का उपभोग करना चाहता है, उसमें तो अनन्त पापों का मूल है। यदि आत्मा का स्वभाव, विकार करने का हो, तब तो विकार से कभी उसका छुटकारा हो ही नहीं सकता; इसलिए मुक्ति भी कभी नहीं होगी। विकार का कर्तृत्व माननेवाला और ज्ञायकस्वभाव को न जाननेवाला कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

जिस प्रकार लोहे में ऊपर-ऊपर थोड़ी सी जंग लगी है किन्तु भीतरी भाग में जंग नहीं है। इस तरह दोनों पक्षों को जानकर, जंग निकालने का प्रयत्न करता है; उसी प्रकार आत्मा में क्षणिक पर्याय में विकाररूपी जंग है किन्तु भीतरी असली स्वभाव में वह विकार नहीं है; विकाररहित शुद्धस्वभाव त्रिकाल है – इस प्रकार दोनों पक्षों को जानकार शुद्ध द्रव्य की ओर बल लगाने पर, पर्याय में से विकार दूर हो जाता है और शुद्धता प्रगट होती है। जो जीव, आत्मा के शुद्धस्वभाव पर जोर नहीं देता और पुण्य पर जोर देता है, वह विकार करने का ही आत्मा का स्वभाव मानता है; इसलिए विकार के अकर्तृत्वरूप आत्मा की शक्ति का वह अनादर करता है। आत्मा के अनादर का फल, अनन्त संसार में परिभ्रमण है और आत्मस्वभाव की आराधना का फल, मुक्ति है।

अरे जीव ! अब तुझे अपने शुद्ध आत्मा की रुचि करना है या पुण्य-पाप की ? अनादि से विकार की रुचि करके तो तू संसार में भटका है। अब यदि तुझे संसार से मुक्त होना हो तो अपने शुद्ध आत्मा की रुचि कर ! अहो ! मेरा आत्मस्वभाव कभी विकाररूप नहीं हो गया है, अनन्त शक्ति की शुद्धता में कभी विकार प्रविष्ट ही नहीं हुआ है; इसलिए विकार मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो ज्ञायकभावमात्र हूँ। इस प्रकार स्वभाव की रुचि लाकर, उसकी ओर उन्मुख हो और विकार के कर्तृत्व से विराम ले ! शुभ या अशुभ, समस्त विकारीपरिणाम तेरे ज्ञायकभाव से पृथक् ही हैं, उन्हें करना तेरा कर्तव्य नहीं है किन्तु ज्ञायकरूप रहकर, उस विकार का अकर्ता होना तेरा कर्तव्य है। कर्तव्य, अर्थात् स्वभाव। जिसके अन्तर अवलम्बन से विकार को छेदकर मुक्ति हो, ऐसा तेरा स्वभाव है और वही तेरा कर्तव्य है। जो राग को अपना कर्तव्य माने, वह राग को छेद कर मुक्ति कहाँ से प्राप्त करेगा ?

देखो, यह एक लाख चौंतीस हजार रुपये का 'कुन्दकुन्द प्रवचन-मण्डप,' और सवा लाख का मानस्तम्भ बना - वह किसने बनाया ? क्या यह सब आत्मा ने बनाया है ? नहीं; आत्मा तो इनका अकर्ता है। अज्ञानी का आत्मा भी उनका अकर्ता ही है; कारीगरों आदि का आत्मा भी उनका कर्ता नहीं है तथा उस ओर का धर्मी को जो शुभराग होता है, उस राग के भी धर्मी अकर्ता हैं, क्योंकि धर्मी तो एक ज्ञायकस्वभाव को ही स्व मानते हैं और उस स्वभाव की दृष्टि में उन्हें विकार का कर्तृत्व नहीं है। विकार की उत्पत्ति करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु उसका अन्त करने का स्वभाव है। आत्मस्वभाव, पुण्य-पाप की प्रवृत्ति से निवृत्तरूप है—ऐसे अकर्तृत्वस्वभाव की जो नहीं जानता, उसे अकर्तृत्वशक्ति का विपरीत परिणमन होता है; इसलिए वह विकार का कर्ता होता है।

प्रश्न : हम तो विषय-कषाय में डूब रहे हैं; इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की ओर का भाव करें तो हमारा कुछ हित होगा ?

उत्तर : भाई ! ऐसे लक्ष्य से तुझे अशुभ दूर होकर, शुभ तो होगा, यह ठीक है, किन्तु अपने आत्मा में उस शुभ का ही... कर्तृव्य मानकर यदि वहीं अटक जाएगा तो तुझे आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी, अर्थात् धर्म या कल्याण नहीं होगा। इसलिए शुभ के भी अकर्तारूप तेरा ज्ञायकस्वभाव है, उस स्वभाव को लक्ष्य में ले।

ज्ञानी कहते हैं कि आत्मस्वभाव के आश्रय से कल्याण होता है और अज्ञानी कहते हैं कि राग से और व्यवहार से कल्याण होता है। - इस प्रकार निश्चय-व्यवहार, उपादान -निमित्तादि में दो पक्ष हो गए हैं। जिस प्रकार महायुद्ध चल रहा था, उस समय कोई कहते थे कि 'हिटलर' जीतेगा और दूसरे कहते थे कि 'ब्रिटेन' जीतेगा; इस प्रकार दो पक्ष करके यहाँ भी लोग आपस में झगड़ पड़ते थे; उसी प्रकार यहाँ एक सिद्धों के ओर की पार्टी है और दूसरी निगोद के ओर की; सिद्धों की पार्टीवाले कहते हैं कि निश्चय से, अर्थात् आत्मस्वभावोन्मुख होने से ही मुक्ति होती है; पुण्य से या निमित्तसन्मुख होने से तीन काल तीन लोक में मुक्ति नहीं होती और उपादान अपनी शक्ति से कार्यरूप परिणमित हो, वहाँ उसे योग्य निमित्त होता है - ऐसा सिद्धों की पार्टीवाले कहते हैं। उसका विरोध करके निगोद की पार्टीवाले कहते हैं कि व्यवहार के आश्रय से-राग के आश्रय से मुक्ति होती है,

पुण्य से धर्म होता है और निमित्त के प्रभाव से कार्य में फेरफार हो जाता है। स्वाश्रय से मोक्ष माननेवाले तो स्वाश्रय करके मुक्ति प्राप्त करते हैं – सिद्ध हो जाते हैं; और पराश्रय से मोक्ष माननेवाले, पराश्रय कर-करके संसार में भी भटकते हैं और परम्परा निगोददशा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार स्वाश्रयरूप सिद्धों की पार्टी में सम्मिलित हो, वह सिद्ध हो जाता है और पराश्रय से लाभ माननेरूप निगोदपार्टी में सम्मिलित हो, वह निगोद में जाता है।

यहाँ अकर्तृत्वशक्ति में आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! पुण्य-पाप के आश्रय से तेरा हित कैसे होगा? पुण्य-पाप के अभावरूप ऐसा तेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसी में तेरा हित है। ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलने से पुण्य-पाप की वृत्तियाँ तो छूट जाती हैं, क्योंकि संसार की विकारीदशा को तो कोई त्रिकाली आधार नहीं था और इस सिद्धपद की निर्मलदशा को तो अन्तर में त्रिकाली ध्रुवस्वभाव का आधार है। अहो! ऐसे आत्मस्वभाव की प्रतीति करे, उसे अपने सिद्धपद की निःशङ्कता हो जाए... वर्तमान में ही उसका परिणाम सिद्धदशा की ओर ढल जाए और संसार से विमुख हो जाए, अर्थात् वर्तमान में ही वह सिद्धपद का साधक हो जाए।

देखो, यह सूक्ष्म बात है, स्वभाव की बात है। विकार के क्षणिक कर्तृत्व की अपेक्षा, त्रिकाल अकर्तृत्वशक्ति का बल तो अनन्त गुना है ही और उस अकर्तृत्वस्वभाव की प्रतीति करने से पर्याय में जो सादि-अनन्त अकर्तृत्वपरिणाम प्रगट हुए, उनकी संख्या भी कर्तृत्व -परिणामों की अपेक्षा अनन्त गुनी है। इस प्रकार विकार की अपेक्षा, निर्विकारी भाव की शक्ति, भाव से तो अनन्त गुनी है और संख्या से भी अनन्त गुनी है। – ऐसा जो जाने, उसके श्रद्धा-ज्ञान, अन्तर की शुद्धशक्ति की ओर ढले बिना नहीं रहते। जो भूत और भविष्यत दोनों काल को समान मानते हैं, वे तत्त्व की महान भूल करते हैं, वे वस्तुस्वभाव की परिपूर्णता को नहीं जानते।

विकार का कर्ता होता रहे, ऐसा आत्मा का कोई स्वभाव नहीं है किन्तु विकार के अकर्तारूप ज्ञातृत्वपरिणाम होते रहें – ऐसा आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की पहचान होते ही वर्तमान परिणाम का बल उस ओर ढल जाता है। पश्चात् स्वभावोन्मुख -वृत्ति से पर्याय-पर्याय में उसके अकर्तापनेरूप निर्मलपरिणाम होते जाते हैं और विकार

का कर्तृत्व छूटता जाता है। ऐसा होते-होते विकार का सर्वथा अभाव होकर, साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है।

आत्मा और उसकी शक्तियाँ अनादि अनन्त हैं, उनके आश्रय से वर्तमान पर्याय में विकार के कर्तृत्व का अभाव होकर जो सिद्धदशा प्रगट हुई, उसका अब कभी अन्त नहीं आएगा; सादि-अनन्त काल तक स्वभाव में से निर्मल अकर्तृत्वपरिणाम का प्रवाह बहता ही रहेगा। अहो, जिसमें से ऐसे अनन्त शुद्ध अकर्तृत्वपरिणाम प्रगट होते हैं - ऐसे अपने स्वभाव का विश्वास तो अज्ञानी जीव करता नहीं है और एक समय के विकार पर जोर देकर उसके कर्तव्य में रुक जाता है - यह उसकी विपरीत रुचि का अनन्त बल है।

अहो! एक-एक शक्ति का वर्णन करके आचार्यदेव ने सम्पूर्ण समयसार भगवान को प्रकाशित किया है। एक शक्ति को भी बराबर समझ ले तो आत्मा का स्वभाव, लक्ष्य में आ जाए और अनादि कालीन विकार की जो गन्ध घुसी है, वह निकल जाए। ज्ञायक-स्वभाव की ओर ढलने से विकार का अन्त तो आ जाता है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप में नहीं है किन्तु ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो अकर्तृत्वपरिणाम प्रगट हुए, उनका कभी अन्त नहीं आता, क्योंकि वह तो वस्तु का स्वरूप ही है। इसलिए जिस प्रकार वस्तु का अन्त नहीं आता; उसी प्रकार उसके स्वरूप में से प्रगट हुए निर्मलपरिणामों का भी अन्त नहीं आता। देखो, अन्तर के ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होने से आनन्द का तो अनुभव होता है किन्तु उसके साथ कहीं राग का अनुभव नहीं होता, क्योंकि आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है किन्तु राग, आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार आनन्द की भाँति दूसरी अनन्त शक्तियाँ भी ज्ञान के साथ उछलती हैं, वे सब आत्मा के स्वभावरूप हैं किन्तु विकार, आत्मा के स्वभावरूप नहीं है; इसलिए उसका तो अभाव हो जाता है। इसमें स्वभाव तथा विकार के बीच का कितना स्पष्ट भेदज्ञान है! किन्तु अज्ञानी, विकार की रुचि से इतना अन्धा हो गया है कि - विकार से पृथक् जो अपना पूर्ण ज्ञायकस्वभाव, अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, उसे वह किञ्चित् भी नहीं देखता।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं किन्तु उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि पर में कार्य करे। पहाड़ खोदने आदि की शक्ति, आत्मा में नहीं है। यहाँ तो तदुपरान्त कहते हैं कि जो

विकार करे, ऐसी भी आत्मा की कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है। विकार को न करे, ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है। कर्ताबुद्धि के कारण, अज्ञानी दूसरे में भी कर्तृत्व देखता है कि 'अमुक व्यक्ति ने ऐसे मन्दिर बनवाये, अमुक ने शत्रुञ्जय आदि तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया' परन्तु आत्मा, उन सबका अकर्ता है – ऐसा अकर्तृत्व साध-साधकर अनन्त सन्त-मुनियों ने आत्मा का उद्धार किया, उसे अज्ञानी नहीं जानता; इसलिए वह कर्ताबुद्धि से संसार में भटकता है।

प्रश्न : परिभ्रमण तो मात्र एक समयपर्यन्त का है न?

उत्तर : ज्ञानी तो कहते हैं कि आत्मा में परिभ्रमण करने का भाव (-विकार) एक समयपर्यन्त का है किन्तु अज्ञानी तो उस एक समय के परिभ्रमण के भाव को ही अपना स्वरूप मानता है; इसलिए उसकी दृष्टि में तो वह एक समय का नहीं है किन्तु त्रिकाल सम्पूर्ण आत्मा उसी स्वरूप है – ऐसा उसे भासित होता है; विकार से पृथक् कोई स्वरूप उसे भासित ही नहीं होता। परिभ्रमण का भाव, एक समय का ही है – ऐसा यदि वास्तव में जान लिया, तो उससे रहित जो त्रिकाली स्वरूप है, उसकी प्रतीति हो गयी; इसलिए विकार और स्वभाव के बीच भेद हो गया – भेदज्ञान हो गया; उसे विकार के ओर की वृत्ति छूटकर स्वभावोन्मुख वृत्ति हो गयी।

– ऐसी अन्तरदशा हो, तब विकार को एक समयपर्यन्त जाना कहा जाए, किन्तु जो विकार के ओर की ही वृत्ति रखता है, उसने वास्तव में विकार को एक समयपर्यन्त नहीं जाना, किन्तु उसी को आत्मा माना है। मेरे ज्ञायक आत्मा में विकार है ही नहीं; इसलिए पर्याय के क्षणिक विकार का कर्तृत्व भी मेरे स्वभाव में नहीं है – इस प्रकार अकर्तृत्वरूप ज्ञायकस्वभाव को पहचानकर, उसकी श्रद्धा करे तो उस स्वभाव में एकाग्रता द्वारा पर्याय में से विकार का बिल्कुल अभाव करके, उसका साक्षात् अकर्ता हो जाये। ऐसा इस शक्ति को समझने का तात्पर्य है।

आत्मा में जिस प्रकार ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है; उसी प्रकार पुण्य-पाप के अकर्तृत्वरूप स्वभाव भी त्रिकाल है। आत्मा, त्रिकाल अकर्तृत्वशक्ति से परिपूर्ण है, उसे न मानकर पुण्य-पाप का कर्तृत्व ही मानना – वह दृष्टि मिथ्या है। मैं ज्ञायकभाव हूँ और मेरे

ज्ञायकभाव में विकार का कर्तृत्व नहीं है – इस प्रकार पहले दृष्टि से विकार का कर्तृत्व खींच ले तथा ज्ञायकस्वभाव की ही दृष्टि रखे, उसका नाम सम्यग्दर्शन है; वह धर्म का प्रारम्भ है। जिस भाव से आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों में से किसी भी प्रकृति का बन्ध होता हो, वह भाव विकार है और वह आत्मा के ज्ञायकभाव से पृथक् हैं तथा आत्मा का ज्ञायकभाव, उस विकार से निवृत्तस्वरूप है। अहो! ऐसे निवृत्त ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर उसमें स्थित होना योग्य है... वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जो राग के ही कर्तृत्व में रुककर राग से धर्म मान रहे हैं, उन्हें वीतरागी आत्मतत्त्व की खबर नहीं है, सन्तों की दशा की खबर नहीं है, जैनधर्म की खबर नहीं है और वास्तव में उन्हें जैन नहीं कहते।

प्रश्न : इसमें तो पुण्य का विच्छेद हो जाता है ?

उत्तर : अरे भाई! इसमें तेरे विकाररहित ज्ञायकस्वभाव का विज्ञापन होता है... इसलिए घबरा नहीं! अपने स्वभाव की महिमा सुनकर प्रसन्न हो! और इस स्वभाव को समझने के लक्ष्य से बीच में जो पुण्यबन्ध होता है, वह भी उच्च प्रकार का होता है; दूसरों को वैसा उच्च पुण्य भी नहीं होता। दूसरे प्रयत्नों में जो कषाय की मन्दता करता है, उसकी अपेक्षा अधिक मन्दता, स्वभाव समझने का प्रयत्न करते-करते सहज ही हो जाती है और यदि स्वभाव को समझकर पुण्य-पाप का विच्छेद करेगा, तब तो वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा। – वह करनेयोग्य है। यदि पहले से ही पुण्य-पाप का कर्तृत्व स्वीकार करे और पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञायकस्वभाव विकार का अकर्ता है, उसकी श्रद्धा भी न करे, तो वह विकार का अभाव करके वीतरागता कहाँ से लाएगा ? इसलिए यह बात समझकर उसकी श्रद्धा करने योग्य है। – इसके अतिरिक्त कहीं जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता।

प्रश्न : अनादि से पुण्य-पाप करते आ रहे हैं, फिर भी वह कर्तव्य नहीं है ?

उत्तर : भाई रे! ज्ञायकस्वभाव को चूककर 'पुण्य-पाप सो मैं' – ऐसा अज्ञान से माना है; इसलिए पुण्य-पाप का कर्ता होता है और इसीलिए अनादिकाल से संसार में भटक रहा है। अब वह संसार परिभ्रमण कैसे दूर हो, उसकी यह बात है। पुण्य-पाप के विकार को न करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है; उसके बदले मिथ्यामान्यता में पुण्य-पाप

का कर्तृत्व भासित हुआ है। उस मान्यता को बदल दे कि मैं तो ज्ञायक हूँ, श्रद्धा-आनन्दादि अनन्त शक्ति का पिण्ड हूँ; क्षणिक विकार मैं नहीं हूँ, और न वह मेरा कर्तव्य है। ज्ञातृत्वभाव के अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ मेरा कर्तव्य नहीं है। आत्मा, ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त दूसरा क्या करेगा? यदि आत्मा पर का कार्य करता हो तो जगत का उद्धार करने के लिए सिद्धभगवान ऊपर से क्यों नहीं उतरते? - उन्हें ऐसी वृत्ति ही नहीं उठती, क्योंकि वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। यदि सिद्धभगवान में नहीं है तो इस आत्मा में आया कहाँ से? सिद्धभगवान में जो नहीं है, वह इस आत्मा के स्वभाव में भी नहीं है। बस! आत्मा का स्वभाव ही अकर्तृत्व है; इसलिए विकार से निवर्तन... निवर्तन... निवर्तन ही उसका स्वरूप है; स्वरूप में स्थिरता... स्थिरता... स्थिरता... ही आत्मा का स्वरूप है।

सिद्धभगवान में जो कार्य नहीं है, वह इस आत्मा का भी कर्तव्य नहीं है। सिद्धभगवान के और अपने स्वभाव में अन्तर मानता है तथा शुभाशुभ विकार को करने योग्य मानता है, वही संसार है। धर्मी को भी चारित्र में कमजोरीवश शुभाशुभराग आता है किन्तु उसे निःसन्देह श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मेरा कर्तव्य नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग आता है किन्तु वह राग भी हितकर नहीं है; मैं तो ज्ञायक ही हूँ और मेरा ज्ञायकस्वरूप इस विकारीवृत्ति का कर्ता नहीं है। राग को दूर करके अपने ज्ञायकस्वरूप में निश्चल होऊँ, वही मेरा कर्तव्य है; पुण्य का शुभराग भी मेरे धर्म का रक्षक नहीं है किन्तु लुटेरा है। सहायक नहीं होता, किन्तु बाधक होता है; इसलिए वह मेरा कर्तव्य नहीं है। इस प्रकार समस्त विकार के अकर्तारूप अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर, धर्मी उसके सेवन द्वारा विकार से अत्यन्त निवृत्तरूप मोक्षपद को प्राप्त होता है।

शङ्का : भगवान् सर्वज्ञ कहते हैं, कि आत्मा में अकर्तृत्वशक्ति है; इसलिए विकार न करे, ऐसा उसका स्वभाव है किन्तु यदि भगवान ने अभी हममें कर्तापने का काल (मिथ्यात्व का काल) देखा हो तो वह कैसे बदल सकता है - तो फिर हे नाथ! क्या आपके उपदेश की निरर्थकता होती है?

समाधान : हे भाई! सर्वज्ञदेव ने कहा, वैसे आत्मा के अकर्तास्वभाव का जो निर्णय कर ले, उसे विभाव का कर्तापना रहता ही नहीं - ऐसा भी सर्वज्ञभगवान ने देखा है;

इसलिए जिसकी दृष्टि में ज्ञायकस्वभावी आत्मा का अकर्तास्वरूप आया है, उसको कर्तापने का (मिथ्यात्व का) काल, भगवान ने नहीं देखा है; ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता से मिथ्यात्व का नाश करके उसकी पर्याय में अकर्तापना प्रगट हुआ है और उसी को सर्वज्ञ का निर्णय हुआ है तथा सर्वज्ञदेव भी उस जीव की पर्याय में वैसा अकर्तृत्व ही देखते हैं। तू मिथ्यात्वादि के अकर्तारूप से परिणमित हो और सर्वज्ञभगवान तेरा कर्तापना देखे – ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए तू अपने स्वभावसन्मुख होकर पर्याय में विकार का अकर्तृत्व प्रगट कर, ऐसा भगवान के उपदेश का तात्पर्य है।

[यहाँ २१ वीं अकर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ।]

[२२]

अभोक्तृत्वशक्ति

सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों से किये गए, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के अनुभव के (भोक्तृत्व के) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति।

थोड़ी सी प्रतिकूलता आए कि चिन्ता होती है। वहाँ तो 'अरे रे! मेरा आत्मा घेरा गया' - ऐसा अज्ञानी को लगता है। उसको ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! चिन्ता से घेरा जाए, ऐसा तेरी आत्मा का स्वभाव नहीं... तेरी आत्मा में ऐसा अभोक्तास्वभाव है कि चिन्ता परिणाम को न भोगे; इसलिए घबड़ा मत। विकार के वेदन से विराम पाए हुए तेरे ज्ञायकस्वभाव के समीप जा... वहाँ तुझे आनन्द का वेदन होगा!

ज्ञायकस्वरूप आत्मा में जिस प्रकार विकार के अकर्तृत्वरूप शक्ति है, उसी प्रकार हर्ष-शोकादि विकार के अभोक्तृत्वरूप शक्ति भी है। 'समस्त कर्मों से किए गए और आत्मा के ज्ञातृत्वमात्र से पृथक् - ऐसे मलिनपरिणामों के अनुभव के उपरमस्वरूप, अभोक्तृत्वशक्ति है।' ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने से जो अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग हुआ, उसमें हर्ष-शोक के उपभोग का अभाव है। हर्ष-शोकादि विकारीभावों को कर्मकृत कहा, वह ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से कहा है; अकर्तृत्वशक्ति के विवेचन में उसका अत्यन्त स्पष्टीकरण आया है, तदनुसार इस अभोक्तृत्वशक्ति में भी समझ लेना।

पराश्रय से हर्ष-शोक के भाव होते हैं, उनका अनुभव करने की योग्यता एक समयपर्यंत की पर्याय में है किन्तु आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तो उस अनुभव से रहित है। यदि त्रिकाली स्वभाव ही वैसा हो तो उस विकार के वेदन से छूटकर, अन्तर अनुभव के निर्विकार आनन्द का वेदन नहीं हो सकता। तदुपरान्त यहाँ तो पर्याय को लेकर ऐसी बात है कि - पर्याय में जिसे एकान्त हर्ष-शोक का ही वेदन है और उससे पार ज्ञायकस्वभाव

का किञ्चित भी वेदन नहीं है, उसे आत्मा की अभोक्तृत्वशक्ति की श्रद्धा हुई ही नहीं है। साधक को अल्प हर्षादि के समय भी उससे भिन्न ज्ञायकस्वभाव को दृष्टि वर्तती है; इसलिए अकेले हर्षादि का ही वेदन उसे नहीं है किन्तु सुदृष्टि के बल से हर्ष-शोक के अभावरूप ज्ञायकस्वभाव का वेदन भी वर्तता है; इस प्रकार उसे अभोक्तृत्वशक्ति का निर्मलपरिणमन प्रारम्भ हो गया है।

अपने से भिन्न ऐसे शरीर, पैसा, अन्न, वस्त्रादि परपदार्थों का उपभोग करना तो आत्मा के स्वरूप में कभी है ही नहीं। पर का उपभोग करना अज्ञानी मानता है, वह तो मात्र उसकी भ्रमाणे है; वह कहीं पर का उपभोग नहीं करता, किन्तु परोन्मुखवृत्ति से हर्ष-शोक के भाव करके अज्ञानभाव से मात्र उन्हीं का उपभोग करता है। यहाँ अभोक्तृत्वशक्ति में तो आचार्यदेव ऐसा समझाते हैं कि - वे हर्ष-शोक के भाव भी आत्मा के ज्ञायकस्वभाव से पृथक् हैं; इसलिए उन्हें भोगने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायकस्वभाव में एकाग्र होकर, अपने वीतरागी आनन्द का उपभोग करना है।

आत्मा के द्रव्य में, गुणों में या पर्याय में, कहीं पर का तो उपभोग है ही नहीं।

हर्ष-शोक-चिन्तादि का उपभोग, आत्मा के द्रव्य-गुण में नहीं है; मात्र अज्ञानदशा में एक समयपर्यन्त है।

विकार के अभोक्तास्वरूप ऐसे त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर उन्मुख होने से पर्याय में से हर्ष-शोक का क्षणिक भोक्तृत्व छूट जाता है; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से आत्मा साक्षात् अभोक्ता हो जाता है।

परवस्तु का उपभोग, आत्मा को नहीं है। जिस प्रकार शरीर-स्त्री-भोजनादि अनुकूल संयोगों का उपभोग आत्मा नहीं करता; उसी प्रकार शरीर कट जाना, रोग हो जाना, इत्यादि प्रतिकूल संयोगों को भी आत्मा नहीं भोगता। मात्र हर्ष-शोक करके विकार का उपभोग करता है और उस हर्ष-शोक के समय परवस्तु निमित्त है; इसलिए 'आत्मा पर का उपभोग करता है' - ऐसा भी उपचार से कहा जाता है; वास्तव में तो पर का उपभोग करने का भाव करता है और अपने उस विकारीभाव का ही उपभोग करता है।

यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म अन्तर स्वभाव की बात है कि विकार का उपभोग करने

का भी आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है। शरीर कटे, उसका वेदन आत्मा को नहीं है तथा उस ओर की अरुचि का वेदन करने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु ज्ञायकस्वभाव का वेदन करना आत्मा का स्वभाव है।

अज्ञानी कहता है कि 'अरे रे! कर्मों का फल भोगना पड़ता है' किन्तु यहाँ कहते हैं कि अरे भाई! तू अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर ढले तो तुझे कर्मों की ओर का वेदन न रहे। जो ज्ञायकस्वभाव की ओर ढलकर, उसका वेदन नहीं करता, वही विकार का भोक्ता होकर चार गति में परिभ्रमण करता है। आत्मा के लक्ष्य से हर्ष-शोक का वेदन नहीं होता, क्योंकि आत्मा का स्वभाव, विकार के उपभोग से रहित है; हर्ष-शोक, आत्मा के ज्ञाताभाव से पृथक् हैं। कर्मों के ओर की वृत्तिवाला जीव ही हर्ष-शोक का भोक्ता होता है; इसलिए उसे कर्म का ही कार्य कहा है, अर्थात् वह आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है; आत्मस्वभाव तो उसका अभोक्ता है - ऐसा बतलाया है।

आत्मा अपने स्वभाव की ओर ढलकर अपनी अनन्त शक्तियों की निर्मलता का अनुभव कर सकता है किन्तु विकार का या पर का अनुभव करे, ऐसा वास्तव में आत्मा नहीं है। जो परिणति, आत्मस्वभाव के साथ अभेद हुई, वह तो आत्मा है किन्तु जो परिणति, विकार के ही अनुभव में लगी रहे, उसे आत्मा नहीं कहते, क्योंकि उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है।

ग्रीष्मऋतु में श्रीखण्ड-पूरी खाकर बँगले के बगीचे में टहल रहा हो और अपने को सुखी मानता हो तो वहाँ आत्मा, श्रीखण्ड या बगीचे आदि का तो वास्तव में उपभोग नहीं करता और उसमें जो सुख की कल्पनारूप साताभाव है, उसका उपभोग करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है तथा बगीचे में बैठा हो और कोई आकर सिर काट दे और उससे अपने को महान दु:खी माने तो वहाँ भी उस संयोग को आत्मा नहीं भोगता। हर्ष-शोक के उपभोग से रहित, ज्ञायक रहना आत्मा का स्वभाव है।

अहो! ऐसे अभोक्तास्वभाव को लक्ष्य में ले तो चाहे जिस संयोग में भी जीव को अपनी शान्ति का वेदन नहीं छूट सकता। स्वभाव को भूलकर, बाह्य वस्तुएँ मेरे लिए अच्छी-बुरी हैं और उनसे मुझे सुख-दु:ख होता है - ऐसी मान्यता, वह संसार का मूल है।

शास्त्र में कहते हैं कि – अज्ञानी को जो अनन्त दु:ख है, वह तो वास्तविक दु:ख ही है किन्तु वह अपने को जो सुख मानता है, वह मात्र कल्पना ही है। जहाँ सुख भरा है, ऐसे ज्ञानस्वभाव के अनुभव बिना, वास्तविक सुख का वेदन नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में जो वास्तविक सुख भरा है, उसका वेदन कैसे हो और अनादिकालीन विकार का वेदन कैसे दूर हो ? – वह यहाँ बतलाते हैं।

शरीर, लक्ष्मी, मोटर आदि जड़वस्तुएँ आत्मा को सुख दें – तो उसका अर्थ यह हुआ कि वे जड़वस्तुएँ आत्मा से भी महान हैं। आत्मा में सुख नहीं है किन्तु जड़वस्तु उसे सुख देती है – ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव, कदापि जड़ की ओर की वृत्ति छोड़कर आत्मोन्मुख नहीं होगा; इसलिए वह संसार में भी भटकेगा। जड़ में कहीं भी मेरा सुख नहीं है और जड़ की ओर उन्मुख होने से जो हर्षादि की वृत्ति होती है, उसमें भी मेरा सुख नहीं है; सुख तो मेरे स्वभाव में है और उस स्वभाव में अन्तरोन्मुखता से ही मुझे अपने सुख का वेदन होता है – ऐसा ज्ञानी जानते हैं; इसलिए संयोगों के ओर की वृत्ति को समेटकर, स्वभावोन्मुख होकर, अतीन्द्रियसुख का वेदन करते-करते परम सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

देखो, यह कोई साधारण ऊपरी बात नहीं है; यह तो आत्मा के अन्तर स्वभाव की अपूर्व बात है। एक बार यह बात समझ ले तो अनन्त काल का भवभ्रमण मिट जाये – इसे समझते ही अन्तर में महान वीतरागी शान्ति हो जाए। शान्ति का और दु:ख से छूटने का तो यही उपाय है; अन्य किसी उपाय से जीव को शान्ति नहीं हो सकती। कोई इस शरीर में भक्तिपूर्वक चन्दन का लेप करे या द्वेषपूर्वक इसे काट डाले; मीठा रस हो या कड़वा; सुगन्ध हो या दुर्गन्ध; सुन्दररूप हो या काला-कुबड़ा शरीर; कोई प्रशंसा करे या निन्दा, किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि वे सब मुझसे भिन्न हैं, मैं उन किसी का भोक्ता नहीं हूँ और उनमें किञ्चित् भी हर्ष-शोक हों, वे भी मेरे ज्ञायकस्वभावी आत्मा से पृथक हैं; इसलिए उनका भी मैं सचमुच भोक्ता नहीं हूँ – मैं तो ज्ञायक ही हूँ। – ऐसी ज्ञायकदृष्टि में वीतरागता का महान बल है।

एक समय की जो विकारीदशा है, उसे अन्तरङ्ग स्वभाव में ढूँढ़ा जाये तो वहाँ नहीं मिल सकती; इसलिए स्वभाव की दृष्टि में आत्मा उसका अकर्ता और अभोक्ता ही है। यह

नास्ति से कहा; अस्ति से कहें तो आत्मा अपने निर्विकारी अनुभव का कर्ता-भोक्ता है। ऐसी अन्तर स्वभाव की दृष्टि बिना, अज्ञानी जीव कदाचित पूर्व कथित प्रसङ्गों में शुभराग से समता रखे, किन्तु उस समता के शुभपरिणामों के उपभोग में ही वह रुक जाता है और उसी को वास्तविक मानता है; आत्मा के अभोक्ता स्वभाव की या अतीन्द्रिय सुख की उसे खबर नहीं है।

आत्मा का अभोक्तास्वभाव समझे तो विकार के उपभोगरहित ज्ञान-आनन्द स्वभाव की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन हो जाए और फिर ज्यों-ज्यों उस स्वभाव में लीनता होती जाए, त्यों-त्यों विकार का भोक्तृत्व भी छूटता जाएगा। जैसे - मुनिदशा में आत्मस्वभाव में लीनता से इतना भारी अभोक्तृत्व प्रगट हो गया है कि वहाँ शरीर पर वस्त्र या दो बार आहारादि के उपभोग का भाव ही नहीं रहा है और केवलज्ञान होने पर तो पूर्ण अभोक्तृत्व प्रगट हो जाता है, वहाँ आहारादि का उपभोग सर्वथा होता ही नहीं है। पहले से ही अभोक्तापने की साधना करते-करते वहाँ पूर्ण हो गया है। तथापि जो मुनि को वस्त्र की वृत्ति या केवलीभगवान की आहारादि मानता है, उसे खबर नहीं है कि कौन-सी भूमिका में कैसा अभोक्तापना प्रगट होता है और अपनी दशा में उसे किञ्चित् अभोक्तृत्व नहीं हुआ है।

अरे जीव! तेरा आत्मा तो आनन्द की खान है...उसे इस विकार का या विषयों का उपभोग नहीं हो सकता। अपने ज्ञायकस्वभाव के आनन्द का उपभोग छोड़कर, अनादि काल से इन विकाररूपी विषयों का उपभोग कर-करके तेरा ज्ञानानन्द शरीर क्षीण हो गया है... इसलिए भाई! अब उस विकार का उपभोग न करके, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की सँभाल कर। विकार का भोक्ता होने में तेरा आनन्द-शरीर क्षीण होता है; इसलिए उस उपभोग को छोड़! विकार तेरे ज्ञानस्वभाव से पृथक् है, उसे भोगने का तेरा स्वभाव नहीं है; इसलिए अन्तर में लक्ष्य करके अपने ज्ञायकस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग कर।

बाह्य में मान-प्रतिष्ठा के हेतु चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए लोग कितनी दौड़ धूप करते हैं किन्तु स्वयं अपने आत्मा का मत प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते। आत्मा का मत प्राप्त कर ले तो मुक्तिपद प्राप्त हो। बाह्य में राजपद या प्रधानादि का पद तो धूल के समान है, उसमें कहीं आत्मा का हित नहीं है, वह वास्तव में आत्मा का पद नहीं है;

तथापि उसके लिए कितनी दौड़ धूप करता है! यदि अन्तर्दृष्टि से आत्मा को सन्तुष्ट करके उसका मत प्राप्त कर ले तो तीन लोक में प्रधान-उत्कृष्ट ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति हो। आत्मा का मत कैसे प्राप्त होता है? जैसा आत्मा का स्वभाव है, वैसा ही अभिप्राय में-मति में ग्रहण करे तो आत्मा का मत प्राप्त हो, किन्तु जैसा स्वभाव है, वैसा न मानकर उससे विरुद्ध माने तो उसे आत्मा का मत नहीं मिल सकता और न सिद्धपद की प्राप्ति हो सकती है। मात्र विकार के उपभोग पर जिसकी दृष्टि है, उसकी मति में आत्मा आया ही नहीं है; इसलिए आत्मा का मत उससे विरुद्ध है; वह जीव मिथ्यामति से संसार में भटकता है। एक समय जितने विकार के उपभोग से रहित, तीनों काल पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ - ऐसी अन्तर स्वभाव की दृष्टि करने से जो सम्यक्मति हुई, उसमें आत्मा आया है; उसे आत्मा का मत प्राप्त हो गया है, अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ है और उसके फल में उसे त्रिलोक पूज्य ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति होगी।

लोग कहते हैं कि - 'अपना देश गुलाम है,गुलाम से धर्म नहीं हो सकता; इसलिए गुलामी की जंजीर तोड़ दो...' उससे कहते हैं कि अरे भाई! गुलाम से धर्म नहीं होता, यह बात सच है किन्तु गुलामी का अर्थ क्या - उसकी तुझे खबर नहीं है। मेरे आत्मा को धर्म करने के लिए पर संयोग की आवश्यकता होती है - ऐसी पराधीनता की बुद्धि ही गुलामी है और ऐसे पराधीन बुद्धिवाले गुलाम को धर्म नहीं होता, क्योंकि उसने अपने आत्मा को स्वतन्त्र नहीं माना, किन्तु देश आदि पर संयोगों का गुलाम माना है।

ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ; मैं संयोग का गुलाम नहीं हूँ, मेरा धर्म संयोगाधीन नहीं है किन्तु असङ्ग ज्ञायकस्वभाव के आधार से ही मेरा धर्म है। देश गरीब या पराधीन हो तो मैं अपने आत्मा का धर्म न कर सकूँ - ऐसी पराधीनता मुझ में नहीं है। देश स्वाधीन हो या पराधीन, किन्तु मैं चाहे जब अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से अपने आत्मा का धर्म (सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान-चरित्र) कर सकता हूँ। वास्तव में तो अनन्त गुणों की बस्ती से भरा हुआ असंख्य प्रदेशी आत्मा ही मेरा स्व-देश है। यहाँ तो कहते हैं कि विकारभाव भी नित्य ज्ञायकस्वभावी आत्मा से पर है, उसका उपभोग करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है, तो फिर लक्ष्मी आदि बाह्य पदार्थों की क्या बात?

प्रश्न : कार्तिकेयस्वामी ने द्वादशानुप्रेक्षा (गाथा-१२) में कृपण को लक्ष्मी का उपभोग कहा है और यहाँ आप कहते हैं कि आत्मा उसका अभोक्ता है - यह कैसे ?

उत्तर : वहाँ तो जो जीव, लक्ष्मी की लोलुपता से तीव्र लोभ परिणाम में डूब रहा है, उसका ममत्वपरिणाम कुछ कम कराने के लिए लक्ष्मी का उपभोग करना कहा है। लक्ष्मी का संयोग अध्रुव जानकर, उसके प्रति ममत्वपरिणामों को कुछ कम करे और किञ्चित् वैराग्यपरिणाम करे - उस हेतु से वहाँ उपदेश है किन्तु उतने मात्र से धर्म हो - जाता है - ऐसा वहाँ नहीं बतलाना है। यहाँ तो आत्मा को धर्म कैसे हो उसकी बात है; इसलिए आत्मा का मूलस्वभाव क्या है, वह बतलाते हैं। आत्मा पर का अभोक्ता है, यह बात लक्ष्य में रखकर वहाँ निमित्त से उपदेश है - ऐसा समझना चाहिए।

आत्मस्वभावोन्मुख होने से विकार का भी अनुभव नहीं रहता, तो फिर शरीरादि के उपभोग की क्या बात ? शरीर में रोग होने पर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि - 'हाय ! हाय ! अब मेरी मृत्यु हो जाएगी !' किन्तु भाई रे ! मरता कौन है ? यह शरीर तो तुझसे इस समय भी पृथक् है। शरीर के रोग का उपभोग तुझे नहीं है; इसलिए शरीरबुद्धि छोड़ और अविनाशी चैतन्यस्वभाव को लक्ष्य में ले, तो तेरा मृत्यु का भय दूर हो जाए। देह छूट जाए तो उससे कहीं आत्मा नहीं मर जाता। क्या सूर्य मरता है ? जीव मरता है ? इन किसी का मरण नहीं होता।

जगत में अनादि से जितने जीव हैं और जितने परमाणु हैं, उतने ही सदैव रहते हैं; उनमें से एक भी जीव या एक भी परमाणु कभी कम होता ही नहीं। आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानास्वभाव से जीवित ही हैं। विकार एक क्षणपर्यन्त का ही है, उसका दूसरे क्षण मरण (अभाव) हो जाता है; इसलिए उस विकार के अनुभव की बुद्धि छोड़ और आत्मा के ज्ञानस्वभाव का अनुभव कर, तो मरणरहित ऐसी सिद्धदशा प्रगट हो। इसके अतिरिक्त विकार के उपभोग की विपरीत दृष्टि में तो अनन्त मरण कराने की शक्ति विद्यमान है। कालकूट सर्प का विष तो एक बार मृत्यु करता है (और वह भी आयु पूर्ण हो गई हो तब), किन्तु विपरीत दृष्टिरूपी मिथ्यात्व का विष तो संसार में अनन्त मरण कराता है। इसलिए हे जीव ! अनन्त चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण अपने अमृतस्वरूप आत्मा को पहचानकर, उसके अनुभव का उद्यम कर, वही आत्मा को अनन्त मरण से बचानेवाला है।

किञ्चित् प्रतिकूलता आये अथवा चिन्ता हो वहाँ तो, अरे रे! मेरा आत्मा चिन्ता के बोझ से दब गया! - ऐसा अज्ञानी को लगता है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! चिन्ता के बोझ से दब जाये, ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तेरे आत्मा में ऐसा अभोक्ता -स्वभाव है कि वह चिन्ता के परिणाम को नहीं भोगता... इसलिए तू आकुलित न हो... चिन्ता के अभोक्ता ऐसे अपने ज्ञायकस्वभाव को लक्ष्य में ले। ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से तुझे ज्ञातापरिणाम के अनाकुल आनन्द का वेदन होगा; उस आनन्द का ही भोक्ता होना तेरा स्वभाव है। कभी-कभी ज्ञानी को भी चिन्ता परिणाम होते हैं, किन्तु ऐसे आनन्दस्वभाव के वेदन की अधिकता में उन्हें चिन्ता की अधिकता कभी नहीं होती; इसलिए उन्हें उलझन नहीं होती, शङ्का नहीं होती। वे सचमुच चिन्ता या हर्ष के भोक्ता नहीं हैं, उनका भोक्तृत्व तो उनके विलीन हो गया है; उन्हें तो आनन्द का भोक्तृत्व है।

पुनश्च, हर्ष-शोक के जो परिणाम हैं, वे ज्ञातापरिणामों से पृथक् ही हैं; इसलिए ज्ञानी उनका भोक्ता नहीं है किन्तु सदा ज्ञाता ही है। उसे हर्ष-शोक के अल्प परिणाम होते हैं, उनमें वह तन्मय नहीं होता; यदि उनमें तन्मय हो जाए तो उसका अभोक्तृत्व नहीं रहता, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। अज्ञानी, हर्ष-शोकादि में तन्मय होकर उन्हीं का उपभोग करता है, उनसे पृथक् ज्ञानस्वभाव का किञ्चित् वेदन उसे नहीं रहता। क्षणिक विकार जितना ही अपने को मानकर जो उसी का भोक्ता होता है, वह जीव अनन्त धर्मों के पिण्डरूप अनेकान्त स्वभाव से हटकर, एकान्त की ओर ढला है; इसलिए उसे एकान्त अशुद्ध आत्मा ही भासित होता है। आत्मा, क्षणिक विकार के उपभोग जितना नहीं है किन्तु त्रिकाल उसका अभोक्ता है, अर्थात् आत्मा, ज्ञान-आनन्दादि अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप, अनन्त शक्ति का पिण्ड आत्मा बतलाकर अज्ञानी को एकान्त बुद्धि छुड़ाकर, आत्मा के स्वभाव में ले जाने की यह बात है।

भाई! तू अपनी आत्मशक्ति का विश्वास कर, तेरी शक्ति छोटी (क्षणिक विकार जितनी) नहीं है, तेरी शक्ति तो विशाल है, तेरा आत्मा अनन्त शक्ति से महान है। विकार का अभोक्ता होकर स्वभाव की शान्ति का उपभोग करने की तुझ में शक्ति है और जब मुझ में ही ऐसी शक्ति है तो दूसरे की तुझे क्या आवश्यकता? इसलिए तू अपनी शक्ति का

विश्वास कर, तो उस शक्ति के अवलम्बन से शान्ति प्रगट हो और अशान्ति का वेदन छूट जाए। अपनी शक्ति के अविश्वास के कारण ही तूने बाह्य में भटककर संसार में परिभ्रमण किया है। तुझे स्वयं अपनी शक्ति का विश्वास न आए तो दूसरा कोई तुझे शान्ति नहीं दे सकता, क्योंकि तेरी शान्ति, दूसरों के पास नहीं है।

बाह्य में संयोग-वियोग आएँ, वहाँ हर्ष-शोक करके अज्ञानी उनके वेदन में इस प्रकार एकाकार हो जाता है कि उनसे भिन्न आत्मा के अस्तित्व का उसे भान ही नहीं रहता। किञ्चित् प्रतिकूलता आये, वहाँ तो मानों आत्मा खो ही गया। किन्तु भाई! संसारी को ऐसे संयोग-वियोग नहीं आएँगे तो क्या सिद्ध को आएँगे? सिद्ध भगवान को संयोग-वियोग या हर्ष-शोक नहीं होते। निचली दशा में वे होते हैं किन्तु उनके होने पर भी मैं तो उनसे भिन्न ज्ञानस्वभावी सिद्धसमान हूँ। जिस प्रकार सिद्धभगवान का आत्मा, संयोग-वियोग और हर्ष-शोक से अत्यन्त पृथक् है; उसी प्रकार मेरा आत्मस्वभाव भी उनसे पृथक् है। मेरा निजभाव तो ज्ञानमात्र ही है; इस प्रकार शुद्ध आत्मा को ध्येयरूप रखकर, उस ओर सन्मुख हो तो उसका परिणमन सिद्धदशा की ओर होता रहे; विकार का वेदन प्रति क्षण दूर होता जाए और सिद्धभगवान जैसे अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन का विकास हो। ऐसी साधकदशा है और यही धर्म है।

यह आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। इन शक्तियों के वर्णन द्वारा आत्मा का स्वभाव बतलाना है। यह बाईसवीं शक्ति कहती है कि आत्मा, समस्त कर्मों की ओर के भावों का अभोक्ता है। देखो, कर्म की १४८ प्रकृतियों में से घातिकर्म, वेदनीय, गोत्र तथा तीर्थंकरनामकर्म आदि ७८ प्रकृतियों को 'जीव विपाकी' माना है और यहाँ कहते हैं कि जीव उनका अभोक्ता है। वहाँ गोम्मसटसार आदि में तो जीव की उस-उस प्रकार की अशुद्धपर्याय के साथ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बतलाने के लिए कथन है और यहाँ निश्चयनय द्वारा जीव का शुद्धस्वभाव बतलाना है। जीव के शुद्धज्ञायकस्वभाव में विकार का या कर्म का पाक है ही नहीं; जीव के स्वभाव में तो ज्ञान और आनन्द का ही विपाक होता है।

सातवें नरक में किसी को सम्यक्त्व हो तो वह भी ऐसा निःशङ्क जानता है कि इस नरक के संयोग का अथवा उस ओर के असाताभाव का उपभोग मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं

है; उसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि में रहनेवाले जीव भी उस अनुकूल संयोग से अथवा उस ओर के साताभाव के वेदन से अपने ज्ञायकस्वभाव का पृथक् ही अनुभव करते हैं।

देखो भाई! बाह्य संयोग-वियोग का प्रेम छोड़कर, आत्मा के स्वभाव का प्रेम करना चाहिए। जिसके प्रति प्रेम होगा, उसी ओर वृत्ति जाएगी। जिसे आत्मा का सच्चा प्रेम हो, उसे आत्मा समझ में न आए - ऐसा नहीं हो सकता। आत्मस्वभाव का प्रेम करके उसकी श्रद्धा ज्ञान और अनुभव करना ही अनन्त मरण से आत्मा को बचाने का उपाय है।

एक के बाद एक पुत्री का जन्म हो तो खेद करता है और पुत्र उत्पन्न हो तो हर्षित होता है... किन्तु यहाँ कहते हैं कि उस पुत्री या पुत्र का उपभोग करनेवाला तो आत्मा नहीं है और उस ओर के शोक या हर्षपरिणाम को भोगने का भी तेरा स्वभाव नहीं है। उससे पार तेरा ज्ञायकस्वरूप है; उस स्वरूप को श्रद्धा में ले तो तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्दरूपी पुत्र का जन्म हो। उस अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करना आत्मा का स्वभाव है।

कोई तम्बूरे के तारों को झनझनाकर भगवान की भक्ति करता हो तो वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि इस भक्ति से इसे धर्म होगा और तीर्थङ्करनामकर्म बँध जाएगा! किन्तु उसे भान नहीं है कि राग, धर्म नहीं है और सम्यग्दर्शनरहित अकेले राग से किसी को तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध नहीं होता। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है और राग के उपभोग में ही लीन हो रहा है, वह तो मूढ़ है, ऐसे जीव को कभी तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध नहीं होता। सम्यक्त्वी धर्मात्मा, राग के वेदन को आत्मा के स्वभाव से पृथक् जानते हैं। आत्मा के ज्ञायकस्वभाव के वेदन की और राग के वेदन की जाति अत्यन्त भिन्न है - ऐसा वे जानते हैं; इसलिए राग के वेदन में कभी एकाकार नहीं होते; स्वभाव के वेदन में एकाकार होते जाते हैं और राग का वेदन छूटता जाता है - आत्मा की अभोक्तृत्वशक्ति का ऐसा परिणमन उनके उल्लसित होता है।

इस प्रकार अभोक्तृत्वशक्ति का निर्मलपरिणमन होते-होते जहाँ केवलज्ञान और परिपूर्ण आनन्द का उपभोग प्रगट हुआ, वहाँ हर्ष-शोक का किञ्चित् भोक्तृत्व नहीं रहा तथा आहारादि के भोक्तृत्व में निमित्त हो, ऐसी अशुद्धता भगवान को न रही। अतीन्द्रिय-आनन्द का पूर्ण उपभोग हो जाने पर भी, केवली प्रभु को आहारादि का निमित्त-भोक्तृत्व

भी होता है, ऐसा जो मानता है, उसे केवली भगवान की अभोक्तृत्वदशा का अथवा पूर्ण आनन्द का भान नहीं हैं और अपने आत्मा के अभोक्तापने की भी उसे खबर नहीं है। अरे, भगवान को पूर्ण आनन्द प्रगट हो गया, वहाँ आहार कैसा ? पूर्ण आनन्द हो, वहाँ आहार नहीं होता। हाँ, अभी वहाँ योग का कम्पन हो सकता है, अर्थात् दिव्यध्वनि का निमित्तपना हो सकता है किन्तु आहार का निमित्तपना कभी नहीं हो सकता। अहो! जहाँ आनन्द का पूरा अनुभव हो गया, एक समय का उपयोग पूर्ण हो गया, परिपूर्ण अतीन्द्रियभाव विकसित हो गया, वहाँ इन्द्रिय विषयों का भोक्तृत्व क्यों होगा ? – नहीं हो सकता।

साधक की दृष्टि, ज्ञानस्वरूपी वीतरागी अभोक्तास्वभाव पर है और पर्याय में हर्ष –शोक का अल्प वेदन भी है; इसलिए उस साधक को तो अभोक्तापना मुख्य और भोक्तापना गौण – ऐसा मुख्य–गौणपना होता है किन्तु केवली भगवान को ऐसा मुख्य–गौणपना नहीं है क्योंकि उन्हें तो किञ्चित् भी हर्ष–शोक का भोक्तृत्व रहा ही नहीं है।

अब, केवली भगवान को जिस प्रकार हर्षादि के भोक्तृत्व का सर्वथा अभाव है, उसी प्रकार उन्हें योग का कम्पन या वाणी का योग भी हो ही नहीं सकता – ऐसा नहीं है। केवलज्ञान के साथ आहार होने में विरोध है किन्तु केवलज्ञानी के साथ योग का कम्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है। 'केवलज्ञानी को ज्ञान और आनन्दादि गुणों का शुद्धपरिणमन हो गया, वहाँ अब अन्य किसी गुण का विभावपरिणमन हो ही नहीं सकता, अथवा केवलज्ञान के पश्चात् वाणी हो ही नहीं सकती' – ऐसा जो मानता है, उसे केवलज्ञान की खबर नहीं है। तथा ज्ञान–आनन्द–योग आदि गुणों में जो कथञ्चित् गुणभेद है, उसे भी वह नहीं जानता; इसलिए वह एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि है और केवलज्ञान के पश्चात भी जो आहार–जल आदि का होना मानता है, उसे केवली भगवान के अथवा केवली समान अपने अभोक्तास्वभाव की खबर नहीं है; इसलिए उसके अभोक्तृत्वशक्ति का विपरीत परिणमन है, अर्थात् वह विकार के और इन्द्रिय विषयों के ही भोक्तृत्व में वर्तता है; चैतन्य के आनन्द का उपभोग उसके अंशत: भी नहीं है। ज्ञानी तो, 'मेरे ज्ञायकस्वभाव में विकार का किञ्चित् भी भोक्तृत्व नहीं है' – ऐसा जानता हुआ, उस स्वभाव के आधार से विकार के उपभोग का सर्वथा अभाव करके, पूर्ण आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

[– यहाँ बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२३]

निष्क्रियत्वशक्ति

सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।

समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निष्पन्दतास्वरूप (अकम्पतास्वरूप), निष्क्रियत्वशक्ति। (जब समस्त कर्मों का अभाव हो जाता है, तब प्रदेशों का कम्पन मिट जाता है; इसलिए निष्क्रियत्वशक्ति भी आत्मा में है)।

अनेकान्तमय आत्मा की प्रसिद्धि किस प्रकार होगी? उसका अनुभव किस रीति से होगा? उसकी यह बात है। ज्ञानलक्षण से आत्मा की प्रसिद्धि होती है इसलिए उसको 'ज्ञानमात्र' कहा है। ज्ञानमात्रभाव के साथ अनन्त शक्तियाँ परिणमती हैं; इसलिए भगवान आत्मा को अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकशित होता है, उसकी शक्तियों का यह वर्णन चलता है।

आत्मा, ज्ञानमात्र है; उस ज्ञानमात्र आत्मा में स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशमान है, इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयंमेय अनन्त धर्मोंवाला है। ऐसे अनेकान्तमय आत्मा की प्रसिद्धि किस प्रकार हो? – उसका अनुभव कैसे हो? उसी का यह वर्णन है। प्रारम्भ में आचार्यदेव ने कहा है कि ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है। आत्मा की ओर न ढलकर जो ज्ञान, मात्र परज्ञेयों की ओर ही ढलता है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती; इसलिए उस मिथ्याज्ञान को आत्मा का लक्षण भी नहीं कहते। जो अन्तरोन्मुख होकर आत्मा को लक्षित करे, उस ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि-अनुभव होता है और वह ज्ञान ही सच्चा लक्षण है, ऐसे ज्ञानलक्षण को मुख्य करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहा। वहाँ शिष्य को प्रश्न हुआ कि प्रभो! आत्मा में अनन्त धर्म होने पर भी आप उसे 'ज्ञानमात्र' क्यों कहते हैं? ज्ञानमात्र कहने से क्या एकान्त नहीं होता? उसके समाधान में आचार्यदेव ने कहा कि – अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को ज्ञानमात्र कहने पर भी एकान्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा के

ज्ञानमात्र भाव के साथ ही अनन्त शक्तियाँ परिणमित होती हैं; इसलिए उस ज्ञानमात्र भाव को स्वयंमेव अनेकान्तपना है।

उस ज्ञानमात्र भाव के साथ परिणमित-उल्लसित शक्तियों का यह वर्णन चलता है। आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया है, उनमें से २२ शक्तियों का विवेचन हो गया है। अब, २३ वीं निष्क्रियत्वशक्ति है। 'समस्त कर्मों के उपरम से प्रवर्तित आत्मप्रदेशों की निष्पन्दतास्वरूप, निष्क्रियत्वशक्ति है।' ज्ञानमात्र आत्मा में ऐसी भी एक शक्ति है।

आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलनरूप क्रिया हो, वह योग है; उस क्रिया के निमित्त से कर्म आते हैं किन्तु उन कर्मों या प्रदेशों के कम्पनरूप क्रिया, आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो स्थिर-अकम्प रहना है। अकम्पस्वभावी आत्मा, शरीर को चलाए या कर्म आने में निमित्त हो - यह बात कहाँ रही ? स्वभावदृष्टि में तो आत्मा, कर्म को निमित्त भी नहीं है। आत्मा के स्वभाव में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जड़ शरीरादिक को हिलाए या कर्मों को खींचे। शरीर का हिलना-चलना-बोलना-खाना आदि क्रियाएँ, आत्मा के साथ सम्बन्धवाली दिखायी देती है, वहाँ अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि - 'मुझसे यह क्रिया होती है' - उसे आत्मा के अकम्पस्वभाव की खबर नहीं है। भाई! शरीरादि क्रिया तो स्वयं जड़ की शक्ति से होती है; उसका तो तू कर्ता नहीं है किन्तु तेरे आत्मप्रदेशों में जो कम्पन होता है, वह भी तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; निष्क्रिय, अर्थात् अडोल-स्थिर -अकम्प रहने का तेरा स्वभाव है।

जिस प्रकार राग-द्वेष से अस्थिरता हो, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; वीतरागी स्थिरता ही आत्मा का स्वभाव है; उसी प्रकार प्रदेशों का कम्पन-अस्थिरता हो, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। अकम्प-निष्क्रिय-स्थिर रहे, वही आत्मा का स्वभाव है। इच्छा और कम्पन दोनों विकार हैं। जीव ऐसी इच्छा करे कि मैं अमुक स्थान पर (नन्दीश्वरद्वीप आदि) जाऊँ, तथापि आत्मप्रदेशों में वहाँ जाने की क्रिया न भी हो, क्योंकि वहाँ जाने की इच्छा और क्रिया, दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं तथा वे दोनों विकार हैं। आत्मा का ज्ञायकस्वभाव तो उस इच्छा और कम्पन से रहित है; आत्मा तो वीतरागी अकम्प स्वभावी है। आत्मा के प्रदेशों में जो कम्पन होता है, वह योगगुण की क्षणिक उपादानरूप योग्यता

है और वहाँ आने योग्य हैं, वही कर्म आते हैं, वह निमित्त-नैमित्तिक का स्वतन्त्र सम्बन्ध है। जो कम्पन है, वह मात्र वर्तमान पर्याय पर्यन्त योग्यता है; आत्मा की त्रिकाली शक्ति में वह नहीं है। यदि त्रिकाली शक्ति में कम्पन हो, तब तो सदैव कर्म आते ही रहें और आत्मा कभी कर्मरहित मुक्त हो ही न सके, किन्तु आत्मा की निष्क्रियशक्ति है, वह कभी कर्मों को निमित्त नहीं होती। ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि से प्रतिक्षण कर्मों का निमित्तपना छूटता जाता है और सर्व कर्मों का अभाव होकर, सिद्धदशा प्रगट होती है; वहाँ आत्मा, सादि अनन्त, अकम्परूप से स्थिर रहता है। चौदहवें गुणस्थान से ही अकम्पपना हो जाता है, वहाँ आत्मा को कर्मों का आस्रव सर्वथा रुक गया है। निचलीदशा में कम्पन तो होता है, किन्तु वह होने पर भी आत्मा का अकम्पस्वभाव क्या है, उसकी पहचान करने की यह बात है।

आत्मा का स्वभाव क्या है, उसे लक्ष्य में लेकर स्वीकार करे, फिर उस स्वभाव के अवलम्बन से पर्याय भी वैसी ही शुद्ध हो जाएगी। जैसे - अभोक्तृत्व, अकर्तृत्व आदि शक्तियाँ तो ऐसी हैं कि वैसे आत्मस्वभाव की प्रतीति करते ही पर्याय में उनका अंशतः निर्मलपरिणमन होता है किन्तु इस निष्क्रियशक्ति में ऐसा नहीं है कि आत्मा का निष्क्रियस्वभाव प्रतीति में आते ही प्रदेशों का कम्पन अंशतः रुक जाए। हाँ, इतना अवश्य है कि वह कम्पन होने पर भी, अमुक अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती। जैसे, सम्यक्त्व आदि होने पर, मिथ्यात्वादि के रजकण तो उसकी नहीं आते। तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान-आनन्द पूर्ण हो गए हैं, तथापि वहाँ प्रदेशों का कम्पन होता है। अनादि से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रदेशों का कम्पन होता है। एक समय भी पर्याय में अकम्पपना हो तो मुक्ति हुए बिना न रहे और अकम्प आत्मस्वभाव की प्रतीति करे, उसे भी मुक्ति हुये बिना न रहे।

अकम्पस्वभाव को प्रतीति में लेते हुए अकेला अकम्पपना पृथक प्रतीति में नहीं आता, किन्तु अकम्पपने के साथ ही रहनेवाले श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द-प्रभुता आदि अनन्त गुणों का पिण्ड आत्मा प्रतीति में आता है। ऐसे आत्मा को श्रद्धा में लेकर उसमें स्थिरता का प्रयत्न करना है। प्रदेशों का कम्पन होने पर भी स्वरूप की श्रद्धा और स्थिरता करके, केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

कोई जीव, ज्ञान में ऐसे विचार करे कि मैं प्रदेशों के कम्पन को रोक दूँ - तो ऐसे

नहीं रुक सकता, क्योंकि ज्ञानक्रिया से कम्पनरूप क्रिया, पृथक है। इसलिए तू अपने सम्यक श्रद्धा-ज्ञान एवं आनन्द का उद्यम कर, प्रदेशों का कम्पन्न कहीं तेरे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द को नहीं रोकता। केवलज्ञान होने के बाद भी किसी को लाखों-अरबों वर्ष तक कम्पन रहता है, तथापि वहाँ केवलज्ञान को या पूर्णानन्द को किञ्चित् बाधा नहीं आती। प्रदेशों की स्थिरता तो सहज ही उसके काल में हो जाएगी; जीव को तो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता का ही उद्यम करना है। केवलीभगवान को प्रदेशों का कम्पन होने पर भी, आत्मा का अकम्पस्वभाव केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात हो गया है तथा अकम्पदशा प्रगट होगी - वह भी ज्ञात हो गया है।

श्रीकृष्ण की रानी ने नेमिनाथ भगवान का वस्त्र धोने से इनकार किया, तब नेमिकुमार ने श्रीकृष्ण की आयुधशाला में जाकर ऐसा शंख फूँका कि द्वारिका की धरती काँप उठी! वहाँ कोई ऐसा माप निकाले कि - 'भगवान में कितनी शक्ति थी...धरती भी काँप उठी!' तो उसे भगवान के आत्मा की सच्ची पहिचान नहीं है। अरे भाई! जब आत्मा का स्वभाव स्वयं काँपने का नहीं है, तब वह पर को कैसे कँपा सकता है? उस समय उस प्रकार का प्रदेशों का कम्पन, भगवान के आत्मा में हुआ, वह भी उसका स्वभाव नहीं है; इसलिए उससे भगवान के आत्मा की सच्ची पहचान नहीं होती। भगवान को तो उस समय किञ्चित् मान का विकल्प तथा कम्पन होने पर भी उससे भिन्न अपने अकम्प-ज्ञानानन्द -स्वभाव का भान था। - इस प्रकार जाने, तभी भगवान को जाना कहा जाता है।

प्रश्न : आत्मसिद्धि में तो ऐसा कहा है न, कि:-

'देह न जाने तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण,
आत्मानी सत्ता बड़े, तेह प्रवर्ते जाण॥ ५३॥

अर्थात्, देह-इन्द्रियाँ, आत्मा की सत्ता द्वारा प्रवर्तमान हैं - ऐसा उसमें कहा है और यहाँ तो कहते हो कि हराम है यदि आत्मा, पर की क्रिया कर सकता हो तो! तो इन दोनों बातों का मेल कैसे हो सकता है?

उत्तर : वहाँ तो जो बिलकुल नास्तिक है और आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानता उसे आत्मा का अस्तित्व बतलाने की बात है। आत्मा के अस्तित्व की भी जिसे शङ्का है,

उसे समझाते हैं कि अरे भाई! यदि आत्मा न हो तो यह इन्द्रियाँ कहाँ से जानेंगी? इसलिए जो ज्ञातृत्व वर्तता है, वह आत्मा की सत्ता द्वारा जान। इस प्रकार वहाँ आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है; और यहाँ तो जो आत्मा के अस्तित्व को मानता है किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता और उसे पर का कर्ता मानता है, उसे आत्मा का वास्तविकस्वरूप बतलाना है। भाई! तेरा आत्मा स्थिरस्वभावी है; तेरे आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है, वह भी तेरा स्वभाव नहीं है, तो फिर तुझसे अत्यन्त भिन्न ऐसे जड़पदार्थों को तेरा आत्मा चलाए, यह बात ही कहाँ रही? प्रदेशों का कम्पन तो तेरी पर्याय में है किन्तु पर को हिलाना-डुलाना तो तेरी पर्याय में भी नहीं है।

आत्मा की पर्याय में प्रदेशों का कम्पन होता है, वह वास्तव में पर के कारण नहीं है किन्तु अपनी ही उस प्रकार की योग्यता है। वह कम्पन, आत्मा का मूलस्वभाव नहीं है। समस्त कर्मों के अभावरूप सिद्धदशा होने पर, कम्पन दूर होकर निष्कम्पदशा प्रगट होती है, उसे यहाँ निष्क्रियत्व कहा है।

प्रश्न : आत्मा का स्वभाव, निष्क्रिय है या सक्रिय?

उत्तर : प्रदेशों के कम्पनरूप क्रिया, आत्मा का स्वभाव नहीं है, उस अपेक्षा से तो आत्मा निष्क्रिय है; किन्तु अपने ज्ञान-आनन्दादि के निर्मलपरिणामरूप होने की क्रिया उसका स्वभाव है; उस अपेक्षा से वह सक्रिय है।

ज्ञान-आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा, कम्पनरहित स्थिर स्वभाववाला है। जिस प्रकार जिनबिम्ब हलन-चलनरहित स्थिर हो गया है; उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव स्थिर बिम्ब है। अनन्त सिद्धभगवन्त चैतन्य की स्थिर प्रतिमा हो गये हैं; वैसा ही आत्मा का स्वभाव है।

जैसे, कोई मूर्ख मध्यबिन्दु से उछलते हुए सम्पूर्ण समुद्र को न देखे और किनारे पर आनेवाले मैल को ही देखकर कहे कि मैंने समुद्र देखा है, तो वास्तव में उसने समुद्र नहीं देखा है क्योंकि किनारे का मैल, वह समुद्र नहीं है; समुद्र तो अन्दर से उछलकर मैल को बाहर निकाल देता है। उसी प्रकार यह आत्मा, अनन्त शक्तियों से उछलता हुआ चैतन्यसमुद्र है। हे जीव! अन्तर में अनन्त शुद्ध शक्तियों से भरपूर चैतन्यसमुद्र उछल रहा है, उसे तो

देख! जो अनन्त शक्तियों से उछलते हुए चैतन्यसमुद्र को नहीं देखता और किनारे के मैल की भाँति पर्याय के क्षणिक विकार को देखकर उसी को आत्मा मानता है, वह जीव लोकोत्तर मूर्ख, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

अरे मूढ़! तेरे आत्मा का स्वभाव तो अनन्त शक्तियों के निर्मलपरिणमनरूप से उछलकर विकार को बाहर निकाल देने का है; इसलिए अन्तर्मुख दृष्टि करके सम्पूर्ण चैतन्यसमुद्र को देख और पर्यायबुद्धि छोड़। शान्ति का समुद्र तेरे आत्मस्वभाव में भरा है, उसमें दृष्टि कर तो तुझे शान्ति का वेदन हो; इसके अतिरिक्त अन्य कहीं से तुझे शान्ति का वेदन नहीं हो सकता।

यहाँ एक समय की कम्पन पर्याय को गौण करके आत्मा के त्रिकाली अकम्पस्वभाव की दृष्टि कराना है; अकेले अकम्पस्वभाव को पृथक् करके नहीं, किन्तु ज्ञान-श्रद्धा-आनन्द-अकम्पपना इत्यादि अनन्त शक्तियों से अभेदरूप भगवान आत्मा बतलाना है। लोग कहते हैं कि अमुक नेता के पैरों की धमक से धरती काँप उठती है किन्तु यह सब तो देह का अभिमान है। यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरा आत्मा, देह से पृथक् त्रिकाल कम्पनरहित स्थिर-निष्क्रिय है तो वह पर को कँपाये यह बात ही कहाँ रही? इसलिए अपने आत्मा के स्वभाव की ओर देख... तो तेरी अनन्त शक्तियों का शुद्धपरिणमन उछलने से, पर्याय में से कम्पन भी छूटकर सादि-अनन्त अकम्प ऐसी सिद्धदशा प्रगट होगी।

[यहाँ तेईसवीं निष्क्रियत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२४]

नियतप्रदेशत्वशक्ति

आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकालोकाश-सम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।

जो अनादि संसार से लेकर सङ्कोचविस्तार से लक्षित है और जो चरम शरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण से अवस्थित होता है – ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है, ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति। (आत्मा के लोकपरिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही हैं। वे प्रदेश, संसार-अवस्था में सङ्कोचविस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम परिमाण से स्थित रहते हैं।)।

हे जीव! तेरा जो कुछ है, वह सब तेरे असंख्य प्रदेशों में ही है। तेरा सुख या दुःख, तेरा ज्ञान या अज्ञान, तेरी शान्ति अथवा अशान्ति, यह सब तेरे असंख्य प्रदेशों में ही समा जाता है; तेरा कुछ तुझसे बाहर नहीं; इसलिए तू तुझमें देखना सीख।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों की ऐसी बात अरहन्तदेव के शासन के सिवाय दूसरे कहीं नहीं है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ होने पर भी, वह ज्ञानमात्र हैं; ज्ञानभाव में अपने सब गुणों का समावेश हो जाता है, अर्थात् ज्ञान ने अन्तर्मुख स्वभाव के साथ एकता करके जहाँ आत्मस्वभाव को अनुभव में लिया, वहाँ आत्मा के अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु चारित्र-वीर्य-आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ भी निर्मलपर्यायसहित अनुभव में आती हैं। प्रत्येक शक्ति का भिन्न-भिन्न अनुभव नहीं है किन्तु अभेद आत्मा के अनुभव में अनन्त शक्तियों का रस एकत्रित ही है। वह बतलाने के लिए यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा की शक्तियों का अद्‌भुत वर्णन किया है। उनमें २४ वीं 'नियतप्रदेशत्वशक्ति' है, वह कैसी है? – 'आत्मा का निजक्षेत्र असंख्य प्रदेशी है; वह अनादि संसार से लेकर सङ्कोच-विस्तार से लक्षित है और मोक्षदशा में वह चरम शरीर के परिमाण से किञ्चित् अल्प परिमाण में

अवस्थित है, ऐसा लोकाकाश के माप जितना असंख्य आत्म-अवयवपना, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति का लक्षण है।' ऐसी भी एक शक्ति आत्मा में है।

बाह्य में यह जो नाक, कान आदि शरीर के अवयव हैं, वे तो जड़ हैं; वे कहीं आत्मा के अवयव नहीं हैं। आत्मा तो अरूपी अवयववाला है और असंख्य प्रदेश ही उसके अवयव हैं। लोकाकाश के प्रदेशों की जितनी संख्या है, उतनी ही आत्मा के अवयवों की संख्या है और वह प्रत्येक अवयव, ज्ञान-आनन्दादि शक्तियों से परिपूर्ण है।

आत्मा के प्रदेशों की संख्या लोक के जितने प्रदेश हैं, उतनी होने पर भी वह लोक में विस्तृत होकर फैला हुआ नहीं है। केवलीसमुद्घात के समयमात्र एक समय ही उसके प्रदेश, लोकव्यापकरूप से विस्तृत होते हैं और वह समुद्रघात केवलज्ञानी को ही हो सकता है। सभी केवली को नहीं और इसके अतिरिक्त संसारदशा में - उस-उस शरीर के अनुसार आत्मा के प्रदेशों का सङ्कोच-विस्तार होता है। हाथी के विशाल शरीर में जो आत्मा विद्यमान हैं, उसके असंख्य प्रदेश उतने विस्तृत हुए हैं और चींटी के शरीर में जो आत्मा विद्यमान है, उसके असंख्य प्रदेश उतने संकुचित हुए हैं, तथापि असंख्य प्रदेश तो दोनों में समान ही हैं।

प्रश्न : जब विशाल शरीर में विस्तार को प्राप्त हो, तब जीव के प्रदेश बढ़ जाएँ और जब छोटे शरीर में सङ्कोच को प्राप्त हो, तब जीव के प्रदेश कम हो जाएँ - ऐसा होता है या नहीं ?

उत्तर : नहीं; आत्मा के 'नियत असंख्य प्रदेश' हैं, वे तो त्रिकाल उतने ही रहते हैं; उनमें एक भी प्रदेश कम-अधिक नहीं होता। चाहे जितना विशाल आकार हो तो उससे एक भी प्रदेश बढ़ नहीं जाता, तथा चाहे जितना छोटा आकार हो तो एक भी प्रदेश कम नहीं हो जाता। छोटे या बड़े चाहे जिस आकार में एक समान असंख्य प्रदेश ही रहते हैं।

प्रश्न : तो फिर जब जीव का आकार संकुचित हो, तब उसके प्रदेश छोटे आकार के हो जाएँ और जब उसका आकार विकसित हो, तब प्रदेशों का आकार भी बढ़ जाए - ऐसा है ?

उत्तर : नहीं; प्रदेश, अर्थात् सबसे अन्तिम अंश; वह कभी छोटा बड़ा नहीं होता।

कोई जीव पहले चींटी के शरीर में रहता था, तब उसका आकार संकुचित था और फिर वही जीव, हाथों के शरीर में आने में उसका आकार विस्तारूप हुआ, किन्तु उससे कहीं उस जीव के प्रदेश बड़े नहीं हो गये; प्रदेश तो ज्यों के त्यों ही हैं, उनकी संख्या भी ज्यों की त्यों है।

प्रश्न : यदि जीव के प्रदेशों की संख्या भी कम अधिक नहीं होती और उसके प्रदेशों का माप भी छोटा बड़ा नहीं होता; प्रदेश जितने हैं, उतने ही तथा जिस आकार के हैं, उसी आकार के रहते हैं तो जीव में सङ्कोच-विस्तार कैसे होता है ?

उत्तर : प्रदेशों की उस प्रकार की हीनाधिक अवगाहना से सङ्कोच-विस्तार होता है। लोक के असंख्य प्रदेश तथा एक जीव के असंख्य प्रदेश – वे दोनों संख्यारूप में समान हैं। लोक के एक-एक प्रदेश में ज्यों-ज्यों जीव के अधिक प्रदेशों का अवगाहन होता है, त्यों-त्यों जीव के आकार का सङ्कोच होता है और लोक के एक प्रदेश में ज्यों-ज्यों जीव के कम प्रदेश रहते हैं, त्यों-त्यों जीव के आकार का विकास होता है; इस प्रकार सङ्कोच -विस्तार होता है। उदाहरण के रूप में जब जीव, सारे लोक में अवगाही होकर रहता हो, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव का एक-एक प्रदेश है; और जब वह अर्ध लोक में व्याप्त होकर रहेगा, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव के दो-दो प्रदेश होंगे; उसी प्रकार जब जीव, लोक के असंख्यात में भाग में व्याप्त होकर रहेगा, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव के 'असंख्यातवें भाग के असंख्य' प्रदेश रहेंगे। जीव के असंख्य प्रदेशों का माप इतना बड़ा है कि उसे असंख्य से भाग देने पर भी असंख्य आता है और जीव का अवगाहनस्वभाव भी ऐसा है कि वह चाहे जितना संकुचित हो, तथापि असंख्य प्रदेशों को तो वह रोकता ही है; संकुचित होकर संख्यात या एक ही प्रदेश में जीव के समस्त प्रदेश रह जायें, ऐसा सङ्कोच उसमें कभी नहीं होता। सुई की नोक पर रह सकें, इतने से कन्दमूल के टुकड़े में भी औदारिक-असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं; उस प्रत्येक जीव ने भी असंख्य प्रदेश रोके हैं।

प्रश्न : सारे लोक के प्रदेश तो असंख्यात ही हैं और लोक में जीव अनन्तानन्त हैं, तो वे सब जीव, लोक में किस तरह समाये हुए हैं ?

उत्तर : जीव का स्वभाव अमूर्त है; इसलिए जहाँ एक जीव विद्यमान है, वहीं दूसरे जीव के प्रदेश भी रह सकते हैं और इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनन्त जीवों के अनन्त प्रदेश, एक प्रदेश में रह सकते हैं। एक ही जीव के पूरे असंख्य-प्रदेश, एक प्रदेश में कभी नहीं रहते (क्योंकि जीव के प्रदेशों में ही उस प्रकार संकुचित होने का स्वभाव नहीं है); किन्तु भिन्न-भिन्न अनन्त जीवों के अनन्त प्रदेश, लोकाकाश के एक ही प्रदेश में विद्यमान हैं। इस प्रकार लोक के असंख्य प्रदेशों में अनन्तानन्त जीवों का समावेश है। लोकाग्र में जहाँ एक सिद्धभगवान है, वहीं दूसरे अनन्त सिद्धभगवान विराजमान हैं तथापि प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं; प्रत्येक का अपना-अपना आनन्द पृथक् है, अपना-अपना ज्ञान पृथक है और अपने-अपने आत्मप्रदेश पृथक् हैं; इस प्रकार एक क्षेत्र में अनन्त सिद्ध होने पर भी, प्रत्येक का भिन्न-भिन्न अस्तित्व हैं। जिन अज्ञानियों को ऐसे स्वभाव की खबर नहीं है, उन्हें ऐसा भ्रम होता है कि मुक्त जीव एक-दूसरे में इस प्रकार मिल गये हैं, जिस प्रकार ज्योति में ज्योति मिल जाती है; वहाँ जीव, पृथक्-पृथक् नहीं हैं। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि जीव में नित्य असंख्य प्रदेश होनेरूप शक्ति है; इसलिए अपने स्वतन्त्र असंख्य प्रदेशरूप से वह त्रिकालरूप नित्यस्थायी रहता है।

असंख्य प्रदेश ज्यों के त्यों रहकर संसारदशा में जीव की आकृति में सङ्कोच-विकास होता रहता है किन्तु मुक्ति होने के पश्चात् सिद्धदशा के पहले समय में जैसा आकार हो, वैसा आकार सदैव रहता है; फिर उसमें सङ्कोच-विस्तार नहीं होता। यहाँ 'चरम शरीर से किञ्चित् न्यून आकार में अवस्थित' - ऐसे असंख्य प्रदेशीपने को नियतप्रदेशत्वशक्ति का लक्षण कहा है। चरम शरीर तो मोक्षगामी को ही होता है; इसलिए मोक्षगामी जीव की बात ली है। जो जीव, आत्मशक्ति की ओर उन्मुख हुआ है, वह अल्प काल में ही चरम शरीरी होकर अशरीरी सिद्ध हो जाएगा।

प्रश्न : सिद्धदशा में आकार होता है ?

उत्तर : हाँ; जीव के असंख्य प्रदेश हैं, उनका सिद्धदशा में भी आकार होता है।

प्रश्न : सिद्धदशा में जीव का कैसा आकार होता है ?

उत्तर : चरम शरीर से किञ्चित् न्यून, अर्थात् मोक्षदशा से पूर्व का जो अन्तिम शरीर

था, उस आकार से किञ्चित् अल्प माप का आकार, सिद्धदशा में होता है। यहाँ 'चरमशरीर से किञ्चित् न्यून कहा है; उसके बदले चरमशरीर से तीसरे भाग का न्यून, कुछ लोग मानते हैं, उनकी मान्यता ठीक नहीं है। शरीर के केश-नख आदि कुछ भागों में आत्मप्रदेश नहीं हैं - उन्हें छोड़कर किञ्चित् न्यून आकार कहलाता है। आसन यहाँ दो हैं - खड्गासन और पद्मासन।

समस्त सिद्धभगवन्तों को ज्ञान एक-सा होता है, आनन्द एक-सा होता है, प्रभुता एक-सी होती है किन्तु सबका आकार एक-सा हो, ऐसा नियम नहीं है। यद्यपि अनन्त सिद्ध, समान आकारवाले भी हैं, तथापि समस्त सिद्धों का आकार एक-सा नहीं होता; किसी का आकार बड़ा होता है, किसी का छोटा। जैसे कि - बाहुबली भगवान पाँच सौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे और महावीर भगवान सात हाथ ऊँचे थे, सिद्धदशा में भी उनका आकार तदनुसार भिन्न-भिन्न ही है।

प्रश्न : सिद्धभगवान तो सभी सामान होते हैं, तथापि वहाँ भी आकार में छोटा बड़ापन ?

उत्तर : इससे तो यह मालूम होता है कि आकार की लघुता-दीर्घता के साथ ज्ञान -आनन्द का नाप नहीं है। सवा पाँच सौ धनुष का दीर्घ आकार हो तो उसके ज्ञान-आनन्द अधिक और एक धनुष जितना आकार हो तो उसके ज्ञान-आनन्द कम, ऐसा नहीं है। प्रदेश तो दोनों के समान ही हैं। किसी जीव का आकार छोटा हो, तथापि बुद्धि अधिक होती है और किसी का आकार भारी भैंस जितना होने पर भी बुद्धि अल्प होती है, क्योंकि ज्ञानादि गुणों का कार्य पृथक् है और प्रदेशों के आकार की रचना का कार्य पृथक् है। अल्प अवगाहना हो तो उससे कहीं आत्मा की शक्तियाँ या प्रदेश कम नहीं हो जाते और न आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान, आनन्द अथवा प्रभुता में बाधा आती है; इसलिए मुक्तदशा होने पर आत्मा का आकार सर्व व्यापक हो जाए - ऐसा नहीं है।

जिसकी दृष्टि में आत्मा की स्वभावशक्ति की महिमा नहीं आयी, उसकी दृष्टि बाह्य क्षेत्र पर गयी; इसलिए बाह्य में क्षेत्र की विशालता से (सर्व व्यापकपने से) आत्मा की महिमा मानी, किन्तु इस शरीरप्रमाण मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ही मेरी अनन्त शक्ति से परिपूर्ण प्रभुता भरी है, उसका विश्वास नहीं आया। इसलिए जो आत्मा को शरीर-प्रमाण

न मानकर, सर्वव्यापक मानता है, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है – ऐसा जानना।

अहो! आत्मा की एक-एक शक्ति के वर्णन में कितनी स्पष्टता भरी है। ऐसी निजशक्ति को पहचाने तो अन्तर में भगवान आत्मा का प्रसिद्ध अनुभव हुए बिना न रहे।

आत्मा की शक्ति क्या है, उसके स्वभाव की प्रतीति करके उसके अनुभव में लीन होना, सो धर्म है। आत्मा, असंख्य-चैतन्यप्रदेशों का पिण्ड है और उसमें ज्ञानादि अनन्त गुण हैं। आत्मा में प्रदेशों की संख्या कम है और गुणों की संख्या अनन्त है। प्रदेश की अपेक्षा से जो एक अंश है, वह अन्य स्थान पर नहीं है – ऐसे असंख्य अंशोंरूप आत्मा का स्वक्षेत्र है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वह प्रत्येक गुण तो असंख्य प्रदेशों में व्याप्त होकर विद्यमान है किन्तु आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से एक प्रदेश समस्त प्रदेशों में व्याप्त नहीं होता। असंख्य प्रदेश, सर्वत्र ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण हैं; एक स्थान पर ज्ञान और दूसरे स्थान पर आनन्द, इस प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्र नहीं हैं किन्तु प्रत्येक प्रदेश में सर्व गुण एक साथ विद्यमान हैं; इसलिए एक प्रदेश में सर्व गुण हैं किन्तु एक प्रदेश में सर्व प्रदेश नहीं हैं और एक प्रदेश में एक गुण नहीं है।

आत्मा, संसारदशा में भी शरीर-मन-वाणी आदि का सङ्कोच-विस्तार कर सकता है, यह बात तो सच है ही नहीं। हाँ, संसारदशा के समय आत्मा के प्रदेशों की पर्याय में सङ्कोच-विकास है, किन्तु वह सङ्कोच-विकास नित्य होता ही रहे, ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; असंख्य प्रदेश नित्य अनन्त गुणों से भरे रहें – ऐसा स्वभाव है। सिद्धदशा होने पर, आत्मा के असंख्य प्रदेश, सङ्कोच-विस्तार हुए बिना ज्यों के त्यों स्थिर रह जाते हैं। सङ्कोच-विकासरूप भिन्न-भिन्न आकारों द्वारा आत्मा एकरूप लक्षित नहीं होता, क्योंकि कोई भी आकार त्रिकाल नहीं रहता; इसलिए सङ्कोच-विस्तार द्वारा तो मात्र एक समान का व्यवहार लक्षित हाता है और आत्मा का असंख्य प्रदेशीपना तो त्रिकाल एकरूप रहता है; इसलिए वह द्रव्य का स्वभाव है। ऐसा होने पर भी अकेला असंख्य प्रदेशीपना कहीं आत्मा का लक्षण नहीं है क्योंकि असंख्य प्रदेशीपना तो धर्मास्तिकाय आदि जड़द्रव्यों में भी है। आत्मा का लक्षण तो 'ज्ञान' है; उसी के द्वारा आत्मा लक्षित होता है। यहाँ

'ज्ञानलक्षण' उसी को कहा है कि जो ज्ञान, अन्तर्मुख होकर आत्मा को लक्षित करे - आत्मा को प्रसिद्ध करे - आत्मा का अनुभव करे। यदि राग के साथ ही एकता करके राग को ही प्रसिद्ध करे - उसी का ही अनुभव करे और राग से भिन्नरूप आत्मा को प्रसिद्ध न करे - अनुभव न करे तो वह ज्ञान भी वास्तव में ज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान है और उसे आचार्यदेव आत्मा का लक्षण नहीं कहते। यहाँ तो ज्ञान द्वारा स्वयं अपने आत्मा को प्रसिद्ध करने की बात है। यदि ज्ञान स्वयं अपने आत्मा को प्रसिद्ध न करे और पर को ही प्रसिद्ध करे, तब तो वह पर का लक्षण हो गया - वह आत्मा का लक्षण नहीं हुआ, अर्थात् वह ज्ञान, मिथ्या हुआ।

धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों में भी आत्मा जितने ही असंख्य प्रदेश हैं परन्तु उनमें ऐसा स्वभाव नहीं है कि कभी सङ्कोच-विस्तार को प्राप्त हों; वे तो त्रिकाल स्थिर, लोक में व्याप्त होकर रहते हैं। आत्मा में ही ऐसी योग्यता है कि उसके प्रदेश, संसारदशा में सङ्कोच-विकास को प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा बतलाते हैं कि सङ्कोच-विकास जितना ही आत्मा का त्रिकालीस्वरूप नहीं है। असंख्य प्रदेशीपना नियत है - एकरूप है; इसलिए वह जीव का नित्यस्वरूप है। तदुपरान्त प्रदेशों में ऐसा भी नियतपना है कि उनका स्थान भी न बदले; सङ्कोच-विकास हो, प्रदेशों का विस्तार ऊँचे नीचे हो, परन्तु उनके मूलविस्तार क्रम प्रदेशों का स्थान नहीं बदल सकता। आत्मा के ऐसे असंख्य प्रदेशों का निर्णय, आगम तथा युक्ति से होता है किन्तु छद्मस्थ को यह प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता। जिस प्रकार ज्ञान-आनन्द का तो साक्षात् वेदन होता है; उसी प्रकार असंख्य प्रदेश साक्षात् दिखायी नहीं देते, किन्तु जितने भाग में मुझे अपने ज्ञान-आनन्द का वेदन होता है, उतने असंख्य प्रदेशों में ही मेरा अस्तित्व है - ऐसा निर्णय हो सकता है।

देखो, यहाँ आत्मा को असंख्य प्रदेशी कहना, वह निश्चय है और सङ्कोच-विकास के अकाररूप कहना, वह व्यवहार है क्योंकि असंख्यप्रदेशीपना तो सदैव रहता है किन्तु सङ्कोच-विकासरूप आकार तो क्षणिक है। जीव को किसी अमुक आकारवाला नहीं कहा जा सकता, किन्तु 'असंख्यात प्रदेशी जीव' - ऐसा कहा जा सकता है। असंख्य प्रदेश कहे और फिर भी उसे निश्चय कहा, क्योंकि असंख्य प्रदेशी कहकर कहीं असंख्य भेद नहीं बतलाना है। जीव में निगोददशा के समय भी असंख्यप्रदेशीपना है और सिद्धदशा के समय

भी है - अनादि अनन्त है; इसलिए उसे निश्चय कहा है और निगोददशा के सङ्कोचरूप आकार के समय सिद्धदशा का आकार नहीं है, इस प्रकार सङ्कोच-विकासरूप आकार में एकरूपता नहीं है किन्तु वह क्षणिक एवं भिन्न-भिन्न रूप है; इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है।

आत्मा के प्रदेश में सङ्कोच-विकास हो, वह भी उसका नित्य-स्थायीस्वरूप नहीं है, तो फिर आत्मा, परवस्तु को लम्बी-चौड़ी करे, वह बात कहाँ रही ? शरीर, वस्त्र, मकान आदि का सङ्कोच-विकास आत्मा करे या लड्डू, घड़ा आदि का आकार बनाये - ऐसा कभी नहीं होता। बैल के शरीर पर कंकर लगते ही सारा शरीर फुरफरी के साथ संकुचित हो जाता है, अथवा कछुए को भय होने पर पैर और मुँह पेट में सिकोड़ लेता है; वहाँ वह शरीर को सिकोड़ने की क्रिया वास्तव में उस-उस आत्मा ने नहीं की है। उसी प्रकार जब सर्प आनन्द से डोले या क्रोध में आये, तब उसका फन फैल जाता है तथा मेढ़क, शरीर को फुलाकर गेंद की तरह विकसित कर देता है; उसमें भी वास्तव में उस-उस आत्मा ने वह क्रिया नहीं की है; शरीर के अनुसार आत्मा के प्रदेशों में उस प्रकार का सङ्कोच-विस्तार हुआ, वह आत्मा में हुआ है किन्तु उस सङ्कोच-विस्तार की पर्याय द्वारा आत्मा का नियत आकार नहीं कहलाता। असंख्यप्रदेशीपना सदैव नियत है। पुनश्च, अकेले नियतप्रदेशत्व द्वारा भी आत्मा नहीं पहिचाना जाता, किन्तु ऐसी अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा है, उसे पकड़ते ही आत्मा वास्तविकस्वरूप से जाना जाता है।

इस अधिकार के अन्त में उपसंहार करते हुए आचार्यदेव कहेंगे कि - ऐसी अनेकान्तस्वरूप वस्तु है, उसे जानना, वह जैन-नीति है। जो सत्पुरुष ऐसी जैन-नीति का उल्लंघन नहीं करते, वे स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हैं; अर्थात्, आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हो जाए, वह अनेकान्त का फल है। इसी को दूसरे प्रकार से कहें तो ज्ञान को अन्तर्मुख करके ज्ञायकस्वभावी आत्मा को ग्रहण करना ही सच्चा अनेकान्त है और वही जैनमार्ग की नीति है।

आत्मा को लोकाकाश जितना असंख्यप्रदेशी कहा है, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा विस्तृत होकर लोक में व्याप्त है; आत्मा तो शरीरप्रमाण है। केवली के

लोकपूर्णसमुद्घात के अतिरिक्त आत्मा कहीं क्षेत्र से लोकाकाश जितना विस्तृत नहीं है किन्तु उसके प्रदेशरूप अवयवों की संख्या लोकाकाश के प्रदेश जितनी ही है। आत्मा लोकाकाश जितना चौड़ा है, वह निश्चय और शरीरप्रमाण रहे, वह व्यवहार – ऐसा नहीं है किन्तु संख्या में आत्मा को लोक जितने असंख्य प्रदेश त्रिकाल हैं, वह निश्चय और शरीरप्रमाण आकार कहना, वह व्यवहार है।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में अनन्त गुण व्याप्त होकर रहे हैं, अर्थात् असंख्यप्रदेशी आत्मा स्वयं ही अनन्त गुणस्वरूप है। उन गुणों में ऐसी अंश कल्पना नहीं है कि गुण का अमुक भाग एक प्रदेश और अमुक दूसरे प्रदेश में; आत्मा के असंख्य प्रदेशों में कोई प्रदेश, गुणों से हीन या अधिक नहीं है; इसलिए पैर आदि निचले अवयवों के आत्मप्रदेशों को बुरा कहना तथा ऊपरी मस्तक आदि अवयवों के आत्मप्रदेशों को अच्छा कहना – ऐसा भेद, आत्मप्रदेशों में नहीं होता है। समस्त प्रदेश अनन्त शक्ति से पूरिपूर्ण हैं; इसलिए तेरे असंख्य प्रदेशों में भरी हुई अपनी स्वभावशक्ति को देख – यही तात्पर्य है।

हे जीव! अपने असंख्य प्रदेशों में ही तेरा कार्यक्षेत्र है। तेरा जो कुछ है, वह सब तेरे असंख्य प्रदेशों मे ही है, अपने असंख्य प्रदेशों से बाहर तेरा कुछ नहीं है। तेरा सुख या दुःख, तेरा ज्ञान या अज्ञान, तेरी शान्ति या अशान्ति, तेरी वीतरागता या राग-द्वेष – वह सब तेरे असंख्यप्रदेशों में ही है; तेरे असंख्यप्रदेशों से बाहर अन्यत्र कहीं तेरा सुख या दुःख नहीं है; तेरी अशान्ति भी बाह्य में नहीं है। तेरी शान्त-उपशमस्वभाव की विकृतिरूप अशान्ति का वेदन भी तेरे असंख्यप्रदेशों में ही है। जहाँ अशान्ति का वेदन होता है, वहीं तेरा शान्ति स्वभाव भरा है; जहाँ अज्ञान है, वहीं तेरा ज्ञानस्वभाव विद्यमान है; जहाँ दुःख का वेदन है, वहीं तेरा आनन्दस्वभाव परिपूर्ण है; जहाँ राग-द्वेष को उत्पत्ति होती है, वहीं तेरा वीतरागी स्वभाव विद्यमान है। इसलिए अशान्ति को दूर करके, शान्ति; दुःख को दूर करके, सुख; अज्ञान को दूर करके, ज्ञान और राग-द्वेष को दूर करके, वीतरागता करने के लिए कहीं बाह्य में न देख, किन्तु अपने स्वभाव में ही देख। तू स्वयं ही ज्ञान-सुख-शान्ति-वीतरागता से परिपूर्ण है; इसलिए उसमें दृष्टि कर। तेरे आत्मा का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान-सुख-शान्ति-वीतरागतारूप स्वभाव न भरा हो; इसलिए उस स्वभाव को

देखना सीख ले तो तुझे अपने ज्ञान-सुख-शान्ति और वीतरागता का व्यक्त अनुभव हो। बाह्य में देखने से ज्ञान-सुख-शान्ति या वीतरागता का वेदन नहीं होगा, क्योंकि तेरा ज्ञान -सुख-शान्ति या वीतरागता कहीं बाह्य में नहीं है।

आत्मा अपनी इच्छानुसार पर कार्य कर सके, ऐसा तो नहीं होता और इच्छानुसार ही प्रदेशों का सङ्कोच-विकास हो - ऐसा भी नहीं होता। ठिगना शरीर हो, वहाँ लम्बा शरीर होने की इच्छा करता है, तथापि उसकी इच्छानुसार शरीर परिणमित नहीं होता तथा आत्मा के प्रदेशों में भी वैसा परिवर्तन नहीं होता। प्रदेशशक्ति का कार्य स्वतन्त्र है; उसमें इच्छा की निरर्थकता है। जिस प्रकार इच्छानुसार प्रदेशों की रचना नहीं होती, किन्तु प्रदेशों की वैसी योग्यता से ही उसकी रचना होती है; उसी प्रकार 'मैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करूँ अथवा मोक्ष प्राप्त कर लूँ' - ऐसी इच्छा द्वारा सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु अन्तरङ्ग पूर्ण शक्तिरूप निज स्वभाव का अवलम्बन लेकर, उसरूप परिणमन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं। सम्यग्दर्शनादि का परिणमन, आत्मा की शक्ति में से होता है; कहीं इच्छा में से नहीं होता। आत्मा की शक्ति का अबलम्बन कर और इच्छा को-पराश्रय को निरर्थक जान।

प्रश्न : शरीर में जैसा सङ्कोच या विस्तार हो, वैसा ही सङ्कोच या विस्तार आत्मा में होता है। एक हजार योजन लम्बे मच्छ होते है, वहाँ उस हजार योजन शरीर में रहनेवाले आत्मा के प्रदेश भी उतने विस्तार को प्राप्त हुए है और अंगुल के असंख्यातवें भाग का छोटा शरीर हो, उसमें रहनेवाले आत्मा के प्रदेश उतना सङ्कोच प्राप्त करके रहते हैं; दोनों आत्मा के प्रदेश समान होने पर भी जैसा-जैसा शरीर आये, उस-उस आकार को प्राप्त होते हैं; इसलिए वह शरीर के कारण हुआ या नहीं ?

उत्तर : नहीं; शरीर में जैसा सङ्कोच या विस्तार हो, वैसा ही सङ्कोच या विस्तार आत्मा में होता है, तथापि दोनों स्वतन्त्र हैं। शरीर में क्षयरोग होने पर दुबला हो जाए, वहाँ आत्मा के प्रदेश भी वैसे संकुचित हो जाते हैं और शरीर हृष्ट-पुष्ट होने पर, आत्मा के प्रदेश भी उसी आकार में विकसित होते हैं। किन्तु इस प्रकार शरीर और आत्मा दोनों एक ही साथ में सङ्कोच या विकास को प्राप्त हो, उससे क्या ? वहाँ शरीर के कारण, आत्मा संकुचित हुआ अथवा आत्मा ने शरीर को संकुचित किया - ऐसा नहीं है। जगत में सदैव

निरन्तर एक साथ अनन्त द्रव्य अपना-अपना कार्य कर ही रहे हैं; एक साथ सबके कार्य हों तो उससे कहीं एक-दूसरे के कर्ता नहीं कहलाते। जहाँ सिद्धभगवन्त विराजमान हैं, वहीं निगोद के जीव भी रहते हैं। सिद्धभगवन्त अपनी परमानन्दरूप सिद्धदशा में परिणमित हो रहे हैं और उसी समय तथा उसी क्षेत्र में रहनेवाला निगोद का जीव, परम दु:खरूप निगोददशा में परिणमित हो रहा है - तो एक ही समय और एक ही क्षेत्र में दोनों का कार्य हुआ; इसलिए क्या दोनों को एक कहा जा सकता है अथवा क्या उन्हें एक-दूसरे का कर्ता कहा जा सकता है ? - नहीं। उसी प्रकार जीव तथा शरीर के सङ्कोच-विकास का कार्य, एक क्षेत्र में और एक काल में हो तो उससे कहीं दोनों एक नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार न्यायपूर्वक दो द्रव्यों की भिन्नता को जाने तो समस्त पर में से मोह (आत्मबुद्धि) छूट जाये और अपने चैतन्यरूप आत्मा में ही बुद्धि ढ़ल जाये। इस प्रकार बुद्धि को अथवा मति-श्रुतज्ञान को आत्मस्वभावोन्मुख करना, वह अपूर्व धर्म की रीति है। प्रथम, दृष्टि में निर्मोही हो सकते हैं, बाद में क्रमश: चारित्र में निर्मोह होता है - ऐसा क्रम है।

इस जड़शरीर के अवयव, आत्मा नहीं हैं; आत्मा तो असंख्य प्रदेशी चैतन्य शरीरवाला है। भाई! यह देह तो संयोग-वियोगरूप क्षणभंगुर, नाशवान जड़ है; तेरा आत्मा उससे पृथक्, असंयोगी, नित्य चैतन्यस्वरूप है; तेरा असंख्य प्रदेशी शरीर, अनादि-अनन्त नियत है, सदैव अतीन्द्रिय ज्ञानमय है। चारों गति में चाहे जितने शरीर धारण किये और छोड़े, तथापि तेरे आत्मा का एक प्रदेश भी कम-अधिक नहीं हुआ।

जीव का छोटा-बड़ा आकार, शरीर के या आकाश के निमित्त से है किन्तु अकेले जीव का स्व-आकार तो निश्चय से सर्वज्ञ भगवान ने असंख्य-प्रदेशी देखा है। इसके अतिरिक्त शरीर के अवयव तो जड़ की रचना है, उन्हें आत्मा का मानना भ्रम है। भाई! तेरा चैतन्यशरीर, नित्य असंख्य प्रदेशी है और वहीं तेरा अवयव है। असंख्य प्रदेशों में अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। सचमुच तू जड़-शरीर में विद्यमान नहीं है किन्तु अपने असंख्य प्रदेशों में ही तू विद्यमान है। असंख्य प्रदेशी क्षेत्र ही तेरा घर है; वहीं तेरा स्थान है।

निगोद से निकलकर कोई जीव, केवलज्ञान और सिद्धदशा प्राप्त करे, तो वहाँ पहले निगोददशा में जो असंख्य प्रदेश थे, वे ही असंख्य प्रदेश सिद्धदशा में हैं; कहीं दूसरे

नये प्रदेश नहीं आ गये हैं। असंख्य प्रदेशों में जो शक्ति भरी थी, वह प्रगट हुई है। कोई एक धनुष (चार हाथ) के शरीराकार में मोक्ष प्राप्त करता है और कोई पाँच सौ-सवा पाँच सौ धनुषाकार शरीर से मोक्ष जाता है, तथापि उन दोनों के आत्मप्रदेश तो समान ही हैं; ज्ञान समान है; आनन्द समान है; प्रभुता समान है; इस प्रकार बाह्य आकृति से महत्ता नहीं है किन्तु असंख्य प्रदेशों में जो पूर्णरूप आत्मस्वभाव भरा है, उस स्वभाव की महत्ता है – ऐसे असंख्य प्रदेश में भरे हुए आत्मस्वभाव को जाने तो देहादि समस्त पदार्थों में से अहङ्कार या महिमा छूट जाए; देह छूटने के प्रसङ्ग पर भी ऐसे स्वभाव के लक्ष्य से शान्ति बनी रहे। मैं शरीर में रहा ही नहीं हूँ; मैं तो अपने असंख्य प्रदेश में ही हूँ – ऐसे भिन्नता के ज्ञान द्वारा मृत्यु प्रसङ्ग पर भी समाधि रहती है।

[– यहाँ चौबीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२५]

स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति

सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।

सर्व शरीरों में एकस्वरूपात्मक, ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति। (शरीर के धर्मरूप न होकर, अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति, सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।)।

रे जीव! संसारपरिभ्रमण करते अनन्त शरीरों में से तू पसार हुआ फिर भी तेरा आत्मा, शरीर के धर्मों में नहीं व्याप गया, यानि जड़ नहीं हो गया किन्तु ज्ञानादि स्वधर्मों में ही व्यापकर चैतन्यस्वरूप ही रहा है - ऐसा जानकर तू प्रसन्न हो... और तेरे आत्मा को स्वधर्मों में रहा हुआ ही अनुभव कर।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक ऐसी शक्ति है कि अनादि काल से देव, मनुष्य, नारकी तथा तिर्यञ्च के अनेक शरीर धारण करने पर भी स्वयं तो एक स्वरूप ही रहा है; आत्मा अनेक शरीरोंरूप नहीं हुआ है किन्तु अपने अनन्त धर्मोंरूप ही रहा है। इस प्रकार 'सर्व शरीरों में एक स्वरूपात्मक, ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति आत्मा में है', इसलिए शरीर के धर्मरूप न होकर आत्मा अपने ही धर्मों में रहता है।

अनादि काल संसार में भटकते-भटकते जीव ने अनन्त शरीर धारण किए, किन्तु उन सबमें उसका स्वरूप तो एक ही रहा है; वह कभी किसी शरीर के धर्म में व्याप्त होकर नहीं रहा है किन्तु अपने निजधर्मों में व्याप्त होकर एक स्वरूप ही रहा है। मनुष्यशरीर हो, वहाँ अज्ञानी को देहबुद्धि से ऐसा लगता है कि 'मैं मनुष्य हूँ', तिर्यञ्च का शरीर हो, वहाँ ऐसा लगता है कि 'मैं तिर्यञ्च हूँ' - इस प्रकार जो शरीर हो, उस शरीररूप ही अपने को मानता है। यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीव! तू शरीररूप नहीं हो गया है। भिन्न-भिन्न अनन्त शरीर धारण करने पर भी तेरा आत्मा तो ज्यों का त्यों रहा है। मनुष्य अवतार के समय तू मनुष्यरूप नहीं हो गया है; तू तो अपने अनादि-अनन्त धर्मों से

एकरूप है; शरीर अनन्त बदल चुके हैं, किन्तु तेरे स्वरूप के धर्म नहीं बदले। अनन्त काल पूर्व तुझमें जो ज्ञानादि निजधर्म थे, उन्हीं ज्ञानादि निजधर्मों में इस समय भी तू विद्यमान है; इसलिए तू अपने निजधर्मों को देख!

शरीर तो एक जाता है और दूसरा आता है; दूसरा जाता है और तीसरा आता है; कोई भी शरीर अखण्डरूप से नहीं रहता और आत्मा तो समस्त शरीरों में अखण्डरूप से एक का एक रहता है। आत्मा तो अपने ज्ञानधर्म में विद्यमान है और शरीर तो अचेतन जड़धर्म में विद्यमान है; इसलिए आत्मा तो ज्ञाता धर्मवाला है और शरीर तो कुछ भी न जाननेवाले ऐसे जड़धर्मवाला है। इस प्रकार दोनों के धर्म, प्रगट भिन्न-भिन्न हैं। अपने ज्ञानधर्म से उस-उस समय के शरीर को जानते हुए 'यह शरीर ही मैं हूँ' - ऐसा मानकर अज्ञानी जीव, अपने ज्ञानधर्म को भूल जाता है। देह को जानने का आत्मा का स्वभाव है किन्तु स्वयं देहरूप हो जाए, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; स्वयं तो अपने ज्ञानादि स्वभावरूप धर्म में ही रहता है।

यहाँ शरीर की बात ली है, उसी अनुसार समस्त पदार्थों में भी समझ लेना चाहिए। हाथी को जानते हुए आत्मा, हाथी नहीं हो जाता; चींटी को जानते हुए, चींटी नहीं हो जाता तथा नीम को जानते हुए, वह नीम की तरह कड़वा नहीं हो जाता और आम को जानते हुए आम की तरह मीठा नहीं हो जाता; भिन्न-भिन्न अनेक ज्ञेयों को जानते हुए स्वयं तो अपने ज्ञानधर्मरूप ही रहता है। अज्ञानी अपने ज्ञानधर्म को भूलकर, जिन-जिन परज्ञेयों को जाने, उन्हीं को अपना स्वरूप मान लेता है।

अभी तो एक इससे भी सूक्ष्म बात है कि जीव अनादि से राग-द्वेष-मोह करता आ रहा है, तथापि जीव का स्वभाव उसरूप नहीं हो गया है। जिस प्रकार अनेक शरीर धारण करने पर भी आत्मा, शरीरमय नहीं हो गया है; उसी प्रकार अपनी पर्याय में अनादि से प्रतिक्षण रागादि करता आ रहा है, तथापि आत्मा का स्वभाव रागमय नहीं हो गया है। क्षण में राग, क्षण में द्वेष, क्षण में हर्ष, क्षण में शोक, क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ—इस प्रकार अनादि काल से भिन्न-भिन्न विकारीभाव बदलते रहते हैं, तथापि एक का एक विकारीभाव, अखण्डरूप से नहीं रहता, किन्तु आत्मा अपने अनन्त धर्मोंसहित अखण्डरूप से अनादि-

अनन्त एकरूप वर्तता है; इसलिए विकारी, उसका वास्तविकस्वरूप नहीं है। अनन्त धर्मों में व्यापकत्व त्रिकाल है, वही वास्तविकस्वरूप है। ऐसे स्वरूप को पहचाने तो पर्याय में से रागादि का व्यापकत्व छूट जाए और निर्मलता व्याप्त हो।

अज्ञानी तो देहरूप या रागरूप ही आत्मा का अनुभवन करता है और ज्ञानी तो ज्ञान-आनन्दादि अनन्त धर्मों में व्यापकत्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है; इसलिए उसके अनुभव में ज्ञान-आनन्दादि अनन्त धर्मों की शुद्धता का वेदन है। 'मेरा आत्मा सदैव दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि अपने निजधर्मों में ही विद्यमान है' - ऐसी श्रद्धा करे, उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र-आनन्दादि सर्व धर्मों का शुद्ध परिणमन हुए बिना न रहे।

दो आदमी इकट्ठे हों, वहाँ पूछते हैं कि - 'कहाँ रहते हैं ?' उसी प्रकार यहाँ आत्मा से कोई पूछे कि - 'कहाँ रहते हैं ?' तो ज्ञानी कहते हैं कि 'अपने निजधर्मों में रहते हैं।' आत्मा अपने निजधर्मों में ही रहता है; निजधर्म को छोड़कर वह कहीं बाहर नहीं रहता। आत्मा, शरीर में तो नहीं रहता, किन्तु मात्र रागादि में रहे, उसे भी वास्तव में आत्मा नहीं कहते। आत्मा तो अपने अनन्त धर्मों में और उनकी निर्मलपर्यायों में रहनेवाला है। ऐसे स्वरूप में पहचाने, तभी आत्मा को पहचाना कहा जाता है।

प्रश्न : इस समय तो आत्मा, शरीर में विद्यमान है न ?

उत्तर : अरे भाई! इस समय भी आत्मा क्या अपने ज्ञानस्वभाव को छोड़कर, शरीररूप हो गया है ? शरीर में आत्मा किस प्रकार रहा है ? शरीर का एक बार पृथक्करण तो करके देख! शरीर तो रक्त, माँस, मज्जा आदि सात धातुओं का पुतला है और यह भगवान आत्मा तो चैतन्यधातु का पिण्ड है। एक-दूसरे के संयोग में दिखायी देते हैं; इसलिए लोग कहते हैं कि आत्मा, शरीर में विद्यमान है किन्तु वास्तव में तो इस समय भी आत्मा अपने गुण-पर्यायरूप धर्मों में ही विद्यमान है। आत्मा अपने धर्मों को कभी छोड़ता नहीं है और शरीरादि को कभी ग्रहण नहीं करता।

सड़ा हुआ शरीर हो या सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर हो, नारकी का शरीर हो या देव का दिव्य शरीर हो - उस किसी शरीररूप, आत्मा हुआ ही नहीं है; आत्मा तो एक ही धारावाही शरीररूप (ज्ञानशरीररूप) रहा है। शरीर तो अचेतन पुद्गलों से रचित है, किन्तु आत्मा कहीं

अचेतन नहीं है, वह तो चैतन्यमूर्ति है। अचेतन शरीर में चैतन्यमूर्ति आत्मा कैसे रह सकता है ? आत्मा तो अपने चैतन्यधर्म में ही विद्यमान है। अहो ! देह तथा आत्मा का ऐसा स्पष्ट भिन्नत्व होने पर भी अज्ञानी जीव को मोह के कारण, उसकी भिन्नता भासित नहीं होती।

हनुमानजी वानरवंश के राजकुमार थे; उनका मुख्य नाम शैलकुमार था। वे कामदेव थे; इसलिए उनका रूप छह खण्ड में श्रेष्ठ था। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार भी कामदेव थे। आदिनाथ भगवान के पुत्र बाहुबली भी कामदेव थे; उन्हें देह से भिन्न चिदानन्दस्वरूपी आत्मा का भान था। छह खण्ड में श्रेष्ठ सुन्दर शरीर होने पर भी उन्हें शरीर में किञ्चित् आत्मबुद्धि नहीं थी। जिस प्रकार आत्मा स्तम्भ से पृथक् है, उसी प्रकार आत्मा को दह से भी अत्यन्त भिन्न मानते थे। हमारा आत्मा इस सुन्दर शरीर में विद्यमान है – ऐसी बुद्धि, स्वप्न में भी नहीं थी – आत्मा के स्वधर्म के भान में देहादि से उदास थे, उसमें स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता था।

जिस प्रकार कोई राहगीर रास्ते पर जा रहा हो तो उसे एक के बाद एक वृक्ष की छाया में से गुजरना पड़ता है किन्तु मैं इस वृक्ष की छायारूप हो गया हूँ – ऐसी कल्पना उसे नहीं होती। आम, अशोक, चम्पा, जामुन, सुपारी, नरियल आदि अनेक प्रकार के वृक्षों की छाया से गुजरते हुए भी मनुष्य तो ज्यों का त्यों एक स्वरूप रहा है; वह कहीं मनुष्य मिटकर वृक्ष की छायारूप नहीं हो जाता। उसी प्रकार संसार परिभ्रमण में आत्मा एक के बाद एक शरीर धारण करता और छोड़ता है। अनेक शरीरों में से गुजरते हुए 'मैं इस शरीररूप हो गया हूँ' – ऐसी कल्पना भी ज्ञानी को नहीं होती। देव, मनुष्य, हाथी, बैल आदि के शरीर से गुजरने पर भी आत्मा तो ज्यों का त्यों उसीरूप रहा है; वह कहीं चैतन्य मिटकर जड़ शरीररूप नहीं हो गया है। भाई ! इस प्रकार तेरा स्वरूप स्पष्टतया देह से अत्यन्त भिन्न है, तो फिर भिन्न को भिन्नरूप मानने में तुझे क्या आपत्ति है !!

जिस प्रकार रास्ते पर चलनेवाला मनुष्य, वृक्ष की परछाई में से गुजरता जाता है, वहाँ उस मनुष्य का स्वभाव कहीं छायारूप नहीं हो जाता; मनुष्य तो सारी परछाइयों को पार करके ज्यों का त्यों आगे निकल जाता है; उसी प्रकार अनादि संसारमार्ग में चलता हुआ आत्मा, एक के बाद एक शरीर से गुजरा है, किन्तु वह कभी किसी शरीररूप नहीं

हुआ; सदैव एक अखण्डरूप से अपने में ही विद्यमान है। सर्व आत्माओं में ऐसी शक्ति है कि वे स्वधर्म में ही रहते हैं। जो ऐसे निजधर्मों की पहचाने, उसे शरीर का सम्बन्ध छूटकर अशरीरी मुक्तदशा हुए बिना न रहती।

आत्मा, शरीर के धर्म में रहा ही नहीं है, तो फिर यह बात कहाँ रही कि आत्मा, शरीर की क्रिया करे? भाषा बोली जाती है, वह शरीर का धर्म है; जीव का नहीं।

प्रश्न : इसमें तो क्रिया उड़ जाती है?

उत्तर : नहीं; जिसकी जो क्रिया है, उसकी उसी में स्थापना होती है। जीव की क्रिया को जीव में स्थापित किया जाता है और शरीरादि अजीव की क्रिया को अजीव में स्थापित करते हैं; इसलिए अजीव की क्रिया, जीव में मान ली है, वह बात उड़ जाती है। आत्मा, शरीर की क्रिया करता है अथवा शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है – ऐसा जिसने माना, उसने आत्मा को 'स्वधर्म व्यापक' नहीं माना किन्तु जड़शरीर के धर्मों में व्यापक माना है, यानि आत्मा को जड़रूप माना है और जड़ को आत्मारूप माना है; जीव को अजीव और अजीव को जीव माना – वह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व ही अधर्म की महान क्रिया है। आत्मा तो ज्ञानादि स्वधर्मों में ही विद्यमान है और शरीर से पृथक् है – इस प्रकार दोनों के धर्मों को भिन्न-भिन्न पहचान कर, स्वधर्म में व्यापक आत्मा की श्रद्धा करना तो अपूर्व सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व होने पर, आत्मा अपनी निर्मलपर्यायों में व्याप्त होता है और वही धर्म की क्रिया है।

शरीरादि जड़पदार्थों में तो तीन काल में एक क्षण भी आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है। अज्ञानदशा में रागादि को ही निजस्वरूप मानकर उसमें व्याप्त होता था; उस समय स्व-धर्मव्यापक शक्ति का भान नहीं था। अब, 'मेरे आत्मा का स्वभाव तो मेरे अनन्त धर्मों में ही व्याप्त है, विकार में या पर में व्याप्त होने का मेरा स्वभाव नहीं है' – ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर साधक जीव अपनी निर्मलपर्यायों में ही तन्मय होकर, उनमें व्याप्त होता है; रागादि में वह तन्मय होकर व्याप्त नहीं होता; रागादि दूर होकर, उसे अल्प काल में मुक्तदशा हो जाती है।

प्रश्न : आत्मा तो स्वधर्म में सदैव विद्यमान ही है, तो फिर उसे धर्म करने को क्यों कहते हैं।

उत्तर : देखो, आत्मा सदैव स्वधर्म में विद्यमान है—ऐसा भान करे, तब तो उस जीव को पर्याय में भी सम्यग्दर्शनादि धर्म होते ही रहें। द्रव्यस्वभाव से आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानादि धर्मों में व्याप्त है किन्तु अनादि से अज्ञानी को उसका भान नहीं है; इसलिए उसे पर्याय में निजधर्म का अनुभव नहीं होता; इसलिए उससे कहते हैं कि तू अपने निजधर्म को पहचानकर, उसका अनुभव कर तो तुझे पर्याय में सम्यग्दर्शनादि धर्म होंगे।

समयसार की १८ वीं गाथा की टीका में भी इसी शैली का प्रश्न पूछा है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निरन्तर सेवन (अनुभवन) का उपदेश दिया, वहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से एकमेक है; पृथक् नहीं है; इसलिए ज्ञान का सेवन करता ही है, तो फिर उसे ज्ञान की उपासना करने का उपदेश क्यों दिया जाता है?

तब उसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, तथापि एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता, क्योंकि स्वयंबुद्धत्व अथवा बोधितबुद्धत्व कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अर्थात्, आत्मा, स्वभाव से तो सदैव ज्ञानस्वरूप होने पर भी पर्याय में अनादि से अज्ञान का सेवन कर रहा है किन्तु ज्ञान-स्वभावोन्मुख होकर पर्याय में कभी एक क्षण भी उसका सेवन नहीं किया और जब तक पर्याय में ज्ञानस्वभाव का सेवन न करे, तब तक वह आत्मा अज्ञानी है। जब अन्तरोन्मुख होकर पर्याय को ज्ञानस्वभाव में एकाकार करके उसका सेवन (श्रद्धा-ज्ञान-लीनता) करे, तब आत्मा ज्ञानी होता है। इस प्रकार पर्याय में ज्ञान, नया प्रगट होता है। उसी प्रकार यहाँ आत्मा को स्वधर्म व्यापक कहा, उसमें भी इसी प्रकार समझना। स्वभाव से अपने स्वधर्म में त्रिकाल व्याप्त होने पर भी उसका भान करें, तब पर्याय में उसका निर्मलपरिणमन हो और धर्म प्रगटे। इस प्रकार निर्मलपर्याय को साथ लेकर इस शक्ति का वर्णन किया है - यह बात अनेकों बार स्पष्ट की गयी है। निर्मलपर्याय को साथ लिये बिना, शक्ति की प्रतीति किसने की? प्रतीति करने का कार्य तो निर्मलपर्याय में ही होता है; इसलिए निर्मलपर्याय को साथ लेकर प्रतीति करे, उसी को आत्मा की सच्ची प्रतीति होती है। पर्याय में किञ्चित् मात्र निर्मलता न हुई हो और अकेली शुद्धशक्ति की प्रतीति करने जाए तो उसे सच्ची प्रतीति नहीं होती, किन्तु एकान्त हो जाता है।

आत्मा अपने स्वधर्म में ही व्यापक है; किसी पर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि भैंस मर गयी हो और उसके चमड़े का गोफन बनाकर कोई हिंसा करे तो उसका पाप, भैंस के जीव को भी लगता है। देखो, यह मूढ़ जीवों की बात! उन्होंने तो आत्मा को शरीर के धर्मरूप ही माना है। जब भैंस का आत्मा उस शरीर में था, तब भी उस शरीर की क्रिया के कारण उसे पाप नहीं लगता था। शरीर का चमड़ा, आत्मा ने कब बनाया है जो उसे उसका पाप लगे? शरीर, आत्मा के कारण नहीं हुआ है किन्तु परमाणु की रचना है; आत्मा का धर्म या पाप-पुण्य शरीर में नहीं रहते। आत्मा, शरीररहित त्रिकाल अपने स्वरूप में है; उसे जाने बिना, शरीरादि को वास्तव में छोड़ा नहीं कहा जा सकता।

'काय से किये हुए पाप को मैं छोड़ता हूँ' - यह तो चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक काया की ओर का राग छूट जाये, उसकी बात है। उसके बदले अज्ञानी तो शरीर से ही पाप होना मानता है और शरीर को मैं छोड़ूँ, यह भी मानता है; इसलिए वास्तव में वह शरीर को छोड़ता नहीं है किन्तु उलटा शरीर के साथ एकताबुद्धि करके मिथ्यात्व का सेवन करता है और आत्मा के सम्यग्दर्शनादि धर्मों को छोड़ता है। भाई! पहले शरीर के साथ की एकत्व बुद्धि तो छोड़! काया से भिन्न आत्मा को तो जान! फिर तुझे मालूम होगा कि काया को छोड़ने का क्या अर्थ होता है। काया ही मैं हूँ - इस प्रकार जो काया को अपना माने, वह उसे छोड़ेगा कहाँ से? काया मैं नहीं हूँ, मैं तो अपने ज्ञानादि अनन्त धर्मों में ही विद्यमान हूँ; कायारूप मैं कभी हुआ ही नहीं हूँ, कार्मणकाय में भी मैं कभी नहीं रहा हूँ, मैं तो सदैव अपनी चैतन्यकाया में ही विद्यमान हूँ; इस प्रकार जो देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व का ज्ञान करे, उसने श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से काया को छोड़ दिया है। इसलिए हे जीव! शरीर से अत्यन्त भिन्न और अपने अनन्त धर्मों से सदैव अभिन्न, ऐसे अपने स्वभाव का ऐसा निर्णय कर कि जिससे शरीर का सम्बन्ध छूटकर, अशरीरी सिद्धदशा की अवश्य प्राप्ति हो।

शरीर, आत्मा का निवासस्थान नहीं है; ज्ञानादि अनन्त धर्म ही आत्मा का निवास -स्थान हैं; उसी में आत्मा रहता है। अज्ञानी ऐसे अनन्त धर्मों का निवास स्थान छोड़कर, जड़ शरीर में अपना निवासस्थान मानता है, तथापि वह भी कहीं जड़ में तो नहीं रहता; वह अपने अज्ञानभाव में रहता है।

एक जगह हिजड़ा लोगों में ऐसा रिवाज है कि जब नये मकान में निवासस्थान बनाते हैं, तब वहाँ सब रोते-पीटते जाते हैं। देखो, यह नपुंसकों का निवासस्थान!! उसी प्रकार अनन्त धर्मस्वरूप चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसमें निवास करने के पुरुषातन से जो रहित हैं—ऐसे मूढ़ अज्ञानी जीव, चैतन्य का निवासस्थान छोड़कर, जड़ में और शुभाशुभ विकार में अपना निवास मान रहे हैं। उन्हें समझाते हैं कि अरे जीवो! वह तुम्हारा निवासस्थान नहीं है, विकार में निवास करने का तुम्हारा स्वभाव नहीं है; तुम्हारा स्वभाव तो अपने अपने श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दादि अनन्त धर्मों में वास करने का है; इसलिए अपने स्वभाव को पहचानकर, उसमें निवास करो; उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करो, और विकारी की वासना छोड़ो!

अपने अनन्त धर्मों में अपना निवास है, उसे न मानकर जो जड़शरीरादि में अपना निवास मानते हैं, वे स्थूल अज्ञानी हैं, उन्हें जैनधर्म की गन्ध तक नहीं है; वे तो अजैनधर्मी, अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं। खरगोश जैसा कोमल अथवा मगर जैसा कठोर, रीछ जैसा काला अथवा हंस जैसा सफेद आत्मा कभी हुआ ही नहीं है; आत्मा तो अपने अनन्त धर्मों में ही विद्यमान है। 'आत्मा अनन्त धर्मों में विद्यमान है' - ऐसा कहने से अनन्त धर्म और उनमें रहनेवाला आत्मा - ऐसी भिन्न-भिन्न दो वस्तुएँ नहीं समझना चाहिए, किन्तु आत्मा स्वयं अनन्त धर्मस्वरूप है; अनन्त धर्मों से भिन्न अन्य कोई आत्मतत्त्व नहीं है। ऐसे अनन्त धर्मस्वरूप एकाकार अपने आत्मा को सम्यक्तया पहचानना, वह अनेकान्त है और उस अनेकान्त का फल परम अमृत है; अर्थात् आत्मा को पहचानकर, उसका अनुभव करने से परम आनन्दरूप अमृत का स्वाद अनुभव में आता है।

[यहाँ २५ वीं स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२६]

साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति

स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारण -साधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः।

स्व-पर के समान, असमान और समानासमान, ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारणस्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति।

अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा जिस प्रकार विकार और ज्ञान को पृथक् करके ज्ञानस्वभाव का अनुभव हो सकता है; उस प्रकार ज्ञान और आनन्द को पृथक् नहीं कर सकते, क्योंकि वे दोनों तो आत्मा के स्वभावरूप हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। २५ शक्तियों का वर्णन हो चुका है, अब २६ वीं शक्ति का वर्णन प्रारम्भ हो रहा है। स्व-पर के समान, असमान और समान-असमान—ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारणस्वरूप साधारण-असाधारण -साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति है।

आत्मा में अनन्त धर्म हैं, किन्तु वे सब एक से नहीं हैं; उनमें कुछ साधारण हैं, कुछ असाधारण हैं और कुछ साधारण-असाधारण हैं; इस प्रकार तीन प्रकार के धर्म हैं; उन तीनों प्रकार के धर्मों को धारण करने की आत्मा में शक्ति है। उस शक्ति का नाम 'साधारण -असाधारण साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति' है।

साधारणधर्म, अर्थात् क्या?

- जो धर्म, जीव में हो तथा जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में भी हो, वह साधारण धर्म है, जैसे कि अस्तित्वधर्म जीव और अजीव समस्त द्रव्यों में है; इसलिए वह साधारणधर्म अथवा सामान्यगुण है।

असाधारणधर्म, अर्थात् क्या?

– जो धर्म, जीव में हो और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में न हो, वह जीव का असाधारणधर्म है। जैसे कि – ज्ञानधर्म, जीव में ही हैं और जीव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं द्रव्यों में नहीं है; इसलिए वह जीव का असाधारणधर्म अथवा विशेषधर्म है।

साधारण-असाधारणधर्म, अर्थात् क्या ?

– जीव का जो धर्म, अन्य कितने ही द्रव्यों के साथ समान हो और कितने ही द्रव्यों के साथ असमान हो, उसे साधारण-असाधारणधर्म कहते हैं। जैसे कि जीव में अमूर्तधर्म है, वह आकाशादि में भी है; इसलिए आकाशादि की अपेक्षा से वह साधारण है और पुद्गल में अमूर्तपना नहीं है; इसलिए पुद्गल की अपेक्षा से वह असाधारण है। इस प्रकार अमूर्तपना, वह जीव का साधारण-असाधारणधर्म है।

इस प्रकार जीव में तीनों प्रकार के धर्म एक साथ हैं। धर्म तो अनन्त हैं किन्तु इन तीन प्रकारों में उन समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है।

आत्मा है ? – कहते हैं, हाँ; आत्मा भी है और उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं। होना, अर्थात् अस्तित्व तो समस्त पदार्थों में है; इसलिए वह सामान्यधर्म है। अकेले अस्तित्व से आत्मा का अन्य द्रव्यों से पृथक् स्वरूप लक्ष्य में नहीं आता।

आत्मा है तो अवश्य, किन्तु वह कैसा है ?

– आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, ज्ञान-आनन्द आदि धर्मों से आत्मा समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न लक्ष्य में आता है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त कहीं ज्ञान या आनन्द नहीं है। इस प्रकार ज्ञान-आनन्द वे आत्मा के असाधारणधर्म हैं। आत्मा की वह मुख्य विशेषता है। उस विशेषता द्वारा आत्मा अन्य द्रव्यों से पृथक् हो जाता है। अस्तित्व कहने से अन्य द्रव्यों की अपेक्षा आत्मा की कोई विशेषता मालूम नहीं होती और ज्ञानस्वरूप कहने से आत्मा की अन्य द्रव्यों से भिन्नता-विशेषता ज्ञात होती है।

आत्मा को अमूर्त कहने से भी उसका वास्तविकस्वरूप सर्व पदार्थों से पृथक लक्ष्य में नहीं आता, क्योंकि अमूर्त तो आकाश भी है; अमूर्त कहने से मात्र मूर्त-पुद्गल द्रव्य से असाधारणता ज्ञात होती है; इसलिए उस धर्म को साधारण-असाधारणधर्म कहते हैं।

इस प्रकार अस्तित्वादि साधारणधर्म; ज्ञान-आनन्दादि असाधारणधर्म; तथा अमूर्त

आदि साधारण-असाधारणधर्म - ऐसे तीनों प्रकार के धर्म, आत्मा में हैं। 'आत्मा सत्, चैतन्य, अमूर्तिक' है - ऐसा कहने से उपरोक्त तीनों प्रकार के धर्म उसमें आ जाते हैं।

ज्ञानगुण, सर्व जीवों में है तथापि इस जीव का जो ज्ञान है, वह अन्य जीवों में नहीं है; इसलिए अपने ज्ञान द्वारा स्वयं अन्य सर्व जीवों से भिन्न अनुभव में आता है।

अस्तित्वरूप से आत्मा और समस्त पदार्थ समान हैं किन्तु आत्मा में ज्ञान है और जड़ में ज्ञान नहीं है; इस प्रकार आत्मा की विशेषता है। जिस प्रकार पुद्गल में रूपीपना, अर्थात् स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण हैं, वे अन्य किसी द्रव्य में नहीं हैं; इसलिए रूपीपना, वह पुद्गल का असाधारणधर्म है। उसी प्रकार-ज्ञान-दर्शन-आनन्द जीव में हैं और अन्य पदार्थों में नहीं हैं; इसलिए ज्ञानादि वे जीव के असाधारणधर्म हैं।

यदि सर्व प्रकार से सर्व वस्तुएँ समान ही हों और सबके विशेषधर्म पृथक् न हों तो 'यह आत्मा है और यह पर है' - ऐसी भिन्नता का ज्ञान कैसे होगा? 'यह वस्तु आत्मा है और यह वस्तु आत्मा नहीं है' - ऐसी भिन्नता आत्मा के असाधारणधर्म द्वारा ज्ञात होती है।

पुनश्च, जिस प्रकार आत्मा में अस्तित्वादि गुण आत्मा में हैं; उसी प्रकार पर में भी हैं। आत्मा का एक भी गुण पर में नहीं है परन्तु आत्मा की जाति के (अस्तित्वादि) कुछ गुण पर में हैं। यदि ऐसा न हो और सर्वथा असमानधर्म ही हों तो आत्मा की भाँति पर का अस्तित्व सिद्ध ही नहीं हो सकता; इसलिए आत्मा है और परवस्तु नहीं है; अथवा परवस्तु है और आत्मा नहीं है - ऐसा हो जाए, किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा भी अस्तिरूप है और परवस्तु भी अस्तिरूप है; आत्मा भी वस्तु है और परवस्तु भी वस्तु है; इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्वादि साधारणधर्म हैं और आत्मा के ज्ञान-आनन्दादि भाव परद्रव्यों में नहीं हैं; इसलिए आत्मा की पर से असाधारणता-भिन्नता है।

जिस प्रकार मनुष्यरूप से सब आदमी समान हैं, तथापि उनमें कोई क्षत्रिय है, कोई ब्राह्मण है, कोई वैश्य है, कोई शूद्र है; इस प्रकार उनमें विशेषता है। उसी प्रकार जड़-चैतन्य सर्व वस्तुएँ अस्तिरूप से समान हैं, किन्तु उनमें कोई वस्तु ज्ञानयुक्त है, कोई ज्ञानरहित है; कोई अमूर्त है, कोई मूर्त है - इस प्रकार उनमें विशेषधर्मों द्वारा विशेषता भी है।

आत्मा में अस्तित्व है, ज्ञान है, अमूर्तत्व है; वे सब धर्म एक साथ विद्यमान हैं।

अस्तित्व, सर्व वस्तुओं में समान हैं, किन्तु 'समान' कहने से एक ही अस्तित्वगुण सर्व वस्तुओं में विभाजित नहीं हो गया है; प्रत्येक वस्तु में अपना-अपना भिन्न अस्तित्वगुण है। एक का अस्तित्व दूसरों में नहीं है किन्तु अपना-अपना अस्तित्व सबमें है; इसलिए उसे समान कहा है। जिस प्रकार लोगों को मनुष्यरूप से समान कहा, तो उससे कहीं सारे मनुष्य एक नहीं हो गये; प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न है। उसी प्रकार अस्तित्वरूप से सर्व पदार्थों को समान कहा, किन्तु उससे कहीं समस्त पदार्थ समान नहीं हो गये; प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न है।

पर से तो आत्मा भिन्न है और अन्तर के अरूपी विकार से भी उसका असली स्वभाव भिन्न है। जिस प्रकार आत्मा भी है और परमाणु भी है, तथापि दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनों का स्वभाव भिन्न है। उसी प्रकार इस आत्मा में त्रिकाली शुद्धस्वभाव भी है और क्षणिक विकार भी है; अस्तित्व दोनों का होने पर भी शुद्धस्वभाव, विकाररूप नहीं और विकार, शुद्धस्वभावरूप नहीं है; इस प्रकार दोनों की भिन्नता है। दोनों में भिन्नता होने से अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा विकार से भिन्नत्व का अनुभव होता है। जिस प्रकार विकार को और ज्ञान को पृथक् करके ज्ञानस्वभाव का अनुभव हो सकता है; उसी प्रकार ज्ञान और आनन्द को पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे दोनों तो आत्मा के स्वभावरूप हैं, वे दोनों धर्म आत्मा में एकसाथ विद्यमान हैं; उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु विकार को धारण कर रखने का कोई धर्म, आत्मा में नहीं है; इसलिए उसे पृथक् किया जा सकता है। विकार से तथा पर से भिन्न आत्मा का अनुभव हो सकता है, किन्तु ज्ञान से-आनन्द से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

जगत् में शरीरादि अजीव हैं। रागादि विकार भी हैं और ज्ञानस्वभाव भी हैं। सब कुछ है - ऐसा जानना चाहिए। यदि उनके अस्तित्व ही न जाने तो अज्ञान है और उन सबका अस्तित्व होने पर भी, उनके भावों की विशेषता द्वारा उनकी भिन्नता को भी जानना चाहिए; यदि भिन्नता को न जाने तो वह अज्ञान है। शरीर है किन्तु वह मैं नहीं हूँ, राग है किन्तु वह मैं नहीं हूँ; मैं तो निरन्तर ज्ञानस्वभाव ही हूँ - इस प्रकार पर से तथा विकार से भिन्न ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव करना, वह धर्म है।

- शरीर है,
- राग है,
- ज्ञान है,

– तीनों होने पर भी, उन तीनों का स्वरूप एक-सा नहीं है।

शरीर तो अजीव है, ज्ञानरहित है; उसकी और ज्ञान की बिल्कुल भिन्नता है। तथा, राग तो विकार है और ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है; इस प्रकार राग और ज्ञान, दोनों समान नहीं हैं किन्तु भिन्न-स्वभावी हैं। ऐसा भेदज्ञान करके शुद्ध ज्ञानादि अनन्त शक्तियों से एकाकार, ऐसा अपना अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा सर्वज्ञत्वशक्ति को धारण करनेवाला और पुद्गल बिल्कुल अचेतन – ऐसा स्वभावभेद होने पर भी अस्तित्वरूप से दोनों में समानता है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी मर्यादित क्षेत्रवाला है और आकाश अनन्त प्रदेशी अमर्यादित क्षेत्रवाला है, तथापि दोनों में अस्तित्व समान है और अमूर्तत्व भी दोनों में समान है। अस्तित्वादि समान होने पर भी, आत्मा की अपने चैतन्यगुण द्वारा आकाश के साथ असमानता है।

अस्तित्वादि सामान्यगुणों द्वारा सर्व द्रव्यों में समानता होने पर भी, अपने-अपने ज्ञानादि विशेषगुणों द्वारा प्रत्येक द्रव्य में असमानता है। वे समान तथा असमान और समान-असमान ऐसे त्रिविध धर्म, आत्मा में एक साथ विद्यमान हैं – यद्यपि समस्त द्रव्यों में विद्यमान हैं किन्तु यहाँ आत्मा की प्रधानता है।

अस्तित्व के कारण प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनन्त स्वत: सिद्ध स्थित है; परत: सिद्ध नहीं है।

वस्तुत्व के कारण प्रत्येक वस्तु अपनी प्रयोजनभूत क्रियासहित है; अपनी क्रियारहित नहीं है।

द्रव्यत्व के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों के प्रवाहरूप से द्रवित होता है – परिणमित होता है; किसी की राह देखना पड़े – रुक जाए, ऐसा नहीं है।

प्रमेयत्व के कारण प्रत्येक द्रव्य, प्रमाणज्ञान में प्रमेय होता है – ज्ञात होता है। सच्चा

ज्ञान प्रगट करे और वस्तुस्वरूप ज्ञात न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

अगुरुलघुत्व के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से व्यवस्थित रहता है और पर के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप नहीं होता और न कोई किसी का कर्ता हो सकता है।

प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशरूप आकार में स्थित रहता है। अपना आकार स्वक्षेत्रसहित है; स्वक्षेत्ररहित नहीं है।

- यह अस्तित्व आदि सामान्यगुण हैं, वे प्रत्येक द्रव्य में हैं। जीव-पुद्गल-धर्म -अधर्म-आकाश और काल - ये छहों द्रव्य इन सामान्यगुणों की अपेक्षा से समान हैं, अर्थात् सामान्यगुण छहों द्रव्यों में हैं। और ज्ञान, रूपीपना, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व तथा परिणमनहेतुत्व आदि विशेषधर्मों द्वारा प्रत्येक द्रव्य को, दूसरे द्रव्य से असाधारणपना है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं किन्तु उनमें ज्ञान, असाधारण धर्म है, उसके द्वारा आत्मा लक्षित होता है।

देखो, यह आत्मा को ढूँढ़ने की रीति! भाई! 'आत्मा है' - इस प्रकार अकेले अस्तित्वगुण से आत्मा को ढूँढ़ेगा तो पर से भिन्न आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा अमूर्त है - इस प्रकार अकेले अमूर्तपने से ढूँढ़ने पर भी यथार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु 'ज्ञान' आत्मा का असाधारण स्वभाव है; उस ज्ञान द्वारा ढूँढ़ने पर, पर से तथा विकार से भिन्न और अपने अनन्त धर्मों के साथ एकमेक ऐसे आत्मा की प्राप्ति होती है। विकार, वह आत्मा - ऐसी प्रतीति करने से आत्मा का वास्तविकस्वरूप प्राप्त नहीं होता, किन्तु 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' - ऐसी प्रतीति करने पर, आत्मा का यथार्थस्वरूप प्राप्त होता है। प्रत्येक शक्ति को भिन्न लक्ष्य में लेकर श्रद्धा करने से सम्पूर्ण आत्मा श्रद्धा में नहीं आता, किन्तु शक्ति द्वारा शक्तिमान ऐसे अखण्ड द्रव्य की श्रद्धा करने पर, सम्पूर्ण आत्मा का अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शन की रीति है।

मेरे कारण शरीर में हलन-चलन होता है अथवा शरीर के कारण मुझे धर्म होता है- ऐसा जो मानता है, वह वास्तव में आत्मा के समानधर्म को नहीं मानता, क्योंकि आत्मा में अपना अस्तित्व है और शरीर के परमाणुओं में उनका अस्तित्व है। इस प्रकार दोनों के

समान अस्तित्व को न मानकर (स्वतन्त्र सत्पना न मानकर), दोनों की एकता मानकर अस्तित्व का लोप करता है (श्रद्धा में अस्वीकार करता है)। पुनश्च, आत्मा और शरीर की एकता मानता है; इसलिए उसने आत्मा के असमानधर्म को भी नहीं माना। शरीर तो रूपी -जड़ है और आत्मा चैतन्यस्वरूप है - इस प्रकार असाधारणधर्म से दोनों के स्वभाव भिन्न हैं; इसलिए वे दोनों भिन्न हैं - ऐसा वह नहीं मानता।

उसी प्रकार कर्म के कारण, आत्मा में विकार होता है - ऐसा जो मानता है, वह कर्म और आत्मा की एकता ही मानता है क्योंकि वह भी आत्मा और कर्म के भिन्न-भिन्न अस्तित्व को अथवा दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव को नहीं मानता; इसलिए वह आत्मा के समान-असमान धर्मों को नहीं जानता। यदि समान, असमान तथा समान-असमान—ऐसे त्रिविध धर्मों का धारक - ऐसे आत्मा को पहचान ले तो पर से और विकार से भेदज्ञान होकर शुद्ध आत्मा का अनुभव हुए बिना न रहे।

[- यहाँ २६ वीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२७]

अनन्तधर्मत्वशक्ति

विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनन्तधर्मत्वशक्तिः।

विलक्षण (परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त) अनन्त स्वभावों से भावित, ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति।

हे जीव! तेरा आत्मा अनन्त शक्तियों के कारण महान है। लोक में कहा जाता है कि 'बड़े के साथ मैत्री करना' – यानि क्या? रागादिभाव तो तुच्छ हैं-सामर्थ्यहीन हैं, लेकिन चिदानन्द भगवान आत्मा बड़ा (महान) अनन्त शक्तियोंवाला है; उस बड़े के (महान के) साथ मित्रता करने से मोक्षपद प्राप्त होता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका वर्णन चल रहा है; उनमें 'विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित, ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है – ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति है।' आत्मा स्वयं एक भावरूप रहकर, भिन्न-भिन्न लक्षणवाले अनन्त धर्मों को धारण करता है – ऐसी उसकी अनन्तधर्मत्वशक्ति है। आत्मा में कितनी शक्तियाँ हैं? – तो कहते हैं अनन्त। उन अनन्त शक्तियों से अभिनन्दित (अभिमण्डित) आत्मा, एकस्वरूप है; एक ही स्वरूप अनन्त धर्मरूप है, इस प्रकार अनन्तधर्मत्व नाम की एक शक्ति आत्मा में है।

एक आत्मा में एक साथ अनन्त धर्म हैं; उन सभी धर्मों का लक्षण भिन्न-भिन्न है; अपने भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा प्रत्येक गुण, भिन्न-भिन्न लक्षित है; जैसे कि – जानना, वह ज्ञान का लक्षण; प्रतीति, वह श्रद्धा का लक्षण; आह्लाद का अनुभव होना, वह आनन्द का लक्षण; अनाकुलता, वह सुख का लक्षण; अखण्डित प्रतापवान स्वतन्त्रता से शोभायमानपना, वह प्रभुत्व का लक्षण; त्रिकाल स्थायीपना, वह अस्तित्व का लक्षण; ज्ञात होना, वह प्रमेयत्व का लक्षण – इस प्रकार प्रत्येक शक्ति का भिन्न-भिन्न लक्षण है। इस प्रकार अनन्त शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं, तथापि आत्मा उन अनन्त शक्तियों से खण्डित नहीं हो

जाता; आत्मा तो अनन्त शक्तियों से अभेद ऐसे एक भावस्वरूप है। गुण एक-दूसरे भिन्न होने पर भी, वस्तु से कोई गुण भिन्न नहीं है। भिन्न-भिन्न अनन्त धर्म होने पर भी, एक भावस्वरूप रहने की आत्मा की जो शक्ति है, उसका नाम अनन्तधर्मत्वशक्ति है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक शक्ति का जो लक्षण है, वह दूसरी शक्ति का नहीं है। इस प्रकार अनन्त शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं किन्तु उनमें विकार लक्षणवाली एक भी शक्ति नहीं है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ, पर से तो भिन्न हैं और विकार से भी वास्तव में भिन्न हैं।

देखो, यह भेदज्ञान की अपूर्व बात है। प्रत्येक आत्मा अनन्त परद्रव्यों से तो पृथक् है और अपने अनन्त धर्मों में व्याप्त है। आत्मा के अनन्त गुण, वस्तुरूप से तो एक हैं किन्तु गुणरूप से प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न है। अनन्त धर्म परस्पर विलक्षण होने पर भी एक भावस्वरूप हैं; इसलिए ज्ञानलक्षण द्वारा अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर एकरूप से अनुभव करने पर, उसमें एक साथ अनन्त धर्मों के निर्मलपरिणमन का अनुभव होता है।

आठवीं शक्ति में सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावस्वरूप विभुत्व कहा था। इस सत्ताईसवीं शक्ति में विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित, ऐसे एक भावस्वरूप अनन्तधर्मत्व बतलाया है।

अनन्त धर्मों के साधारण-असाधारण तथा साधारण-साधारण—ऐसे तीन विभाग करके उन तीन प्रकार के धर्मों के कारणस्वरूप छब्बीसवीं शक्ति का वर्णन किया। उसमें तीन प्रकार बतलाकर तीनों प्रकारों को अभेद आत्मा के साथ एकरूप किया और यहाँ विलक्षण अनन्त धर्मों से भावित, ऐसे एक भावस्वरूप अनन्तधर्मत्वशक्ति कहकर आत्मा में अनन्त धर्मों की अभेदता बतलायी। भिन्न-भिन्न अनन्त धर्म, तथापि आत्मा का एकत्व - ऐसा अचिन्त्य अनेकान्तस्वभाव है। ज्ञान का आत्मा पृथक्, आनन्द का आत्मा पृथक्, श्रद्धा का आत्मा पृथक् - ऐसा नहीं है; आत्मा तो अनन्त गुणों के पिण्डरूप है।

छद्मस्थ को भिन्न-भिन्न अनन्त धर्म समझ में नहीं आते, किन्तु अनन्त धर्मों से अभेद ऐसे एक आत्मा का अनुभव होता है। उस अनुभव मैं समस्त धर्म आ जाते हैं और युक्ति तथा आगमादि से अनन्त धर्मों का निर्णय होता है।

आत्मा, पर से भिन्न है; एक समय के विकार से आत्मशक्तियों का स्वभाव, भिन्न है और आत्मा की अनन्त शक्तियों में भी प्रत्येक का स्वभाव भिन्न है, तथापि आत्मा में वे सर्व शक्तियाँ एक भावरूप होकर विद्यमान हैं – ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार औषधि की एक गोली में अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों का स्वाद निहित है; उसी प्रकार आत्मस्वभाव के अनुभव में अनन्त शक्तियों का रस एकत्रित है। इस प्रकार अनन्तधर्मत्व -शक्तिवाला एक आत्मा है। उन शक्तियों के वर्णन द्वारा धर्मों के भेद बतलाने का प्रयोजन नहीं है किन्तु धर्मी के धर्मों द्वारा धर्मी, ऐसे अखण्ड आत्मा को लक्ष्य बनाना है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं किन्तु उसमें ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है जो पर का कुछ कर दे। आत्मा की शक्तियों द्वारा तो आत्मा लक्षित होता है किन्तु आत्मा की शक्ति, वह लक्षण और पर, उसका लक्ष्य – ऐसा नहीं होता। इसलिए परलक्ष्य से आत्मशक्तियों की प्रतीति नहीं होती; अखण्ड आत्मा के लक्ष्य से ही उसकी शक्तियों की यथार्थ प्रतीति होती है।

ज्ञानलक्षण द्वारा अनन्त धर्मोंवाला आत्मा प्रसिद्ध होता है – उसकी यह बात चलती है। लक्षण उसे कहते हैं कि अनेक पदार्थों में से किसी एक मुख्य पदार्थ की भिन्न पहचान कराये। समस्त परपदार्थों से भिन्न और अपने अनन्त धर्मों का पिण्ड—ऐसा आत्मा ज्ञानलक्षण द्वारा ही पहचाना जाता है। ज्ञानलक्षण तो वास्तव में विकार से भी आत्मा को भिन्न बतलाता है। 'ज्ञानलक्षण' अनन्त धर्मोंवाले आत्मा को लक्षित करता है, किन्तु वह कहीं विकार को लक्षित नहीं करता। आत्मा की अनन्त शक्तियों में विकार होने की कोई शक्ति नहीं है। 'वैभाविक' नाम की एक शक्ति है, किन्तु उसका स्वभाव भी कहीं विकार करने का नहीं है। किसी भी विशेषभावरूप से परिणमित होना, वह वैभाविकशक्ति का कार्य है; उसमें भी निर्मल-निर्मल विशेषभावोंरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है। – ऐसी वैभाविकशक्ति सिद्धदशा में भी है। विकाररूप परिणमन होता है, वह तो ऊपर की (पर्याय की) एक समय की वैसी योग्यता है किन्तु आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है। 'शक्तिमान को भजो' – ऐसे शक्तिमान आत्मा को पहचान कर, उसे भजे (आराधना करे) तो विकार दूर होकर शुद्धता हुए बिना न रहे। एक समय का विकार तो शक्तिरहित

है, उसके भजने से कल्याण नहीं होता, किन्तु अनन्त शुद्ध शक्तियों से परिपूर्ण, ऐसे अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति करने से ही धर्म तथा कल्याण होता है।

आत्मा, स्वयंसिद्ध तत्त्व है, वह पर से तथा विकार से भिन्न है किन्तु अपने अनन्त गुणों से पृथक् नहीं है और अनन्त गुणों से अभेद, एक तत्त्व होने पर भी उसके प्रत्येक गुण का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। - ऐसे आत्मा की समझ कहो अथवा धर्म कहो; धर्म और आत्मा की समझ - वे दोनों पृथक् नहीं हैं। आत्मा की सच्ची समझ, वह प्रथम अपूर्व धर्म है; उसके बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा, अनन्त शक्तियों का पिण्ड है, तथापि आत्मा, उसका कोई गुण, अथवा किसी गुण की पर्याय, पर का कार्य नहीं करते। पर की बात तो दूर रही, किन्तु स्वयं अपने में भी एक गुण, दूसरे गुण का कार्य नहीं करता। जानना, वह ज्ञानगुण का कार्य है; उस कार्य को श्रद्धादि गुण नहीं करते। अहो! अपना एक गुण, अपने ही दूसरे गुण का कार्य नहीं करता, तो फिर अन्य परद्रव्यों का क्या कार्य करेगा? ज्ञान का लक्षण 'ज्ञातृत्व' क्या पुण्य-पाप करेगा? - पर का कार्य करेगा? उसी प्रकार श्रद्धा का कार्य प्रतीति; आनन्द का कार्य आह्लाद; इस प्रकार प्रत्येक गुण अपना-अपना कार्य करता है; विकार करना अथवा पर का कार्य करना, किसी गुण का कार्य नहीं है।

प्रश्न : राग-द्वेष, वह चारित्रगुण का कार्य तो है न?

उत्तर : जिसे गुण-गुणी की एकता की खबर नहीं है, ऐसा अज्ञानी जीव, विकार को अपने गुण का कार्य मानता है; उसे त्रैकालिक स्वभाव तथा क्षणिक विकार का भेदज्ञान नहीं है। ज्ञानी तो गुण-गुणी की एकता की दृष्टि से गुणस्वभाव के आश्रय से निर्मलतारूप ही परिणमित होता है; वहाँ साधक को जो अल्प विकार रहा है, उसे वह स्वभाव की दृष्टि में गुण के कार्यरूप से स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसे गुण से भिन्न जानता है। गुण के साथ एकता होकर जितनी निर्मलपरिणति हुई, वही गुण का कार्य है। जिसे गुण के शुद्धस्वभाव की खबर ही नहीं है, उसे गुण का शुद्धकार्य कहाँ से होगा? जिसकी दृष्टि, विकार पर है, उसकी दृष्टि, गुण पर नहीं है।

आत्मा का कोई गुण, पर का कार्य करे - यह तो बात ही नहीं है और विकार करे,

यह बात भी नहीं है। तदुपरान्त यहाँ तो कहते हैं कि एक गुण के निर्मलकार्य को भी दूसरा गुण नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक गुण विलक्षण है। अखण्ड आत्मा के आश्रय से उसके समस्त गुणों का निर्मलकार्य एक साथ होने लगता है। एक वस्तु में विद्यमान अनन्त गुणों में भी सर्व गुण परस्पर असहाय हैं; एक गुण, दूसरे गुण को सहायक नहीं है। यदि एक गुण, दूसरे गुण को सहायक हो तो वस्तु के अनन्त गुण सिद्ध नहीं होंगे; गुणों की विलक्षणता नहीं रहेगी। भाई! तेरा एक गुण, तेरे दूसरे गुण के कार्य में भी सहायता नहीं करता, तो फिर तेरा आत्मा, पर का कार्य करे – यह मान्यता कहाँ रही और शरीर या पुण्य, तुझे धर्म में सहायक हों – यह बात ही कहाँ रही? तेरा मात्र ज्ञान का विकास भी सम्यक्श्रद्धा में सहायक नहीं होता, (क्योंकि मात्र ज्ञान के विकास से सम्यक्श्रद्धा नहीं होती) तो फिर राग या बाहर की वस्तुएँ तुझे सम्यक्श्रद्धा आदि में सहायक कैसे हो सकती हैं?

जो अनन्त धर्मवाले आत्मा को सचमुच मानता है, अपने धर्म में बाह्य वस्तुओं को या राग को सहायक कदापि नहीं मानता और मात्र एक गुण के आधार से भी धर्म नहीं मानता, अर्थात् भेद पर दृष्टि नहीं रखता, किन्तु अनन्त गुण के अभेद पिण्डरूप आत्मा की दृष्टि से उसे, पर्याय-पर्याय में धर्म होता है।

आत्मा के अनन्त धर्मों में प्रत्येक गुण का लक्षण स्वतन्त्र है, तथापि समस्त गुणों का कार्य तो अभेद आत्मा के ही आश्रय से होता है। एक गुण, अनन्त गुणों से पृथक् होकर अपना कार्य नहीं करता, किन्तु आत्मा का परिणमन होने पर, उसके समस्त गुण एक साथ परिणमित होते हैं।

ज्ञान के लक्षण द्वारा, श्रद्धा की पहचान नहीं होती और श्रद्धा के लक्षण द्वारा, ज्ञान की पहचान नहीं होती; उसी प्रकार अनन्त गुण भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने पर भी 'आत्मा' कहने से उसमें एक साथ समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। जो ऐसे अभेद आत्मा में अन्तर्मुख होकर अनुभव करे, उसे आत्मा के अनन्त धर्मों की प्रतीति हो। आत्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण होने पर भी जो स्वसन्मुख होकर उन्हें सँभाले, उसी के लिए उनका सच्चा अस्तित्व है।

जिसे अनन्त शक्तिवान आत्मा का निर्णय नहीं है, उसके अनन्त शक्तियाँ होने पर

भी उनका क्या लाभ ? उसके लिए तो वे न होने के समान हैं। जिस प्रकार घर में रत्नादि का भण्डार भरा हो, किन्तु उसकी खबर न हो तो वह न होने के समान ही है; उसी प्रकार आत्मा में सिद्धभगवान जैसी अनन्त शक्तियाँ होने पर भी, जिसे उनकी खबर नहीं है - उनकी ओर उन्मुख होकर जो आनन्द का अनुभव नहीं करता और मात्र विकार को ही सर्वस्व मानकर उसका अनुभवन कर रहा है, उसके तो वे शक्तियाँ न होने के समान ही हैं; वे शक्तियाँ उसकी पर्याय में नहीं उछलतीं।

'अहो'! मेरा आत्मा तो अनन्त शक्तिसम्पन्न है; क्षणिक विकार जितना मेरा अस्तित्व नहीं है - ऐसा जहाँ निर्णय किया, वहाँ स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थ से वे शक्तियाँ पर्याय में उछलने लगीं... अनन्त शक्तियों का निर्मलरूप से वेदन हुआ... अनन्त शक्तिवान भगवान आत्मा प्रकाशित हुआ... तभी अनन्त शक्तियों की सच्ची महिमा की प्रतीति हुई - पर्याय में प्रसिद्धि हुई।

अनन्त शक्तियों के भिन्न-भिन्न लक्षणों का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता और विकल्प से अथवा छद्मस्थ के ज्ञान से भी उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, किन्तु अनन्त शक्तियों से अभेद एक द्रव्य को ज्ञान लक्षण द्वारा ग्रहण करके, उसमें लीन होने पर समस्त शक्तियों को भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा जाने, ऐसी अपार शक्तिवाला केवलज्ञान विकसित हो जाता है। शक्ति के भेद पर लक्ष्य है, वहाँ समस्त शक्तियों का भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं हो सकता है, किन्तु जहाँ भेद का लक्ष्य छूटकर अभेद अभेद आत्मा के अवलम्बन से केवलज्ञान हुआ, वहाँ समस्त शक्तियों का भिन्न-भिन्न ज्ञान भी हो जाता है। इस प्रकार अन्तर के अभेदस्वभाव का अवलम्बन ही मार्ग है। सम्यग्दर्शन भी अन्तर के अभेदस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; सम्यग्ज्ञान भी उसी के अवलम्बन से होता है और सम्यक्चारित्र भी उसी के अवलम्बन से होता है। सब में अन्तर्मुखवृत्ति की एक ही धारा है।

अहो! सन्त, इस जीव की परिणति को अनादि संसाररूपी पीहर से सिद्धदशारूपी ससुराल भेजते समय उसका दहेज बतलाते हैं। जिसे आत्मा की लगन लगी है, मोक्ष की लगन लगी है, ऐसे आत्मार्थी / मोक्षार्थी जीव को आचार्यदेव आत्मा का वैभव बतलाते हैं। भाई! भिन्न-भिन्न स्वरूपवान अनन्त शक्तियों का वैभव तुझमें है; उसे सम्हालकर वह वैभव सिद्धपद में साथ ले जाना है।

● पहले जीवत्वशक्ति का लक्षण ऐसा बतलाया कि आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण करना, वह जीवत्वशक्ति है; इस शरीर को अथवा दस प्राणों को धारण करना, वह आत्मा के जीवत्व का स्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध चैतन्यप्राण को धारण करना, वह आत्मा के जीवत्व का लक्षण है।

● फिर दूसरी चितिशक्ति में कहा है कि – अजड़त्वस्वरूप, अर्थात् जिसमें किञ्चित्मात्र जड़पना नहीं है, ऐसी चितिशक्ति है, अर्थात् परिपूर्ण जानना, वह चितिशक्ति का स्वरूप है;

● सुखशक्ति का लक्षण, अनाकुलता कहा;

● स्वरूप की रचना का सामर्थ्य, वह वीर्यशक्ति का लक्षण कहा;

● अखण्डित प्रतापवन्त स्वतन्त्रता से शोभितपना, वह प्रभुता का लक्षण कहा;

● प्रकाशशक्ति का लक्षण स्वयं प्रकाशमान विशद स्वसंवेदन कहा।

● विलक्षण अनन्त स्वभावों से भावित, ऐसा एक भाव, वह अनन्तधर्मत्वशक्ति का लक्षण कहा;

● तथा तद्रूपता और अतद्रूपता को विरुद्ध धर्मत्वशक्ति का लक्षण कहेंगे।

— इस प्रकार प्रत्येक शक्ति विलक्षण है, अर्थात् उनके लक्षण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जब अपने गुणों में भी इस प्रकार एक गुण के लक्षण की, दूसरे गुण के साथ एकता नहीं है, तो फिर पर के साथ या विकार के साथ एकता कैसे हो सकती है ? शक्तियों में तो लक्षण भेद होने पर भी आत्मस्वभाव की अभेदता की अपेक्षा से वे सर्व शक्तियाँ अभेद हैं किन्तु विकार या परवस्तु कहीं आत्मस्वभाव के साथ अभेद नहीं है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ होने पर भी, उनमें एक भावपना है। – ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेने से विकार या पर उसमें नहीं आते; इसलिए विकार और पर के साथ की एकताबुद्धि नहीं रहती। अनन्त शक्तिवान एक स्वभाव में ही एकत्वबुद्धि होकर, उसके आश्रय से शक्तियों का निर्मल-विकास हो जाता है।

आत्मा में अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं; उसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी

अनन्त शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्तियों से रहित कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। यह तो जैनतत्त्व का मूल रहस्य है। ऐसे मूल वस्तुस्वरूप के भान बिना, धर्म कैसा और साधुपना कैसा?

'जैन के बेरिस्टर' कहलानेवाले एक व्यक्ति से किसी ने पूछा – 'धर्मास्तिकाय में कितने गुण हैं?' तो वे बोले कि – 'दो'। फिर पूछा – 'कौन-कौन से?' तो बोले- 'एक अरूपीपना और दूसरा गतिहेतुत्व!' देखो, यह बेरिस्टर!! जिसे जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है; वह जैन कहलानेयोग्य नहीं है। ऐसे ही दूसरे एक व्यक्ति से किसी ने पूछा कि – 'आत्मा का लक्षण क्या?' तो उत्तर दिया कि – 'आत्मा का लक्षण शरीर!' फिर पूछा कि 'आत्मा का गुण क्या?' तो बोला 'शरीर को बनाए रखना!' देखो यह दशा!! एक व्रत-प्रतिमाधारी से पूछा कि 'आत्मा कैसे रंग का होता है?' – तो विचार कर बोला कि 'सफेद रंग का!' शरीर, अनन्त परमाणुओं से निर्मित है – ऐसा सुनकर एक आदमी ने पूछा कि – 'महाराज! आत्मा कितने परमाणुओं से बना होगा!!' अरे! प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करता है, अपने को व्रती या साधु मानता है और तत्त्व का किञ्चित् भान भी न हो – उसका तो सब थोथा है। भले ही कदाचित् अन्य बातें जानता हो, किन्तु चैतन्यस्वरूप आत्मा को न पहचानता हो तो उसे जाने बिना, धर्म नहीं हो सकता।

अनन्त पदार्थों के मध्य में रहने पर भी आत्मा कभी किसी पररूप नहीं होता और न अपने अनन्त धर्मों से कभी पृथक् होता है – ऐसा अनन्त शक्तिवान एक आत्मा है। जगत के छहों प्रकार के द्रव्य, उनके कोई गुण या उनकी कोई पर्याय कभी पररूप नहीं होते। अन्य वस्तु के द्रव्य, गुण या पर्याय को करे, ऐसी शक्ति जगत के किसी तत्त्व में नहीं है; प्रत्येक द्रव्य अपनी अनन्त शक्ति से अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से स्थित है। पर के कारण विकार होता है – ऐसा माननेवाला अपने तत्त्व को पर से भिन्न नहीं जानता; तथा विकार को ही आत्मा मानकर, उसका अनुभवन करनेवाला अपने शुद्ध अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्यतत्त्व को विकार से भिन्न नहीं जानता। भेदविज्ञानी जीव जानता है कि मुझमें अनन्तधर्मत्वशक्ति है, अर्थात् मैं अपने एक स्वभावरूप रहकर अनन्त शक्तियों को धारण करनेवाला हूँ, वही मेरा स्वतत्त्व है। विकार को या पर को मैं अपने स्वभाव में धारण नहीं करता। इस प्रकार अनन्त धर्मोंवाले शुद्ध चैतन्यतत्त्व को अन्तर में देखना, वह सम्यक्ज्ञान है और वह मोक्ष का कारण है।

मङ्गलाचरण के दूसरे श्लोक में ही आचार्यदेव ने कहा था कि – पर से भिन्न अनन्त धर्मस्वरूप ऐसे आत्मतत्त्व को देखनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति सदैव प्रकाशमान रहे। ऐसे आत्मतत्त्व को देखनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, वह जयवन्त हो, अर्थात् साधकदशा में हुआ सम्यग्ज्ञान अप्रतिहतभाव से आगे बढ़कर, केवलज्ञान बने – ऐसी भावना है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञानादि गुण समान होने पर भी, एक आत्मा का जो ज्ञान है, वह दूसरे आत्मा का नहीं है – इस अपेक्षा से उनमें असाधारणपना भी है। प्रत्येक आत्मा के गुण भिन्न-भिन्न हैं; प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। पर से भिन्न तथा अपने अनन्त धर्मों के साथ एकरूप ऐसे आत्मा के अस्तित्व को देखना, वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है, वही सच्ची विद्या होने से सरस्वती है।

शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो, धर्म कहो – वह सब एकार्थ है। एक आत्मा में अनन्त गुण हैं; गुण पृथक्-पृथक् और वस्तु एक-ऐसा ही अनेकान्तस्वरूप है और वह सर्वज्ञभगवान ने प्रत्यक्ष देखा है। सर्वज्ञभगवान जिनदेव के मत के अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप है ही नहीं। ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप अज्ञानी लोगों के ख्याल में नहीं आया; इसलिए एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य अथवा ईश्वर कर्ता – ऐसा अनेक प्रकार से विपरीत मान लिया है और इसीलिए संसारपरिभ्रमण है।

यहाँ आचार्यदेव ने अनेकान्त के वर्णन द्वारा यथार्थ आत्मस्वरूप अद्भुत शैली में प्रस्तुत किया है। आत्मा वस्तुरूप से एक होने पर भी उसमें अनन्त गुण हैं। आनन्द का लक्षण भिन्न; श्रद्धा का भिन्न; ज्ञान का भिन्न – इस प्रकार कहीं भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; वस्तु तो एक ही है। एक साथ अनन्त गुणस्वरूप से एक ही वस्तु भासित होती है। यदि एक गुण का लक्षण, दूसरे गुणों में आ जाए – तो उस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी और भिन्न-भिन्न अनन्त गुण सिद्ध नहीं हो सकेंगे तथा गुणभेद न हो तो क्षायिकसम्यग्दर्शन होने पर, अन्य समस्त गुण पूर्ण शुद्ध क्षायिकभावरूप से प्रगट हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। साधकदशा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि गुणों के विकास का क्रम होता है क्योंकि गुणों का लक्षण भिन्न-भिन्न होने से कार्य भिन्न-भिन्न है और एकान्त से गुणभेद ही है – ऐसा भी नहीं है; वस्तुरूप से अनन्त गुणों की अभेदता भी है; इसलिए वस्तु के आश्रय से परिणमन होने पर समस्त गुणों की निर्मलता का अंश एक साथ विकसित हो जाता है।

सम्यग्दर्शन होने पर, केवलज्ञान भले ही उसी समय न हो, किन्तु सम्यग्ज्ञान भी न हो, ऐसा नहीं होता। इस प्रकार समस्त गुणों का एक अंश तो प्रगट हो जाता है। इस प्रकार वस्तुरूप से अनन्त गुणों की अभेदता तथा गुणों के लक्षण भेद से भेद – ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। इस प्रकार अनन्त धर्मस्वरूप आत्मा की पहचानकर, उसका अनुभव करना वह मुक्ति का कारण है।

आत्मा अनन्त धर्मस्वरूप है। उसके स्वभाव में भव नहीं है, वह स्वयं ही अपने को तारनेवाला देव है; अन्य कोई तारनेवाला नहीं है। प्रत्येक वस्तु को अनादि अनन्त और स्वतन्त्र है—ऐसा समझे बिना, स्वरूप का भान नहीं होगा। अरे जीव! तुझे अपनी वस्तु का भान नहीं है। तेरी श्रद्धा का भी कोई ठिकाना नहीं है। तेरे देव का स्वरूप क्या है, तेरे गुरु का स्वरूप क्या है, तेरे धर्म का स्वरूप क्या है, उसकी भी तुझे पहचान नहीं है तो तू किसके बल पर तरेगा? विपरीत मान्यता और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का सेवन तो संसार में डुबानेवाला है। तेरा आत्मा ही तेरी निर्मलपर्यायरूप सृष्टि का सृष्टा होने से, तू ही ब्रह्मा है; तेरा आत्मा ही स्वत: तेरा रक्षक होने से, तू स्वयं ही विष्णु है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई ब्रह्मा या विष्णु तेरा कल्याण करनेवाला, सृष्टा या रक्षक नहीं है। अन्य कुदेवों की तो बात ही क्या! किन्तु सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव भी तेरा कोई धर्म तुझे नहीं दे सकते। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारे जैसे ही समस्त धर्म तेरे आत्मा में भी हैं; वे विद्यमान हैं, उन्हें स्वीकार कर तो तू हमारे जैसा बन जाएगा! तेरा कल्याण हो जाएगा!! – ऐसे अपने स्वभाव को जो जीव स्वीकार करे, उसी ने सर्वज्ञदेव को और उनकी वाणी को स्वीकार किया है। जो इससे विपरीत मानता है, उसने सर्वज्ञदेव को अथवा उनकी वाणी को स्वीकार नहीं किया है।

वास्तविक आत्मा क्या वस्तु है, उसके धर्म कैसे हैं – उसकी जिसे खबर नहीं है, वह जीव, मूढ़ता के कारण या तो पुण्य में मोहित हो जाता है, या फिर उसी जैसे अनेक व्यक्ति जिसे मानते हों, उसी को सच्चा मानकर कुमार्ग में फँस जाता है और अवतार को व्यर्थ गँवा देता है। जिस प्रकार राख तो प्रत्येक घर के चूल्हे में भरी रहती है, किन्तु रत्न तो कहीं बिरले ही होते हैं; उसी प्रकार बाह्य से और राग से धर्म माननेवाले अज्ञानियों की संख्या तो जगत् में भरी है, किन्तु रागरहित चैतन्यरत्न की परख करनेवाले धर्मात्मा जीव जगत् में बिरले ही हैं; सत्य की अपेक्षा असत्य को माननेवाले मूढ़ जीवों की संख्या

अधिक हो, तो उससे कहीं वह सच्चा नहीं हो जाता, क्योंकि सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् संख्या द्वारा सत्य का माप नहीं निकलता। मनुष्यों की अपेक्षा, चींटियों की संख्या अधिक हो तो उससे कहीं चींटियाँ, मनुष्यों से बड़ी नहीं हो जातीं। सिद्धभगवन्तों की अपेक्षा, निगोद के जीवों की संख्या अनन्त गुणी हैं, तो क्या उससे सिद्धों की अपेक्षा निगोदिया अच्छे हो गए? नहीं; संख्या पर नहीं देखना है किन्तु अपना हित कौन से भाव में है, वह देखना है।

जिस भाव में अपना हित हो, वह उत्तम है, फिर भले ही उसे माननेवाले बिल्कुल कम हों और जिस भाव में अपना हित न हो, वह छोड़नेयोग्य है, फिर भले ही उसे माननेवाले अनन्त हों। अपने आत्मा का धर्म करने में तुझे किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है; तेरे आत्मा में विद्यमान अनन्त धर्मों का ही तुझे साथ है। इसलिए उनकी प्रतीति एवं श्रद्धा करके उनके साथ एकता कर, तो तेरी पर्याय में अधर्म दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म हो।

देखो, कुन्दकुन्दकुमार, ग्यारह वर्ष की आयु में गृह-परिवार को छोड़कर, वनवासी मुनि हुए थे।

प्रश्न : उन्हें एकाकीपन कैसे अच्छा लगता होगा?

उत्तर : अरे! अकेले नहीं हैं किन्तु अन्तर में अनन्त गुणों का साथ है। बाह्य का संग छोड़कर, अन्तर में आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी की है; उसमें अपूर्व आनन्द है तो क्यों अच्छा नहीं लगेगा? आनन्द में किसे अच्छा नहीं लगता? आत्मा के अनन्त गुणों के साथ गोष्ठी (एकता) करना, उसमें अनन्त आनन्द है, किन्तु अज्ञानी को वह आनन्द भासित नहीं होता और बाह्य में परवस्तु के साथ गोष्ठी करना, उसमें आकुलता का दुःख है, तथापि उसमें अज्ञानी को सुख भासित होता है। अरे! कैसी विचित्रता है कि—

'अनन्त सुख नाम दुःख जहाँ रही न मित्रता!
अनन्त दुःख नाम सुख प्रेम त्यां, विचित्रता!
उघाड न्याय नेत्र को निहाल रे निहाल तूं;
निवृत्ति शीघमेव धारी ते प्रवृत्ति बाल तूं।'

आत्मा के स्वभाव में अक्षय अनन्त सुख भरा है, तथापि अज्ञानी उसके साथ तो मित्रता नहीं करता; उसके सन्मुख दृष्टि भी नहीं करता और बाह्य वस्तुओं में अथवा रागादि में अंशमात्र भी सुख नहीं है, उनके लक्ष्य से तो एकान्त दु:ख है, तथापि मूढ़ जीव वहाँ प्रेम करके मित्रता करता है; यह कैसी विचित्रता है! – ऐसी ज्ञानियों को करुणा आती है; इसलिए कहते हैं कि अरे जीव! तू अपने ज्ञानरूपी नेत्रों को खोलकर निहार! स्वभाव में सुख है और बाह्य में कहीं सुख नहीं है – ऐसा तू न्यायपूर्वक समझ और बाह्य में सुख की मान्यतारूप अज्ञान से तू शीघ्र ही निवृत्ति को प्राप्त हो! अज्ञान की उस प्रवृत्ति को तू जला दे! अपने आत्मा के अनन्त धर्मों को पहचानकर, उनके साथ गोष्ठी कर...उनके साथ प्रेम कर... उनके साथ मित्रता कर...उनके आनन्द में केलि कर! स्वभाव के साथ गोष्ठी करे और वहाँ अच्छा न लगे, ऐसा नहीं हो सकता। अनन्त सन्त अपने स्वभाव के साथ गोष्ठी करके उसके आनन्द में केलि करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए हैं; इसलिए रागादि के साथ एकतारूप मित्रता छोड़कर, अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा के साथ एकतारूप गोष्ठी कर, जिससे तुझे ज्ञान-आनन्दमय ऐसे मुक्तिपद की प्राप्ति होगी।

[– यहाँ सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२८]

विरुद्धधर्मत्वशक्ति

तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।

तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है – ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति।

अनेकान्त ही धर्म का प्राण है; जैसे, प्राण के बिना जीवन नहीं होता; वैसे अनेकान्तस्वरूप को समझे बिना, धर्म नहीं होता; इसलिए अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। अनेकान्त से ही वीतरागी जिनशासन अनादि से जयवन्त वर्तता है। अमृतमय ऐसा मोक्षपद, वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है; इसलिए अनेकान्त अमृत है।

ज्ञायकस्वरूप आत्मा में 'तद्रूपमयपना और अतद्रूपमयपना जिसका लक्षण है – ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति' भी है।

'विरुद्धधर्मत्वशक्ति' कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है किन्तु वह तो रागादि विरोधीभावों का नाश करके, अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।

आत्मा अपने ज्ञान, आनन्दादि के साथ सदैव तद्रूपमय है और परपदार्थों के साथ सदैव अतद्रूप है; इस प्रकार तद्रूपता एवं अतद्रूपता, ऐसे विरुद्ध धर्म एक साथ हैं। यदि ऐसा विरुद्ध धर्मपना न हो और अकेला तद्रूपपना ही हो तो आत्मा, जड़ के साथ भी तद्रूप हो जाए, अर्थात् जड़ हो जाए और अकेला अतद्रूपपना ही हो तो आत्मा अपने ज्ञानानन्द से भी पृथक् सिद्ध हो; इसलिए तद्रूप तथा अतद्रूप, ऐसी दोनों शक्तियाँ उसमें एक साथ हैं; उसका नाम विरुद्धधर्मपना है किन्तु सर्वथा विरुद्धधर्मपना नहीं है, अर्थात् आत्मा अरूपी है और रूपी भी है; आत्मा चेतन भी है और अचेतन भी है – ऐसा विरुद्धधर्मपना नहीं है। अस्ति –नास्तिपना, तत्–अतत्पना, ऐसे धर्मों को परस्पर विरुद्धता होने पर भी, स्याद्वाद के बल द्वारा वह विरोध दूर होकर दोनों धर्म आत्मा में एक साथ रहते हैं। आत्मा में अस्तिपना है ? – कहते हैं – हाँ; आत्मा में स्व अपेक्षा से अस्तिपना है। आत्मा में नास्तिपना है ? कहते

हैं – हाँ; पर अपेक्षा से आत्मा में नास्तिपना है। उसी प्रकार तत्पने–अतत्पने में भी समझना। इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप आत्मा एक साथ परस्पर विरुद्धधर्मों को धारण करता है – ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति उसमें है। जिस समय तत्रूप है, उसी समय उससे विरुद्ध अतत्रूप भी है; जिस समय अस्तिरूप है, उसी समय उससे विरुद्ध नास्तिरूप भी है – ऐसा विरुद्धधर्मपना आत्मा में है।

एक ही वस्तु में अस्तिपना और नास्तिपना इत्यादि विरुद्धधर्म एक साथ विद्यमान हैं; 'विरोध है रे, विरोध है...!' – इस प्रकार अज्ञानी लोग पुकारते हों तो भले पुकारें; वस्तुस्वरूप जाननेवालों का तो कोई विरोध नहीं है; वे तो जानते हैं कि वस्तुस्वरूप में ही विरुद्धधर्मत्व नाम की शक्ति है, वस्तु स्वयं ही ऐसी है कि परस्पर कथञ्चित् विरुद्धधर्मों को अपने में धारण कर रखती है। ऐसा वस्तुस्वरूप समझने के पश्चात्, पर से पराङ्मुखता होकर स्वीन्मुखता होती है; पर के साथ की एकता छूटकर, स्व के साथ एकता होती है; मिथ्याबुद्धि दूर होकर, सम्यक्बुद्धि होती है; पराश्रय दूर होकर, स्वाश्रय होता है और वीतरागता एवं केवलज्ञान उसका फल है।

आत्मा, स्व–रूप से रहता है और पर–रूप नहीं होता; अपने स्वभाव के साथ सदैव एकरूप रहता है ओर पर के साथ तीन काल में कभी एकरूप नहीं होता – ऐसा तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना उसमें एक साथ है। और सूक्ष्मता से लें तो आत्मतत्त्व अपने ज्ञान–आनन्दादि स्वभावों के साथ सदैव एकरूप है और राग के साथ कभी एकरूप नहीं होता – ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा का नित्य ज्ञानानन्दस्वभाव, राग के साथ कभी एकमेक नहीं हुआ, किन्तु पृथक् ही है। ऐसे स्वभाव को पहचानकर उस ओर उन्मुख होने से पर्याय में भी वैसा (राग से भिन्नत्व का) परिणमन होता है; इसलिए उस स्वभावोन्मुख पर्याय में भी ज्ञान–आनन्द के साथ तद्रूपता और रागादि के साथ अतद्रूपता, ऐसा अनेकान्तपना प्रकाशित होता है। यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

'एक वस्तु में वस्तुपने की उत्पन्न करनेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना, वह अनेकान्त है।'

देखो, आचार्यदेव ने अलौकिक व्याख्या करके अनेकान्त का स्वरूप समझाया है।

इस अनेकान्त से ही वीतरागी जैनशासन अनादि काल से जयवन्त वर्त रहा है क्योंकि वस्तु स्वयं ही ऐसे अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना जीवन नहीं होता; उसी प्रकार अनेकान्तस्वरूप को समझे बिना, धर्म नहीं होता; इसलिए अनेकान्त ही धर्म का प्राण है। अनेकान्त को अमृत भी कहा जाता है क्योंकि अमृतमय ऐसा जो मोक्षपद, वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है। अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को जीव ने अनन्त काल में एक क्षण भी नहीं समझा और उसे अपनी मिथ्या-कल्पना द्वारा विपरीतरूप से मानकर 'राग से भी धर्म होता है; आत्मा, पर का भी करता है' - ऐसा मानता है किन्तु अनेकान्त का ऐसा स्वरूप नहीं है। वीतरागता, वह धर्म है और राग भी धर्म है - ऐसा अनेकान्त नहीं है, किन्तु वीतरागता ही धर्म है और राग, धर्म नहीं है - ऐसा अनेकान्त है। अनेकान्त तो वस्तुस्वरूप में परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ बतलाता है किन्तु कैसी ? - कि वस्तुस्वरूप को उत्पन्न करनेवाली। 'वीतरागता, वह हितरूप धर्म और राग भी हितरूप धर्म' ऐसा कहने में धर्म का स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किन्तु वीतरागता ही धर्म है और राग, वह कभी धर्म नहीं है - ऐसा कहने से ही धर्म का वास्तविकस्वरूप सिद्ध होता है और वही सम्यक् अनेकान्त है।

अनेकान्त तो वस्तुस्वरूप में स्वयमेव प्रकाशित होता है। किस प्रकार ? कि जो वस्तु तत् है, वही अतत् है; जो एक है, वही अनेक है; जो सत् है, वही असत् है; जो नित्य है, वही अनित्य है - इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुपने का उत्पन्न करनेवाली (सिद्ध करनेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती है; उसका नाम अनेकान्त है। इस ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी स्वयमेव अनेकान्तपना प्रकाशित करता है - ऐसे आत्मा को पहचाने तो धर्म हो।

आत्मा अपनी क्रिया कर सकता है और पर की क्रिया कभी नहीं कर सकता; इसी में (ऐसी तात्त्विक अनेकान्त दृष्टि समझने से ही) आत्मा की पर से भिन्नता सिद्ध होती है; इसलिए वह सम्यक् अनेकान्त है किन्तु आत्मा, अपनी क्रिया कर सकता है और पर की क्रिया भी कर सकता है - इसमें पर से भिन्न आत्मा सिद्ध नहीं होता, इसलिए वह सम्यक् अनेकान्त नहीं है। उसी प्रकार स्वभाव के आश्रय से धर्म होता है और पर के आश्रय से धर्म नहीं होता, ऐसा सम्यक् अनेकान्त है, क्योंकि उसमें पर से भिन्न आत्मा का

जैसा स्वरूप है, वैसा ही प्रकाशित होता है। 'ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है' – इस प्रकार अनेकान्त हड़बड़ी नहीं कराता, किन्तु 'ऐसा है और ऐसा नहीं है' – इस प्रकार वह यथार्थ वस्तुस्वरूप का निर्णय कराता है। जो वस्तुस्वरूप में न हों, उन धर्मों को मानना, वह मिथ्यात्व है। आत्मा अपना कार्य करता है और पर का कार्य भी करता है, वहाँ विरुद्धधर्मत्व नहीं हुआ, किन्तु आत्मा अपना कार्य करता है और पर का नहीं करता – इसमें विरुद्धधर्मत्व द्वारा वस्तु की सिद्धि हुई; इसलिए वह अनेकान्त है।

आत्मा अपने ज्ञायकस्वभावरूप से त्रिकाल तद्रूप (उसमय) है और पर के साथ तद्रूप नहीं है, अर्थात् अतत्रूप है – इस प्रकार तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना – ऐसे दो विरुद्धभावों को एक साथ धारण करना, वह विरुद्धधर्मत्वशक्ति का लक्षण है। जो तद्रूप हो, वही अतद्रूप कैसे हो सकता है – ऐसी विरुद्धता, अज्ञानी को भासित होती है; किन्तु भगवान कहते हैं कि ऐसे धर्मों को धारण करने का तो तेरा स्वभाव है; अपनेरूप से तत् और पररूप से अतत् – ऐसे विरुद्ध धर्मों को धारण करने का ही तेरा अविरुद्धस्वभाव है। तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-प्रसत् आदि चौदह बोलों से अनेकान्त की व्याख्या का अत्यन्त विस्तारपूर्वक स्पष्टीकरण इस परिशिष्ट के प्रारम्भ में आ गया है।

आत्मा का स्वभाव अपने स्वरूप में रहने का है; पररूप होने का उसका स्वभाव नहीं है; इसलिए पर से कुछ सहायता ले, अथवा परवस्तु आत्मा को शरणभूत हो – ऐसा वस्तुस्वभाव नहीं है। 'चत्तारि शरणं पव्वज्जामि, अरहंत शरणं पव्वज्जामि...' ऐसा भक्ति में विनयपूर्वक कहा जाता है, उसमें अरहन्तादि को पहचानकर उनके बहुमान की भावना है किन्तु आत्मा, पर की शरण ले अथवा पर किसी आत्मा को शरणभूत हो – ऐसा अपना या पर का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा को पर की शरण हो तो वह पर के साथ तद्रूप -एकमेक हो जाये, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अनेकान्तस्वभावरूपी अभेद गढ़ ऐसा है कि आत्मा को सदैव पर से अत्यन्त भिन्न ही रखता है; पर के एक अंश को भी आत्मा में नहीं आने देता। अन्तर दृष्टि से ऐसे (पर से अत्यन्त विभक्त तथा अपने स्वरूप से एकत्व) वस्तुस्वभाव को जानना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान है।

आत्मा अपने ज्ञानरूप है और परज्ञेयरूप नहीं है; ज्ञान के साथ तत्पना है और

परज्ञेयों के साथ अतत्पना है। यह आत्मा अपने से भिन्न किसी भी द्रव्य का किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में अथवा किसी भी प्रकार से कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसे पर के साथ अतत्पना है। बस, सबको तलाक! एक स्वतत्त्व का ही अवलम्बन रहा। आत्मा और परवस्तु (शरीरादि) कभी क्षेत्र से भी इकट्ठे नहीं हैं; सबका स्वक्षेत्र भिन्न-भिन्न है। आत्मा को अपने असंख्य प्रदेशोंरूपी स्वक्षेत्र से सत्पना है और शरीरादि के प्रदेशोंरूप परक्षेत्र से असतपना है। दोनों कभी एकरूप से इकट्ठे नहीं हुए हैं; सदैव भिन्न-भिन्न द्वित्वरूप से ही रहे हैं, तो फिर कोई किसी का क्या कर सकता है? इसी न्याय से आत्मा तथा कर्म का भी परस्पर अतत्पना समझना। अपने स्वधर्मों से बाहर निकलकर आत्मा कभी कर्मरूप हुआ ही नहीं है और न कर्म, आत्मा के स्वरूप में आये हैं, तो फिर वे आत्मा का क्या कर सकते हैं?

प्रश्न : क्या कर्म नहीं हैं?

उत्तर : ऐसा कौन कहता है कि कर्म नहीं हैं? कर्म तो कर्म में हैं किन्तु आत्मा में नहीं हैं और आत्मा में जिसका अस्तित्व नहीं है, वह आत्मा का क्या कर सकता है? आत्मा अपने चैतन्यमय द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ एकरूप है और कर्म के द्रव्य-गुण-पर्याय से अतत्रूप है-भिन्न है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा और जड़ दोनों एकमेक हो जाएँ; इसलिए वस्तु का ही अभाव हो जाए, किन्तु वस्तु के अभाव की इच्छा कौन करेगा? नास्तिक हो, वही ऐसा मान सकता है।

एक वस्तु में कार्य होते समय, दूसरी वस्तु को निमित्त कहा जाता है, वह तो उस कार्य को और उसके योग्य उपस्थित अन्य वस्तु को पहचानने के लिए कहा जाता है; किन्तु वह अन्य वस्तु कुछ कर देती है - ऐसा बतलाने के लिए उसे निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्त के साथ तो कार्य का अतत्पना है। जिसे जिसके साथ अतत्पना हो, उसमें वह कुछ नहीं करता; इसलिए निमित्त अकिञ्चित्कर है। ऐसा जो नहीं मानते, किन्तु ऐसा मानते हैं कि कार्य में निमित्त कुछ न कुछ करता है; वे वस्तु की तत्-अतत्शक्ति को नहीं जानते; अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को नहीं पहचानते; इसलिए वे मिथ्यादृष्टि हैं।

यह देव-गुरु-शास्त्र सच्चे और इनसे विरुद्ध कथन करनेवाले अन्य भी सच्चे—

ऐसा जो मानते हैं, अथवा तो क्या सत्य होगा - उसके सन्देह में रहते हैं और सत्य का निर्णय नहीं करते, उनके अज्ञान का नाश नहीं होता। रबड़ी-मलाई में जरा-सा विष पड़ा हो तो लोग उसे नहीं खाते। अरे! विष न हो किन्तु 'इसमें विष पड़ा होगा' - ऐसी शङ्का हो जाए, तब भी उस रबड़ी को नहीं खाते, तो फिर यहाँ धर्म में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र - दोनों को समान मानकर, उनका आदर करना, वह तो अमृत और विष को एकमेक करने के समान हैं। और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का मानने पर भी यदि स्वयं अपने ज्ञान में सत्य का निर्णय न करे तो सत्य का लाभ नहीं होता; इसलिए अपने ज्ञान में सत्-असत् का विवेक करना चाहिए। पैसादि की प्राप्ति तो बुद्धि के बिना, पुण्य से हो जाती है, किन्तु धर्म की प्राप्ति विवेकबुद्धि के बिना नहीं होती।

पुण्य के बिना, पैसे की प्राप्ति नहीं होती। यदि पुण्य के फलस्वरूप पैसे के ढेर लग जाएँ तो उससे आत्मा को क्या लाभ और पैसा न मिले तो उससे आत्मा को हानि भी क्या? आत्मा तो पैसादि परवस्तुओं से भिन्न-अतद्रूप है; परवस्तु उसे सुख-दुःख या लाभ-हानि का कारण नहीं है; इसलिए भाई! जहाँ तेरारूप नहीं है, उस ओर न देख! जिसके साथ तेरी तद्रूपता है - ऐसे अपने स्वरूप को देख। अपने आनन्दस्वरूप में तद्रूपता होने पर तुझे अपने आनन्द का अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त बाह्य में कल्पना के घोड़े दौड़ाकर, वहाँ सुख-दुःख माने तो वह भ्रमणा है।

अरे भाई! कैसी जाति! कैसा कुटुम्ब! कैसा सम्प्रदाय! कहाँ का पैसा और कहाँ का शरीर! वह सब तो आत्मा से बाहर है, तू उन सबसे पृथक् है: तेरा उन सबके साथ अतत्पना है और अपने ज्ञान-आनन्दादि अनन्त धर्मों के साथ तत्पना है। जो आत्मा का स्वरूप-अपनारूप है, उसे न जानकर विपरीत श्रद्धा से पर को अपना मानता है, वह मोह अनन्त संसार का कारण है; इसलिए हे जीव! बाह्य में अपनापन न मानकर, अन्तर में अपने आत्मा को देख! वही मोक्ष का कारण है।

मैं अपने स्वभाव के साथ तत्रूप हूँ, और पर के साथ अतत्रूप हूँ - ऐसे स्वभाव का भान होने पर, जीव की पर्याय, स्वभाव में एकतारूप से परिणमित होती है; इसलिए वह पर्याय, स्वभाव में तद्रूप हुई है और राग के साथ अतद्रूप हो गयी है - इस प्रकार

जिसकी पर्याय में निर्मलपरिणमन हो, उसी को स्व शक्ति की यथार्थ प्रतीति हुई है; जिसकी पर्याय, मात्र विभाव में ही तद्रूप होकर परिणमित होती है, वह तो राग के साथ एकता -बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्मा की शक्ति की प्रतीति नहीं है। 'राग से तथा पर से अतद्रूप' - ऐसे स्वभाव को उसने वास्तव में जाना ही नहीं है।

विरुद्धधर्मों को धारण करनेवाली आत्मा की शक्ति कही; उसमें विरुद्धधर्म कहने से राग-द्वेषादि को नहीं लेना चाहिए, किन्तु तत्-अतत्, अस्ति-नास्ति इत्यादि स्वभावरूप धर्मों को लेना चाहिए, अर्थात् उन्हें विरुद्धधर्म कहे, वे दोनों स्वभावरूप हैं और वे तो आत्मा में त्रिकाल हैं। राग, आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध है, इस अपेक्षा से उसे भी विरुद्धधर्म कहा जाएगा, किन्तु यहाँ जो विरुद्धधर्म कहे हैं, उनमें वह नहीं आएगा। यह विरुद्धधर्म तो आत्मा का नित्यस्वभाव है।

पर से भिन्नता और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ एकता होकर जो निर्मलपरिणमन हुआ, वह 'विरुद्धधर्मत्वशक्तिवाले आत्मा का अविरुद्धपरिणमन' है। और स्वभाव की एकता को भूलकर रागादि में एकता होने से जो मलिनपरिणमन हुआ, वह विरुद्धधर्मत्व -शक्तिवाले आत्मा का विरुद्धपरिणमन है।

- इस प्रकार आत्मा की शक्तियों को पहचानकर, उस ओर उन्मुख होने से शक्तियों का निर्मलपरिणमन होता है; अज्ञानी को निर्मलपरिणमन नहीं होता। राग के साथ तद्रूप होकर परिणमित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है किन्तु राग से भिन्नतारूप तथा आनन्द में एकतारूप परिणमित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। जो अपने ऐसे स्वभाव को पहचाने, उसे वैसा परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

ज्ञान-आनन्दस्वभाव में एकता (तद्रूपता) और रागादि से भिन्नता (अतद्रूपता) - इस प्रकार आत्मा में परस्पर विरुद्धधर्म हैं। देखो, यह आत्मा की विरुद्धधर्मत्वशक्ति! यह विरुद्धधर्मत्वशक्ति ऐसी है कि जो आत्मा का पर से भिन्न परिणमन तथा स्वभाव में एकता कराके, आत्मा को लाभरूप हो। विरुद्धधर्मत्वशक्ति कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है परन्तु वह तो रागादि विरोधीभावों का नाश करके, अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।

आत्मा की अनन्त शक्तियों में ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है कि जिसके साथ अभेद

परिणमन से आत्मा का अहित हो! आत्मा के गुणों के साथ अभेद परिणमन होने से लाभ ही होता है और उसी को आत्मा कहा है; बीच में विकार का परिणमन हो, वह गुणों के साथ अभेद नहीं है; इसलिए वह आत्मा नहीं है; आत्मा के गुणों का वह सच्चा परिणमन नहीं है। गुण के साथ एकता से गुण की (निर्मलपर्याय की) उत्पत्ति होती है। गुण की ओर देखने से लाभ ही होता है और गुण की ओर न देखे, उसे विकार होता है; वह विकार कहीं गुण के कारण नहीं है; वह तो उस पर्याय का अपराध है। इस प्रकार निर्दोष गुणों से परिपूर्ण आत्मा का भान करे तो मुक्ति हो। सम्यक्त्वी को दृष्टि अपेक्षा से तो मुक्त ही कहा है।

प्रश्न : नरक में भी मुक्ति?

उत्तर : हाँ, ऐसे शुद्धस्वभाव की दृष्टिवाला सम्यक्त्वी, दृष्टि अपेक्षा से मुक्त ही है। नरक और नरक की ओर का किञ्चित् वेदन—उन दोनों से अपने स्वभाव का अतत्रूप अनुभव करता है; इसलिए स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से तो सम्यक्त्वी सर्वत्र मुक्त ही है; और उस दृष्टि के बल से एकाध भव में ही वह साक्षात् मुक्त-सिद्धपरमात्मा हो जाएगा।

अहो! पहले आत्मा के ऐसे स्वभाव का अपूर्व प्रेम आना चाहिए... उसकी बात सुनते हुए भी उत्साह आना चाहिए...भाई! जो अन्तर स्वरूप के प्रेम की बात है, वही तुझसे कही जा रही है, उसका तू प्रेमपूर्वक श्रवण कर! बाह्य पदार्थों के प्रति प्रेम कर-करके तू अनन्त काल से दु:खी हुआ है; अब अपने आत्मा का प्रेम कर! जगत् के पदार्थों की अपेक्षा अपने आत्मा से ही अधिक प्रेम करेगा तो तेरा अपूर्व कल्याण हो जाएगा।

[यहाँ २८ वीं विरुद्धधर्मत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[२९-३०]

तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः।

तद्रूपभवनरूप, ऐसी तत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप, ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन, चेतनरूप से रहता है - परिणमित होता है)।

अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः।

अतद्रूपभवनरूप, ऐसी अतत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिणमनेरूप, अतत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन, जड़रूप नहीं होता)।

चैतन्यमूर्ति आत्मा ऐसा है कि उसके स्वभावघर में जाकर दरवाजा बन्द कर देने पर उसमें मोह-राग-द्वेष प्रवेश नहीं कर सकते। ज्ञानी को वे रागादिभाव अपने स्वभावरूप किञ्चित् भी भासित नहीं होते; स्वरूप से बाहर ही भासते हैं।

मोक्ष के लिए क्या करना ? - कि स्वभावसन्मुख होकर तद्रूप परिणमन करना। सम्यक्त्वी का प्रतिक्षण मोक्ष के तरफ ही परिणमन हो रहा है।

तद्रूपपना और अतद्रूपपना - ऐसे दो विरुद्धधर्म आत्मा में है; यह बात २८ वीं शक्ति में कही है; अब २९ वीं तथा ३० वीं शक्ति में उन दोनों का कार्य बतलाते हैं। 'तद्रूप -भवनरूप, ऐसी तत्त्वशक्ति है,' और अतद्रूपभवनरूप, ऐसी अतत्त्वशक्ति है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयमेव ऐसी शक्तिवाला है।

भवनरूप, अर्थात् रहनेयोग्य अथवा परिणामरूपः, ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने चेतनस्वभावरूप रहकर ही परिणमित होता है किन्तु जड़रूप नहीं होता। इस प्रकार चेतनस्वभावरूप रहने की शक्ति, वह तत्त्वशक्ति है और चेतन मिटकर, जड़रूप न होनेरूप शक्ति, वह अतत्त्वशक्ति है। ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में त्रिकाल हैं। आत्मा ज्ञानमात्र है -

ऐसा कहने से उसमें इन दोनों शक्तियों का भी समावेश हो जाता है।

आत्मा में अपने ज्ञानादिस्वरूप होने की शक्ति है, किन्तु पररूप होने की शक्ति नहीं है – पररूप न होने की शक्ति है और वास्तव में शुद्ध आत्मद्रव्य में तो पुण्य-पापरूप परिणमित होने की भी शक्ति नहीं है; पुण्य-पाप से अतद्रूप रहने की उसकी शक्ति है। यदि त्रिकाली स्वभाव एक समय के विकार में तद्रूप हो जाए तो वह विकार दूर हो ही नहीं सकता अथवा तो विकार दूर होने पर, सम्पूर्ण स्वभाव का ही नाश हो जाएगा; इसलिए त्रिकाली शुद्धस्वभाव की विकार के साथ तद्रूपता नहीं है। समयसार की छठवीं गाथा में भी कहा है कि – शुद्धद्रव्य के स्वभाव की दृष्टिपूर्वक देखने से ज्ञायकभाव, शुभाशुभ विकाररूप परिणमित नहीं होता। आत्मा की शक्तियों में विकाररूप परिणमित होने का भी स्वभाव नहीं है तो फिर आत्मा, देहादि के कर्तृत्वरूप परिणमित हो, यह कैसे हो सकता है? विकार, वह त्रिकाली शक्ति का भाव नहीं है किन्तु क्षणिक पर्याय का भाव है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ होने पर भी, उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो पर का कार्य करे अथवा विकार उत्पन्न करे। हाँ, पररूप या विकाररूप परिणमित न हो, ऐसी उसकी अतत्त्वशक्ति है और स्वभावरूप परिणमित हो, ऐसी तत्त्वशक्ति है।

यहाँ तो अनेकान्तस्वभावी आत्मतत्त्व बतलाना है, आत्मा का स्वभाव बतलाना है, आत्मा की शक्तियाँ बतलाना है; इसलिए उसमें अशुद्धता नहीं आती। यद्यपि राग-द्वेष -दु:ख आदि विकार आत्मा की ही एक समयपर्यन्त की योग्यता है किन्तु उस विकार की योग्यता से पहचानने पर, आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं होती। आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में अथवा अनन्त शक्तियों में विकार की योग्यता भी नहीं है। जैसा स्वभाव है, वैसी ही पर्याय हो, उसे आत्मतत्त्व कहते हैं। धर्म करनेवाले को कहाँ दृष्टि डालना चाहिए? – कि जहाँ से धर्म आये, वहाँ दृष्टि डालना चाहिए। देह से या विकार में से धर्म नहीं आता है; एक समय जितनी विकार की योग्यता का आश्रय करके श्रद्धा करने से मिथ्यात्व होता है। मेरा आत्मा तो त्रिकाल ज्ञान, सुख एवं श्रद्धारूप होने की शक्तिवाला है; विकाररूप अथवा पररूप न हो, ऐसा स्वभाव है – इस प्रकार शुद्धस्वभाव के आश्रय से श्रद्धा करने पर सम्यक्त्वादि धर्म होता है।

पररूप अथवा कर्मरूप होने की शक्ति तो आत्मा के द्रव्य में-गुण में या पर्याय में एक समय भी नहीं है; उनसे तो आत्मा सर्वथा अतद्रूप ही परिणमित होता है।

पर्याय में जो विकार है, उसरूप होने की शक्ति भी आत्मा के द्रव्य में या गुण में नहीं है, वह तो मात्र एक समय जितनी पर्याय की ही योग्यता है। त्रिकाली द्रव्य-गुण उस विकार के साथ तद्रूप-एकाकार नहीं हो गए हैं।

त्रिकाली द्रव्य-गुण की ओर ढलकर, जहाँ पर्याय उसके साथ एकाकार-तद्रूप हुई, वहाँ उस पर्याय में विकाररूप परिणमन भी नहीं रहा; वह पर्याय, विकार के साथ अतद्रूप परिणमित हो गयी। इस प्रकार स्वशक्ति के अवलम्बन से पर्याय शुद्धरूप परिणमित हो, ऐसी तत्त्वशक्ति और विकाररूप नहीं परिणमे, ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मा में है। आत्मा, स्वभावी है और यह शक्तियाँ, स्वभाव हैं। आत्मा, स्वभाववाला है कि अपने स्वभाव में (द्रव्य, गुण और शुद्धपर्याय में) तद्रूप-एकाकार होकर परिणमित होता है और विकाररूप से, अर्थात् उसरूप परिणमित नहीं होता।

अहो! विकाररूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है तो फिर कर्म उसे विकार कराएँ, यह बात कहाँ रही? जिसकी दृष्टि, कर्म या विकार पर है, उसे आत्मा के शुद्धस्वभाव की दृष्टि नहीं है; विकारपर्यन्त ही आत्मा का अनुभवन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे भाई! तेरा स्वभाव विकाररूप परिणमने का नहीं है; तेरा स्वभाव तो शुद्धचैतन्यरूप परिणमित होने का ही है। उस स्वभाव की ओर जाकर उसकी सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करना तथा उसमें लीनता करना, वही मोक्ष का मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। बीच में शुभभाव हो किन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है तथा उसरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि उस शुभ को मोक्षमार्ग माने अथवा उसमें तद्रूपता मान तो उस जीव ने शुभविकाररूप परिणमित न होनेरूप आत्मस्वभाव को नहीं जाना; इसलिए वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट है।

जिस प्रकार-जब किसी को भूत आदि का भय लगे, तब मकान के द्वार बन्द कर देता है; उसी प्रकार जिसे विकार का अथवा भव का भय लगा है ऐसा जीव, अतत्त्वशक्ति की प्रतीति द्वारा आत्मा के द्वार बन्द कर देता है कि - विकार का मेरे स्वभाव में प्रवेश ही

नहीं है। मेरा आत्मा, विकार के साथ अतद्रूप है; इसलिए मेरे आत्मा के द्वार विकार के लिए बन्द हैं। मकान के द्वार बन्द कर दे, तथापि उसमें तो भूत प्रविष्ट भी हो सकता है किन्तु यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ऐसा है कि उसके स्वभावगृह में प्रविष्ट होकर मिथ्यात्वरूपी द्वार बन्द करने से उसमें राग-द्वेष-मोहरूपी भूत, प्रवेश नहीं कर पाते; ज्ञानी को वे रागादि, अपने स्वभावरूप किञ्चित् भासित नहीं होते।

ज्ञानी को कोई परभाव, स्वभाव में तद्रूपरूप ही भासित नहीं होते, किन्तु अतद्रूपरूप ही भासित होते हैं; इसलिए यानि रागादि में तद्रूप होकर-एकाकार होकर परिणमित होते ही नहीं। जो रागादि में तद्रूप होकर परिणमन करता है, उसे आत्मा की प्रतीति नहीं है। अहो! एक भी शक्ति से आत्मा का स्वरूप भलीभाँति समझे तो उसमें अनन्त शक्तियों की प्रतीति का समावेश हो जाता है।

चैतन्य का चैतन्यरूप ही होना, वह तत्त्वशक्ति है; और चैतन्य का जड़रूप न होना, सो अतत्त्वशक्ति है।

'जड़ वह जड़ तीन काल में, चेतन चेतनरूप;
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वरूप।'

चेतन, त्रिकाल चेतनरूप रहकर परिणमन करता है और जड़, त्रिकाल जड़रूप रहकर परिणमित होता है। जड़ पलटकर कभी चेतनरूप नहीं होता और चेतन पलटकर कभी जड़रूप नहीं होता - ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। आत्मा चेतन और शरीर जड़;- दोनों त्रिकाल भिन्न-भिन्न ही परिणमित हो रहे हैं; कभी एक हुए ही नहीं। तदुपरान्त यहाँ तो अन्तरङ्गभाव को सूक्ष्म बात है कि चेतन अपने चैतन्यस्वभावरूप ही परिणमित होता है और रागादिरूप परिणमित नहीं होता - ऐसा उसका स्वरूप है।

यदि तत्शक्ति न हो तो आत्मा अपने चेतनस्वरूप नहीं रह सकता, चेतनरूप से वह पृथक हो जाएगा और यदि अतत्शक्ति न हो तो आत्मा, शरीरादि से भिन्न नहीं रह सकेगा; जड़रूप हो जाएगा अथवा क्षणिक विकाररूप ही सम्पूर्ण स्वभाव हो जाएगा। इस प्रकार आत्मा की तत्-अतत् शक्तियों को समझने पर, जड़ से और विकार से भिन्न चेतनस्वभाव समझ में आता है; अपना आत्मा चेतनस्वभावमय रहता है और विकारमय नहीं होता -

ऐसा भेदज्ञान होता है, वह धर्म है। पश्चात् उस धर्म की भूमिका में जो-जो शुभ-अशुभपरिणाम आयें, उन्हें धर्मी जीव अपने स्वभाव से अतद्रूप ज्ञेयरूप से जानता है; इसलिए उसे स्वभाव की ही अधिकता रहती है और विकार की हीनता होती जाती है, ऐसी अन्तरदशा हुए बिना, व्रत या त्याग के शुभपरिणाम करे तो उसका कोई मूल्य नहीं है; उसका फल भी संसार ही है। वर्तमान परिपूर्ण शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की उपादेयबुद्धि होने पर, समस्त परभावों में हेयबुद्धि हो गयी, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है और वही चारित्र की भूमिका है। ऐसी भूमिका का बिना आत्मा, धर्म में प्रवेश नहीं कर सकता।

अज्ञानी, मुख्य वस्तुस्वरूप को समझने से पूर्व, व्रत तथा त्याग की बातें करते हैं और कहते हैं कि – 'समझने के बाद भी यही करना है न! इसलिए हमें अभी से प्रारम्भ कर देना चाहिए; यही करते-करते आत्मा समझ में आ जाएगा।' किन्तु उनकी सारी बातें मिथ्या हैं। आत्मा को समझने के बाद भी तुम्हारे माने हुए व्रतादि नहीं आएँगे, शुद्धतारहित अकेले राग को तुम व्रतादि मानते हो, किन्तु ऐसा व्रत का स्वरूप है ही नहीं; और अपने माने हुए मात्र शुभरागरूप व्रतादि अनन्त काल तक करते रहो, तथापि उनसे आत्मा की यथार्थ समझ नहीं हो सकती। भाई! राग का मार्ग भिन्न है और धर्म का भिन्न है। तुमने राग को धर्म का मार्ग मान लिया है, उसमें तो विपरीतमान्यता का पोषण होता है।

आत्मा, पर के साथ कभी तद्रूप हुआ ही नहीं है; इसलिए पर का त्याग करना तो आत्मा में नहीं है और राग अपनी पर्याय में होता है; उस राग का त्याग भी 'इस राग को छोड़ दूँ' – ऐसे लक्ष्य से नहीं होता, किन्तु रागरहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव में एकाग्रता होने पर सहज ही रागरहित परिणति हो जाती है और विकार छूट जाता है – उसका नाम विकार का त्याग है; इसलिए प्रथम, आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रतीति की हो, तभी उसमें एकाग्रता द्वारा विकार का त्याग हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो जड़ का त्याग करना मानता है, वह तो आत्मा को जड़ के साथ एकमेक मानता है; इसलिए उसने जड़ से भिन्न आत्मा को नहीं पहिचाना। जैसे-कोई वणिक से कहे कि तू माँस का त्याग कर दे – तो उसने वणिक को नहीं पहचाना, क्योंकि वणिक का स्वभाव तो माँस के त्यागरूप ही है; वणिक ने कभी माँस का ग्रहण ही नहीं किया है तो वह छोड़ेगा क्या? उसी प्रकार जो अज्ञानी, पर का त्याग करना मानता है, उसने पर से भिन्न आत्मा को पहचाना ही नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो

पर के त्यागरूप ही है। आत्मा ने परवस्तु को ग्रहण ही नहीं किया है तो छोड़ेगा किसे? यहाँ तो स्वभावदृष्टि में 'विकार का त्याग करूँ' – ऐसा भी विकल्प नहीं है, क्योंकि स्वभाव में विकार का ग्रहण हुआ ही नहीं है – ऐसे स्वभाव में जो पर्याय अभेद हुई, वह पर्याय भी स्वयमेव विकार के अभावरूप ही है; वह स्वभाव में तद्रूप तथा विकार में अतद्रूप है। आत्मा, जड़ से अतद्रूप है; इसलिए जड़ के सङ्गरहित अकेले आत्मा को लक्ष्य में लेने से वह शुद्ध ही है; उसमें विकार नहीं है।

आत्मा में तद्रूप परिणमित होने की शक्ति है, अर्थात् जैसा शुद्धस्वभाव है, उसरूप परिणमित होने की शक्ति है और वह शक्ति, आत्मा की होने से उसके समस्त गुणों में भी तद्रूप परिणमनस्वभाव है। इसलिए ज्ञान का ज्ञानरूप से परिणमन हो, वह तद्रूप परिणमन है किन्तु अज्ञानरूप परिणमन हो तो उसे तद्रूप नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार श्रद्धा, आनन्द, चारित्रादि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इस प्रकार समस्त गुणों का तद्रूप परिणमनस्वभाव है और विकार के साथ अतद्रूपता है। ऐसे स्वभाव को न जाननेवाले अज्ञानी, राग में तद्रूप एकाकार होकर परिणमन करते हैं और ज्ञानी तो स्वभाव में ही तद्रूपतारूप परिणमन करते हैं। इस प्रकार निर्मलपरिणमनसहित शक्तियाँ ही आत्मा है। आत्मा में शुद्धतारूप होने की शक्ति तो त्रिकाल है और अशुद्धतारूप होने की योग्यता तो मात्र एक समयपर्यन्त की पर्याय में है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते; क्योंकि उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है।

प्रश्न : यह बात समझने से समाज को क्या लाभ?

उत्तर : जिससे एक जीव को लाभ होता हो, उससे सभी को लाभ होता है! समाज कोई भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु व्यक्तियों का समूह ही समाज है। इसलिए व्यक्ति भी समाज का एक अंश है। जिससे एक व्यक्ति को लाभ हो, उससे सबको लाभ होता है; इसलिए जो एक व्यक्ति के हित का मार्ग है, वही समाज के हित का मार्ग है। व्यक्ति के हित का मार्ग भिन्न हो और समाज के हित का भिन्न हो – ऐसा नहीं है।

इसलिए इसे समझकर स्वयं अपना हित साध लेना चाहिए। हित का यह एक ही मार्ग है। समाज के जितने जीव इसे समझेंगे, उन्हीं का कल्याण हो सकेगा।

परपदार्थ में आत्मा कुछ नहीं कर सकता। या तो 'पैसा ही मेरा परमेश्वर है और मैं उसका दास हूँ' – ऐसी तीव्र ममता करता है, या फिर ममत्व कम करके दानादि के भाव करता है किन्तु उसमें भी कहीं धर्म नहीं है। मैं तो सबसे भिन्न चिदानन्दस्वरूप हूँ – इस प्रकार स्वरूप का भान करके, पर की ममता का अभाव करना तथा स्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम धर्म है; इसके अतिरिक्त लाखों-करोड़ों उपायों से भी धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्न : यह बात तो बड़े-बड़े आचार्यों को भी कठिन मालूम हो, ऐसी है ?

उत्तर : भाई! बड़ा किसे कहा जाए ? क्या विशाल शरीरवालों को बड़ा कहना चाहिये ? तब तो मत्स्य भी बड़े-बड़े हजार योजन लम्बे होते है, तो क्या उन्हें बड़ा कहोगे ? क्या जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो, उसे बड़ा कहोगे ? क्या जिसका पद बड़ा हो, उसे बड़ा कहना चाहिए ? तब तो माँसाहारी पापी जीव भी पैसे में तथा पदवी में बड़े हाते हैं। क्या उन्हें बड़ा मानोगे ? – नहीं; शरीर, लक्ष्मी या पुण्य द्वारा धर्म में बड़ापन नहीं माना जाता। धर्म में तो धर्म से ही बड़ापन माना जाता है। जिसे धर्म का भान भी न हो, वह भले ही समाज में आचार्य कहलाता हो, तथापि उसे धर्म में बड़ा नहीं मानते। समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि पर से भिन्न एकत्वस्वरूप आत्मा के भान बिना, समस्त अज्ञानी जीव परस्पर आचार्यपना बतलाते हैं। सच्चे तत्त्व से विरुद्धप्ररूपणा करके अज्ञानी, एक -दूसरे के अज्ञान को पोषण देते हैं, वह तो विपरीत आचार्यपना है। जगत के जीव मानें या न मानें, उसकी यहाँ चिन्ता नहीं है; संसार तो इसी तरह ज्यों का त्यों चलता ही रहेगा, यहाँ तो स्वयं सत्य समझकर अपना हित कर लेने की बात है।

भाई, तू अनन्त बार मनुष्य हुआ, बड़ी-बड़ी पदवियाँ तथा राज्यपद भी अनन्त बार प्राप्त हुए, किन्तु यह चैतन्य राजा स्वयं कौन है – उसकी बात भी तूने कभी प्रेमपूर्वक नहीं सुनी। पर में तेरा पद नहीं है, विकार भी तेरा सच्चा पद नहीं है, वे तो सब अपद हैं... अपद हैं; इसलिए उनसे विमुख हो और इस अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्धचैतन्यपद में प्रवेश कर! एक बार अपने निजपद की अनन्त ऋद्धि का निरीक्षण करे, तो बाह्य ऋद्धि की महिमा छूट जाये। तेरी चैतन्यऋद्धि सर्वज्ञभगवान के समान है, सर्व शास्त्र तेरे चैतन्यपद की महिमा गाते हैं। सुन—

'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहिं कोई।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई'॥

भगवान सर्वज्ञ जिनदेव और तेरा आत्मा परमार्थत: समान है; 'जिन' और 'निज' दोनों स्वभावरूप से समान हैं; स्वभाव में किञ्चित् अन्तर नहीं है। ऐसे स्वभाव का लक्ष्य कराने के लिए ही सर्व शास्त्र रचे गए हैं। अन्तर्मुख होकर ऐसे चैतन्यपद को लक्ष्य में लेना ही सर्व शास्त्रों का सार है... ऐसे चैतन्यपद को जिसने लक्ष्य में नहीं लिया, उसने शास्त्रों का तात्पर्य नहीं जाना।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव में से ही भगवान को सर्वज्ञपद की प्राप्ति हुई और वाणी द्वारा उस सर्वज्ञस्वभाव का कथन किया। जिसने उस सर्वज्ञस्वभाव को लक्ष्य में लिया, वह भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ, वह साधक हो गया और उसी ने भगवान का उपदेश यथार्थरूप से जाना।

लोग पूछते हैं कि क्या करें ?

देखो, यहाँ क्या करना, वही कहा जा रहा है। 'लक्ष्य थवाने तेहनो...' तेरा शुद्ध चैतन्यपद सर्वज्ञस्वभाव से परिपूर्ण है; उसका तू लक्ष्य कर। श्रवण-पठन-विचार-मनन उन सब में इस शुद्धचैतन्यपद को लक्ष्य में रख। कहाँ लक्ष्य करने योग्य है और कहाँ से लक्ष्य उठाने जैसा है, उसे समझ। ब्राह्म में तेरा पद नहीं है; बाह्य में लक्ष्य करके अभी तक भटका; इसीलिए वहाँ से लक्ष्य उठा और अन्तर में तेरा चैतन्यपद सर्वज्ञसमान है - उसमें लक्ष्य कर। अन्तर्मुख लक्ष्य करने से ही कल्याण है; इसलिए वही करना है।

देखो, यह सीधी-सादी बात है।

तू है या नहीं ? कि - हाँ।

पर है या नहीं ? - हाँ।

तू और पर पृथक् हो या एक ? - पृथक्।

जो पृथक हैं, उनके कार्य पृथक् होते हैं या एक ? - पृथक्।

- इस प्रकार जो पृथक् हैं, उनके कार्य भी पृथक् होते हैं; इसलिए पृथक् पदार्थों की दृष्टि छोड़! उनका मैं कुछ करता हूँ, यह मान्यता छोड़ और अपने में देख।

तुझमें जो विकार है, वह नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

विकार तो क्षणिक है।

और तेरा स्वभाव नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

आत्मा का स्वभाव तो नित्य स्थायी है।

बस ! क्षणिक विकार जितना आत्मा नहीं है; आत्मा तो नित्य स्थायी ज्ञानादि अनन्त गुणों का भण्डार है; उस अनन्त गुणरूप स्वभाव को देख ! उस स्वभाव में एकाकार हो और विकार की एकता छोड़ ! यही धर्म तथा हित है। आत्मा को पर से भिन्न जानकर, स्वभाव में एकतारूप परिणमन करे, वह धर्मी-अन्तरात्मा है और जो पर के साथ एकता मानकर, विकार में एकतारूप परिणमन करे, वह अधर्मी-बहिरात्मा है।

अन्तरस्वरूप का अवलोकन करने से विकार की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है; विकार के साथ स्वभाव की एकता नहीं है। बाह्यदृष्टि से संसार उत्पन्न हुआ है; अन्तर्मुख होकर स्वभाव का अवलोकन करने से उसका नाश हो जाता है।

'उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार।
अंतर्मुख अवलोकतें विलय थतां नहि वार॥'

अहो ! चैतन्यस्वभाव में तो त्रिकाल आनन्दरूप होने की ही शक्ति है किन्तु जीव अपनी उस शक्ति को नहीं देखता। इसीलिए उसे आनन्द का परिणमन-वेदन नहीं होता, और बाह्यदृष्टि से वह दुःख का ही वेदन करता है; वह दुःख वेदने का उसका स्वभाव नहीं है। दुःख तो एक समयमात्र पर्याय में है और आनन्दस्वभाव से द्रव्य-गुण त्रिकाल परिपूर्ण है। अकेले सिद्धों में नहीं, किन्तु सर्व आत्माओं में ऐसा आनन्दस्वभाव भरा है; उस स्वभाव में देखे, इतनी देर है।

देखो, मुमुक्षु विचार करता है कि मुझे तो मोक्ष की आवश्यकता है; मुझे भव (संसार) नहीं चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा में मोक्ष होने का स्वभाव है किन्तु भव होने का स्वभाव नहीं है। भव की उत्पत्ति न हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ऐसे आत्मस्वभाव को लक्ष्य में लिए बिना - 'मोक्ष की आवश्यकता है और भव नहीं चाहिए' ऐसी भावना सच्ची नहीं होती। भव के कारणरूप विभाव को जो अपने स्वभाव में मानता

है या शुभाशुभराग को हितकर मानता है, उसे भव से छूटने की सच्ची भावना ही नहीं है; इसलिए सच्ची मुमुक्षुता उसे नहीं हुई है। जिसमें भव नहीं है – ऐसे आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना, भवरहित होने की सच्ची भावना नहीं होती।

प्रश्न : सम्यक्त्वी को भवरहित स्वभाव की श्रद्धा होने पर भी, उसे एकाध भव तो होता ही है।

उत्तर : अनन्त शक्ति के पिण्डरूप भवरहित स्वभाव की दृष्टि में प्रतिक्षण उसे मोक्षरूप परिणमन ही हो रहा है; वहाँ एकाध भव रहा है, उसका वह ज्ञाता है। स्वभावोन्मुख वृत्ति में उसे भव की ओर के परिणमन की प्रधानता नहीं है किन्तु मोक्ष की ओर के परिणमन की ही प्रधानता है और जिसकी प्रधानता हो, उसी का अस्तित्व माना जाता है; इसलिए सम्यक्त्वी को भव नहीं है।

'आत्मा को जाना, किन्तु आनन्द नहीं आया अथवा अनन्त भव की शङ्का दूर नहीं हुई' – ऐसा कोई कहे तो उसने आनन्द के साथ आत्मा को तद्रूप नहीं माना है किन्तु उससे पृथक माना है, अर्थात् उसने आत्मा को जाना ही नहीं है। अनन्त गुणों के साथ तद्रूप, ऐसे आत्मा को जानने से उसके अनन्त गुणों में तद्रूप, अर्थात् जैसा स्वभाव है, उस स्वभावरूप परिणमन होता है; आनन्द का वेदन होता है और भव की शङ्का दूर हो जाती है – ऐसे साधक को अल्प विकार रहे, उसकी मुख्यता न होने से (उसमें तद्रूपता न होने से) वह अभाव-समान ही है।

आत्मा की तद्रूप परिणमनरूप शक्ति को जानने पर भी, पर्याय में मात्र विकाररूप ही परिणमन है – ऐसा जो माने, उसने वास्तव में स्वभाव के साथ तदरूप आत्मा को जाना ही नहीं है; उसने तो आत्मा को विकार के साथ ही तद्रूप माना है। यदि यथार्थ जाने तो गुण के परिणमन में भी विकार से अतद्रूपता होकर, स्वभाव में तद्रूपता हुए बिना न रहे, क्योंकि ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में ज्ञान-आनन्द-श्रद्धादि अनन्त गुण हैं; उन अनन्त गुणों के साथ तद्रूप होकर परिणमित हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान, तद्रूप परिणमित हो और आनन्दादि का परिणमन न हो – ऐसा नहीं हो सकता। अभेद परिणमन में समस्त गुणों का अंश सम्यक्रूप परिणमित होता है – ऐसा आत्मस्वभाव है।

[– यहाँ २९ वीं तत्त्वशक्ति और ३० वीं अतत्त्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[३१-३२]

एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति

अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः।

अनेक पर्यायों में व्यापक, ऐसी एक द्रव्यमयतारूप एकत्वशक्ति।

एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः।

एक द्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें, उसमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति।

धर्मात्मा ने निज शुद्धात्मद्रव्य का स्वीकार करके, परिणति को उस ओर उन्मुख किया है, इसलिए उसका परिणमन प्रतिक्षण मुक्ति की ओर ही हो रहा है, वह मुक्तिपुरी का प्रवासी हुआ है; इसलिए 'अब मुझे अनन्त संसार होगा?' ऐसी शङ्का उसे उठती ही नहीं। उसे भव का सन्देह दूर हो गया है और वह मोक्ष के पथ पर अग्रसर हुआ है। उसकी श्रद्धा का बल स्वोन्मुख हुआ है, उसके ज्ञान ने शुद्धद्रव्य को स्वज्ञेय बनाया है, उसका पुरुषार्थ स्व द्रव्योन्मुख हो गया है, उसको कषायों का वेदन छूटकर आत्म के शान्तरस का वेदन हुआ है; इस प्रकार सम्पूर्ण परिणति में नयी जागृति आ गयी है... और वह जीव, भगवानमार्ग में सम्मिलित हुआ है - ऐसी है... धर्मी की अपूर्व दशा!

ज्ञानस्वरूप आत्मा में अनन्त शक्तियाँ होने से वह अनेकान्तस्वरूप है, उसका यह वर्णन चल रहा है। तीस शक्तियों का वर्णन हो चुका है; अब एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति का वर्णन करते हैं।

'अनेक पर्यायों में व्यापक, ऐसे एकद्रव्यमयपनेरूप एकत्वशक्ति है' और 'एकद्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें, उनमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति है।' ज्ञानभाव आत्मा, स्वयमेव ऐसी शक्तियोंवाला है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा कहीं पर में या विकार में व्याप्त नहीं है किन्तु अपने अनेक गुण-पर्यायों में एकरूप से व्याप्त है। धर्मी जानता है कि मेरी अनेक पर्यायों में मेरा आत्मा

ही व्याप्त है; कर्म या विकार मेरी पर्याय में व्याप्त नहीं है। विकार तो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि बढ़कर समस्त पर्यायों में व्याप्त हो; आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि सर्व पर्यायों में व्याप्त होता है। ऐसा भान होने पर व्यापक-व्याप्य की एकता से (द्रव्य-पर्याय की एकता से) निर्मलपर्यायें ही होती हैं। अनेक निर्मलपर्यायों में व्याप्य होने पर भी, आत्मा स्वयं द्रव्यरूप से तो एक ही होता है; द्रव्यरूप में कहीं स्वयं अनेक नहीं हो जाता - ऐसी उसकी एकत्वशक्ति है और द्रव्यरूप से एक होने पर भी, अनेक पर्यायोंरूप से भी स्वयं ही होता है - ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है। इस प्रकार एकपना तथा अनेकपना दोनों शक्तियाँ आत्मा में एक साथ हैं। उसमें 'एकत्व' वह द्रव्यार्थिकनय से है और उसके साथ 'अनेक पर्यायों में व्यापक' - ऐसा कहकर पर्याय भी बतलायी है। तथा दूसरे बोल में 'अनेकत्व' कहा, वह पर्यायार्थिकनय का विषय है और उसके साथ 'एक द्रव्य से व्याप्य' - ऐसा कहकर, द्रव्य को भी साथ ही रखा है। द्रव्य का लक्ष्य छोड़कर, मात्र अनेकपना माने तो वह यथार्थ नहीं है। उसी प्रकार निर्मलपर्यायों से रहित, मात्र द्रव्य को माने तो वह भी यथार्थ नहीं है। द्रव्य और निर्मलपर्यायें, उन दोनों को व्यापक-व्याप्यरूप से साथ ही साथ रखकर आचार्यदेव ने अद्भुत वर्णन किया है।

आत्मा, पर से और विकार से तो अतत् है; इसलिए उसमें वह व्याप्त नहीं है - वह बात पहले बतलायी, तो आत्मा कहाँ रहता है? - कहते हैं कि अपनी अनेक निर्मलपर्यायों में रहता है। आत्मा फैलकर-विस्तार को प्राप्त होकर, पर में व्याप्त नहीं होता, किन्तु अपनी पर्यायों में व्याप्त होता है। यहाँ निर्मलपर्यायों की ही बात है। एक के बाद एक पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाए, तथापि वे सब पर्यायें आत्मा में ही अभेद होती हैं। अनेक पर्यायें होने से आत्मा की एकता नहीं टूटती। सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ में भी वही है और केवलज्ञान के समय भी वही है; इस प्रकार अनेक निर्मलपर्यायोंरूप होने पर भी स्वयं चैतन्यस्वरूप से एक ही है। ज्ञानपर्याय में आत्मा, आनन्द में आत्मा, इस प्रकार अनन्त गुणों की पर्याय में विद्यमान होने पर भी, ज्ञान का आत्मा भिन्न, दर्शन का आत्मा भिन्न और आनन्द का आत्मा भिन्न, इस प्रकार कहीं आत्मा का भिन्नत्व नहीं है; आत्मा तो एक ही है। 'जगत में सब मिलकर एक ही आत्मा (अद्वैत ब्रह्म) है' - यह बात मिथ्या है, उसकी यहाँ बात नहीं है। जगत में तो अनन्तानन्त जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं किन्तु उनमें से प्रत्येक व्यक्ति का अपना

आत्मा अपने अनन्त-गुण-पर्यायों में एकरूप से विद्यमान है तथा पर से भिन्नरूप है। पर में तेरा आत्मा नहीं है। इसलिए पर का लक्ष्य छोड़; देह में-वाणी में-मन में 'आत्मा' ऐसे शब्द में, कर्म में या राग में कहीं तेरा आत्मा नहीं है; इसलिए उन सबका लक्ष्य छोड़; तेरे अनेक गुण-पर्यायें तेरा आत्मा विद्यमान होने पर भी, वह अनेकरूप से खण्डित नहीं हो गया है किन्तु एकरूप ही रहा है; इसलिए अनेक के भेद का लक्ष्य भी छोड़कर, द्रव्यस्वभाव की एकता का अवलम्बन कर। उस एकता के अवलम्बन से अनेक निर्मलपर्यायें होकर उस एकता में ही एकाकार हो जाएँगी।

अनादि से अकेली विकारीपर्याय हुई, वह आस्रवतत्त्व है, उसमें सचमुच आत्मा व्याप्त ही नहीं हुआ है, क्योंकि विकारीपर्याय के साथ आत्मस्वभाव की एकता नहीं है। निर्मलपर्याय ही अन्तरोन्मुख होकर स्वभाव के साथ एकमेक होती है; इसलिए उसी में आत्मा व्यापक है।

अहो! विकारीपर्याय में भी आत्मा विद्यमान नहीं है तो फिर शरीरादि जड़ में तो वह कहाँ से होगा? आत्मा, शरीर में विद्यमान नहीं है - यह बात सुनकर अज्ञानी तो भड़क उठते हैं कि 'अरे! क्या आत्मा इस शरीर में नहीं है? तो फिर वह कहाँ रहता होगा? आकाश में रहता होगा?' - अरे भाई! शान्त हो, शान्त हो!! शरीर भी जड़ है और आकाश भी जड़ है; क्या आत्मा जड़ में रहेगा या जड़ से भिन्न रहेगा? आत्मा, शरीर में नहीं है और आकाश में भी नहीं है; आत्मा तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुण-पर्यायों में ही विद्यमान है।

भाई! तेरे गुण-पर्यायों से बाहर अन्य कहीं तेरा आत्मा नहीं है। जड़ शरीरादि में यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कभी रहता ही नहीं है, तो फिर आत्मा उन शरीरादि के कार्य करे, यह बात ही कहाँ रही? - वह तो गयी अज्ञानी की भ्रमणा में! अज्ञानी को भ्रम होता है कि हम यह खाना-पीना-बोलना करते हैं न! किन्तु भाई! तू यानी कौन? तू जड़ अथवा तू आत्मा? आत्मा, आत्मा में रहेगा या जड़ में? खाना-पीना-बोलना, वे क्रियाएँ तो जड़ शरीर में होती हैं, वे जड़ के स्वभाव से होती हैं, तेरा स्वभाव तो ज्ञान है, तू तो उनका ज्ञाता ही है। जड़ की बात तो दूर रही, किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि-अकेले रागादि विकार में ही आत्मा विद्यमान है - ऐसा अनुभव करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि ही है।

जिस प्रकार नारियल का गोला बाहर के छिलके में नहीं है और भीतर की छाल में भी नहीं है; नारियल का गोला तो सफेदी और मिठासरूप अपने स्वभाव में ही है; उसी प्रकार यह चैतन्य गोला भगवान आत्मा, बाहर के छिलके जैसे इस जड़शरीर में तथा भीतर की छाल जैसे रागादि विकार में भी नहीं है; चैतन्यमूर्ति आत्मा तो ज्ञान और आनन्दरूपी अपने स्वभाव में ही है। अकेली लाल छाल को खाकर ही उसे नारियल का स्वाद मानें तो वास्तव में उसने नारियल को जाना ही नहीं। उसी प्रकार मात्र राग के अनुभव को ही जो आत्मा का स्वाद मानता है, उसने वास्तव में आनन्दमूर्ति आत्मा को जाना ही नहीं है। राग में-पुण्य में आत्मा का विस्तार नहीं है, राग से तो आत्मा का परिणमन संकुचित होता है। आत्मा का विकास और विस्तार तो अपनी निर्मलपर्याय में ही है। अकेला द्रव्य अपने अनन्त गुण-पर्यायों के विस्तार में पहुँच जाता है, तथापि एकपना छोड़कर, खण्डित न हो - ऐसी आत्मा की शक्ति है।

ऐसे शक्तिमान आत्मा को जानना, वह अपूर्व धर्म है। ऐसे आत्मा को समझे बिना जो धर्म मनाता है - राग से धर्म मनाता है, वह अपने चैतन्यमूर्ति आत्मा का अनादर करता है, भगवान के मार्ग का अनादर करता है और भवभ्रमण के मार्ग को आदरणीय मान रहा है।

कोई मारे या गाली दे, तथापि क्रोध न करना, वह धर्म - ऐसी सामान्य मन्दकषाय में ही मूढ़ जीव, धर्म मान लते हैं किन्तु उसमें चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनादररूप अनन्त क्रोध है - उसकी उन्हें खबर नहीं है। अरे, मेरे अशुभकर्म का उदय है, उसमें किसी दूसरे का दोष नहीं है - इस प्रकार मात्र कर्म की ओट में क्षमा रखे, तो वह भी वास्तव में क्षमा नहीं है; उसने आत्मा का विस्मरण किया - वही विपरीत दृष्टि है। अहो, मैं तो चैतन्यस्वभाव हूँ। क्रोध, मेरे स्वभाव में है ही नहीं - ऐसा जिसे सम्यक्भान है, उसके अनन्त क्रोध का नाश हो गया है। कदाचित उसे किसी के प्रति क्रोध हो, तथापि वह क्रोध अनन्तवें भाग अल्प है और अज्ञानी कदाचित् क्रोध न करे, तथापि उसे विपरीत अभिप्राय में ही अनन्त क्रोध की शक्ति भरी है। चैतन्यस्वरूप आत्मा के अवलम्बन बिना, धर्म हो ही नहीं सकता और दोष सचमुच दूर हो नहीं सकता।

शरीर में या राग में तो आत्मा नहीं है, निर्मलपर्याय हुई, उसमें आत्मा व्यापक है

परन्तु उस एक पर्याय जितना ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं है। आत्मा में तो ऐसी अनन्त पर्यायों में व्याप्त होने की शक्ति है – ऐसे आत्मा पर धर्मी की दृष्टि लगी है, ऐसे आत्मा को श्रद्धा में लेकर, उसी में पर्याय को एकाग्र किया है और वही धर्मी का धर्म है। धर्मी, अर्थात् आत्मद्रव्य और धर्म, अर्थात् उसकी निर्मलपर्याय। धर्मी का धर्म, उससे भिन्न नहीं है; धर्म, धर्मी के साथ एकमेक है।

कहाँ रहते हो ? तो कहते है दिल्ली में; उसी प्रकार यहाँ पूछते हैं कि कहाँ रहते हो ? तो धर्मी कहते हैं कि अपनी निर्मलपर्याय में, अपनी निर्मलपर्याय ही हमारी राजधानी है। जहाँ राजा रहता हो, उसे राजधानी कहते हैं और उस नगर पर किसी प्रकार का कर-भार नहीं होता – ऐसा पुराने जमाने में था। उसी प्रकार यह चैतन्यराजा अपनी निर्मलपर्यायरूप राजधानी में रहता है और उस निर्मलपर्याय के ऊपर किसी प्रकार का कर, अर्थात् विकार या कर्म का भार नहीं है। देश में या देह में तो आत्मा रहता ही नहीं है, तो फिर उसकी बात कहाँ रही ? स्वभाव में निर्मलपर्याय प्रगट करके, उसमें आत्मा स्वयं व्याप्त है; किसी राग -व्यवहार का विस्तार होकर सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं विस्ताररूप होकर सम्यग्दर्शन में विस्तृत हुआ है। आत्मा की निर्मलपर्यायों में रागादि नहीं रहते; आत्मा की निर्मलपर्याय में आत्मा स्वयं ही रहता है, ऐसे आत्मा पर धर्मी की दृष्टि है। अकेली पर्याय के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है किन्तु पर्याय जिसमें से प्रगट हुई, ऐसे शुद्धद्रव्य पर उसकी दृष्टि है; इसलिए वह दृष्टि और द्रव्य दोनों एकाकार हो गए हैं।

सम्यग्दर्शन के प्रारम्भ से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त पर्यायों में अखण्डरूप से एक आत्मा विद्यमान है, उस एक के आश्रय से ही अनेक निर्मलपर्यायें होती रहती हैं। बस! निर्मलपर्याय को उस एक का ही आश्रय है; उसके अतिरिक्त बाह्य में किसी अन्य का-राग का-निमित्त का अथवा देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय वास्तव में नहीं है।

शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय से ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है, टिकता है और बढ़ता है; इसके अतिरिक्त व्यवहार-राग या निमित्तों के आश्रय से मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। अरे! मोक्षमार्ग की जो पर्याय है, उस पर्याय के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है; शुद्धद्रव्य के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। आत्मा, द्रव्यस्वरूप से एकरूप रहता है, तथापि अनेक निर्मल

–पर्यायोंरूप अनेकरूप भी स्वयं होता है। एकतारूप रहना तथा अनेकतारूप होना – यह दोनों स्वभाव एक आत्मा में विद्यमान हैं। सर्वथा एकरूप ही रहे तो एक पर्याय बदलकर दूसरी विशेष निर्मलपर्यायरूप से निर्मल कौन होगा और यदि सर्वथा अनेकरूप ही हो जाए तो पर्याय किसके आश्रय से होगी ? इसलिए आत्मा में एकत्व तथा अनेकत्व, ऐसी दोनों शक्तियाँ हैं।

यदि एकत्वशक्ति न हो तो अनेक गुण–पर्यायों में वस्तु भी अनेक खण्ड–खण्डरूप हो जावेगी; अर्थात् जितने गुण और पर्यायें हैं, उतनी भिन्न–भिन्न वस्तुएँ हो जाएँगी; इसलिए अनन्त गुण–पर्यायरूप वस्तु सिद्ध ही नहीं होगी; इसलिए अनन्त गुण–पर्यायों में एकरूप से व्याप्त होकर रहनेरूप एकत्वशक्ति है, वह अनन्त गुण–पर्यायों में द्रव्य की अखण्डता बनाये रखती है।

उसी प्रकार यदि अनेकत्वशक्ति न हो तो एक वस्तु में अनन्त गुण–पर्यायें कहाँ से होंगी ? वस्तु एक होने पर भी गुण–पर्यायें अनन्त हैं। द्रव्यरूप से एक ही रहकर आत्मा स्वयं अपने अनन्त गुण–पर्यायों में विद्यमान है, इस प्रकार अनेकता भी है।

एकपना अथवा अनेकपना – उन दोनों में पर से तो आत्मा भिन्न है और विकार से भी भिन्न है। एकपना तो द्रव्य से है और अनेकपना गुण–पर्यायों से है। पर के कारण वह धर्म नहीं है; इसलिए परोन्मुखता से एकता या अनेकता की पहचान नहीं होती; एकतारूप या अनेकतारूप से आत्मा स्वयं ही है; इसलिए आत्मोन्मुखता से ही उसकी सच्ची पहचान होती है।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण और उन अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें, उनमें आत्मा व्यापक है; इसलिए आत्मा में अनेकता भी है। पर्याय, सो व्याप्य (रहनेयोग्य) है और आत्मा उसमें व्यापक (रहनेवाला) है। आत्मा को व्याप्त होनेयोग्य पर्याय एक ही नहीं है किन्तु अनेक हैं, उन अनेक पर्यायोंरूप होता है; इसलिए आत्मा अनेकरूप है। स्वभाव के आश्रय से निर्मल क्रमबद्धपर्यायें एक के बाद एक होती हैं। वही आत्मा का सच्चा व्याप्य है; रागादि उसका सच्चा व्याप्य नहीं है और देहादि में तो आत्मा कभी व्याप्त हुआ ही नहीं है।

आत्मा की सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मलपर्यायों में कौन व्याप्त होता है ?

क्या उनमें निमित्त व्याप्त होता है ? नहीं; तो क्या पूर्व की पर्याय उनमें व्याप्त होती है ? नहीं; शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं परिणमित होकर उन सम्यग्दर्शनादि पर्यायों में व्याप्त होता है। इसलिए हे जीव ! अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करने के लिये तुझे अपने शुद्ध आत्मा में ही देखना रहा – उसी का अवलम्बन करना रहा, किन्तु किसी निमित्त का, राग का, पर्याय का अवलम्बन नहीं रहा। तेरा एक आत्मा ही तेरी सर्व पर्यायों में प्रसरित हो जाता है। ऐसी ही उसकी शक्ति है; इसलिए अपनी पर्याय के लिए तुझे अन्य किसी द्रव्य की ओर देखना नहीं रहता; अपने स्वद्रव्य की ओर ही देखना रहता है। जो आत्मा का ऐसा स्वरूप समझ ले, उसे पर से परोन्मुखता तथा स्वोन्मुखता द्वारा निर्मलपर्यायें होती हैं – वही धर्म है।

जिस प्रकार कड़ा-हार-मुकुट आदि सर्व अवस्थाओं में एक सोना ही क्रमशः व्याप्त होता है किन्तु उनमें कहीं सोनार, एरन या हथौड़ी व्याप्त नहीं होते; उसी प्रकार आत्मा की सर्व पर्यायों में एक आत्मा ही व्याप्त होता है, अन्य कोई उनमें व्याप्त नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों मिलकर कार्य करते हैं – ऐसा जो मानता है, वह एक पर्याय में अनेक द्रव्यों की व्याप्त मानता है। उसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है। आत्मा की पर्याय में पर तो व्याप्त होता ही नहीं, किन्तु जिस पर्याय में मात्र क्रोधादि व्याप्त हों, उसे भी आत्मा नहीं कहते। आत्मा की पर्याय तो उसी को कहते हैं, जिसमें आत्मा का स्वभाव व्याप्त हो। क्रोधादिभाव, सचमुच आत्मा के स्वभाव से व्याप्त नहीं हैं। – ऐसे आत्मस्वभाव का जिसने निर्णय किया, उसकी पर्याय में आत्म व्याप्त हुआ और क्रोधादि व्याप्त नहीं हुए। क्रोध में व्याप्त हो, वह मैं नहीं हूँ; शुद्धता में व्याप्त हो, वही मैं हूँ – ऐसा निर्णय करने पर क्रोध की ओर का बल टूट गया और शुद्धस्वभाव की ओर के बल में वृद्धि हो गयी – ऐसी साधकदशा है, और वही मोक्षमार्ग है।

देखो, आत्मा की सम्यक् प्रतीति ऐसा फल लेकर प्रगट होती है। यदि ऐसा फल न आये तो आत्मा की सच्ची प्रतीति नहीं है। सम्यक् प्रतीति तो ऐसी है कि सम्पूर्ण भगवान आत्मा को पर्याय में प्रसिद्ध करती है। यदि पर्याय में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि न हो तो वहाँ सम्यक् प्रतीति नहीं है। मेरी समस्त शुद्धपर्यायों में मेरा अपना द्रव्य ही व्याप्त होगा, मेरा आत्मा ही अनेक निर्मलपर्यायोंरूप से तन्मय होकर परिणमित होगा – ऐसा जिसने निश्चय किया, उसकी श्रद्धा का बल स्वद्रव्य की ओर ढल गया, उसके ज्ञान ने शुद्धद्रव्य

को स्वज्ञेय बनाया, उसका पुरुषार्थ स्वद्रव्य की ओर झुक गया, कषायों का वेदन छूटकर उसे आत्मा के शान्तस्वभाव का वेदन हुआ। अनादि से पर्याय में अकेला विकार व्याप्त होता था, उसके बदले अब अपूर्व निर्मलपर्यायों में भगवान आत्मा व्याप्त हुआ, अर्थात् आत्म-प्रसिद्धि हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण परिणति में नयी जागृति आ गयी - नया वेदन आ गया - ऐसी धर्मी की अपूर्व दशा है।

पहले जब ऐसे शुद्धद्रव्य की खबर नहीं थी, उस समय पर्याय उस ओर नहीं ढलती थी और न उस पर्याय में आत्मा व्याप्त होता था। अब शुद्धद्रव्य का निर्णय करके पर्याय उस ओर ढल गयी और उस पर्याय में भगवान आत्मा व्याप्त हुआ - भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई; आत्मा कैसा है, उसकी सच्ची खबर हुई। वह जीव अब भगवान के मार्ग में सम्मिलित हुआ - ऐसा भगवान का मार्ग है।

क्रमबद्धपर्याय का निर्णय अथवा सर्वज्ञ का निर्णय भी ऐसे शुद्धद्रव्य के निर्णय से ही होता है। यद्यपि पर्याय तो पहले भी क्रमबद्ध ही होती थी, किन्तु अज्ञानदशा में उसका निर्णय नहीं था। शुद्धद्रव्य के निर्णयपूर्वक क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति यथार्थ हुई और उसे शुद्धता का क्रम भी प्रारम्भ हो गया। शुद्धद्रव्य की ओर ढलकर जहाँ क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करे, वहाँ अकेली अशुद्धता का क्रम रहे - ऐसा नहीं हो सकता। इस प्रकार शुद्धद्रव्य का निर्णय, स्व-सन्मुखदृष्टि, सर्वज्ञ का निर्णय, क्रमबद्धपर्याय का निर्णय, शुद्धपर्याय के क्रम का प्रारम्भ, अपूर्व पुरुषार्थ - यह सब एक साथ ही हैं।

'मेरी पर्यायों में अन्य कोई नहीं, किन्तु मेरा शुद्ध आत्मा ही व्याप्त होनेवाला है' - अहो! इस निर्णय में तो सम्पूर्ण दृष्टि का परिवर्तन है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव अब कहीं भी पराश्रयबुद्धि में न रुककर, एक स्वद्रव्य का ही अवलम्बन करके शुद्धपर्यायोंरूप से परिणमित होता रहता है। मेरी जो-जो पर्याय प्रगट होती है, वह मेरे आत्मद्रव्य में से ही प्रगट होती है - ऐसा उसे सम्यक्-विश्वास हो जाने से पर्याय-पर्याय में उसको आत्मद्रव्य का ही अवलम्बन वर्तता है और आत्मा का स्वभाव शुद्ध होने से, उसके अवलम्बन द्वारा परिणमित होनेवाली पर्याय भी शुद्ध ही होती है। धर्मी को सर्व पर्यायों में आत्मा का ही अवलम्बन है। नियमसार में कहा है-

मुझ ज्ञान में आत्मा अरे, दर्शन चरित में आत्मा,
पचखाण में आत्मा ही, संवर योग में भी आत्मा ॥१००॥

धर्मी जानता है कि वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में तथा चारित्र में आत्मा है। मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में तथा योग में (शुद्धोपयोग में) आत्मा है; यह सब पर्यायों की बात है। धर्मी की समस्त पर्यायें एक शुद्ध आत्मा को ही उपादेय करके परिणमित होती हैं; उसकी पर्याय में अन्य कुछ उपादेय नहीं है। चौथे गुणस्थानवाले धर्मी को भी ऐसी ही दृष्टि होती है। ऐसी दशा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर्यायें एक के बाद एक क्रमबद्ध होती हैं और उनमें तेरा शुद्धद्रव्य व्याप्त होता है – ऐसा जिसने निर्णय किया, उसके श्रद्धा-ज्ञान की परोन्मुखवृत्ति दूर होकर स्वोन्मुखवृत्ति हो गयी और उसकी पर्याय के क्रम में निर्मलता प्रारम्भ हुई! यदि ऐसा न हो – रुचि न बदले और मात्र पर के ओर की सावधानी रहे और कहे कि – 'पर्यायें तो क्रमबद्ध होती रहती हैं' तो वह मात्र पर की ओट में क्रमबद्धपर्याय की बातें करता है, वास्तव में उसे क्रमबद्धपर्याय के स्वरूप का निर्णय नहीं हुआ है; यदि सच्चा निर्णय हो तो रुचि अवश्य बदल जाए।

अहो! आचार्यदेव ने प्रत्येक शक्ति के वर्णन में त्रिकाली स्वभाव और उसका शुद्धपरिणमन – ये दोनों साथ ही साथ बतलाये हैं। पर्याय में शुद्धशक्ति का स्वीकार होने पर, पर्याय भी उसी में एकाकार हो गयी, अर्थात् वह भी शुद्ध हुई। इस प्रकार अपूर्वभाव से आत्मा का स्वीकार होने पर, अपूर्व धर्म हुआ। सर्वज्ञ भगवान ने जैसा कहा, वैसा ही उसने किया; इसलिए उसी ने वास्तव में सर्वज्ञ को माना है और उसने देव और शास्त्र को भी यथार्थरूप से माना है। भगवान ने जिस मार्ग से मुक्ति प्राप्त की, उस मार्ग से वह सम्मिलित हुआ; वह सर्वज्ञ का नन्दन हुआ, साधक हुआ, उसके भव का सन्देह दूर हो गया और वह मोक्षमार्ग में लग गया। ऐसी दशा के बिना, देव-शास्त्र-गुरु का, क्रमबद्धपर्याय का, द्रव्य का, गुण का तथा अन्य किसी भी विषय का निर्णय सच्चा नहीं होता और यथार्थरूप से भव की शङ्का दूर नहीं होती। धर्मी को तो शुद्धद्रव्य का स्वीकार हुआ है और परिणति उस ओर ढल गयी है। इसलिए प्रति क्षण मुक्ति की ओर ही परिणमन चल रहा है, वह मुक्तिपुरी का प्रवासी हुआ है। इसलिए 'अब मुझे अनन्त संसार होगा' – ऐसी शङ्का

उसे नहीं होती। उसे स्वभाव के बल से ऐसी नि:शङ्कता है कि अब अल्प काल में ही मेरी मुक्तदशा विकसित हो जाएगी। आत्मा का चैतन्यस्वभाव आनन्दमय है, उस स्वभाव में भव नहीं हैं, शङ्का नहीं है, भय नहीं है, विकार नहीं है—ऐसे स्वभाव का निर्णय करके जहाँ उसके सन्मुख परिणमन हुआ, वहाँ भव नहीं रहता, शङ्का नहीं रहती, भय नहीं रहता और न विकार रहता है; इसलिए धर्मी नि:शङ्क है, निर्भय है, विकार तथा भव का नाशक है और शुद्धता का उत्पादक है; वह अल्प काल में पूर्ण विकार का नाश और शुद्धता की उत्पत्ति करके मुक्ति को प्राप्त होता है।

एक आत्मद्रव्य में अनेक पर्यायमय होने की शक्ति है। द्रव्य अपनी अनेक पर्यायों में व्याप्त हो – ऐसी उसकी अनेकत्वशक्ति है; इसलिए पर के कारण पर्याय हो, यह बात नहीं रहती। जो व्याप्त हो, वह कर्ता। पर्याय में द्रव्य ही व्याप्त होता है; इसलिए द्रव्य ही अपनी पर्याय का कर्ता है। अनेक पर्यायों में व्याप्त होनेरूप अपनी शक्ति को पहचाने तो 'मेरी पर्याय का कारण, पर होगा' – ऐसी मान्यता न रहे, किन्तु द्रव्य का आश्रय करके निर्मलपर्याय हो। अनेक पर्यायें होने पर भी, मेरी समस्त पर्यायें मेरे एक आत्मा से ही व्याप्त हैं; अन्य किसी से व्याप्त नहीं हैं, ऐसा निर्णय करके, हे जीव! पर्याय को अपने द्रव्य की ओर उन्मुख कर।

पर्याय का ऐसा स्वभाव है कि वह द्रव्य से व्यपित हो और द्रव्य का ऐसा स्वभाव है कि वह पर्यायों में व्याप्त हो। इस प्रकार ज्ञानपर्याय भी अपने द्रव्य से व्याप्त हो—ऐसा उसका स्वरूप है, तथापि वह ज्ञानपर्याय अपने में व्यापक—ऐसे आत्मस्वभाव को न देखकर, अकेले परज्ञेयों को ही देखे तो वह अज्ञान है; उसे वास्तव में आत्मा की पर्याय नहीं कहते, उसमें आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है।

ज्ञानपर्याय किसकी है? – कहते हैं आत्मद्रव्य की। उस ज्ञानपर्याय को आत्मद्रव्योन्मुख होकर उसका निर्णय करना चाहिए। वह न करके परोन्मुख होकर पराश्रय से हित मानता है, वह रागादि ही में हूँ – ऐसा मानता है तो उस ज्ञान ने अपना ज्ञानरूप कार्य नहीं किया; इसलिए वह ज्ञान मिथ्या हुआ। अपनी पर्याय को अपने आत्मा से व्याप्त न करके राग से ही व्याप्त की, तो उसे सचमुच आत्मा की पर्याय नहीं कहते। आत्मा की पर्याय तो उसे कहते हैं, जिसमें आत्मा की व्याप्ति हो; आत्मा की प्रसिद्धि हो।

जब तक ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वद्रव्य का निर्णय न करे, तब तक पर का भी सच्चा निर्णय करने की शक्ति उस ज्ञान में नहीं होती; इसलिए ऐसे ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते, वह तो अज्ञान है। यहाँ स्वभावदृष्टि से वर्णन है। द्रव्य में ऐसा कोई भी गुण नहीं है कि रागादि विकाररूप आत्मा हो सके, पर्याय में विकारी होने की योग्यता है, वह ज्ञेय है, हेय है, गौण है; ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है।

मेरी निर्मलपर्याय में मेरा अखण्डद्रव्य व्यापक है – ऐसा निर्णय करने के बाद जो जो पर्यायें होती हैं, वे सर्व पर्यायें त्रिकाली द्रव्य को साथ ही रखकर होती है, अर्थात् प्रत्येक पर्याय में त्रिकाली द्रव्य का अवलम्बन वर्तता है और त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि शुद्धपर्यायें होती जाती हैं। त्रिकाली तत्त्व के स्वीकार बिना – आश्रय बिना, पर्याय की निर्मलता नहीं होती, सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना, निमित्त या व्यवहार का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

यहाँ ३२वीं शक्ति में बतलाना तो है अनेकता, किन्तु उसके साथ 'एक द्रव्य से व्याप्त...' ऐसा कहकर, द्रव्यदृष्टि भी साथ ही रखी है। आचार्यदेव की शैली अत्यन्त गम्भीरतापूर्ण अद्भुत है। अनेक पर्यायें होने पर भी, द्रव्य की एकता का अवलम्बन कभी नहीं छूटता; इसलिए निरन्तर निर्मल-निर्मल पर्यायें ही होती रहती हैं। इस प्रकार साधक की भूमिका से बात कही है। साधक की श्रद्धा 'एक स्वद्रव्य' की ओर ढली है; उसका ज्ञान 'एक स्वद्रव्य' की ओर ढला है; उसकी एकाग्रता भी 'एक स्वद्रव्य' की ओर ही है। इस प्रकार 'एक स्वद्रव्य' का अवलम्बन लेकर ही (निज शुद्ध आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर ही) साधकदशा वर्त रही है। उसी के अवलम्बन से शुद्धता बढ़ते-बढ़ते पूर्ण शुद्धतारूप सिद्धदशा हो जाएगी।

मेरी समस्त पर्यायें, मेरे एक द्रव्य से ही व्याप्त हैं – ऐसा निर्णय करनेवाले ने किसकी ओर देखकर यह निर्णय किया? क्या पर की या विकार की, अथवा मात्र पर्याय की ओर देखकर यह निर्णय किया है? नहीं; उनकी ओर देखने से यह निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु पर्याय को शुद्ध एकरूप द्रव्य की ओर उन्मुख करके निर्णय किया है कि – अहो! मेरी पर्यायों में तो ऐसा आत्मद्रव्य ही व्याप्त है; पर में या विकार में व्याप्त हो –

ऐसा ही मेरे आत्मद्रव्य का स्वरूप नहीं है किन्तु निर्मलपर्यायों में व्याप्त हो – ऐसा ही मेरे आत्मद्रव्य का सच्चा स्वरूप है। मेरा आत्मा, पर में और राग में विद्यमान नहीं है; मेरा आत्मा तो उपयोग में विद्यमान है। अशुद्धपर्याय में शुद्धद्रव्य कैसे व्याप्त होगा ? अशुद्धता के साथ शुद्धद्रव्य की एकता नहीं हो सकती; इसलिए राग में आत्मा नहीं आता। आत्मा की ओर ढलने में राग काम नहीं आता; राग का अभाव करके अन्तर्मुख उपयोग होने पर उसमें आत्मा आता है, आत्मा का अनुभव होता है।

इस प्रकार इस एकत्वशक्ति अथवा अनेकत्वशक्ति द्वारा आत्मा का निर्णय करने पर, पर्याय स्वोन्मुख ही हो जाती है और शक्तियों का शुद्धपरिणमन होकर, एक आत्मा अपनी अनेक निर्मलपर्यायों में व्याप्त होता है। अज्ञानदशा में पर्याय में मात्र विकार व्याप्त होता था, वह अशुद्धपरिणमन था और अब स्वाश्रय से शुद्धपरिणमन होने से पर्याय से सम्पूर्ण भगवान आत्मा स्वयं व्याप्त हुआ है – ऐसा अनेकान्त मूर्ति आत्मा की पहचान का फल है।

[–यहाँ ३१–३२ वीं एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[३३-३४]

भावशक्ति और अभावशक्ति

भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः।

विद्यमानअवस्थायुक्तारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो, उसरूप भावशक्ति)।

शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः।

शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्तारूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिमसें अविद्यमान हो, उसरूप अभावशक्ति)।

चक्रवर्ती के भी चक्रवर्ती - ऐसे इस चैतन्यभगवान के भण्डार में सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, केवलज्ञान-सिद्धदशा आदि निर्मल रत्नों की माला गूँथी पड़ी है। भण्डार खोलकर उसे बाहर निकालने की रीति यहाँ आचार्य भगवान ने बतलायी है। अरे जीव! अन्तर्मुख होकर एक बार अपने चैतन्य भण्डार को खोल! तेरी चैतन्यशक्ति ऐसी है कि उसे खोलने पर उसमें से निर्मलपर्यायें निकलेंगी; विकार नहीं निकलेगा।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें जीवत्वशक्ति से प्रारम्भ करके अनेकत्वशक्ति तक की ३२ शक्तियों का वर्णन हो चुका है। अब 'भाव' और 'अभाव' आदि संयुक्तरूप से छह शक्तियों का वर्णन करते हैं।

(३३-३४) भावशक्ति और अभावशक्ति; (३५-३६) भाव-अभावशक्ति और अभाव-भावशक्ति; (३७-३८) भाव-भावशक्ति और अभाव-अभावशक्ति।

उनमें से प्रथम भावशक्ति तथा अभावशक्ति का वर्णन चलता है। 'ज्ञानस्वरूप आत्मा में विद्यमान अवस्थामयपनेरूप भावशक्ति है तथा शून्य-अविद्यमान अवस्थामयपनेरूप अभावशक्ति है।' आत्मा, त्रिकाल-स्थायी वस्तु है और उसमें कोई न कोई अवस्था वर्तमान वर्तती ही है। अपनी ऐसी ही शक्ति है कि प्रति समय कोई अवस्था विद्यमान होती ही है।

इसलिए दूसरे के कारण अवस्था होती है – यह बात नहीं रहती और वर्तमान में जो अवस्था विद्यमानरूप से वर्तती हो, उसके अतिरिक्त अन्य सर्व अवस्थाएँ अविद्यमानरूप हैं – ऐसी अभावशक्ति है। यदि वर्तमान अवस्था विद्यमान न हो तो वस्तु ही न हो और यदि पूर्व-पश्चात की अवस्थाओं का वर्तमान में अभाव न हो तो पूर्व का अज्ञान कभी (ज्ञानदशा में भी) दूर नहीं होगा तथा साधकपने में ही भविष्य की केवलज्ञानदशा हो जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमानरूप से एक अवस्था वर्तती है, वह भावशक्ति का कार्य है और उस अवस्था में दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं – वह अभावशक्ति का कार्य है। देखो, इसमें पर्यायबुद्धि उड़ जाती है क्योंकि प्रत्येक पर्याय में सम्पूर्ण द्रव्य साथ ही साथ वर्तता है किन्तु एक पर्याय में, दूसरी पर्याय नहीं वर्तती और ऐसी दृष्टि से जहाँ आत्मा निर्मलभावरूप परिणमित हुआ, वहाँ उस निर्मलभाव में विकार का अभाव है। पर्याय में विकार का विद्यमानपना ही भासित हो, विकार का अभाव भासित न हो तो उसने सचमुच आत्मा की भाव-अभावशक्ति को नहीं जाना है।

आत्मा है, किन्तु उसकी कोई पर्याय नहीं है – ऐसा माने, अथवा पर के कारण पर्याय का होना माने या पर्याय में आत्मा दिखलायी नहीं देता – ऐसा माने तो उस जीव ने सचमुच भावशक्तिवाले आत्मा को नहीं जाना है।

हे भाई! पूर्व की पर्यायों का वर्तमान में अभाव है; भविष्य की पर्यायें भी वर्तमान में अविद्यमान हैं – ऐसी तेरी अभावशक्ति है; इसलिए पूर्व की पर्यायों को न देख, भविष्य की पर्यायों को न देख, वर्तमान पर्याय, को वर्तमान वर्तते हुए द्रव्य के साथ युक्त कर, तो उस पर्याय में निर्मलता का भाव और मलिनता का अभाव है। यहाँ भावशक्ति के परिणमन में निर्मलदशा का विद्यमानपना लेना है क्योंकि जिसने ऐसी शक्तिवाले आत्मा को लक्ष्य में लिया, उसे वर्तमान पर्याय निर्मलरूप से वर्तती है।

अहो! त्रिकाल जब देखो तब, द्रव्य की अवस्था स्वयं से ही विद्यमानरूप वर्तती है, और उस-उस समय की अवस्था के अतिरिक्त अन्य आगे-पीछे की समस्त अवस्थाएँ अविद्यमान ही हैं। वर्तमान पर्याय का वर्तनपना, वह 'भाव' और दूसरी पर्याय का अवर्तनपना, वह 'अभाव' – ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में एक साथ वर्तती हैं।

द्रव्य, वह सामान्य है और पर्याय, वह उसका विशेष है। विशेषरहित अकेला सामान्य नहीं हो सकता। यदि आत्मा की अवस्था अपने से न हो तो सामान्यद्रव्य, विशेष -रहित हो जाएगा; इसलिए आत्मा का अभाव ही हो जाएगा। जड़ में भी ऐसा स्वभाव है; इसलिए जड़ की अवस्था का विद्यमानपना भी उसके अपने से ही है।

भावशक्तिवाला भगवान आत्मा जब देखो तब, वर्तमान विद्यमान अवस्थावाला ही वर्त रहा है। - कैसी अवस्था? कहते हैं निर्मल अवस्था। अकेली मलिन अवस्था वर्ते, उसे सचमुच आत्मा की अवस्था नहीं कहते, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा का स्वीकार नहीं है।

द्रव्य-गुण, त्रिकाल सत् है और उनकी प्रवर्तमान अवस्था, वह वर्तमान सत् है। इस प्रकार द्रव्य-गुण और उनकी प्रवर्तमान अवस्था से आत्मा भावरूप है तथा दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं; इसलिए वे अभावरूप हैं। भूतकाल की अज्ञानदशा अथवा भविष्य की सिद्धदशा-उनका वर्तमान साधकदशा में अभाव है। अज्ञानदशा भूतकाल में थी, सिद्धदशा भविष्य में होनेवाली है, तथापि वर्तमान में उन दोनों का अभाव है, ऐसी अभावशक्ति आत्मा में है।

आत्मा की अवस्था में पर का तो अभाव है और उसकी वर्तमान अवस्था में दूसरी अवस्था का भी अभाव है। अज्ञानी तो पुकार करता है कि अरे! आत्मा में कर्म का बहुत जोर है। उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! तेरी पर्याय में कर्म का तो अभाव है, तो वह तेरा क्या करेगा? अपने में अपनी पर्याय के भाव को और कर्म के अभाव को देख! कर्म का तेरी पर्याय में भाव है या अभाव? तेरी पर्याय में तो उसका अभाव है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व की पर्याय का भी वर्तमान में अभाव है; इसलिए 'अरे रे! पूर्व काल में बहुत अपराध किए; अब आत्मा का विचार कैसे होगा?' - ऐसी हताश बुद्धि छोड़ और अपनी वर्तमान पर्याय को स्वभावोन्मुख कर, तो उसमें कहीं पूर्व के दोष नहीं आते। अज्ञानी को भी अपनी वर्तमान विपरीतता से ही मलिनता है, कहीं पूर्व की मलिनता उसे वर्तमान में नहीं आती, पूर्व की पर्याय का तो अभाव हो गया है। अहो! प्रति समय वर्तती हुई वर्तमान पर्याय का 'भाव' और उसमें दूसरी पर्यायों का 'अभाव' - उसमें तो प्रत्येक पर्याय की स्वतन्त्रता बतलायी है।

वस्तु हो और उसका अपना कोई आकार-प्रकार विद्यमान न हो - ऐसा नहीं हो सकता (यहाँ आकार, वह व्यञ्जनपर्याय है और गुण का विकार-प्रकार, वह अर्थपर्याय है।) जिस प्रकार सुवर्ण है तो उसका कोई न कोई आकार तथा पीलापन आदि प्रकार अपने आकार होता ही है; उसी प्रकार आत्मवस्तु में भी प्रकाररूपभाव वर्तते ही हैं। निमित्त आये तो पर्याय हो - ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने आत्मा की भावशक्ति को नहीं माना है।

कोई कहे कि आत्मा और उसकी अवस्था अपने से विद्यमान है - ऐसा तो हम स्वीकार करते हैं किन्तु हमारी पर्याय में मिथ्यात्व ही वर्तता है, तो आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! आत्मा के भाव अपने से ही हैं - ऐसा तूने किसकी ओर देखकर स्वीकार किया? यदि तूने आत्मा की ओर देखकर स्वीकार किया हो तो पर्याय में मिथ्यात्व रह ही नहीं सकता; और यदि पर की ओर देखकर ही तू कहता हो कि - 'आत्मा के भाव अपने से है' तो इस प्रकार पर की ओर देखकर आत्मा के स्वभाव का सच्चा स्वीकार हो ही नहीं सकता। यदि आत्मा के स्वभाव को स्वीकार करे तो उस स्वभाव का अनुसरण करके निर्मल अवस्था का विद्यमानपना होना चाहिए। यदि पर्याय अकेले पर का ही अनुसरण करे तो उसने स्वभाव को किस प्रकार स्वीकार किया? इसलिए यदि निर्मल अवस्था का विद्यमानपना न हो, तो उसने विद्यमान अवस्थावाले आत्मस्वभाव को प्रतीति में लिया ही नहीं है।

जिस प्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना, सचमुच क्रमबद्धपर्याय की या सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं हो सकती; उसी प्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना, उसकी किसी भी शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती, अखण्ड स्वभाव की सन्मुखता से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, वृद्धि होती है, और स्थिरपना होता है।

भावशक्ति आदि शक्तियाँ तो समस्त आत्माओं में त्रिकाल हैं किन्तु उनके निर्मल-परिणमन बिना वे किस काम की? अखण्ड शक्ति की ओर उन्मुख होकर जिसने उसे निर्मलरूप परिणमित न किया, उसे तो वह अभावसमान ही हैं क्योंकि उसके वेदन में वह नहीं आतीं। जिस प्रकार मेरुपर्वत के नीचे शाश्वत सुवर्ण है किन्तु वह किस काम का? (वह निकलकर कभी उपयोग में नहीं आता); उसी प्रकार सर्व आत्माओं में सर्वज्ञत्वादि

शक्तियाँ होने पर भी, जब तक वे निर्मलपरिणमन में न आये, तब तक तो वे अज्ञानी को मेरु के नीचे भरे हुए सुवर्ण के समान है। स्वयं अपनी शक्ति के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता; इसलिए उसे तो वह अभावसमान ही है। अपनी स्वभावशक्ति का स्वीकार करने से पर्याय में उसका निर्मलपरिणमन होता है, उसकी यह बात है। मात्र विकार की रुचिवाला, आत्मा की स्वभावशक्ति की प्रतीति नहीं कर सकता और जो स्वभावशक्ति की प्रतीति करता है, उसे पर्याय में मात्र विकार ही नहीं रहता, उसे निर्मलता वर्तती है और उसमें विकार का अभाव होता है। स्वभावोन्मुख होने पर निर्मलपर्याय हुई, उसमें से विकार की दूर नहीं करना पड़ता, किन्तु उस पर्याय में विकार का अभाव ही वर्तता है। देखो, यह विकार का अभाव करने की रीति! कौन-सी रीति? कि जो पर्याय, शुद्धस्वभाव के साथ एकता करके निर्मलरूप परिणमित हुई है, वह पर्याय स्वयं ही विकार के अभावरूप है। निर्मलपर्याय का 'भाव' और उसमें विकार का 'अभाव'—ऐसी आत्मा की भावशक्ति तथा अभावशक्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्मा के परिणमन में ऐसी शक्तियाँ परिणमित हो ही रही हैं – ऐसा बतलाकर यहाँ शुद्ध आत्मा का लक्ष्य कराना है।

● जिसे विकार की रुचि है, उसकी रुचि में 'स्वभाव का अभाव' है; इसलिए उसे अभावशक्ति का विपरीतपरिणमन है।

● जिसे स्वभाव की रुचि है, उसकी रुचि में 'विकार का अभाव', इसलिए उसे अभावशक्ति का निर्मलपरिणमन है।

● जिसे स्वभाव की रुचि है, उसकी पर्याय में निर्मलता का विद्यमानपना है; इसलिए उसे भावशक्ति का निर्मलपरिणमन वर्तता है;

देखो, इसमें द्रव्य के साथ पर्याय की सन्धि की अलौकिक बात है। जिस प्रकार करोड़ रुपये की पूँजीवाले को मोहवश तत्सम्बन्धी ऊष्मा रहती है; उसी प्रकार यहाँ अनन्त शक्तिवान शुद्ध आत्मा को स्वीकार करे और पर्याय में उसकी ऊष्मा न आये, ऐसा हो ही नहीं सकता। जिस पर्याय ने अन्तरोन्मुख होकर चिदानन्द से भरपूर भगवान को स्वीकार किया, उस पर्याय में निर्मलता प्रगट होकर ऐसी अपूर्व ऊष्मा आ गयी है कि बस! मैं तो ऐसे शुद्धस्वरूप ही हूँ; विकारस्वरूप मैं नहीं हूँ – ऐसी ऊष्मा के बल से उसे निर्मलता

बढ़ती जाती है और विकार दूर होता जाता है, इसका नाम धर्म और आराधकदशा है। जिसे ऐसी ऊष्मा (नि:शङ्कता) नहीं है, उसे धर्म का अंश भी नहीं है।

मेरी वर्तमान पर्याय की विद्यमानता, मेरे स्वभाव से ही है; बस, ऐसा निर्णय किया उसने पराश्रयबुद्धि को उड़ा दिया तथा पूर्व-पश्चात् की पर्याय का वादा भी उड़ा दिया और हाजिर ऐसे अपने शुद्धस्वभाव के साथ पर्याय की सन्धि की - वह धर्म का सच्चा व्यापारी है। ऐसे आत्मा का निर्णय न करे और 'हमारे भगवान ने तथा हमारे गुरु ने कहा, वह सच्चा है किन्तु हमें आत्मा की पहचान नहीं होती' - ऐसा कहे तो उसने सचमुच भगवान का या गुरु का भी निर्णय नहीं किया, क्योंकि भगवान ने और गुरु ने क्या कहा, उसे समझे बिना उनकी पहचान कहाँ से की ? इसलिए स्वाश्रय से वस्तुस्वरूप का निर्णय किये बिना, धर्म के पन्थ में एक डग भी नहीं चल सकता।

निर्मलपर्याय के बिना, द्रव्य का स्वीकार नहीं होता - इसमें तो महान रहस्य है। त्रैकालिक स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय, उसके साथ तद्रूप हो जाती है; इसलिए वह पर्याय निर्मल है। स्वभावोन्मुख निर्मलअवस्था के बिना, यथार्थरूप से स्वभाव का स्वीकार नहीं होता। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसका स्वीकार करने से वह स्वयं निर्मलदशारूप परिणमित हो जाता है। यदि स्वभाव परिणमित होकर अवस्था में कुछ न आए तो उस अवस्था ने स्वभाव का स्वीकार किया ही नहीं। अकेले द्रव्य की शुद्धता कहे और पर्याय की शुद्धता किञ्चित् भासित न हो तो वह पर्याय, शुद्धद्रव्य की ओर ढली ही नहीं है; इसलिए शुद्धद्रव्य का भी सचमुच स्वीकार नहीं किया है। आत्मा के शुद्धस्वभाव का स्वीकार करने से वह स्वभाव उल्लसित होकर पर्याय में आता है, अर्थात् पर्याय भी स्वभाव में अभेद होकर, शुद्धरूप परिणमित होती है।

वस्तु में कोई न कोई एक अवस्था तो विद्यमान होती ही है - ऐसा तो सामान्यत: अनेक लोग कहते हैं किन्तु यहाँ तो उसके अतिरिक्त विशेष बात यह है कि - 'मेरी अवस्था मुझसे ही विद्यमान हैं - ऐसा स्वभाव जिसने स्वीकार किया, उसे निर्मल अवस्था का ही विद्यमानपना है। स्वभाव की प्रतीति के बिना, अज्ञानी को अनादि से विकार ही विद्यमान है; स्वभाव का विद्यमानपना उसे भासित नहीं होता। जहाँ निर्मलस्वभाव की

विद्यमानता भासित हुई, वहाँ उस स्वभाव के आश्रय से हुई विद्यमान पर्याय भी निर्मल हो जाती हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वभाव का ही अभाव हो जाए। ऐसे अपने स्वभाव को समझने का अभ्यास करना भी धर्म का प्रयत्न है।

यदि अन्तर में प्रेम करे, तब तो चैतन्यप्रभु निकट ही विराजमान है। अन्तर की प्रीति के अभाव से चैतन्यप्रभु दूर भासित होता है, किन्तु यदि गुरुगम से चैतन्य का स्वरूप लक्ष्य में लेकर उसमें प्रीति लगाये तो प्रभु निकट ही है; स्वयं ही चिदानन्द प्रभु है। जैसी प्रीति पर में है, वैसी ही प्रीति यदि आत्मा में करे तो आत्मा का अनुभव हुए बिना न रहे।

अशुद्धता की दृष्टि में आत्मा की विद्यमानता दिखायी नहीं देती; यदि स्वभाव को देखे तो पर्याय में अन्तर पड़े बिना न रहे। जिस प्रकार पैसे की प्रीतिवाला पच्चीस लाख रुपये कमा ले और उसकी रुचि में अन्तर न पड़े – ऐसा नहीं हो सकता। उसी प्रकार चैतन्य के लक्ष्य से अन्तरस्वभाव का लाभ होने पर, पर्याय की रुचि में अन्तर न पड़े – ऐसा नहीं होता, अर्थात् पर्याय में स्वभाव की नि:शङ्कता तथा उस ओर का उल्लास आए बिना नहीं रहता। यदि निर्मल अवस्था न हो तो वहाँ वस्तु ही विद्यमान नहीं है, अर्थात् अज्ञानी को वस्तुस्वभाव का निर्णय या नि:शङ्कता नहीं है। चैतन्यस्वभाव में उतरकर जहाँ उसका निर्णय किया, वहाँ उस समय की विद्यमान पर्याय निर्मल हुई। निर्मलपर्याय की विद्यमानता के बिना स्वभाव का निर्णय किसने किया? कहीं मलिनता में ऐसी शक्ति नहीं है कि स्वभाव का निर्णय कर सके। देह सो मैं, राग का वेदन सो मैं, ऐसा स्वीकार करनेवाली पर्याय में स्वभाव का स्वीकार नहीं है; इसलिए वह पर्याय स्वयं स्वभावोन्मुख नहीं है। जहाँ स्वभावोन्मुख होनेवाली निर्मलपर्याय विद्यमान न हो, वहाँ शुद्धस्वभाव के अस्तित्व का निर्णय भी नहीं होता। इस प्रकार शुद्धस्वभाव के अस्तित्व का निर्णय और शुद्धपर्यायरूप परिणमन – यह दोनों एक साथ ही हैं और इस प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा विद्यमान अवस्थावाला है।

'विद्यमान अवस्थावाला है।' कौन? कहते हैं – ज्ञानस्वभावी आत्मा। इस प्रकार विद्यमान अवस्थामयपने का निर्णय करनेवाले की दृष्टि ज्ञानस्वभावी आत्मा पर जाती है और उस स्वभाव की दृष्टि से उसकी विद्यमान अवस्था, निर्मल हो वर्तती है। आत्मा के

अस्तित्व का निर्णय करे और उसमें निर्मलपर्याय न आये – ऐसा नहीं होता। शुद्धद्रव्य और शुद्धपर्याय – दोनों मिलकर अभेदरूप से आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा की पर्याय का विद्यमानपना, निमित्त के कारण तो नहीं है; पूर्व अवस्था के कारण भी वर्तमान पर्याय का विद्यमानपना नहीं है तथा एक समय में जो विकार है, उसके कारण भी निर्मलता का विद्यमानपना नहीं है किन्तु चैतन्यद्रव्य में एक भावशक्ति है; इसलिए उसी के आधार से निर्मलपर्याय की विद्यमानता है। आत्मा की सम्यग्दर्शन–ज्ञान –चारित्ररूप पर्याय की विद्यमानता किसी पर के आधार से है – ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा की अपनी भावशक्ति से उस अवस्था का विद्यमानपना है। आत्मा का जो त्रिकाल स्थायी भाव, वह ध्रुव उपादान है और अवस्था की विद्यमानता वह क्षणिक उपादान है।

छट्ठे–सातवें गुणस्थान में मुनिदशा विद्यमान वर्तती है। वह मुनिदशा क्या शरीर की दिगम्बरदशा के आश्रित है ? कहते हैं–नहीं; पञ्च महाव्रत के विकल्प के आश्रित है ? – कहते हैं – नहीं; पूर्व पर्याय के आश्रित है ? – कहते हैं नहीं; गुणभेद के आश्रित है ? – कहते हैं नहीं; वह मुनिदशा तो अनन्त शक्तिस्वरूप अभेद आत्मा के आश्रित ही विद्यमान वर्तती है। इस प्रकार अभेद आत्मा के सन्मुख देखकर ही सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रादि निर्मलपर्याय की विद्यामानता का निर्णय होता है और तभी ज्ञानी की, मुनि की या सर्वज्ञ की सच्ची पहचान होती है।

आत्मा, स्वयं निर्मलपर्यायरूप विद्यमान वर्ते – ऐसी उसकी भावशक्ति है किन्तु उस भावशक्ति का कार्य ऐसा नहीं है कि विकार को अपने में प्रवर्तमान करे। विकार तो विपरीतपरिणमन है, उसे शक्ति का कार्य नहीं कहा जा सकता। कारण जैसा कार्य होता है, अर्थात् निर्मलकार्य हो, उसी को शक्ति का कार्य कहा जाता है। आत्मा की एक भी शक्ति ऐसी नहीं है, जो विकार का कारण हो; इसलिए विकार सचमुच आत्मा की शक्ति का परिणमन नहीं है। इसलिए जिसकी दृष्टि मात्र विकार पर है, उसके परिणमन में आत्मा का स्वभाव आया ही नहीं है। यदि आत्मा के स्वभाव को दृष्टि में ले तो आत्मा स्वयं निर्मल –पर्यायरूप परिणमित हो जाए – ऐसा ही उसका स्वभाव है। निर्मलतारूप परिणमित हो जाए और विकार का अपने में अभाव रखे, ऐसी आत्मा की अचिन्त्यशक्ति है। अहो ! जीव को कभी अपने मूलस्वभाव की महिमा नहीं आयी।

सम्यग्दर्शन, वह श्रद्धागुण की पर्याय है। उस पर्याय को यदि पर के या विकल्प के कारण माने तो उस समय श्रद्धागुण की पर्याय विद्यमान न रही। इसलिए वहाँ सचमुच सम्यग्दर्शन ही नहीं रहा; मिथ्यात्व हो गया और मिथ्यात्व को वास्तव में श्रद्धागुण की पर्याय नहीं मानते।

स्वद्रव्य का आश्रय करके और परद्रव्य का आश्रय छोड़कर, निर्मलपर्याय के भावरूप और विकार के अभावरूप परिणमित हो – ऐसा आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है और वही धर्म है।

स्व का आश्रय छोड़कर, पर के आश्रय से ही जो मात्र विभावरूप परिणमित होता है और विभाव के अभावरूप परिणमित नहीं होता, उसे स्व-पर की एकताबुद्धिरूप एकान्त है – मिथ्यात्व है।

अज्ञानी कहता है कि आत्मा में कर्मों का जोर है, किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में अभावशक्ति का इतना जोर है कि कर्म को अपने में आने ही नहीं देता। भावशक्ति के कारण वर्तमान निर्मलपर्याय वर्तती है और उसी समय अभावशक्ति के कारण उस पर्याय में कर्मों का-विकार का तथा पूर्व-पश्चात की पर्यायों का अभाव वर्तता है।

यदि भावशक्ति न हा तो निर्मलपर्यायरूप भवन-परिणमन नहीं हो सकता और यदि अभावशक्ति न हो तो पूर्व की विकारीपर्याय के अभावरूप परिणमन नहीं हो सकता; इसलिए वे दोनों शक्तियाँ आत्मा में एक साथ परिणमित होती हैं। ऐसे आत्मा की पहचान करके उसका अवलम्बन करने पर, अनुक्रम से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपरिणमन होता है और विभावपरिणाम का अभाव होता है; इसी में मोक्ष का पुरुषार्थ है।

चैतन्यस्वभावोन्मुख होते ही मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के सद्भावरूप परिणमन होता है। जो पर्याय अन्तर्मुख होकर स्वभाव सन्मुख हुई, उस पर्याय में स्वभाव का परिणमन हुए बिना नहीं रहता। स्वभाव पर दृष्टि जाने से स्वभाव की निर्मलता के भावरूप और विकार के अभावरूप जो पर्याय हुई, उस पर्याय की विद्यमानता में सम्यक्त्वी का आत्मा वर्तता है किन्तु रागादि में वह नहीं वर्तता; उसके तो अभाव में वर्तता है।

देखो, यह सम्यक्त्वी की पहचान। सम्यक्त्वी का आत्मा कहाँ रहा है ? स्वर्ग या

नरकादि के संयोग में सम्यक्त्वी का आत्मा नहीं है; राग में भी सम्यक्त्वी का आत्मा नहीं है; आत्मा के आश्रय से जो निर्मलपर्याय विद्यमान वर्तती है, उसी में सचमुच सम्यक्त्वी का आत्मा है। इसके अतिरिक्त राग से या संयोग से पहचानने जाए तो उस प्रकार सम्यक्त्वी के आत्मा की यथार्थ पहचान नहीं होती।

अहो! आत्मा का स्वभाव तो विकार के अभावरूप है; उस स्वभाव के आश्रय से तो विकार का अभाव होता जाता है; उसके बदले विकार को रखना चाहें तो उसे आत्मा के स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

- हे जीव! तेरा स्वभाव, विभाव के अभाववाला है।
- तेरा ज्ञान, अज्ञान के अभाववाला है।
- तेरी श्रद्धा, विपरीतता के अभाववाली है।
- तेरा आनन्द, आकुलता के अभाववाला है।
- तेरा चारित्र, कषाय के अभाववाला है।
- तेरी सर्वज्ञता, अल्पज्ञता और आवरण के अभाववाली है।
- तेरी स्वच्छता, मलिनता के अभाववाली है।
- तेरा जीवन, भावमरण के अभाववाला है।
- तेरा सुख, दु:ख के अभाववाला है।
- तेरी प्रभुता, दीनता (पामरता) के अभाववाली है।

– इस प्रकार तेरी समस्त शक्तियाँ, विभाव के अभाववाली हैं। ऐसे स्वभाव का स्वीकार होने से पर्याय में भी वैसा परिणमन हो जाता है; यही धर्म की रीति है। स्वभाव की शुद्धता को प्रतीति में लेकर, उसके आश्रित परिणमन करने के अतिरिक्त जगत में अन्य कोई धर्म का उपाय है ही नहीं।

पहले विकल्प होता है, उस विकल्प के कारण कहीं मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन नहीं होता, किन्तु शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन होता है। निर्मलपर्याय की एकता अपने

चैतन्यप्रभु के साथ है। अन्तर्मुख होकर श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द की जो परिणति अपने चैतन्यस्वामी के साथ एकता करे, वह चैतन्यपरिणति है और जो परिणति अपने चैतन्यपति के साथ एकता न करके, पर में और विकार में लाभ मानकर उनके साथ एकता करे, वह परिणति दुराचारिणी है, उसे चैतन्यप्रभु की परिणति नहीं कहते। वर्तमान पर्याय अन्तर्मुख होकर त्रिकाली द्रव्य के साथ एकता करे, उसका नाम अनेकान्त है, और पर के साथ एकता करे, वहाँ द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध; इसलिए द्रव्य-पर्याय की एकतारूप अनेकान्त नहीं हुआ, किन्तु एकान्त हुआ। यहाँ आचार्यदेव अनन्त शक्तिवाले आत्म-स्वभाव के साथ एकता कराके अनेकान्त कराते हैं। साधक को पर्याय में अल्प राग होने पर भी शुद्धस्वभाव के साथ एकता की दृष्टि में राग का अभाव है। प्रथम ऐसे निर्मलस्वभाव का लक्ष्य करे तो उस लक्ष्य के अनुकरण से निर्मलपरिणमन हो।

अहो! आत्मा कैसा है? कि अपनी शुद्धपर्याय की विद्यमानतासहित है। शुद्धपर्याय के बिना, द्रव्य की सिद्धि नहीं होती। यह चैतन्यद्रव्य इच्छारहित होता है, रागरहित होता है, सङ्गरहित होता है, कर्म और शरीररहित होता है, किन्तु निर्मलदशा की विद्यमानता रहित नहीं होता।

प्रश्न : अज्ञानी को आत्मा तो है, किन्तु निर्मलअवस्था नहीं है।

उत्तर : यहाँ अपने आत्मा का निर्णय करने की बात मुख्य है। अज्ञानी को अपने आत्मा के अस्तित्व का निर्णय है ही नहीं; इसलिए उसकी प्रतीति में तो द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, उसे तो राग का ही अस्तित्व है। मेरा शुद्धद्रव्य है, किन्तु निर्मलपर्याय नहीं है - ऐसा कहनेवाले को सचमुच शुद्धद्रव्य का भी निर्णय नहीं हुआ है। शुद्धद्रव्य का निर्णय हुआ हो, वहाँ शुद्धपर्याय होती ही है, ऐसी आत्मा की भावशक्ति है।

यह भावशक्ति, आत्मा का रागादि से और पर से भिन्नत्व तथा वर्तमान निर्मलपर्याय के साथ एकत्व बतलाती है और वर्तमान द्रव्य के साथ अभेद हुई निर्मलपर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्यायें तथा रागादि अविद्यमान हैं - ऐसा अभावशक्ति बतलाती है। ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में लेकर परिणमन करने में ऐसी भावशक्ति और अभावशक्ति भी निर्मलतारूप परिणमित होती है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा में एक साथ अनेक

शक्तियों का परिणमन होने से वह स्वयमेव अनेकान्तस्वरूप है। ऐसे अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्मा को पहचानना, वह अपूर्व धर्म है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है और उस स्वभाव में एकाग्र हुई निर्मलपर्याय में भी विकार का अभाव है – ऐसी अभावशक्ति है; इसलिए 'विकार का अभाव करूँ' – ऐसा नहीं रहता, क्योंकि निर्मलरूप वर्तती हुई पर्याय, स्वयं विकार के अभावस्वरूप है। जैसे कि सम्यक्त्व पर्याय हुई, वह स्वयं मिथ्यात्व के अभावस्वरूप ही है; इसलिए 'मिथ्यात्व का अभाव करूँ' – ऐसा उस पर्याय में नहीं रहता। मिथ्यात्व का अभाव करूँ – ऐसे लक्ष्य में अटके, तब तक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से जहाँ सम्यक्त्व परिणमित हुआ, वहाँ मिथ्यात्व का अभाव वर्तता ही है। इस प्रकार निर्मलता के भाव में विकार का अभाव ही है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। इस प्रकार न्यायपूर्वक आत्मा के शुद्धस्वभाव का निर्णय करके, अन्तर अनुभव से उसकी प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन के अभिप्राय में शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त परभाव का त्याग वर्तता ही है।

जिस प्रकार मोची का थैला खोलने से उसमें से तो चमड़े के दुर्गन्धित टुकड़े निकलते हैं किन्तु चक्रवर्ती का करण्ड खोलने से उसमें से तो रत्नमणि के हार निकलते हैं; उसी प्रकार यह शरीर तो दुर्गन्धित चमड़े जैसा है, उसकी क्रिया में से कहीं सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते; शरीर के लक्ष्य से तो राग-द्वेष के मलिनभाव होते हैं और चैतन्य चक्रवर्ती भगवान आत्मा की शक्ति का करण्ड खोलने से, उसमें से निर्मलपर्याय की परम्परारूप मालाएँ निकलती हैं। चक्रवर्ती का भी चक्रवर्ती, ऐसे इस चैतन्य भगवान के भण्डार में सम्यग्दर्शन-मुनिदशा-केवलज्ञान-सिद्धदशा आदि निर्मलरत्नों की मालाएँ पड़ी हैं। भण्डार खोलकर उन्हें बाहर निकालने की यह रीति आचार्य भगवान ने बतलायी है। अरे जीव! अन्तर्मुख होकर एक बार अपनी चैतन्यशक्ति के भण्डार को खोल, तेरी चैतन्यशक्ति ऐसी है कि उसे खोलने पर उसमें से निर्मलपर्यायें निकलेंगी; विकार नहीं निकलेगा; विकार से तो वह शून्य है।

एक समय की मलिन अवस्था में विकार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है।

त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से निर्मल अवस्थारूप वर्तते हुए भगवान आत्मा में मिथ्यात्वादि का शून्यपना है।

इस प्रकार त्रिकाल में और त्रिकाल के आश्रय से वर्तती हुई वर्तमान अवस्थाएँ, इन दोनों में विकार का अभाव है। साधक जीव को अल्प रागादि है किन्तु उनके साथ एकतारूप परिणमन नहीं है; इसलिए स्वभाव में एकतारूप परिणमन में उनका भी अभाव है। अभावशक्ति का भान होने पर, विकार के अभावरूप परिणमन होता है। अज्ञानी जीव में भी यह सब शक्तियाँ होने पर भी, उनका अस्वीकार करके और विकार का ही स्वीकार करके वह भटकता है। आत्मा के समस्त गुणों में निर्मल अवस्थारूप वर्तने की 'भावशक्ति' है किन्तु जो उसका आश्रय करे, उसे वैसा परिणमन होता है।

शुद्धस्वभाव की सन्मुखता होने पर, विभाव से विमुखता हो जाती है। दो आदमी हों, वहाँ एक के साथ बातचीत करने से दूसरे के साथ का सम्बन्ध छूट जाता है; उसी प्रकार चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसमें स्थिर होने से, विकार का सम्बन्ध सहज ही छूट जाता है। शुद्धस्वभाव की ओर जितना जोर दे, उतना विकार का अभाव हो जाता है। इसमें परमार्थ व्रत-तप-त्याग आदि समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। त्रिकाल स्वभाव की शुद्धता पर जोर न देकर, जो उससे विरुद्ध ऐसे विकार पर या निमित्त पर जोर देता है, उसकी पर्याय में शुभाशुभरूप विभाव का परिणमन होता है और वह अधर्म है। चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर, उसकी सम्यक्श्रद्धा की, उस श्रद्धा में मिथ्यात्व का त्याग है, उसके सम्यग्ज्ञान में अज्ञान का त्याग है और उसकी लीनता में अव्रत का त्याग है। इसके अतिरिक्त धर्म होने का तथा अधर्म के त्याग का अन्य कोई उपाय नहीं है। अन्य कथन हों, वे सब निमित्त के-व्यवहार के कथन हैं। आत्मस्वभाव में एकता होने पर कैसे-कैसे निमित्त का सम्बन्ध छूटा, उसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार कथन है कि आत्मा ने यह छोड़ा।

प्रथम यथार्थ भेदज्ञान करके अभिप्राय बदल जाना चाहिए कि चैतन्यस्वभाव ही मैं हूँ; देहादि या रागादि, वे सब मुझसे पर हैं। जिस प्रकार कुँवारी कन्या, पिता के घर को तथा सम्पत्ति को 'यह मेरा घर और यह मेरी सम्पत्ति' - ऐसा मानती है किन्तु जहाँ उसकी सगाई

हुई कि तुरन्त उसका अभिप्राय बदल जाता है कि पिता का घर अथवा पिता की सम्पत्ति मेरी नहीं है, किन्तु पति का घर और पति की सम्पत्ति मेरी है। अभी तो पिता के घर में रहती है, फिर भी उसका अभिप्राय पलट जाता है। उसी प्रकार अज्ञानी ने अनादि संसार से 'देह और राग, वह मैं' – ऐसा माना है किन्तु जहाँ चैतन्यस्वभाव की दृष्टि करके सिद्धदशा के साथ सम्बन्ध जोड़ा, वहाँ उसकी दृष्टि पलट गयी कि सिद्धभगवान जैसी सम्पत्तिवाला स्वभाव, वह मैं हूँ; राग और देहादि मैं नहीं हूँ। अभी तो अल्प रागादि तथा देहादि का सम्बन्ध होने पर भी, उसका अभिप्राय पलट गया है और अभिप्राय पलटने से उस अभिप्राय के अनुसार, परिणमन भी पलट गया है, अर्थात् सिद्धदशा की ओर का परिणमन होने लगा है और संसार की ओर का परिणमन छूटने लगा है। भले ही चाहे जितने व्रत-तप-त्याग करे, हजारों रानियों को छोड़कर वैराग्यपूर्वक द्रव्यलिङ्गी मुनि हो, किन्तु इस प्रकार शुद्धस्वभाव के साथ का सम्बन्ध जोड़कर, विकार के साथ का सम्बन्ध न तोड़े, तब तक किञ्चित् भी धर्म नहीं होता; वह अनादि संसाररूपी पीहर में ही रहता है!

धर्मी जानता है कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में कर्म का तो अभाव है और कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार का भी अभाव है। द्रव्य-गुण में तो त्रिकाल विकार नहीं है और पर्याय भी उस ओर उन्मुख है; इसलिए उसमें भी विकार नहीं है। इस प्रकार आत्मस्वभाव में विकार का अभाव है – ऐसी प्रतीति द्वारा साधक को क्रमशः विकार का पूर्ण अभाव होकर, सिद्धपद प्रगट होता है। विकार के अभावरूप स्वभाव की प्रतीति करे, उसे पर्याय में विकार का अभाव हुए बिना नहीं रहता। पर्यायबुद्धि से ही आत्मा विकारी भासित होता है; स्वभावबुद्धि से देखने पर, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों विकार से शून्य हैं; संसार उनमें है ही नहीं। संसार किसका? कि जो उसे अपना मानें उसका, अर्थात् विकार में जिसकी बुद्धि है, उसी को संसार है। स्वभाव की बुद्धिवाला साधक तो कहता है कि मुझमें संसार है ही नहीं – ऐसे शुद्धात्मा की दृष्टि करना ही संसार से छूटकर सिद्ध होने का उपाय है।

आत्मा का ऐसा अभावस्वभाव है कि वह पर से और विकार से शून्य है। ज्ञान-आनन्दादि निज भावों से भरा हुआ और रागादि परभावों से रहित है। अभावशक्ति के

कारण आत्मस्वभाव में पर का और विकार का अभाव है किन्तु अभावशक्ति स्वयं कहीं आत्मा में अभावरूप नहीं है; अभावशक्ति स्वयं तो आत्मा के स्वभावरूप है। पर के अभावरूप भाव ही आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा में पर का तो अभाव है, उसका तो कभी भाव नहीं होता। आत्मा के स्वभाव में विकार का अभाव है, उसका भी कभी भाव नहीं होता, किन्तु आत्मा की भविष्य की केवलज्ञानादि पर्यायें जो इस समय अभावरूप हैं, उनका भाव होता है। साधक को ऐसे अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति है, केवलज्ञान की भी प्रतीति है, विकार के अभाव की भी प्रतीति है। उसे वर्तमान निर्मलता वर्तती है और अल्प काल में विकार का सर्वथा अभाव होकर, जगमगाता हुआ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

[–यहाँ तेतीसवीं भावशक्ति तथा चौंतीसवीं अभावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[३५-३६]

भावाभावशक्ति और अभावभावशक्ति

भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के व्ययरूप भावाभावशक्ति।

अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः।

नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति।

आत्मा की ये शक्तियाँ बताकर आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तू घबराना मत... अरे रे! बहुत काल से सेवन किया हुआ अज्ञान अब कैसे टलेगा और मुझे सम्यग्ज्ञान कैसे होगा? - ऐसा तू घबराना मत। अनादि से अज्ञान का सेवन किया; इसलिए वह अज्ञान सदा टिककर ही रहे - ऐसा नहीं है और अनादि से ज्ञान नहीं किया; इसलिए अब वह ज्ञान नहीं ही हो - ऐसा भी नहीं। अनादि से समय-समय विद्यमान ऐसे अज्ञान का 'अभाव' करके, अपूर्व सम्यग्ज्ञान का 'भाव' हो—ऐसी शक्तियाँ तेरी आत्मा में भरी हैं; उनके सन्मुख हो... तो तेरी घबराहट मिट जाये।

'आत्मा में भवति (वर्तती) हुई पर्याय के व्ययरूप, भाव-अभावशक्ति है;' तथा 'न भवति हुई पर्याय के उदयरूप, अभाव-भावशक्ति है।' आत्मा में पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो, उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है और पहले समय जो पर्याय अविद्यमान हो, उसका दूसरे समय भाव (उत्पाद) होता है; इस प्रकार प्रति समय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय का उत्पाद अनादि-अनन्त होता ही रहता है - ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है; किसी अन्य के कारण, पर्याय के उत्पाद-व्यय नहीं होते।

'भाव का अभाव' और 'अभाव का भाव' - इन दोनों का एक ही समय है; भिन्न-भिन्न समय नहीं है। जैसे कि साधक को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ पहले जो साधकदशा थी, उसका अभाव हुआ, वह 'भाव का अभाव' है और पहले जो केवलज्ञानदशा नहीं थी, वह प्रगट हुई, उसका नाम 'अभाव का भाव' है। इस प्रकार भावाभावशक्ति और

अभावभावशक्ति – यह दोनों शक्तियाँ एक ही समय में कार्य कर रही हैं। यदि भाव का अभाव न हो तो केवलज्ञान होने पर भी, छद्मस्थ साधकदशा दूर न हो और अभाव का भाव न हो तो साधकदशा दूर होने पर भी, केवलज्ञान की उत्पत्ति न हो, अर्थात् कोई पर्याय ही न रहे और पर्याय के बिना, द्रव्य का भी अभाव ही हो। इसलिए इन दोनों शक्तियों से अपना स्वरूप समझना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा में प्रति समय इस प्रकार हो ही रहा है, उसकी यह बात है। द्रव्यरूप से आत्मा अखण्ड विद्यमान रहता है और उसकी पर्यायें स्वयमेव बदलती रहती हैं। पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो, उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है और पहले समय जो पर्याय न हो, वह दूसरे समय नयी उत्पन्न होती है। पहली पर्याय आगे बढ़कर, दूसरे समय भी चलती रहे – ऐसा कभी नहीं होता तथा एक पर्याय दूर होकर, दूसरे समय नयी पर्याय उत्पन्न न हो, ऐसा भी कभी नहीं होता।

अहो! अभावरूप पर्याय का दूसरे समय भाव हो – ऐसा अपना स्वभाव है, तो फिर सम्यग्दर्शन या केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट करने के लिये बाह्य में देखना कहाँ रहा? बाह्य में देखना तो नहीं रहा, किन्तु पर्याय की ओर देखना भी नहीं रहा, क्योंकि जिस पर्याय में केवलज्ञान का अभाव है, उस अभाव में से कही केवलज्ञान नहीं होता। पहले समय केवलज्ञान का अभाव है तो दूसरे समय केवलज्ञान का भाव कहाँ से होगा? –द्रव्य में से ही उस अभाव का भाव होगा; अभाव का भाव करने की शक्ति, द्रव्य के स्वभाव में है; इसलिए उस स्वभाव की ओर देखने से ही पहले अविद्यमान ऐसी निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है।

जो जीव, द्रव्य सन्मुखदृष्टि नहीं करता, उसे भी प्रति समय 'अभाव का भाव' तो होता ही रहता है किन्तु वह अभाव–भाव उसे विकाररूप ही होता रहता है। साधक को तो स्वभाव के अवलम्बन से निर्मलरूप से अभाव–भाव होता रहता है; प्रति समय विशेष –विशेष निर्मलपर्याय होती रहती है। सिद्धभगवान को यद्यपि अब पर्याय की निर्मलता में वृद्धि होना शेष नहीं रहा, तथापि उन्हें भी शुद्धपर्याय के भाव–अभाव तथा अभाव–भाव होते ही रहते हैं; सिद्ध को एक की एक पर्याय नहीं रहती, किन्तु पहले समय की शुद्धपर्याय

का दूसरे समय अभाव (भाव-अभाव) और पहले समय अविद्यमान, ऐसी शुद्धपर्याय का दूसरे समय उत्पाद (अभाव-भाव) इस प्रकार पर्याय में भाव-अभाव तथा अभाव-भाव उन्हें भी होता ही रहता है।

रागादि मलिनता तो आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए वह तो आत्मा के साथ नित्य नहीं रहती, किन्तु आत्मा के स्वभाव के आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह पर्याय भी दूसरे समय नहीं रहती। दूसरे समय उसका अभाव होकर, दूसरी नयी निर्मलपर्याय प्रगट होती है। इस प्रकार निर्मलपर्याय में भी प्रति समय भिन्न-भिन्न अनुभव है। जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसका दूसरे समय विनाश और जो पर्याय-अविद्यमान थी, उसका उत्पाद— इस प्रकार पर्याय का परिवर्तन सदा होता ही रहता है। साधक का ज्ञान एक-एक समय की पर्याय को पृथक् करके नहीं पकड़ सकता, किन्तु वस्तुस्वभाव ऐसा है-ऐसा उसकी प्रतीति में आ जाता है और उस प्रतीति के बल से उसकी पर्यायों का परिणमन तो द्रव्यस्वभाव का ही अवलम्बन लेने से निर्मल-निर्मलरूप से होता रहता है।

प्रवचनसार गाथा 113 में कहते हैं कि-'पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्ति के काल में ही सत् होने के कारण उससे अन्य कालों असत् ही है।' तथा पर्यायों का 'क्रमानुपाती स्वकाल में ही उत्पाद होता है।' देखो, इसमें बहुत सरस सिद्धान्त है। पर्याय अपने काल के अतिरिक्त अन्य काल में असत् है; इसलिए कोई भी पर्याय अपने समय को छोड़कर पहले या बाद के आगे-पीछे समय में नहीं होती। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों का क्रमानुपाती स्वकाल में उत्पाद होता है। शरीर हिले-चले-बोले या न हिले -चले-बोले, उन सबमें परमाणुओं का स्वकाल में उत्पाद है; जीव की उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण उसमें कुछ नहीं होता।

प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय एक पर्याय का व्यय और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती ही रहती है। जो पर्याय थी, वह गयी और नहीं थी, वह हुई-इसमें भाव-अभाव और अभाव-भाव दोनों आ जाते हैं। भाव का अभाव और अभाव का भाव-ऐसे परिणमन की अटूट धारा प्रत्येक वस्तु में चल रही है। जो वस्तु के ऐसे परिणमन को ही नहीं मानते, वे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें तो मिथ्यात्व के अभावरूप और सम्यक्त्व के भावरूप परिणमन नहीं होता।

द्रव्य-गुण तो त्रिकाल भावरूप रहते हैं और पर्याय तो एक समय के ही भावरूप है, दूसरे समय उसका अभाव होकर, दूसरा नया भाव प्रगट होता है। वहाँ त्रिकाली एकरूप भाव के आश्रय से साधक की पर्याय में निर्मलता का भाव बढ़ता जाता है और मलिनता का अभाव होता जाता है। ऐसे परिणमन के बिना, अज्ञानदशा दूर होकर साधकदशा अथवा साधकदशा दूर होकर सिद्धदशा नहीं हो सकती।

यहाँ जितनी शक्तियों का वर्णन करते हैं, वे सर्व शक्तियाँ प्रत्येक आत्मा में विद्यमान हैं; अनन्त शक्तियों का धारक एक आत्मा है। जहाँ एक शक्ति है, वहीं दूसरी अनन्त शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं; इसलिए यदि एक शक्ति के द्वारा आत्मस्वभाव को जाने तो अनन्त शक्तिवान चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रतीति में आ जाता है।

प्रश्न :- ऐसा सूक्ष्म समझकर क्या करना है ? अन्त में तो क्रोधादि कम करने का ही तात्पर्य है न ? भले ही समझ गड़रिये जैसा हो, तथापि इसे समझे बिना भी क्रोधादि कम करे तो धर्म हो जायेगा ?

उत्तरः- अरे भाई ! सांसारिक कार्यों में तो तू बुद्धि-रुचि लगाता है और यहाँ गड़रिये का दृष्टान्त देकर तुझे बिना समझे धर्म करना है- यह तो तेरी धर्म की अरुचि ही है। आत्मा का स्वभाव समझे बिना, बड़े बैरिस्टर को या गड़रिये को-किसी को धर्म नहीं हो सकता; उसी प्रकार क्रोधादि भी सचमुच दूर नहीं होते। क्रोध क्या ? क्रोध करनेवाला और उसे कम करनेवाला कौन तथा उसका क्रोधरहित स्वभाव कैसा है ? वह सब जाने बिना, किसके लक्ष्य से क्रोधादि का त्याग करेगा ? जिस प्रकार प्रकाश के भाव बिना, अन्धकार का अभाव नहीं होता; प्रकाश हो, तभी अन्धकार दूर होता है; उसी प्रकार क्रोधरहित ऐसे चिदानन्दस्वभाव की ओर का भाव प्रगट हुये बिना, क्रोध का अभाव नहीं होता। ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव में एकता करके क्रोधादि का अभाव कर डालते हैं। ऐसे चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य बिना, अज्ञानी क्रोध टालना चाहे तो क्रोध दूर नहीं होता। भले ही वह कषाय की मन्दता करे, तथापि उसको अनन्तानुबन्धी कषाय तो विद्यमान ही है।

जैसे-दो व्यक्ति हैं; एक रत्नों का पारखी है, वह तो हाथ में चिन्तामणि रत्न रखकर जिसका चिन्तवन करे, उसे प्राप्त करता है और दूसरा गड़रिये जैसा है; वह रत्न को पहिचाने

बिना, हाथ में सफेद पत्थर लेकर चिन्तवन करता है किन्तु इस प्रकार चिन्तवन करने से कहीं चिन्तित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसने पत्थर को पकड़ रखा है। उसी प्रकार धर्मी तो अपनी दृष्टि में चैतन्य चिन्तामणि अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा को लेकर उसका चिन्तवन करता है और उसके चिन्तन से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करता है तथा कषायों का अभाव करता है किन्तु अज्ञानी, अनन्तशक्ति सम्पन्न चैतन्यचिन्तामणि को पहिचाने बिना, राग-द्वेष, पुण्य-पापादि कषायों को पकड़कर, उनके चिन्तन से- 'यह करते-करते हमें सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो, सम्यक्चारित्र हो' -ऐसी इच्छा करता है, किन्तु इस प्रकार कहीं सम्यग्दर्शनादि नहीं हो सकते। इस प्रकार अपने शुद्धस्वभाव को समझकर उसे पकड़े बिना, (अर्थात् उसी का अवलम्बन किये बिना) सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होते और कषायें दूर नहीं होती।

- ❖ आत्मा में शरीरादि जड़ का तो त्रिकाल अभाव है।
- ❖ रागादि विकार का भी त्रिकाली स्वभाव में, अभाव है।
- ❖ स्वभाव में से प्रगट हुई एक समय की निर्मलपर्याय का भी दूसरे समय अभाव हो जाता है और दूसरी पर्याय प्रगट होती है।
- ❖ शुद्धद्रव्यस्वभाव त्रिकाल ज्यों का त्यों एकरूप बना रहता है और वही अवलम्बनभूत है।

साधकपर्याय हो या सिद्धपर्याय हो, -सर्व पर्यायों के समय शुद्धद्रव्यस्वभाव तो सदैव एकरूप वर्तता है किन्तु पर्याय में साधकपने के समय सिद्धपना नहीं होता। साधक -पर्याय का अभाव हो, तब सिद्धपर्याय का भाव होता है। एक के अभाव बिना, दूसरी का भाव करना चाहे अथवा एक के भाव बिना, दूसरी का अभाव करना चाहे तो ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्व के अभाव बिना, सम्यक्त्व का भाव अथवा सम्यक्त्व के भाव बिना, मिथ्यात्व का अभाव नहीं हो सकता; इसलिए पहले समय वर्तती हुई पर्याय का, दूसरे समय अभाव होनेरूप भावाभावशक्ति, तथा पहले समय न वर्तती हुई पर्याय का, दूसरे समय उत्पाद होनेरूप अभावभावशक्ति-ऐसी दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा में विद्यमान हैं। -ऐसे शक्तिवान आत्मा को पहिचानने से भगवान आत्मा का शुद्धरूप अनुभव होता है,

अर्थात् सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान में अनन्त शक्तिवान भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है, यही धर्म है और यही मोक्ष का उपाय है।

ऐसे अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लिये बिना, देह की क्रिया को या मन्दराग को चारित्र मान ले, तथा वह करते-करते सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा-ऐसा मान ले, वह तो मूढ़ता है। उसमें तो चारित्र की तथा सम्यग्दर्शनादि की विराधना है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र क्या वस्तु है-उनकी महिमा की उसे गन्ध भी नहीं है।

सिद्धपर्याय वर्तमान अभावरूप होने पर भी, उसका भाव होने की शक्ति द्रव्यस्वभाव में विद्यमान है; उसका विश्वास करने से सिद्धपर्याय प्रगट हो जाती है। अभावपर्याय का भाव करने की शक्ति, चैतन्य में है; सिद्धपद का अभाव है, उसका भाव चैतन्यस्वभाव के आश्रय से होता है, उसके लिये किसी पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मेरी वर्तमान पर्याय में केवलज्ञान का अभाव होने पर भी, उसका सदैव अभाव ही रहे - ऐसा नहीं है; उसका भाव करने की शक्ति मेरे आत्मा में विद्यमान है - इस प्रकार साधक को स्वशक्ति का विश्वास है; इसलिए उसे स्वशक्ति की सन्मुखता से अल्पकाल में केवलज्ञान का भाव प्रगट हो जाता है।

वर्तमान में जिस पर्याय का अभाव है, वह भविष्य में प्रगट होकर भावरूप होती है। कहाँ से प्रगट होती है ? -तो कहते हैं कि अपने स्वभाव में से। यह स्वभाव कैसा है ? तो कहते हैं कि-शुद्ध अनन्त शक्तिसम्पन्न है; उस स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिए विकार प्रगट होने की बात न लेकर, निर्मलपर्याय प्रगट होने की बात ही लेना चाहिए। इस समय आत्मा में सिद्धपर्याय का अभाव है; इसलिए वह कभी प्रगट ही नहीं होगी-ऐसा नहीं है क्योंकि आत्मा की अभावभावशक्ति ऐसी है कि भविष्य की जिस निर्मलपर्याय का इस समय अभाव है, वह बाद में भावरूप होती है। ऐसी निज शुद्धशक्ति की प्रतीति होने से साधक को ऐसा सन्देह नहीं होता कि भविष्य में मेरे स्वभाव से अशुद्धता प्रगट होगी, किन्तु उसे तो स्वभाव के विश्वासपूर्वक नि:शंकता है कि-मेरे स्वभाव में से शुद्धपर्याय का ही प्रवाह सादि-अनन्त काल तक प्रवाहित रहता है; भविष्य में मेरे आत्मा में से विकार का 'भाव' नहीं होगा; उसका तो 'अभाव' होगा और केवलज्ञान तथा सिद्धपद का भाव होगा।

हे जीव! तेरी पर्याय में हित का अभाव है और तुझे हित प्रगट करना है तो वह हित कहाँ ढूँढ़ना? पर में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे हित दे। अपने स्वभाव में ही हित ढूँढ़; उसी में ऐसी शक्ति है कि हितरूप दशा अपने में से प्रगट करे।

अपने शुद्धस्वभाव को प्रतीति में लेकर, उसके अवलम्बन से पहले समय में विद्यमान ऐसी निर्मल-निर्मलपर्यायों को प्रगट करके धर्मी जीव उनका कर्ता होता है, किन्तु विकार का कर्ता नहीं होता; उसका तो अभाव करता जाता है तथा शरीरादि जड़ का तो आत्मा में अभाव ही है; इसलिए उसका भी कर्ता नहीं होता।

आत्मा में जड़ का त्रिकाल अभाव है, वह कभी आत्मा में भावरूप नहीं होता। शुद्धस्वभाव में विकार का अभाव है; इसलिए उस शुद्धस्वभाव की दृष्टि में धर्मी को विकारीभाव, 'भावरूप' होकर प्रगट नहीं होते, उसे तो 'अभाव' रूप से ऐसी निर्मलपर्यायें ही 'भाव' रूप होकर प्रगट होती है। ऐसा 'अभावभावशक्ति का' सम्यक्परिणमन है। ऐसा सम्यक्परिणमन किसे होता है?- कि जिसकी दृष्टि शुद्धद्रव्य पर है, उसी को शुद्धपरिणमन होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो निर्मलपर्याय पहले समय अभावरूप थी और दूसरे समय वह पर्याय प्रगट होकर भावरूप हुई तो उस 'भाव' रूप कौन परिणमित हुआ है?

- ❖ शरीरादि का आत्मा में अभाव है,
- ❖ पहले समय के विकार का, दूसरे समय में अभाव है;
- ❖ पहले समय की निर्मलपर्याय का भी दूसरे समय में अभाव है;

-वे तीनों अभावरूप हैं; उनमें से कोई दूसरे समय भावरूप नहीं होते, तो फिर दूसरे समय का शुद्धभाव कहाँ से आया? तो कहते हैं कि शुद्धद्रव्य में ही वैसे भावरूप होने की शक्ति है; इसलिए वह स्वयं ही दूसरे समय में वैसे भावरूप हुआ है- इस प्रकार शुद्धद्रव्य को लक्ष्य में लेकर जो उसके सन्मुख परिणमन करे, उसी ने अभावभावशक्तिवाले आत्मा को जाना और माना है। वर्तमान पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह दूसरी शक्ति को प्रगट करे; इसलिए पर्यायदृष्टि द्वारा अभावभावशक्तिवाले आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती। शुद्धद्रव्य पर जिसकी दृष्टि नहीं है, उसे आत्मा की शक्तियों का निर्मलपरिणमन नहीं होता।

वर्तमान में जो निर्मलपर्यायें अभावरूप हैं, उनके प्रगट होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; इसलिए अपने आत्मा की शक्ति के सन्मुख होकर 'अभाव का भाव' करूँ; – ऐसा न मानकर, अज्ञानी मानता है कि–पर में से, पर के आलम्बन द्वारा अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करूँ, तो उसे निज शक्ति की प्रतीति नहीं है। धर्मात्मा को निज शक्ति की प्रतीति है, वे पर में से अपनी पर्याय का प्रगट होना नहीं मानते; इसलिए अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करने के लिये वे, पर की ओर या विकार की ओर नहीं देखते, पर्यायबुद्धि नहीं करते, किन्तु शुद्ध द्रव्योन्मुख होकर उसमें से निर्मलपर्याय प्रगट करते हैं। जहाँ निर्मलपर्याय की शक्ति भरी होगी, वहाँ से प्रगट होगी या बाह्य में से आयेगी ? – जहाँ शुद्धज्ञान–आनन्द की शक्ति विद्यमान है, उस ओर उन्मुख होने पर, उसी में से ज्ञान–आनन्द की शुद्धपर्याय प्रगट होती है। स्वशक्ति की ओर उन्मुख हुये बिना, बाह्य से प्रगट करना चाहे तो अनन्त काल में भी प्रगट नहीं हो सकता।

अज्ञानी तो पर का अपने में 'अभाव' है, उसे 'भाव' रूप करना चाहता है; आत्मा की अभावभावशक्ति की उसे खबर नहीं है।

ज्ञानी तो 'अभावरूप' ऐसी निर्मलपर्याय को अपनी स्वशक्ति में अन्तर्मुख होकर 'भाव' रूप करता है; इसलिए शुद्धता में से शुद्धता को ही प्रगट करता जाता है। जिसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर नहीं है, वह विकार को बढ़ाना चाहता है। जो शुभाशुभपरिणाम हैं, उन्हें दूसरे ही क्षण प्रगट करूँ– इस प्रकार उसे आश्रव की ही भावना है; आत्मा की शुद्धशक्ति की भावना उसे नहीं है।

आत्मा, जड़ की क्रिया करता है अथवा जड़ की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है–ऐसा माननेवाला अपने में जड़ का 'भाव' करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

उसी प्रकार विकार से लाभ माननेवाला विकार को अपने में भावरूप रखना चाहता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे प्रतिक्षण विकार का ही भाव होता है किन्तु निर्मलता का भाव नहीं होता। दयादि के शुभपरिणामों को मैं भविष्य में टिका रखूँगा– ऐसी जिसकी भावना है, उसे आश्रव की भावना है; इसलिए संसार की भावना है। सम्यग्दृष्टि की भावना स्वभाव पर है; वह तो शुद्धस्वभाव की भावना से शुद्धता का ही भाव करता जाता है। मैं अनन्त शक्ति का पिण्ड शुद्ध चैतन्यस्वभाव हूँ; मेरे स्वभाव में समस्त राग का अभाव है, मेरे स्वभाव में

ऐसी शक्ति है कि जो निर्मलपर्याय पहले अभावरूप हो, उसे प्रगट करूँ- इस प्रकार अपने स्वभाव को जानकर, उसी की भावना से धर्मी जीव, निर्मलपर्यायरूप परिणमित होता जाता है।

अनादि काल के अज्ञानी जीव ने सत्समागम से बहुमानपूर्वक स्वभाव का श्रवण करके, फिर अन्तरोन्मुख होकर उस स्वभाव की प्रतीति की, वहाँ अनादिकालीन मिथ्यात्व का अभाव हुआ, (वह भाव-अभाव है) और अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, (वह अभाव-भाव,) -ऐसा सम्यग्दर्शन हुआ, उसी समय सिद्धदशा वर्तमान में नहीं है, तथापि भविष्य की सिद्धपर्याय प्रगट होने की शक्ति मेरे द्रव्य में है-इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को द्रव्यदृष्टि के बल से सिद्धदशा की नि:शंकता हो गयी है। सिद्धदशा करूँ या सम्यग्दर्शनादि करूँ- ऐसे विकल्प से कहीं सिद्धदशा या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु निर्विकल्प द्रव्यस्वभाव में एकाग्र होने पर, सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती हैं; इसलिए धर्मी की दृष्टि में ऐसे शुद्ध द्रव्यस्वभाव की ही मुख्यता है।

'मोक्ष करूँ'-ऐसा विकल्प आये, किन्तु उस विकल्प की मुख्यता नहीं है, विकल्प की शरण नहीं है; शुद्धस्वभाव की ही शरण है। उसी की शरण से मिथ्यात्व दूर होकर, सम्यक्त्व होता है; उसी की शरण में अस्थिरता दूर होकर, स्थिरता होती है; उसी की शरण से अल्पज्ञता दूर होकर, सर्वज्ञता होती है। इस प्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभाव के आश्रय से शुद्ध परिणमन होता है - उसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है और वही सम्यक्पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त एक पुरुषार्थगुण को पृथक् करके, पुरुषार्थ करने जाये तो उसे भेद के आश्रय से राग ही होता है किन्तु शुद्धता नहीं होती।

'मैं पुरुषार्थ करूँ'-ऐसे विकल्प से सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। पुरुष, अर्थात् शुद्ध आत्मा; उसके साथ परिणति एकाकार होकर शुद्धतारूप परिणमित हुई, वही सच्चा पुरुषार्थ है; उसमें एक साथ अनन्त गुणों का निर्मल परिणमन उछलता है। शुद्ध चैतन्य तत्त्व के सम्मुख होकर उसमें सावधानी की, वहाँ अब विषयकषायरूपी चोर नहीं आ सकते।

इस चैतन्यस्वरूप आत्मा के परिणमन में ऐसा भाव-अभावपना है कि पहले समय की अवस्था, दूसरे समय अभावरूप हो जाती है; इसलिए प्रति समय उसकी अवस्था बदल जाती है। यदि एक ही अवस्था चलती रहे और भाव का अभाव न हो तो अज्ञानी

का अज्ञान कभी दूर हो ही नहीं सकता; साधक की साधकता कभी दूर हो ही नहीं सकती; उसी प्रकार नवीन पर्याय प्रगट होनेरूप 'अभाव-भाव' यदि न हो तो अनादि से अभावरूप ऐसा सम्यग्ज्ञान कभी प्रगट हो ही नहीं सकता, केवलज्ञान प्रगट हो ही नहीं सकता, किन्तु ऐसा नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तू आकुलित न हो...अरे रे! चिरकाल से जिस अज्ञान का सेवन किया है, वह कैसे दूर होगा और मुझे सम्यग्ज्ञान कैसे होगा?- इस प्रकार तू अकुलाना मत। अनादि काल से अज्ञान का सेवन किया, इसलिए वह अज्ञान सदैव बना ही रहता है-ऐसा नहीं है और अनादि काल से ज्ञान नहीं किया, इसलिए अब वह ज्ञान नहीं हो सकता-ऐसा भी नहीं है। अनादि से प्रति समय विद्यमान ऐसे अज्ञान का अभाव करके, अपूर्व सम्यग्ज्ञान का भाव होता है - ऐसी शक्तियाँ तेरे आत्मा में विद्यमान हैं; उसका एक बार विश्वास कर तो तेरी आकुलता दूर हो जाये। जो-जो पर्याय आती है, वह 'अभाव' को साथ लाती है; इसलिए दूसरे समय अवश्य ही उसका अभाव हो जायेगा। जिस प्रकार जो जन्मता है, वह मरण को साथ ही लाता है; उसी प्रकार जो पर्याय जन्मती है, वह दूसरे समय अवश्य ही नाश को प्राप्त होती है और दूसरे समय नयी पर्याय उत्पन्न होती है। शुद्धद्रव्य का आश्रय करनेवाले को वह पर्याय, शुद्ध होती है; इसलिए हे भाई! तू अकुलाना नहीं, इस अपूर्ण पर्याय के समय ही उसके पीछे (अन्तरस्वभाव में) पूर्ण शुद्धपर्याय प्रगट होने की शक्ति तेरे आत्मा में भरी है; इसलिए उसके सन्मुख हो।

वर्तमान में आत्मा को संसारपर्याय का सद्भाव है किन्तु उस 'भाव का अभाव' कर दे - ऐसी शक्ति भी साथ ही विद्यमान है। यदि उसे प्रतीति में ले तो संसार का अभाव हुए बिना न रहे; और वर्तमान में इस आत्मा को सिद्धपर्याय का अभाव है किन्तु उस 'अभाव का भाव' करने की शक्ति भी साथ ही विद्यमान है। यदि आत्मा के ऐसे स्वभाव को प्रतीति में ले तो सिद्धदशा प्रगट हुए बिना न रहे।

-इस प्रकार 'भाव-अभाव' और 'अभाव-भाव' शक्तिवाले आत्मस्वभाव को पहिचानने से संसार दूर होकर सिद्धदशा होती है। वह सिद्धदशा होने के बाद भी भाव -अभाव और अभाव-भाव तो होता ही रहता है, अर्थात् एक के बाद एक पर्याय बदलती

ही रहती है किन्तु वे समस्त पर्यायें एक समान शुद्ध ही होती हैं, प्रतिक्षण नयी-नयी पर्याय का अनुभव होता रहता है। भाव का अभाव और अभाव का भाव—ऐसे अखण्ड प्रवाह की धारा में साधक-धर्मी को शुद्धता की वृद्धि होती जाती है।

जगत के चेतन या अचेतन समस्त पदार्थों में भी भाव का अभाव और अभाव का भाव—ऐसा पर्याय का रूपान्तर अपने-अपने स्वभाव से हो ही रहा है। जो जीव ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने, उसे जगत के किसी पदार्थ में 'वर्तमान चालू पर्याय का मैं अभाव करूँ अथवा न हो, उसे उत्पन्न करूँ—ऐसी भ्रमबुद्धि नहीं रहती, किन्तु मोहरहित ज्ञातापना ही रहता है।'

चैतन्यस्वभाव की अतिशय विराधना करनेवाला जीव, निगोददशा को (आत्मा की निम्नतम दशा को) प्राप्त होता है। जीव के स्वभाव को भूलकर, देह की अत्यन्त मूर्च्छा से वह निगोद का जीव एक अन्तुर्मुहूर्त में उत्कृष्टरूप से ६६.३३६ शरीर बदल लेता है। एक शरीर छोड़कर, दूसरा और दूसरा छोड़कर, तीसरा-इस प्रकार ६६,३३६ भव ४८ मिनट में धारण करता है। देखो, उसकी ममता का फल!! और प्रतिक्षण वह अनन्तानन्त दु:ख की वेदन भोग रहा है-ऐसा अपार दु:ख कि जिसे केवली भगवान ही जानें और वह निगोद का जीव ही भोगे! और सिद्धभगवन्त, शरीररहितरूप से प्रति समय चैतन्य की पर्याय बदलकर, परिपूर्ण आनन्द का ही अनुभव कर रहे हैं। देह की ममता तोड़कर, देह से भिन्न आनन्दस्वभावी आत्मा की आराधना की, उसके फल में सिद्धदशा प्रगट हुई; वहाँ प्रतिक्षण देहातीत अतीन्द्रिय आनन्द का ही वेदन है। एक आनन्दपर्याय बदलकर, दूसरी और दूसरी बदलकर, तीसरी-इस प्रकार सादि-अनन्त काल तक आनन्द की ही धारा चलती रहती है। अहो! वह आनन्द, जगत के जीवों को इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है।

वर्तमान साधकदशा में सिद्धदशा का अभाव होने पर भी, उस अभाव का भाव होने की शक्ति आत्मा में है। संसारपर्याय के समय सिद्धपर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह प्रगट होने की शक्ति तो आत्मा में विद्यमान ही है। अन्तर में शक्ति भरी है, उसी में से वह पर्याय चली आती है। जिस प्रकार पानी का विशाल सरोवर भरा हो, उसमें से धारा प्रवाहित होती रहती है; उसी प्रकार चैतन्य सरोवर ऐसे आत्मा के स्वभाव में निर्मलपर्यायें प्रगट होने की

शक्ति भरी है, उसी में से निर्मलपर्यायों का प्रवाह चला आता है – परन्तु किसे ? कि जो अपने स्वभाव की ओर देखे, उसे।

अहा! अपने आनन्द के लिये मुझे कहीं पर की ओर देखना ही नहीं है.... मेरा आत्मा ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण भरा हुआ है। सन्तों ने उसी के अपार गीत गाये हैं। इस प्रकार स्वसन्मुख होकर अपने स्वभाव की प्रतीति करना ही इन शक्तियों के वर्णन का तात्पर्य है।

हे जीव! सिद्धदशा आदि निर्मलपर्यायों का इस समय तुझमें अभाव है और उनका भाव करना है तो वह अभाव का भाव किसके आधार से होगा ? निमित्त के, विकार के या वर्तमान पर्याय के आधार से वह भाव नहीं होगा; एक पर्याय में दूसरी पर्याय को प्रगट करने का सामर्थ्य नहीं है किन्तु वस्तु के स्वभाव में त्रिकाल शक्ति विद्यमान है, उसमें से प्रति समय अविद्यमान पर्यायों का उत्पाद होता रहता है; इसलिए अभावरूप ऐसी निर्मलपर्यायों का भाव, द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता से होता है और द्रव्य के आश्रय से उसे प्रतिक्षण विशेष –विशेष निर्मलपर्यायें प्रगट होती जाती है। अल्पज्ञता के समय सर्वज्ञता का अभाव है किन्तु वस्तु में सर्वज्ञता की शक्ति त्रिकाल भरी है– उसकी धर्मी को प्रतीति है और उस शक्ति के आधार से ही सर्वज्ञता का विकास हो जायेगा (अभाव का भाव हो जायेगा)–ऐसी धर्मी को नि:शंकता है। चौथे गुणस्थान में पर्याय के केवलज्ञान का अभाव होने पर भी सम्यक्त्वी को सर्वज्ञशक्तिवाला आत्मस्वभाव प्रतीति में आ गया है; इसलिए श्रद्धा अपेक्षा से केवलज्ञान हो गया है। यदि सर्वज्ञशक्ति नि:शंक निर्णय न हो तो उस जीव ने आत्मा को जाना ही नहीं।

पूर्णता प्रगट होने से पूर्व जिसमें से पूर्णता प्रगट होना है—ऐसे स्वभाव की प्रतीति हो जाती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यदि आत्मा के स्वभाव को प्रतीति में ले तो, 'अरे अरे! अनादि का अल्पज्ञपना है, वह कैसे दूर होगा ? '–ऐसी शंका या आकुलता न रहे। विद्यमान ऐसी अल्पज्ञता का अभाव कर डाले और अप्रगट ऐसी सर्वज्ञता प्रगट करे–ऐसी शक्ति आत्मा में विद्यमान है–ऐसा साधक को आत्मविश्वास जागृत हो गया है; इसलिए अब उस शक्ति के अवलम्बन से अल्पकाल में अल्पज्ञता दूर हो जायेगी और सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी; – उसमें साधक को सन्देह नहीं रहता।

अहो! अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य भगवान प्रति समय विराजमान हैं, उसके सन्मुख

होकर सेवन करते-करते साधक को अविद्यमान ऐसे केवलज्ञानादि भाव प्रगट हो जाते हैं। पर्याय के आधार से पर्याय नहीं है; इसलिए धर्मी की दृष्टि में पर्याय का अवलम्बन नहीं है किन्तु अखण्ड आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन है। जहाँ अखण्ड आत्मा का अवलम्बन लिया, वहाँ मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्दर्शन हुआ है और उसके बाद भी उसी के अवलम्बन से साधक को निर्मल-निर्मलपर्यायों के ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होते रहते हैं। यह समझने जैसी बात है कि स्वभावदृष्टि में साधक को विकार का भाव -अभाव या अभाव-भाव है; एक निर्मलपर्याय हुई, उसका दूसरे समय अभाव और दूसरी निर्मलपर्याय का भाव; पुनश्च दूसरे समय उस निर्मलपर्याय का अभाव और तीसरी निर्मलपर्याय का भाव; -इस प्रकार स्वभाव के आश्रय से निर्मलता का ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होता है।

स्वभाव की दृष्टि में विकार का तो अभाव ही है, उस दृष्टि में विकार का परिणमन ही नहीं है; इसलिए विकार के भाव-अभाव की अथवा अभाव-भाव की इसमें मुख्यता नहीं है। यहाँ तो स्वभावोन्मुख होकर स्वभाव के अवलम्बन से निर्मल-निर्मल क्रमबद्धपर्यायों के भाव-अभावरूप से तथा अभाव-भावरूप से परिणमित साधक आत्मा की बात है; निर्मलपर्यायसहित आत्मा की बात है। मात्र विकाररूप परिणमित हो, उसे वास्तव में आत्मा का परिणमन नहीं कहते। शुद्धस्वभाव के आश्रय से आत्मा निर्मलपर्यायरूप परिणमित हो ही रहा है, वहाँ 'इस पर्याय को इधर पलट दूँ'—ऐसी पर्यायबुद्धि ज्ञानी को नहीं है, वह तो स्वभाव के साथ एकता करके निर्मलरूप परिणमित होता जाता है।

भाव का अभाव और अभाव का भाव—इसरूप प्रति समय परिणमित होता रहे, ऐसा आत्मा का स्वभाव है; इसलिए आत्मा के सर्वगुण भी इसी प्रकार परिणमित हो रहे हैं। जहाँ अनन्त गुणों के पिंडरूप आत्मस्वभाव के लक्ष्य से परिणमन हुआ, वहाँ समस्त गुणों में निर्मलपरिणमन का प्रारम्भ हो जाता है। द्रव्य के अनन्त गुणों में ऐसी शक्ति (अभावभावशक्ति) है कि वर्तमान में जिस निर्मलपर्याय का अभाव है, उसका दूसरे समय भाव होगा; और इस प्रकार अनन्तानन्त काल तक नयी-नयी निर्मलपर्यायों का भाव आता ही रहेगा - ऐसी आत्मा में शक्ति है। वह भाव कहाँ से आयेगा ? - तो कहते हैं द्रव्य के

स्वभाव में से; इस प्रकार द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति करना है। इस प्रकार अनेकान्तमूर्ति आत्मा को प्रतीति करे, तभी उसकी शक्तियों की प्रतीति होती है और उसी को स्वभावोन्मुखता से निर्मल-निर्मल पर्यायें होती है। ऐसा अनेकान्त का फल है। जो जीव, स्वभावोन्मुख नहीं होता, उसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा की प्रतीति नहीं होती तथा अनेकान्त के फलरूप निर्मलपर्याय भी उसे नहीं होती।

'अनेकान्त भी सम्यक्एकान्त—ऐसे निजपद की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।' - ऐसा श्रीमद् राजचन्द्र जी ने कहा है, उसमें भी दोनों पक्ष जानकर शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होने का ही रहस्य बतलाया है। जो जीव, शुद्ध आत्मस्वभाव की ओर नहीं ढलता, उसे अनेकान्त नहीं होता; वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

जिसमें निर्मलपर्यायों की शक्ति विद्यमान है, उसी के लक्ष्य और आलम्बन से निर्मलपर्यायों का विकास होता है। भविष्य की जो निर्मलपर्याय प्रगट करना चाहता है, वह कहाँ से आयेगी? पर के या विकार के आश्रय से निर्मलपर्याय नहीं होगी, किन्तु अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय करने से आत्मा स्वयं निर्मलपर्यायरूप परिणमित हो जायेगा। पर्याय में जो कमी है, उसे पूरी करना है (अर्थात्, केवलज्ञान का अभाव है, उसका भाव करना है) तो वह कहाँ से आयेगी? द्रव्य की शक्ति में पूर्णता भरी है, उसके अवलम्बन से पर्याय में भी पूर्णता प्रगट हो जायेगी। इस प्रकार द्रव्य की शक्ति ही पर्याय की कमी को दूर करनेवाली है-अन्य कोई नहीं; इसलिए साधक की दृष्टि में निज सामान्य द्रव्य का ही अवलम्बन है। ज्ञानशक्ति में केवलज्ञान प्रदान करने की शक्ति है; श्रद्धाशक्ति में क्षायिकसम्यक्त्व देने की शक्ति है; आनन्दशक्ति में पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द देने की शक्ति है। इसके अतिरिक्त किन्हीं संयोगों में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि श्रद्धा-ज्ञान -आनन्द प्रदान करे। स्वभाव में ही ऐसी शक्ति है; इसलिए अपना चैतन्यद्रव्य ही श्रद्धा -ज्ञान-आनन्द देनेवाला है। ऐसे द्रव्य की ओर उन्मुख होकर, उसका सेवन करने से वह श्रद्धा-ज्ञान और आनन्द की पूर्णता प्रदान करता है।

जय हो ऐसे दिव्यदान दातार की!

[यहाँ ३५वीं भावाभावशक्ति का तथा ३६ वीं अभावभावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[३७-३८]

भावभावशक्ति और अभावाभावशक्ति

भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) पर्याय के भवनरूप भावभावशक्ति।

अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः।

नहीं भवते हुए (अप्रवर्तमान) पर्याय के अभवनरूप अभावाभावशक्ति।

एक-एक शक्ति के वर्णन में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने 'समयसार' का भण्डार खोल दिया है... हरेक शक्ति में शुद्ध आत्मा का रस झर रहा है। किसी भी शक्ति द्वारा आत्मस्वरूप को पहिचानने से स्वभावसन्मुखता होकर अपूर्व आनन्दरस का अनुभव होता है, उसका नाम है 'आत्मप्रसिद्धि'।

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा की अनन्त शक्तियों का वर्णन चल रहा है। आत्मा में कोई भी एक पर्याय विद्यमान वर्तती है-ऐसा 'भावशक्ति' में कहा।३३। आत्मा में वर्तमान पर्याय वर्तती है, उसके अतिरिक्त आगे-पीछे की पर्यायें उसमें अविद्यमान हैं - ऐसा 'अभावशक्ति' में कहा।३४।

वर्तमान में जो पर्याय वर्तती है, वह दूसरे समय अभावरूप हो जाती है-ऐसा 'भावाभावशक्ति' में कहा।३५।

दूसरे समय की जो पर्याय, वर्तमान में अविद्यमान है, वह दूसरे समय प्रगट होती है - ऐसा 'अभावभावशक्ति' में कहा।३६।

अब, त्रिकाली भाव के आधार से वर्तमान भाव का अस्तित्व 'भावभावशक्ति' में कहते हैं, उसमें त्रिकाली के आधार से वर्तमान कहकर द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाते हैं।३७।

और द्रव्य-पर्याय की जो एकता हुई, उसमें पर का और विकार का अत्यन्त अभाव है, वह 'अभाव-अभावशक्ति' में बतलाते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा में 'भवति पर्याय के भवनरूप भावभावशक्ति है,' तथा 'न भवति पर्याय के अभवनरूप अभाव-अभावशक्ति है।'

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने एक-एक शक्ति के वर्णन में 'समयसार' का भण्डार भर दिया है। प्रत्येक शक्ति में शुद्ध आत्मा का रस झर रहा है। किसी भी शक्ति द्वारा यदि आत्मा के स्वरूप को पहिचानने जाये तो अनन्त गुण के पिण्ड—ऐसे भगवान् आत्मा की सन्मुखता होकर अपूर्व आनन्द रस का अनुभव होता है।

मेरा स्वभाव अनन्त गुणों का भण्डार है-ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, वहाँ त्रिकाली शुद्धभाव के आश्रय से उस पर्याय में स्वसंवेदन भाव वर्तता है, उसका नाम 'भाव-भाव' है। त्रिकाली भाव और वर्तमान भाव, दोनों एक होकर वर्तते हैं - ऐसी भावभावशक्ति है। आत्मा त्रिकाल भावरूप रहकर, प्रति समय भावरूप वर्तता है, इस प्रकार भवते भाव का भवन है और आत्मा कभी पररूप नहीं होता; आत्मा में पर का अ-भाव है और वह सदैव अभावरूप ही रहता है-ऐसी अभाव-अभावशक्ति है। इस प्रकार यह शक्तियाँ आत्मा का स्व में एकत्व और पर से विभक्तपना बतलाती हैं। 'भाव-भाव' अर्थात्, गुण का भाव और पर्याय का भाव-ऐसे दोनों भावसहित आत्मा वर्तता है और 'अभाव-अभाव' अर्थात् अपने से भिन्न ऐसे पर द्रव्य-गुण-पर्यायें सदैव अपने में अभावरूप से ही वर्तते हैं; ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मा में हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है-ऐसा लक्ष्य में लेने से उसमें यह सब शक्तियाँ साथ आ ही जाती हैं।

जहाँ शुद्ध चिदानन्द आत्मा का स्वसंवेदन हुआ, वहाँ ज्ञानादि गुण, उस गुणरूप से नित्य रहकर वर्तमान निर्मलपर्यायरूप से वर्तते हैं और उसी प्रकार निर्मलतारूप वर्तते रहेंगे। त्रिकाल भावरूप गुण का भवन-परिणमन होकर वर्तमान पर्यायरूप निर्मलभाव वर्तता है और अब गुण के परिणमन में वैसा ही भाव वर्तता रहेगा। साधक को शुद्धता की वृद्धि होती है, वह अलग बात है किन्तु अब निर्मलभाव में बीच में दूसरा विकारीभाव नहीं आयेगा; गुणों का ज्यों का त्यों निर्मलपरिणमन होता रहेगा-ऐसी यह बात है।

ज्ञान त्रिकाल ज्ञानभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; प्रभुता का भाव त्रिकाल प्रभुतारूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; श्रद्धा त्रिकाल श्रद्धाभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होती है; आनन्द सदैव आनन्दभावरूप रहकर वर्तमान-वर्तमानरूप परिणमित होता है; वीर्य त्रिकाल वीर्यशक्तिरूप रहकर वर्तमानरूप परिणमित होता है—इस प्रकार समस्त गुण अपने-अपने त्रिकालभावरूप रहकर अपनी-अपनी पर्याय के वर्तमान भावरूप परिणमित होते हैं किन्तु ज्ञान परिणमित होकर, अन्य गुणोंरूप हो जाये अथवा अन्य गुण परिणमित होकर, ज्ञानादिरूप हो जायें-ऐसा नहीं होता। 'भाव का भवन' है; इसलिए त्रिकाल भावरूप और वर्तमान भावरूप—ऐसा वस्तु का स्वभाव है, उसका नाम 'भावभावशक्ति' है। अहो! मेरे ज्ञान-दर्शनादि के त्रिकाली भाव जो पहले वर्तते थे, वे ही वर्तते रहेंगे; शक्तिरूप भाव है, उसमें से व्यक्ति प्रगट होगी; ज्ञान-दर्शन के भाव त्रिकाल ज्ञान-दर्शनरूप स्थिर रहकर अपनी-अपनी पर्याय में परिणमित होंगे। ऐसे स्वभाव की जिसने प्रतीति की, उसे अब ज्ञान-दर्शनमय निर्मलपरिणमन ही होता रहेगा; बीच में अज्ञानभाव आये और भटकना पड़े-ऐसा नहीं होता। वर्तमान में जो जानता है, वह भविष्य में भी ज्ञातारूप ही रहेगा; वर्तमान में श्रद्धा करता है, वह भविष्य में भी श्रद्धा करेगा; क्योंकि ज्ञानादि का जो वर्तमान है, वह 'त्रिकाल का वर्तमान' है। त्रिकालीभाव के आश्रय से जो परिणमन हुआ, वह त्रिकाली भाव को जाति का शुद्ध ही होता है और पर का आत्मा में अत्यन्त अभाव है, वह सदैव अभावरूप ही रहता है। रागादि का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है और उस स्वभाव के आश्रय से वर्तमान में भी उस राग के अभावरूप परिणमन हो जाता है—ऐसी आत्मा की 'अभाव-अभावशक्ति है'। राग को जानते हुए ज्ञान, स्वयं रागरूप नहीं हो जाता; ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है।

जिस प्रकार- एक सुवर्ण की खान हो और दूसरी कोयले की, तो जिस ओर उन्मुखता करे, उसी की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानादि निर्मलशक्तियों का भण्डार है, उसके सन्मुख दृष्टि करने से पर्याय में निर्मलता की प्राप्ति होती है; और शरीरादि जड़ हैं, उनकी सन्मुखता से विकार की उत्पत्ति होती है। भाई! अपने आत्मा की शक्ति को पहचान तो उसमें से निर्मलता की प्राप्ति हो।

वर्तमान में जो आत्मा वर्तता है, वहीं भूतकाल में वर्तता था और भविष्य में वही

वर्तेगा—इस प्रकार एक समय में त्रिकाल स्थित रहने की शक्ति आत्मा में विद्यमान है; त्रिकाल भावरूप रहकर, वह उस-उस समय के भावरूप परिणमित होता है। परिणमित होने से वस्तुस्वभाव में कोई फेरफार नहीं हो जाता अथवा उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। आत्मा त्रिकाल एकरूप स्वभाव से वर्तता है और उस त्रिकाली एकरूप स्वभाव के साथ एकता करके वर्तमान भाव भी एकरूप (शुद्धतारूप) ही वर्तता है। जहाँ शुद्धस्वभाव का आश्रय वर्तता है, वहाँ ऐसी शंका नहीं है कि मुझे अशुद्धता होगी अथवा में पिछड़ जाऊँगा। क्योंकि आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है; इसलिए आत्मस्वभाव के आश्रय से जिसका परिणमन है, उसे विकार होने की शंका नहीं होती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को शुद्धपरिणमनपूर्वक शुद्धात्मद्रव्य की प्रतीति होती है। पहले जब कोई शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं था, तब विपरीतदृष्टि से विकार का ही परिणमन होता था, किन्तु अब शुद्धात्मा की दृष्टि में विकार की अधिकता नहीं रही, शुद्धता की ही अधिकता रही—ऐसी शुद्ध आत्मा की दृष्टि में सम्यक्त्वी को विकार का अभाव ही है।

आत्मा की शक्तियाँ अनन्त है किन्तु वह (आत्मा) अनन्त शक्तियों के भावों से अभेद है। आत्मा की किसी भी एक शक्ति के भाव को यथार्थरूप से लक्ष्य में लेने पर, अनन्त शक्तिसम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा ही लक्ष्य में आ जाता है। सम्यक्त्वी की दृष्टि पूर्ण आत्मा को स्वीकार करती है; उस अखण्ड आत्मा की दृष्टि से उसके समस्त गुणों का निर्मलभाव प्रगट होता है। इस प्रकार 'सर्व गुणांश तो सम्यक्त्व है।' शुद्धस्वभाव के आश्रय से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहाँ ज्ञान भी स्वसंवेदन से सम्यक् हुआ; चारित्र में भी आनन्द के अंश का वेदन हुआ; वीर्य का वेग भी स्वोन्मुख हुआ - इस प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ सर्व गुणों में निर्मलता प्रारम्भ हो जाती है; किसी गुण में निर्मलता भले ही कम-अधिक हो, किन्तु प्रतीति में तो पूर्ण निर्मलता आ ही गयी है। सम्यग्दर्शन स्वयं तो श्रद्धागुण की पर्याय है किन्तु उसके साथ ज्ञानादि अनन्त गुणों का भी निर्मलअंश वर्त ही रहा है।

कोई कहे कि सम्यग्दर्शन तो हुआ, किन्तु आत्मा की अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन नहीं हुआ; सम्यग्दर्शन तो हुआ, किन्तु आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान न हुआ; सम्यग्दर्शन तो हुआ, किन्तु वीर्य का वेग आत्मा की ओर नहीं ढला - तो कहनेवाले ने अनन्त गुणों से अभेद आत्मा को माना ही नहीं है; द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप आत्मा के भावों को उसने

जाना ही नहीं है और अपने को सम्यक्त्वी मानकर, वह सम्यग्दर्शन के नाम से अपने स्वच्छन्द का पोषण कर रहा है।

आत्मा की भावभावशक्ति है; इसलिए उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय सदैव भावरूप ही हैं; जहाँ द्रव्यभाव है, वहीं गुण का भाव है; जहाँ द्रव्य-गुण का भाव है, वहीं पर्याय का भाव है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का भाव एक साथ ही है; एक ही पर्याय भले नित्य न रहे, किन्तु पर्यायरहित द्रव्य-गुण कभी नहीं होते। कोई कहे कि आत्मा में ज्ञान-आनन्दशक्ति तो है, किन्तु वर्तमान में उसका कोई भाव भासित नहीं होता, तो ऐसा कहनेवाले ने आत्मा की भावभावशक्ति को नहीं जाना है; निर्मलभाव के भवन सहित ही त्रिकाल भाव की प्रतीति होती है। निर्मलपर्याय हुए बिना, 'भवती पर्याय' वाले आत्मा की प्रतीति कहाँ से होगी? जहाँ आत्मा के स्वभाव का भान हुआ, वहाँ निर्मलपर्यायरूप भवन (परिणमन) होता है। भावभावशक्ति के बल से द्रव्य-गुण और निर्मलपर्यायें, तीनों अभेद होकर शुद्धरूप से वर्तते हैं और उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में विकार का अभाव है। आत्मा की अभावअभावशक्ति का ऐसा बल है कि अपने से भिन्न शरीरादि पदार्थों को, कर्मों को या विकार को वह अपने स्वभाव में प्रवर्तमान नहीं होने देता। आत्मा के द्रव्य में, गुण में और उस ओर उन्मुख हुई शुद्धपर्याय में, - तीनों में विकार का, कर्म का और शरीरादि का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा। द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता में अब कभी टूट नहीं पड़ेगी और विकार के साथ कभी एकता नहीं होगी। विकार, आत्मा के साथ नहीं वर्तेगा, किन्तु पृथक हो जायेगा। ऐसी आत्मशक्ति को प्रतीति में लेकर उसमें एकता करना, वह मोक्ष का उपाय है।

आत्मा में एक ऐसी अभावअभावशक्ति है कि उसके द्रव्य-गुण-पर्याय, पर के अभावरूप ही हैं; आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणों में तथा उसकी पर्यायों में पर का तो अभाव वर्तता ही है; इसलिए कोई निमित्त प्राप्त करूँ तो मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विकास हो, यह बात नहीं रहती। देव-गुरु-शास्त्रादि के निमित्त भले हों, किन्तु आत्मा में तो उनका अभाव है। यहाँ तो तदुपरान्त विकार के भी अभाव की सूक्ष्म बात लेनी है। आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में पर का त्रिकाल अभाव है, उसका तो यह अर्थ हुआ कि पर के आश्रय से होनेवाले परभावों का भी आत्मा में अभाव है तथा 'ज्ञानादि में जो अल्पता है, उसे दूर करके पूर्णता करूँ' - ऐसा भेद भी नहीं रहता। एकरूप शुद्धद्रव्य

की सन्मुखता ही होती है और उस द्रव्य की ओर उन्मुख हुई पर्याय, शुद्ध ही होती जाती है; उसमें विकार का अभाव ही है। ऐसा अभावअभावशक्ति का तात्पर्य है।

जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर हो, उसी को इन शक्तियों का रहस्य समझ में आता है। आत्मा में कर्मों का त्रिकाल अभाव है, वे कर्म कभी आत्मा में भावरूप से नहीं वर्तते। अज्ञानी पुकार करते हैं कि अरे! कर्म, मार्ग नहीं देते किन्तु आचार्यदेव कहते है कि अरे भाई! अपने आत्मा की ओर तो देख! तेरे आत्मा में कर्म तो अनादि से अभावरूप वर्त ही रहे हैं; वे तेरे आत्मा में आये ही नहीं। कर्म का अभाव कहने से कर्म की ओर के विकारी भाव का भी आत्मा के स्वभाव में अभाव है-ऐसा लक्ष्य में आता है और शुद्ध आत्मस्वभाव पर ही दृष्टि जाती है; वहाँ पर्याय में भी विकार का अभाव वर्तता है। त्रिकाल में भी अभाव था और वर्तमान में भी अभाव हुआ - ऐसा अभावअभावशक्ति का निर्मलपरिणमन है। ऐसे आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले, तब जीवतत्त्व को यथार्थ माना कहा जाये। ऐसे जीवतत्त्व का आश्रय करते ही निर्मलपर्यायरूप संवर-निर्जरा तत्त्व प्रगट होते हैं और उसी के आश्रय से पूर्ण शुद्धतारूप मोक्षदशा होती है; तथा पुण्य-पाप-आस्रव और बन्धरूप मलिन तत्त्वों का अभाव हो जाता है; शरीरादि अजीव का तो जीव में अभाव ही था। इस प्रकार इसमें नव तत्त्वों की स्वीकृति आ जाती है तथा उनमें से उपादेय तत्त्वों का अङ्गीकार तथा हेय तत्त्वों का त्याग भी हो जाता है। इसका नाम धर्म है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखें तो यह भगवान आत्मा अनादि से कभी विकाररूप प्रवर्तित ही नहीं हुआ। एक समय की पर्याय के विकार को ही सम्पूर्ण आत्मा मान लेना तो अशुद्धदृष्टि-क्षणिकदृष्टि हो गयी। शुद्ध द्रव्यस्वभाव को जानते हुए उसके सन्मुख होने से पर्याय भी शुद्ध हो जाती है - इस प्रकार शुद्धद्रव्य तथा शुद्धपर्याय की एकतारूप आत्मा प्रतीति में आये, वह सम्यक्श्रद्धा है। यदि अकेले द्रव्य को शुद्ध माने और द्रव्य के साथ शुद्धपर्याय न माने तो वह वेदान्त जैसा हो गया; उसने वास्तव में शुद्धद्रव्य को भी नहीं जाना। शुद्धपर्याय के बिना, शुद्धद्रव्य को जाना किसने? शुद्धद्रव्य को जानते हुए पर्याय शुद्ध न हो-ऐसा नहीं होता; क्योंकि द्रव्य के साथ पर्याय की एकता हुए बिना, उसका यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। इस प्रकार 'विकार का आत्मा में अभाव है'-ऐसा स्वीकार करनेवाला शुद्धद्रव्य की दृष्टि से निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर, तदनुसार स्वीकार

करता है। शुद्धद्रव्य के आश्रय से पर्याय में शुद्धता प्रगट हुए बिना, विकार के अभाव का यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता। यह मुख्य रहस्य है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में कर्म का और विकार का अभाव है; कर्म और विकार के अभावस्वरूप आत्मस्वभाव की जिसे दृष्टि हुई है, उसे ऐसा भय नहीं रहता कि कर्म मुझे हैरान करेंगे अथवा ऐसा सन्देह नहीं होता कि मेरे आत्मा में से विकार प्रगट होगा। वह तो शुद्धस्वभाव की सन्मुखता के बल से निःशंक और निर्भय वर्तता है।

'वर्तमान में तो हमें मिथ्यात्वादि नहीं है किन्तु भविष्य में हुए तो कौन जाने?' – ऐसी जिसे शंका है, उसे तो वर्तमान में ही मिथ्यादृष्टि जानना। अरे भाई! क्या मिथ्यात्वादि भाव तेरे स्वभाव में भरे हैं? स्वभाव में तो उनका अभाव है। यदि ऐसे स्वभाव पर दृष्टि हो तो मिथ्यात्वादि होने की शंका नहीं हो सकती। स्वभाव के बल से वर्तमान में मिथ्यात्वादि का अभाव हुआ और त्रिकाल में भी उनका अभाव ही है। रागादि के अभावरूप स्वभाव है; इसलिए उसमें से रागादि प्रगट हों—यह बात ही नहीं रहती।

आत्मा का स्वभाव, त्रिकाल परभाव के त्यागस्वरूप ही है; परभाव का उसमें अभाव ही है। राग है और उसका अभाव करूँ – ऐसा भी स्वभावदृष्टि में नहीं है। पर्याय में राग का अभाव अवश्य होता जाता है किन्तु 'राग का कुछ अभाव है और सम्पूर्ण अभाव करूँ' – ऐसे भेद के अवलम्बनरहित ज्ञानी की दृष्टि तो शुद्ध एकरूप स्वभाव पर ही है– कि जिसमें रागादि का सदैव अभाव ही है। इस प्रकार राग के अभावरूप चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि ही राग के अभाव का उपाय है। सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में स्वभावबुद्धि में सम्पूर्ण संसार का अभाव हो गया है। ऐसे पूर्ण स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर, उसका आश्रय किया, वहाँ पर्याय में भी राग का अभाव ही है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में राग का अभाव ही है और अभाव ही रहेगा।

'सिद्ध को विकार क्यों नहीं होता?' –तो कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव में ऐसी अभावअभावशक्ति है कि विकार का अपने में अभाव ही रखता है। सिद्धभगवान को वह स्वभाव विकसित हो गया है; इसलिए उन्हें विकार नहीं होता। 'कर्म नहीं हैं; इसलिए सिद्ध को विकार नहीं होता;'–ऐसा कहना, वह तो निमित्त का कथन है। वास्तव में तो विकाररूप होने का आत्मा का स्वभाव ही नहीं है; इसलिए सिद्ध को विकार नहीं होता।

आत्मा की ऐसी शक्ति है कि उसके ज्ञानगुण की पर्याय सदैव ज्ञानरूप ही हो; श्रद्धा का परिणमन श्रद्धारूप ही हो; आनन्द का परिणमन आनन्दरूप ही हो; इस प्रकार समस्त गुण अपने-अपने भावरूप रहकर ही परिणमित हों, ऐसा स्वभाव है। ऐसा आत्मा वह लक्ष्य है और लक्ष्य के आश्रय से निर्मलपर्याय होती रहती है। ज्ञान, अज्ञानरूप परिणमित हो; श्रद्धा, मिथ्यात्वरूप परिणमित हो अथवा आनन्द, दुःखरूप परिणमित हो तो वह परिणमन, स्वद्रव्य के आश्रय से नहीं हुआ है। गुण के साथ एकत्व होकर निर्मलपरिणमित हो, उसी को वास्तव में गुण का परिणमन कहा जाता है। विकार वास्तव में गुण की परिणति नहीं, वह तो अद्धर से (ध्रुव के आधार बिना) होनेवाला क्षणिक परिणाम है। यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुव के आधार से जो निर्मलपरिणमन हो, वही सच्चे भाव का भवन है। शक्तिवान शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणमन होने से, ध्रुवउपादान और क्षणिकउपादान दोनों शुद्धरूप परिणमित होते हैं—दोनों की एकता होती है और बीच में से विकार की अड़चन निकल जाती है। ध्रुवउपादान और क्षणिकउपादान, इन दोनोंरूप वस्तुस्वभाव है।

आत्मा, ध्रुव रहकर वर्तमान-वर्तमान निर्मलभावरूप परिणमित हो, ऐसी भाव-भावशक्ति है तथा त्रिकाल में और वर्तमान में दोनों में पर का तथा विकार का अभाव ही रखे—ऐसी अभावअभावशक्ति है। यह दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा में एक साथ वर्तती हैं। ऐसा इस ३७ तथा ३८वीं शक्ति में बतलाया।

इस प्रकार ३३-३४, ३५-३६ तथा ३७-३८ इन छह शक्तियों में भाव-अभाव सम्बन्धी कुल छह बोल कहे। मिथ्यात्व का अभाव होकर वर्तमान सम्यक्त्वपर्याय प्रगट होती है, उसमें यह छह बोल निम्नानुसार लागू होते हैं—

१. सम्यक्त्वपर्याय वर्तमान विद्यमान वर्तती है, वह 'भाव' (३३)

२. वर्तमान सम्यक्त्वपर्याय में पूर्व की मिथ्यात्वपर्याय अविद्यमान है तथा भविष्य की केवलज्ञानपर्याय भी अविद्यमान है, वह 'अभाव' (३४)

३. पहले समय मिथ्यात्व भावरूप था, वह वर्तमान में अभावरूप हुआ, वह 'भाव-अभाव'; (अथवा जो सम्यग्दर्शनपर्याय वर्तमान भावरूप है, वह दूसरे समय अभावरूप हो जायेगी, वह 'भाव-अभाव') (३५)

४. पूर्व समय में सम्यक्त्व का अभाव था और वर्तमान समय में वह प्रगट हुआ, वह 'अभाव-भाव' (अथवा दूसरे समय की जो सम्यक्त्वपर्याय वर्तमान अभावरूप है, वह दूसरे समय भावरूप होगी - यह 'अभाव-भाव'।) (३६)

५. श्रद्धागुण नित्य श्रद्धाभावरूप रहकर सम्यक्त्वपर्याय के भावरूप हुआ है, वह 'भाव-भाव' (३७)

६. श्रद्धा के सम्यक्परिणमन में पर का तथा मिथ्यात्वादि का अभाव है और अभाव ही रहेगा, वह 'अभाव-अभाव।' (३८)

इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा के परिणमन में वे छहों धर्म एक साथ ही वर्तते हैं। इसी प्रकार सम्यक्त्वपर्याय की भाँति केवलज्ञान-सिद्धदशा आदि में भी वे छहों प्रकार एक साथ लागू होते हैं, उन्हें समझना चाहिए।

'अभाव-भाव' कहने से वर्तमान में जो पर्याय हुई, वह पहले अभावरूप थी; इस प्रकार उसमें 'प्राक्अभाव' आ जाता है। तथा 'भाव-अभाव' कहने से वर्तमान में जो पर्याय विद्यमान है, वह बाद के समयों में अभावरूप हो जायेगी; इस प्रकार, उसमें 'प्रध्वंस -अभाव' आ जाता है। प्रध्वंस-अभाव कहने से जीव में अपने से भिन्न ऐसे द्रव्य-गुण -पर्याय का त्रिकाल अभाव ही है; इस प्रकार उसमें 'अत्यन्त-अभाव' भी आ जाता है और 'अन्योन्य अभाव' तो पुद्गलों की वर्तमान पर्यायों में ही परस्पर लागू होता है।

भाव-अभाव सम्बन्धी जो छह शक्तियाँ कहीं, वे एक-सी नहीं हैं किन्तु प्रत्येक में अन्तर है।

प्रश्न - पहले ३३ वीं 'भाव' शक्ति कही और ३७वीं भावभावशक्ति कही, उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - 'भावशक्ति' में तो वर्तमान पर्याय की बात थी, वह तो भविष्य में अभावरूप हो जायेगी, जबकि 'भावभावशक्ति' में तो जो ज्ञानादि भाव हैं, वे त्रिकाल ज्ञानादि भावरूप ही रहते हैं; उनका कभी अभाव नहीं होता। इस प्रकार दोनों में अन्तर है।

प्रश्न - ३४ वीं 'अभावशक्ति' कही और ३८ वीं 'अभावअभावशक्ति' कही, उन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर - जो 'अभावशक्ति' कही, उसमें तो वर्तमान पर्याय में भूत-भविष्य की पर्याय के अभाव की बात है और इस 'अभावअभावशक्ति' में तो त्रिकाल अभाव की बात है; जैसे कि साधक को भविष्य की केवलज्ञानपर्याय का वर्तमान में जो अभाव है, वह अभावशक्ति में आता है किन्तु 'अभावअभावशक्ति' में वह नहीं आता। क्योंकि यदि वह केवलज्ञानपर्याय अभावअभावरूप हो, तब तो वह सदैव अभावरूप ही रहेगी; इसलिए भविष्य में भी कभी केवलज्ञान प्रगट हो नहीं होगा; किन्तु भविष्य में वह भावरूप हो सकती है और पर का आत्मा में अभाव है, वह तो त्रिकाल अभावरूप ही रहता है, भविष्य में वह आत्मा में भावरूप नहीं बर्तेगा: इसलिए वह अभावअभावशक्ति में आता है।

प्रश्न - ३५ वीं 'भावअभावशक्ति' कही और ३६ वीं 'अभावभावशक्ति' कही। उन दोनों में क्या अन्तर है?

उत्तर - 'भाव-अभाव' में विद्यमान पर्याय का व्यय होने की बात है और 'अभाव-भाव' में अविद्यमान पर्याय की उत्पत्ति होने की बात है। इस प्रकार एक ही समय में दोनों होने पर भी, उनमें विपक्षा भेद है।

एक साथ अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा को प्रतीति में लेकर उसके साथ ज्ञान की एकता करना, सो मोक्ष का उपाय है।

[यहाँ ३७ वीं भावभावशक्ति का तथा ३८ वीं अभावअभावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[३९]

भावशक्ति

कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः।

(कर्ता, कर्म आदि) कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होनेमात्रमयी) भावशक्ति।

आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के सामर्थ्यवाला है। अपने सुखादि भावों के लिए पर को कारक बनाये - ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है... जिसे आनन्दमय सच्चा जीवन जीना हो, उसे अन्तर्मुख होकर आत्मा में ढूँढ़ना है... अन्तरदृष्टि से जहाँ चैतन्यस्वभाव का सेवन किया, वहाँ चैतन्यभगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि-माँग! माँग! जो चाहिए हो, वह माँग ले! इस चैतन्य राजा के पास सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के समस्त पद प्रदान करने की शक्ति है; इसलिए इस चैतन्यराजा की सेवा करके उसे ही प्रसन्न कर, दूसरों से न माँग, बाहर न देख; अन्तर-अवलोकन कर!

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा, ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध होता है तथापि वह एकान्त ज्ञानस्वरूप ही नहीं है, ज्ञान के साथ अन्य अनन्त शक्तियाँ स्थित हैं; इसलिए भगवान आत्मा अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों का वर्णन अनेक प्रकार से अलौकिक रीति से आ गया है। अभी तक ३८ शक्तियों का वर्णन हुआ, अब ९ शक्तियाँ शेष हैं। उनमें से ३९वीं 'भावशक्ति' में स्वभावरूप छह कारक बतलायेंगे और उसके बाद कर्म-कर्ता-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण तथा सम्बन्ध—इन सातों शक्तियों का आत्मा के स्वभावरूप से वर्णन करके आचार्य भगवान ४७ शक्तियों का कथन समाप्त करेंगे।

कैसी है आत्मा की भावशक्ति? कर्ता-कर्म आदि कारकों के अनुसार जो क्रिया, उससे रहित भवनमात्रमयी (होने मात्रमय) भावशक्ति है। पहले ३३वें बोल में भावशक्ति

का कथन किया था, वहाँ तो अवस्था की विद्यमानता बतलायी थी और यह भावशक्ति भिन्न है। इस भावशक्ति में कारकों से निरपेक्षपना बतलाते हैं।

दु:ख दूर करके सुखी होने के लिये सुख कहाँ ढूँढ़ें–उसकी यह बात है। भाई! तेरा सुख तुझमें है और तेरा आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होने के सामर्थ्यवाला है। पर को कारक बनाकर, उससे सुख लेना चाहेगा तो कभी सुख प्राप्त नहीं होगा। अपने सुखादि भावों के लिये, पर को कारक बनाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। कर्ता–कर्म आदि भिन्न–भिन्न कारकों के अनुसार जो क्रिया हो, उसरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, किन्तु उससे रहित परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के द्रव्य–गुण या पर्याय अपने से भिन्न अन्य किसी कारक के आधार से स्थित रहें – ऐसा आत्मा का पराधीन स्वभाव नहीं है किन्तु अन्य कारकों से रहित, स्वयं अपने भावरूप परिणमित हो – ऐसा उसका स्वभाव है। यदि ऐसे स्वभाव में ढूँढ़े, तभी सुख प्राप्त हो सकता है; अन्य कारणों में ढूँढ़े तो सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

हीरों का हार अपने गले में पहिना हो, उसे अपने गले में देखे तो मिल सकता है, किन्तु बावला बनकर अन्यत्र बाह्य में ढूँढ़े तो नहीं मिल सकता और उलझन दूर नहीं हो सकती। उसी प्रकार सुख अपने में जहाँ भरा है, वहाँ ढूँढ़े तो मिलता है। आत्मा में सुखस्वभाव भरा है, उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढे तो मिल सकता है, किन्तु बाह्यवृत्ति से बावले की भाँति बाह्य में ढूँढ़े तो सुख मिल नहीं सकता और दु:ख दूर नहीं हो सकता। सुख और सुख के कारक आत्मा में ही हैं, बाह्य में नहीं हैं; इसलिए जिसे वास्तविक सुख एवं आनन्दमय जीवन जीना हो, उसे अन्तर्मुख होकर आत्मा में ढूँढ़ना है। पर में सुख नहीं है, राग में सुख नहीं है; इसलिए पर में या राग में ढूँढ़ने से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा में भरपूर सुख है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढ़े तो सुख का अनुभव हो। सुख, प्रभुता, सर्वज्ञता आदि समस्त शक्तियाँ आत्मा में भरी हैं, उसमें ढूँढ़े तो मिल सकती हैं।

तो फिर क्या करें? कहते हैं कि सन्तों के उपदेशानुसार आत्मा की शक्तियों को पहिचानकर प्रतीति करना, अन्तरोन्मुख होकर उनमें एकाग्र होना। उनमें एकाग्रता से ज्ञान–आनन्द–प्रभुता प्रगट होती है... आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

जहाँ अन्तर्दृष्टिपूर्वक चैतन्यस्वभाव का सेवन किया, वहाँ चैतन्यभगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि माँग..माँग!! तुझे क्या चाहिए? जो चाहिए हो माँग ले! केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द देने की शक्ति मुझमें है। जो कुछ चाहिए हो, वह आत्मा की शक्ति में भरा ही है; इसलिए आत्मा की शक्ति का विश्वास करके जो कुछ चाहिए हो, वह उससे माँग... आत्मा में एकाग्र हो... बाह्य में न ढूँढ़... सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के समस्त पद प्रदान करने की शक्ति इस चैतन्यराजा में है; इसलिए इस चैतन्यराजा की सेवा करके उसे प्रसन्न कर... दूसरों के पास भीख न माँग...बाह्य में न देख; अन्तर-अवलोकन कर।

आत्मा कहाँ है? जहाँ आत्मा है, वहीं ढूँढ़ तो मिलेगा। आत्मा अपने से बाहर कहीं नहीं है; इसलिए बाह्य में ढूँढ़ने से आत्मा के गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मा के गुण, आत्मा से बाहर नहीं हैं; आत्मा में ही हैं। भाई! तेरी प्रभुता तुझमें है...बाह्य में न ढूँढ़...अपनी प्रभुता के लिये बाह्यसामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता न कर, क्योंकि बाह्यसामग्री से तुझे तेरी प्रभुता प्राप्त नहीं हो सकती। बाह्यसामग्री से निरपेक्षरूप स्वयं अकेला छह कारकरूप (कर्ता-कर्म-कारण आदि) होकर केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित हो जाये—ऐसा स्वयंभू भगवान यह आत्मा है। आत्मा को ही 'प्रभु' कहा है, आत्मा को ही 'भगवान' कहा है। अहो! अपनी प्रभुता छोड़कर, पर को कौन ढूँढ़े? ऐसा स्पष्ट स्वभाव होने पर भी पामर जीव, अपनी प्रभुता को पर में ढूँढ़ते हैं। उन्हें आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीवों! तुम्हारी प्रभुता तुममें ही भरी है... अन्तर-अवलोकन करके उसे ढूँढ़ो! अन्तर्मुख होकर अपनी प्रभुता को धारण करो और पामरबुद्धि छोड़ो!

अहो! अपनी प्रभुता को भूले हुए पामर जीव, निमित्त और राग के पास जाकर अपनी प्रभुता की भीख माँगते हैं और भिखारीरूप में चौरासी लाख योनि के अवतार में परिभ्रमण करते हैं। आचार्यदेव उन्हें उनकी प्रभुता का दान देते हैं, -उनकी प्रभुता बतलाते हैं। अरे जीव! तेरे स्वभाव में प्रभुता का कल्पवृक्ष है; यह आत्मा ही चैतन्य कल्पवृक्ष है, उसके पास जाकर प्रभुता की याचना कर तो तुझे अवश्य अपनी प्रभुता मिलेगी। प्रभुता से भरे हुए अपने चैतन्यचिन्तामणि का चिन्तवन कर तो उसके चिन्तवन से सम्यग्दर्शनादि प्रभुता प्रगट हो। प्रभुता का निधान अपने में भरा है, उसे बाह्य में ढूँढ़े तो कहाँ से मिलेगा? अहो! तुम्हें तुम्हारी प्रभुता के निधान बतला रहे हैं...उन्हें एक बार तो देखो... आत्मा की

प्रभुता को देखने का कुतूहल-रुचि-उमंग करो और तुम्हें अपनी प्रभुता प्राप्त न हो-ऐसा नहीं हो सकता। जो अपने अन्तरस्वभाव में ढूँढ़े, उसे प्रभुता अवश्य प्राप्त होगी ही।

आत्मा, ज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रभुतावाला है; यहाँ विविध शक्तियों द्वारा उसकी प्रभुता बतलाते हैं। यदि इन शक्तियों द्वारा आत्मा यथार्थ स्वरूप समझ ले तो पर से निराले परिपूर्ण स्वरूप की प्रतीति हो जाये। आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का जो वर्णन किया है, उस प्रत्येक शक्ति के वर्णन में विविधता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ परस्पर विलक्षण, अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षणवाली हैं; इसलिए समस्त शक्तियों में एक की एक बात नहीं, किन्तु नयी-नयी बात है। आत्मा की विशालता की ओर जिसका लक्ष्य न हो, ज्ञान का रस न हो, उसे नये-नये पक्षों से समझने में अरुचि उत्पन्न होती है किन्तु यदि अनेक पक्षों से समझे तो ज्ञान की निर्मलता और दृढ़ता बढ़ती जाये और अन्तर में चैतन्य के प्रति रस तथा उल्लास प्रगट हो, तथा स्वयं को अनुभव हो कि मेरी पर्याय में नये-नये भाव प्रगट होते जा रहे हैं और सूक्ष्मता बढ़ रही है। अन्तर में ज्यों-ज्यों गहराई तक उतरे, त्यों-त्यों सूक्ष्म रहस्य समझ में आयेंगे; इसलिए अन्तर में इस बात की अपूर्वता लाकर समझने के लिये अपूर्व प्रयत्न करने योग्य है।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की अनेक शक्तियों में से इस समय ३९वीं भावशक्ति का वर्णन हो रहा है। कर्ता-कर्मादि कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से रहित, शुद्धभावरूप हो—ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। राग-द्वेष का या शुभभाव का (राग का) अनुसरण करके आत्मा, शुद्धभावरूप हो—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का जो शुद्धभाव हुआ, उसका राग, कर्ता नहीं है; राग, कर्म नहीं है; राग, सम्प्रदान नहीं है; राग, अपादान नहीं है या राग, अधिकरण नहीं है। इस प्रकार कारकों के अनुसार होनेवाली क्रिया से वह रहित है तथा आत्मा स्वयं भी स्वभाव से राग का कर्ता नहीं है, राग का कर्म नहीं है, करण नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, तथा अधिकरण भी नहीं है; उसी प्रकार राग का और स्वभाव का स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है। राग करे और उसके फल को भोगे, ऐसा आत्मा के स्वभाव में है ही नहीं। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञान-आनन्दमय है; आनन्द का उपभोग करे - ऐसा उसका स्वभाव है; पर के या विकार के कारकों का अनुसरण करे - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

'शुभराग या शरीरादि की क्रिया, वे किसी प्रकार के आत्मा के धर्म के कारण हैं ?- किसी प्रकार उनका आधार है ?' -तो कहते हैं कि नहीं; उन रागादि की क्रिया के अनुसार न हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है। पर्याय में एक समयपर्यन्त विकार की योग्यता हो, उसे आत्मा की त्रैकालिक शक्ति नहीं कही जाती; त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा में विकाररूप होने की योग्यता भी नहीं है-ऐसा समझाना है। आत्मा की किसी शक्ति के स्वभाव में रागादि का कर्ता-कर्म-करण सम्प्रदान-अपादान अथवा अधिकरणपना नहीं है और उस त्रिकाली स्वभाव का अनुसरण करके जो निर्मलभाव हुआ, वह भाव भी रागादि कारकों का अनुसरण नहीं करता। इस प्रकार कारकों के अनुसार होनेवाली रागादि क्रिया से रहित, परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्नः- राग-द्वेष और अज्ञानरूप भी आत्मा परिणमित होता तो है न ?

उत्तरः- एक समयपर्यन्त की अवस्था के विकार को अज्ञानी ही अपने कार्यरूप से स्वीकार करता है और उसका फल, संसार है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है तो उसे आत्मा कैसे कहा जायेगा ? आत्मा की कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि पर के साथ कारकों का सम्बन्ध रखे ! पर का अनुसरण करने से विकार होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उसे आत्मा नहीं कहते। एक-एक समय मिलकर अनन्त काल विकारी-परिणमन में व्यतीत हुआ, तथापि दो समय का विकार, आत्मा में एकत्रित नहीं हुआ तथा एक समयपर्यन्त का जो विकार है, वह भी आत्मा के स्वभावरूप नहीं हो गया है; इसलिए स्वभावदृष्टि में राग को आत्मा के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं है; वह करण नहीं है-साधन नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, आधार नहीं है, और उनके साथ आत्मा को स्वस्वामित्वपने का सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नः- तो फिर राग-द्वेष किसने किये ?

उत्तरः- आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है, उसने ! एक समयपर्यन्त की विपरीत मान्यता से आत्मा को राग-द्वेषरूप ही मानकर, उन रागादि को अपना माना है। सम्यक्त्वी तो एक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को ही अपना मानता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात परमार्थतः राग-द्वेष का कर्तृत्व माना ही नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वी अपने शुद्धात्मस्वरूप के साथ रागादि को एकमेक नहीं करता।

'जैनदर्शन में तो बस! कर्म की ही बात है और कर्म से ही सब कुछ होता है—ऐसा भगवान ने कहा है' – इस प्रकार अज्ञानी मानते हैं किन्तु उन्हें जैनदर्शन की खबर नहीं है। जैनदर्शन में तो अनन्त शक्तिसम्पन्न अनेकान्तस्वरूप शुद्ध आत्मा की ही मुख्यता है और विकार के समय उसे निमित्तरूप से कर्म होते हैं–ऐसा भगवान ने बतलाया है। कर्मरूप होने की शक्ति पुद्गल की है। आत्मा, जड़कर्मों का बन्ध करे या उन्हें दूर करे अथवा जड़कर्म, आत्मा को हैरान करें—ऐसा कहने का भगवान का आशय नहीं है। आत्मा, पर की अवस्था नहीं करता और परपदार्थ, आत्मा की अवस्था नहीं करते; अपने-अपने छह कारकों से ही प्रत्येक द्रव्य की अवस्था होती है। पर्याय में विकार और उसके निमित्तरूप कर्म हैं, वे जाननेयोग्य हैं किन्तु उतना ही आत्मा को मानकर उसके आश्रय में रुके तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता; इसलिए व्यवहारनय, ज्ञान में जाननेयोग्य है किन्तु वह आदरणीय नहीं है–ऐसा जिनशासन में आचार्यदेव ने ढिंढोरा पीटकर कहा है।

जीव और पुद्गल दोनों एक-दूसरे से निरपेक्षरूप से स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमन करते हैं। पंचास्तिकाय को ६२वीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि निश्चय से अभिन्न कारक होने से जीव को तथा कर्म को, दोनों को स्वयं अपने-अपने स्वरूप का ही कर्तृत्व है। '**...स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते...**' पुद्गलद्रव्य स्वयं ही छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना ही कर्मरूप से परिणमित होता है तथा जीव भी अपने औदयिकादि भावोंरूप से '**...स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकांतरमपेक्षते...**' स्वयमेव छह कारकरूप होकर, अन्य कारकों की अपेक्षा बिना ही परिणमित होता है। इस गाथा का भावार्थ बतलाते हुए श्री जयसेनाचार्यदेव लिखते हैं कि- '**अयमत्र भावार्थः। यथैवाशुद्धषट्कार की रूपेण परिणममानः सन्नशुद्धमात्मानं करोति तथैव शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-रूपेणाभेदषट्कारकीवभावेन परिणममानः शुद्धमात्मानं करोतीति**' जिस प्रकार अशुद्ध छह कारकों रूप से परिणमित होता हुआ अशुद्ध आत्मा को करता है; उसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप से अभेद छह कारक स्वभाव से परिणमित होता हुआ शुद्ध आत्मा को करता है। इस प्रकार अशुद्धता में तथा शुद्धता में अन्य कारकों से निरपेक्षपना है।

दूसरा निमित्त हो भले, किन्तु उस समय उससे निरपेक्षरूप से ही वस्तु परिणमित होती है। 'अपने को योग्य जीव के परिणाम प्राप्त करके, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्म अन्य कर्ता से निरपेक्षरूप ही उत्पन्न होते हैं... **कर्त्रंतरनिरपेक्षाण्येवोत्पद्यते**' - ऐसा पंचास्तिकाय की ६६ वीं गाथा में कहा है। (विशेष के लिये देखिये गाथा ६२ तथा ६६)।

अन्य कारकों से निरपेक्षपना बतलाकर आचार्यदेव ने अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। व्यवहार से अन्य जितने कारक कहे जाते हों, उन सबसे निरपेक्षरूप ही जीव-पुद्गल का परिणमन है। ऐसा निरपेक्षपना जानले तो पराश्रय छूटकर, स्वाश्रय से शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे।

और प्रवचनसार की १२६वीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि-संसारदशा में या साधकदशा में भी आत्मा अकेला ही स्वयं कर्ता-कर्म-करण और कर्मफल है; अन्य कोई उसका सम्बन्धी नहीं है तथा १६वीं गाथा में कहा है कि शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा, स्वयमेव छह कारकरूप होता है; इसलिए 'स्वयंभू' है। निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है।* (*इन दोनों गाथाओं के विस्तृत अवतरण इसी लेख में आगे आयेंगे।)

स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होकर फिर ऐसा जानता है कि पूर्व काल में रागादिरूप भी मैं ही अकेला परिणमित होता था; मेरा वह परिणमन किसी पर के कारण नहीं था और अब स्वभावरूप परिणमित होने से ऐसा भी भान हुआ कि पूर्व काल में जो रागादि रूप परिणमन था, वह मेरा स्वभाव नहीं था—इस प्रकार ज्ञानी, द्रव्य-पर्याय दोनों की यथार्थरूप से जानता है।

यहाँ आचार्यदेव द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से कहते हैं कि-आत्मा में विकार के छह कारकानुसार क्रिया होने का अभाव है; आत्मा भेदरूप छह कारकों की क्रिया से रहित है। और शुद्ध छह कारकानुसार होनेरूप क्रियाशक्ति है-यह बात अब अगली शक्ति में कहेंगे।

● राग को कर्ता बनाकर आत्मा उसके अनुसार धर्मरूपी कार्य करे—ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।

● राग को कर्म बनाकर आत्मा उसका कर्ता हो, ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

● इसी प्रकार राग को साधन बनाकर आत्मा उससे धर्म को साधे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

पहले पर्याय में रागादि का कर्ता-कर्मपना था, किन्तु जहाँ पर्याय अन्तरोन्मुख हुई, वहाँ वह कर्ता-कर्मपना नहीं रहा। अज्ञानभाव के समय रागादि कारकों को अनुसरण करता था, किन्तु जहाँ अन्तरोन्मुख होकर अभेदस्वभाव का अनुसरण किया, वहाँ भेदरूप कारकों का अनुसरण करने की क्रिया नहीं रही। इस प्रकार अपने स्वभाव का अनुसरण करे और भेदरूप कारकों का अनुसरण न करे—ऐसी आत्मा की भावशक्ति है। जो शुद्धभाव हुआ, वह अपने स्वभाव का ही (अभेदरूप छह कारकों का ही) अनुसरण करता है और भेदरूप कारकों का—राग का या पर का अनुसरण नहीं करता।

निमित्त के अनुसार होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे विलक्षण निमित्त आयें, वैसा ही विलक्षण परिणमन होता है-ऐसा माननेवाला निमित्त का ही अनुसरण करता है किन्तु आत्मा का अनुसरण नहीं करता; इसलिए जो निमित्त का अनुसरण नहीं करता—ऐसे आत्मस्वभाव की-आत्मा की (भावशक्ति की) उसे खबर नहीं है। अपने स्वभाव से भिन्न अन्य कारकों की अपेक्षा के बिना, निरपेक्षरूप से स्वयं अपने निर्मलभावरूप से परिणमित होता है-ऐसी आत्मा की भावशक्ति है।

प्रवचनसार की 16वीं गाथा में सर्वज्ञ हुए आत्मा का स्वयंभूरूप से वर्णन करते हुए आचार्य भगवान ने अद्भुत बात कही है; वहाँ स्पष्ट कहते हैं कि-

'शुद्धोपयोग की भावना के प्रभाव से समस्त घातिकर्म नष्ट हो जाने के कारण जिसने शुद्ध अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वभाव प्राप्त किया है - ऐसा आत्मा—'

(१) शुद्ध अनन्त शक्तिवान ज्ञायकस्वभाव के कारण स्वतन्त्र होने से, जिसने कर्तापने का अधिकार ग्रहण किया है - ऐसा,

(२) शुद्ध अनन्त शक्तिवाले ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण, स्वयं ही प्राप्य होने से (स्वयं ही प्राप्त होता है; इसलिए) कर्मपने का अनुभव करता हुआ,

(३) शुद्ध अनन्त शक्तिवाले ज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाव के लक्षण, स्वयं ही साधकतम (उत्कृष्ट) होने से करणपने को धरता हुआ,

(४) शुद्ध अनन्त शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण, स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होता है; इसलिए (अर्थात्, कर्म स्वयं को दिया जाता है; इसलिए) सम्प्रदानपने को धारण करता हुआ,

(५) शुद्ध अनन्त शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होने के समय पूर्व काल में प्रवर्तित विकलज्ञानस्वभाव का नाश हो जाने पर भी, सहज-ज्ञानस्वभाव द्वारा स्वयं ही ध्रुवत्व का अवलम्बन करता है; इसलिए अपादानपने को धारण करता हुआ, और

(६) शुद्ध अनन्त शक्तिवान ज्ञानरूप से परिणमित होनेवाले स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से, अधिकरणपने को आत्मसात करता हुआ;

-इस प्रकार स्वयमेव छह कारकरूप होता है; इसलिए 'स्वयंभू' कहलाता है।

इससे ऐसा कहा कि-निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतन्त्र होते हैं।

पर से निरपेक्ष रहकर ज्ञान-आनन्दरूप परिणमित होने के अपने स्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता और बाह्य कारणों को ही ढूँढ़ता है; इसलिए वह व्यर्थ ही दु:खी-व्याकुल होता है; कहीं स्थिर नहीं होता। स्थिरता तो अन्तर में करना है, किन्तु उसे तो वह जानता नहीं है। आतमराम को जाने बिना, कहाँ आराम करेगा!

यहाँ कहते हैं कि बाह्य कारण तो दूर रहो...किन्तु विकार के कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक-जो आत्मा की पर्याय में होते हैं, उनके अनुसार परिणमित होने का भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर के कारण, विकार होता है या पर के कारण, गुण होता है-ऐसा जो माने, उसने तो बाह्य कारकों को आत्मा में माना है और वह तो मिथ्यात्वी है तथा भेदरूप कारकों से विकाररूप परिणमित होता है—ऐसा ही आत्मा की माने और शुद्ध आत्मा को न जाने तो उसने भी आत्मा के वास्तविक स्वभाव को नहीं जाना है; वह भी मिथ्यात्वी है। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव हुए, वे द्रव्य के साथ अभेद हुए, वहाँ कर्ता और कर्म तथा आधार आदि समस्त कारक अभेद हुए; कर्ता अलग, कर्म अलग और साधन कोई दूसरा—ऐसा भेद वहाँ नहीं रहा। ज्ञाता स्वयं ही छह कारकरूप होकर, शुद्धभावरूप

परिणमित हुआ है, वहाँ भेदरूप कारकों की क्रिया अस्त हो गयी है।

देखो, इसमें निमित्त आदि कारक तो निकाल दिये, क्योंकि उनका तो आत्मा में अभाव है-१, विकारी कारक भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है; इसलिए द्रव्यदृष्टि में उन्हें भी निकाल दिया-२, और निर्मल छह कारकों के भेद की दृष्टि भी निकाल दी-३, इस प्रकार अभेदस्वभाव के आश्रय से भेदरूप कारकों की क्रियारहित शुद्धभावरूप से आत्मा परिणमित होता है। आत्मा, निर्मल छह कारकरूप से अभेद परिणमित होता है; छह कारकों के भेद पर लक्ष्य रहे तो राग होता है और अभेद आत्मा के आश्रय से शुद्धभावरूप से आत्मा का परिणमन हो जाता है, उसमें भेदरूप कारकों का अवलम्बन नहीं है; इसलिए अभेद का ही अवलम्बन है-ऐसा इस भावशक्ति में बतलाया।

(१) शुद्धभावरूप सम्यक्त्वादि कार्य हुआ, वह आत्मा का कर्म;

(२) आत्मा स्वतन्त्ररूप से उसरूप परिणमित होता है; इसलिए उसका कर्ता;

(३) आत्मा द्वारा ही वह भाव किया गया है; इसलिए आत्मा साधकतम करण;

(४) आत्मा में से ही वह भाव प्रगट हुआ है; इसलिए आत्मा सम्प्रदान;

(५) वह भाव प्रगट होकर आत्मा में ही रहा है; इसलिए आत्मा अपादान है;

(६) वह भाव आत्मा के ही आधार से हुआ है; इसलिए आत्मा ही अधिकरण है।

- इस प्रकार शुद्धभाव में अपने ही छह कारक अभेदरूप है परन्तु भेदरूप कारकों का आत्मा अनुसरण नहीं करता, वह इस प्रकार-

(१) सम्यक्त्वादि शुद्धभावरूप कार्य हुआ, वह राग का कार्य नहीं है, क्योंकि रागभाव उसरूप परिणमित नहीं हुआ है।

(२) सम्यक्त्वादि शुद्धभाव का कर्ता, राग नहीं है।

(३) उस शुद्धभाव का साधन, राग नहीं है; इसलिए राग उसका करण नहीं है;

(४) वह शुद्धभाव प्रगट होकर राग में नहीं रहा; इसलिए राग उसका सम्प्रदान नहीं है;

(५) वह शुद्धभाव, राग में से नहीं आया; इसलिए राग उसका अपादान नहीं है।

(६) वह शुद्धभाव, राग के आधार से नहीं है; इसलिए राग उसका अधिकरण नहीं है।

– इस प्रकार रागादि कारकों का अनुसरण किये बिना ही स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव है, उसे यह भावशक्ति बतलाती है। भाव, अर्थात् शुद्धभावरूप से भावना-परिणमित होना; उस शुद्धभावरूप से स्वयं भवने की (स्वयं परिणमित होने की) आत्मा की शक्ति है, उसमें आत्मा से भिन्न अन्य किन्हीं कारकों का अवलम्बन नहीं है।

अहो! निरालम्बी चैतन्य की अपूर्व बात है! किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने चैतन्यतत्त्व का अवलम्बन कभी नहीं किया है। एक बार आत्मा की अचिन्त्यशक्ति को पहिचाने तो बाह्य में कहीं मोह न रहे...और अन्तर्मुख होने पर अल्पकाल में मुक्ति हो जाये। ऐसी आत्मस्वभाव समझने के लिये अन्तर से प्रेम आना चाहिए; अन्तर में अत्यन्त रुचिपूर्वक-अत्यन्त जिज्ञासापूर्वक-**अत्यन्त पात्रतापूर्वक -अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अपनी मानकर यह बात समझना चाहिए। जिसने एक बार भी भावभासनपूर्वक अपने आत्मा में इस बात के संस्कार जमा लिये, उसे वे संस्कार फलित होकर सिद्धदशा हो जायेगी-इसमें कोई सन्देह नहीं है।** जो यह बात समझ ले, उसके आत्मा में से संसार की ओर के (मिथ्यात्वादि के) छहों कारकों का परिणमन छूटकर, मोक्ष की ओर के कारकों का परिणमन (स्वभाव के आश्रय से) होने लगे।

'स्वतन्त्र परिणमित हो, वह कर्ता।' रागभाव कहीं सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता, किन्तु आत्मा स्वयं ही स्वतन्त्ररूप से सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है; इसलिए आत्मा ही उन सम्यग्दर्शनादि का कर्ता है; राग उनका कर्ता नहीं है।

'कर्ता का इष्ट, वह कर्म।' सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप परिणमित होना ही आत्मा का इष्ट है और आत्मा उसका कर्ता है। इसके अतिरिक्त निमित्त को या राग को इष्ट मानकर उसी के अनुसार जो मिथ्यात्वभावरूप से परिणमित होता है, उसे वास्तव में आत्मा नहीं कहते, वह तो आस्रवतत्त्व में जाता है।

उसी प्रकार कर्ता का साधकतम साधन, वह करण है। आत्मा को सम्यग्दर्शनादि

इष्ट कार्यरूप परिणमित होने में पर या रागादि सच्चे साधन नहीं हैं किन्तु अपना स्वभाव ही साधकतम होने से उसका साधन है; इसलिए आत्मा ही करण है। निमित्तों को या राग को साधन मानकर जो उसके आश्रय से परिणमित होता है, उनके सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्य नहीं होता, किन्तु मिथ्यात्वादि होता है।

उसी प्रकार कर्ता अपना कार्य जिसे दे, वह सम्प्रदान; आत्मा अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य राग को या निमित्त को नहीं देता; इसलिए राग या निमित्त उसके सम्प्रदान नहीं हैं; आत्मा अपने स्वभाव में ही अभेदरूप से उसे रखता है; इसलिए आत्मा ही उसका सम्प्रदान है।

जिसमें से कार्य लिया जाए अथवा कार्य में जो ध्रुवरूप स्थित रहे, वह अपादान है। संयोग और राग तो छूट जाता है; इसलिए वह अपादान नहीं है; सम्यग्दर्शनादि कार्य में आत्मा ही अखण्डरूप से स्थित रहनेवाला है और उसी में वह कार्य लिया जाता है; इसलिए वही अपादान है।

उसी प्रकार राग या निमित्त, उस सम्यग्दर्शनरूपी कार्य का आधार भी नहीं है; राग के या निमित्त के आधार से वह कार्य नहीं होता; इसलिए राग उसका अधिकरण नहीं है किन्तु स्वभाव ही उसका आधार होने से अधिकरण है।

इस प्रकार यह भगवान आत्मा शुद्धभावरूप परिणमन में पर के कारकानुसार होनेवाली क्रिया से रहित है; पर के कारकानुसार होनेवाली जो विकारीक्रिया, उससे रहित शुद्धभावरूपभवनमात्र शक्तिवाला आत्मा है, उसमें अन्तरोन्मुख होने से ही कल्याण है।

आत्मा का स्वभाव क्या है, उसकी यह बात चल रही है। पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूप विकार करता है, वह भी जीव स्वयं ही उलटे पुरुषार्थ से करता है किन्तु वह जीव का सच्चा स्वरूप नहीं है। विकार को हितरूप मानने से जीव, संसार में दुःख भोग रहा है। विकाररहित अपना वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे पहिचाने तो सच्चे अनुभव द्वारा दुःख दूर होकर, मुक्ति हो; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव, भिन्न कारकों के अनुसार विकाररूप से या हीनतारूप से परिणमित होने का तेरा स्वभाव नहीं है किन्तु उससे रहित शुद्धतारूप तथा पूर्णतारूप परिणमित होने का तेरा स्वभाव है। पर से निरपेक्षता

होने पर अपने स्वभाव से पूर्णता ही है। बस! पूर्णता...पूर्णता और पूर्णता ही है–ऐसे स्वभाव का स्वीकार, वह सम्यग्दर्शन है और ऐसे स्वभाव से च्युत होकर पर को कारक मानकर, अज्ञानदशा में विकाररूप भी स्वयं अपने कारकों से परिणमित होता है; कोई दूसरा उसे परिणमित नहीं करता।

प्रवचनसार की १८६ वीं गाथा में कहते हैं कि–'यह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण –त्यागरहित होने पर भी अभी संसारावस्था में, परद्रव्य के परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए (पराश्रय करने में निमित्त बनाते हुए) ऐसे केवल स्वपरिणाममात्र का–वह स्वपरिणाम द्रव्यत्वभूत होने से, उसका कर्तृत्व अनुभवता हुआ, अपने उसी स्वपरिणाम को निमित्तमात्र करके, कर्मपरिणाम को प्राप्त करती हुई—ऐसी पुद्गल रज द्वारा विशिष्ट अवगाहरूप से ग्रहण होता है और कदाचित् छूटता है।' **'स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स'** –ऐसा मूल सूत्र भगवान ने ही कहा है, उसमें से यह स्पष्ट अर्थ टीकाकार आचार्यदेव ने खोला है। विकारीपरिणाम भी आत्मा के अस्तित्व में होते हैं, स्वकृत होने से आत्मा के आश्रय से, अपने कारण से होते हैं; इसलिए उन्हें **'दव्वजादस्स'** कहा है और उन स्वपरिणामों का कर्ता, आत्मा ही होता है–ऐसा बतलाया है। किन्तु जहाँ शुद्ध चिदानन्दस्वरूप को दृष्टि में लेकर उसके सन्मुख हुआ, वहाँ वह अशुद्धपरिणमन नहीं रहता और गौणरूप से अल्परागादि रहे, उसका कर्तृत्व भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में नहीं रहता। साधकदशा में विकारीकारकों की क्रियारहित निर्मलभाव से स्वयं ही परिणमित होता है। इस प्रकार बन्धमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है।

इस सम्बन्ध में प्रवचनसार गाथा १२६ में कहते हैं कि– 'जो पुरुष इस प्रकार, कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल, आत्मा ही है– ऐसा निश्चय करके वास्तव में परद्रव्यरूप से परिणमित नहीं होता, वही पुरुष, परद्रव्य के साथ सम्पर्क जिसका रुक गया है और द्रव्य के भीतर पर्यायें जिसके प्रलीन हुई हैं—ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है किन्तु अन्य कोई ऐसे शुद्ध आत्मा को उपलब्ध नहीं करता।'

पुनश्च, यह बात विशेष स्पष्टरूप से समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि– 'जब मैं संसारी था, तब भी (अज्ञानदशा में भी) मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं था; उस समय भी

मैं अकेला था, कारण कि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतन्त्र था (अर्थात्, स्वाधीनरूप से करता था;) मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम (उत्कृष्ट साधन) था; मैं अकेला ही कर्म- (कार्य) था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य (प्राप्त होनेयोग्य) था; और मैं अकेला ही सुख से विपरीत लक्षणवाला 'दु:ख' नाम का कर्मफल था-कि जो (फल) उपरक्त चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता था।'

'...इस समय भी (मुमुक्षुदशा में, अर्थात् ज्ञानदशा में भी) सचमुच मेरा कोई भी नहीं है। इस समय भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ, कारण कि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतन्त्र हूँ (अर्थात्, स्वाधीनरूप से करता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण, आत्मा से प्राप्य हूँ, और मैं अकेला ही अनाकुलता लक्षणवाला 'सुख' नाम का कर्मफल हूँ- कि जो (फल) सुविशुद्ध चैतन्यरूप से परिणमित होने के स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता है।'

'इस प्रकार बन्धमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही है—ऐसा भानेवाला यह पुरुष, परमाणु की भाँति एकत्वभावना में उन्मुख होने से (अर्थात्, एकत्व के भाने में तत्पर-लगा हुआ होने से), उसे परद्रव्यरूप परिणति बिलकुल नहीं होती और परमाणु की भाँति (अर्थात्, जिस प्रकार एकत्वभावरूप परिणमित होनेवाला परमाणु, पर के साथ संग को प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार), एकत्व को भानेवाला पुरुष, पर के साथ संयुक्त नहीं होता; इसलिये परद्रव्य के साथ असंयुक्तता के कारण, वह सुविशुद्ध होता है और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से भाता हुआ, वह पुरुष पर्यायों से संकीर्ण (खण्डित) नहीं होता और इसलिए पर्यायों द्वारा संकीर्ण न होने के कारण सुविशुद्ध होता है।'

विकारदशा के समय भी उसके छहों कारक यद्यपि आत्मा में हैं किन्तु उन अशुद्ध छह कारकों के अनुसार परिणमित होने का आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है- ऐसा यहाँ

बतलाना है। आत्मा में एक ऐसा अनादि-अनन्त भाव है कि जो पर का या विकार का कर्ता नहीं होता। आत्मा की अनन्त शक्तियों में विकार की कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान या अधिकरण हो, ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है, वह तो मात्र क्षणिक पर्याय का धर्म है; इसलिए अनन्त शक्तिवान अखण्ड आत्मा की दृष्टि में तो उसका अभाव ही है। ऐसे स्वभाव की ओर उन्मुख होकर शुद्धभावरूप से परिणमित होने पर, धर्मी को भान हुआ कि-अहो! विकारीकारकों की क्रिया के अनुसार परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है; अभेदस्वभाव में एकत्वरूप से शुद्धभावरूप परिणमित होने का ही मेरा स्वभाव है।

शरीर-मन-वाणी का, परजीव का या पुण्य-पाप का कर्ता होकर परिणमित होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में एक समय पर्यन्त की विकार की अमुक योग्यता है, उसे धर्मी जानते हैं, किन्तु उसे शुद्धस्वभाव में नहीं लेते—उसे आदरणीय नहीं मानते; इसलिए शुद्धस्वभाव के आदर की दृष्टि में विकार का अभाव ही वर्तता है। यदि विकार के अभावरूप त्रिकाल निर्दोषस्वभाव की दृष्टि छोड़कर, अकेले विकारभाव को ही जानने में रुके तो वहाँ एकान्त पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्व होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इन ४७ शक्तियों में सम्पूर्ण समयसार का दोहन करके आत्मा का स्वरूप बतलाया है। यह सूक्ष्म अन्तर का विषय है। संक्षेप में बहुत रहस्य भर दिया है। अन्तर की गहराई में उतरकर समझे, वह उसकी गम्भीरता की महिमा समझ सकता है।

इस भगवान आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सब शक्तियाँ कैसी हैं ?—

(१) आत्मा की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि शरीरादि पर का कार्य करे; इसलिए जो पर का कर्तृत्व मानता है, उसने आत्मा की शक्ति को नहीं पहिचाना है।

(२) पर्याय में एक समयपर्यन्त का जो विकार है, वह शक्ति में नहीं भरा है; इसलिए उस विकार के कर्तव्य में ही जो रुके, उसे आत्मा की शक्ति की प्रतीति नहीं है।

(३) अनन्त शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी उन सब शक्तिस्वरूप आत्मा तो एक है; इसलिए भिन्न-भिन्न शक्ति के भेद के लक्ष्य से भी सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति में नहीं आता।

इस प्रकार पर, विकार और भेद - इन तीनों से पार एकाकार चैतन्यस्वभाव की दृष्टि

से ही अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा प्रतीति तथा अनुभव में आता है और ऐसे आत्मा की प्रतीतिवाला जीव, भेद के आश्रय से होनेवाली विकारीक्रिया को या जड़ की क्रिया को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करता; इसलिए उसे अभेदस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि परिणमन होते हैं, वह धर्म है और वही धर्म की क्रिया है।

इस प्रकार स्वाश्रय अभेदरूप कारकों में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारीक्रिया की नास्ति है और अभेदरूप कारक के आश्रय से होनेवाली निर्मलक्रिया की अस्ति है। उसमें से भेदकारकों के अनुसार होनेवाली विकारीक्रिया का नास्तिपना इस ३९वीं शक्ति में बतलाया और अभेदाश्रित निर्मलभाव होनेरूप क्रिया का अस्तिपना अगली शक्ति में बतलायेंगे।

जिसे रागादि व्यवहार के आश्रय की भावना है अथवा वह करते-करते निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति होगी- ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; वह रागरहित आत्मस्वभाव को नहीं मानता। सम्यक्त्वी की दृष्टि में अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का ही अवलम्बन है और उसी की भावना है; साधकपने में व्यवहाररत्नत्रयादि का राग भले हो, किन्तु उसकी उसे भावना नहीं है।

अहो! अपने चैतन्यतत्त्व को वास्तविकरूप से जानकर जीव ने उसकी भावना पूर्व काल में कभी नहीं की है। एक क्षण भी जिसकी भावना करने से अनन्त काल के जन्म-मरण छूट जायें, ऐसे चैतन्यतत्त्व की यह अपूर्व बात है। अपूर्व रुचिपूर्वक बारम्बार इसका श्रवण-मनन और भावना करनेयोग्य है।

देह से भिन्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा, त्रिकाल स्थायी होने पर भी प्रतिक्षण पलटनेरूप क्रिया भी उसमें होती है। यदि ऐसी क्रिया न हो तो वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। कहा है कि:-

'करता परिणामी दरब, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया परजय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।'

(-नाटक-समयसार)

परिणमित होनेवाला द्रव्य, वह कर्ता है; जो परिणाम होता है, वह उसका कर्म है

और एक पर्याय से दूसरी पर्याय में परिवर्तित होनेरूप क्रिया है। यह तीनों वस्तुरूप से एक हैं; अर्थात् कर्ता एक वस्तु और उसका कर्म दूसरी वस्तु में-इस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तु में कर्ता-कर्मपना नहीं होता। यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कर्ता होकर शरीरादि के कार्य को करे, ऐसा तो नहीं है और आत्मा, कर्ता होकर रागादि को करे - ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा कर्ता होकर अपने निर्मलपरिणाम को करे, वही उसका स्वभाव है।

आत्मा परिवर्तित होकर अपनी ज्ञानादि पर्यायोंरूप होता है किन्तु वह बदलकर कभी जड़ शरीररूप नहीं होता; इसलिए आत्मा, शरीर के कार्यों का कर्ता नहीं है। शरीर की क्रियारूप से तो जड़परमाणु बदलते हैं। जो वस्तु जिस कार्यरूप परिणमित हो, उसी को उसका कर्ता कहा जाता है। आत्मा कहीं शरीर के कार्यरूप परिणमित नहीं होता और वास्तव में राग में अभेद होकर भी परिणमित नहीं होता; आत्मा तो अपने निर्मल ज्ञान-दर्शनादिपर्यायरूपी कार्य में अभेद होकर परिणमित होता है, इसलिए उसी का वह कर्ता है और वही उसका कर्म है। इसके बदले जो विकार में तन्मयता मानकर परिणमित हो, वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो, यह आत्मा की क्रिया का वर्णन! इसमें क्रिया का उत्थापन नहीं होता, किन्तु वास्तविक धर्म की क्रिया की स्थापना होती है। हाँ! जगत, जड़ की और विकार की क्रिया में धर्म मान रहा है, उस बात की उत्थापना होती है और शुद्धभावरूप धर्म की क्रिया की सम्यक्रूप से स्थापना होती है। जितने तीर्थंकर-सन्त-मुनि-धर्मात्मा हुए हैं और होंगे, उन सबने इसी क्रिया से धर्म किया है और कहा है। भगवान ने और सन्तों ने तीन प्रकार की क्रिया स्थापित की है-

(१) शरीरादि की क्रिया को **जड़ की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

(२) राग-द्वेष-मोहरूप विकार को **अधर्म की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

(३) आत्मा के सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव को **धर्म की क्रिया के** रूप में स्थापित किया है।

इसके अतिरिक्त शरीरादि जड़ की क्रिया से या पुण्यादि की विकारीक्रिया से धर्म हो-इस बात की भगवान ने स्थापना नहीं, किन्तु उत्थापना की है। जिस प्रकार कुलीन

पिता अपने पुत्र को सीख देता है; उसी प्रकार इस आत्मा के धर्मपिता सर्वज्ञ भगवान और सन्त सीख देते हैं कि-हे वत्स! हे भाई! शरीर की क्रिया में या राग में धर्म मानना तो बाह्य वृत्ति है; उस बाह्य वृत्ति में तेरी शोभा नहीं है; इसलिए तू उस बाह्यवृत्ति को छोड़। बाह्य भावों से चिदानन्दस्वभाव को लाभ मानना और उनमें रमण करना तो कुचाल है, उसमें तेरा कुल-तेरा चैतन्यस्वरूप लज्जित होता है, तेरे चैतन्यस्वभाव की कुलीनता में वह शोभा नहीं देता; इसलिए तू उसे छोड़ दे। तू हमारे कुल का है; इसलिए हमारी भाँति सर्वज्ञ-वीतराग होने का तेरा स्वभाव है; तुझमें सर्वज्ञ वीतराग होने की पूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसे तू सँभाल! देखो, यह सर्वज्ञ पिता की सीख! सर्वज्ञ प्रभु की सीख, सर्वज्ञ-वीतराग होने की ही है। जो स्वयं वीतराग हुए, वे राग रखने को सीख क्यों देंगे? जो जीव, राग को रखनेयोग्य मानता है, उसने सर्वज्ञप्रभु की सीख नहीं मानी है; इसलिए वह सर्वज्ञदेव की आज्ञा से बाहर है, मिथ्यादृष्टि है।

[-यहाँ ३९ वीं भावशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४०]

क्रियाशक्ति

कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः।

कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति।

स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं छह कारकरूप होकर, अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों को करे - ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में है। अपने निर्मलभावरूप क्रिया करने के लिये उसे किन्हीं बाह्यकारकों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। अहो! परमात्मा होने की शक्ति स्वयं अपने में ही भरी होने पर भी जीव, अपनी प्रभुता के निधान को नहीं देखते और बाह्य में भटकते हैं; इसलिए संसार में परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की शक्तियों का वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलाते हैं कि-देखो रे देखो! चैतन्य के निधान देखो!! अरे जीवों! तुम्हारे अन्तर के ऐसे निधान बतलाता हूँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाये और आत्मा में अपूर्व आह्लाद जागृत हो... जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश-प्रदेश में रोमांच हो जाये कि- 'अहो! ऐसी मेरी प्रभुता!!' - ऐसी अचिन्त्य प्रभुता आत्मा में विद्यमान है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। प्रत्येक आत्मा में यह शक्तियाँ त्रिकाल स्वयंसिद्ध हैं; इन शक्तियों को कहीं नया नहीं उत्पन्न करना पड़ता, किन्तु उन्हें पहिचानकर, पर्याय में प्रगट करना होता है। अपने आत्मा की अनन्त शक्तियों को पहिचानने से पर्याय में उनका व्यक्त वेदन होता है, उसका नाम धर्म है।

'कारकों के अनुसार होनेरूप जो भाव, उसमयी क्रियाशक्ति आत्मा में है।' ३९वीं शक्ति में भेदरूप कारकों के अनुसार होनेवाली विकारीक्रिया से रहितपना बतलाया है और इस शक्ति में अभेदरूप शुद्धकारकों के अनुसार होनेवाली निर्मलक्रिया सहितपना बतलाते हैं। अपने स्वभाव का ही अनुसरण करके निर्मलभावमय हो - ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में है किन्तु आत्मा, पर की क्रिया करे या पर का अनुसरण करके क्रिया करे - ऐसी उसकी क्रियाशक्ति नहीं है। अपने स्वभाव का ही अवलम्बन रखकर एक अवस्था में से दूसरी

निर्मल अवस्थारूप परिणमित हो – ऐसी क्रियाशक्तिवाला आत्मा है किन्तु आत्मा पलटकर परभावरूप हो जाये – ऐसी उसकी शक्ति नहीं है।

प्रश्नः– पर्याय में विकारीभावरूप भी आत्मा परिणमित तो होता है ?

उत्तरः– यह आत्मा की शक्ति का वर्णन है। शक्ति, अर्थात् आत्मा का वैभव; उसमें विकार की बात क्यों आयेगी ? विकार तो दीनता है; आत्मा के वैभव में उस दीनता का अभाव है। शक्तिसन्मुख देखनेवाले को अपनी परिपूर्णता ही भासित होती है और परिपूर्णतारूप आत्मवैभव के आधार से, पर्याय में से विकाररूपी दीनता छूट जाती है। पर्याय में विकार होने पर भी, वह शक्ति के आधार से नहीं हुआ है तथा आत्मा की शक्तियों में भी ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वह विकार की कर्ता हो। शुद्धभाव से छह कारकरूप होकर स्वयं परिणमित होने के स्वभाववाला है–इस सम्बन्ध में पहले (३९वीं शक्ति के वर्णन में प्रवचनसारादि का आधार देकर) बहुत कहा जा चुका है।

प्रथम तो आत्मा का स्वभाव क्या है, उसका सत्समागम से बारम्बार श्रवण करके, उसका उल्लास लाकर, उसका ग्रहण और धारण करके, दृढ़ निर्णय करना चाहिए। यथार्थ निर्णय किये बिना, प्रयत्न का बल अन्तरोन्मुख नहीं होता; आत्मा के स्वभाव का निर्णय करके उसमें अन्तर्मुख होने से सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट होते हैं। ऐसे निर्मलभावों को स्वयं छह कारकरूप होकर करे – ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है। आत्मा को अपने निर्मलभावरूप क्रिया करने के लिये किन्हीं बाह्यकारकों का आश्रय नहीं लेना पड़ता तथा आत्मा कारक होकर, जड़ की या राग की क्रिया करे – ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। अपने ही कारकों का अनुसरण करके अपने वीतरागभावरूप परिणमित होने की ही क्रिया करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है। देखो, इसमें अकेली स्वभावदृष्टि ही होती है और बाह्य में किसी के आश्रय से लाभ होता है–इस दृष्टि का नाश हो जाता है। अपने स्वभाव के आश्रय से ही अपनी परमात्मदशा प्रगट होती है; आत्मा को अपनी परमात्मदशा प्रगट करने के लिए किसी अन्य का आश्रय लेना पड़े अथवा अन्य कोई उसे मदद करे – ऐसा है ही नहीं।

अभी तक अनन्त जीव, परमात्मा ही गये हैं; जो परमात्मा हुए हैं, वे सभी अपने

स्वभाव के कारकों के अनुसार परिणमित होकर ही परमात्मा हुए हैं; आत्मा के अतिरिक्त बाह्यपदार्थों को कर्ता बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; आत्मा के अतिरिक्त बाह्यपदार्थों को संप्रदान या अपादान बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; बाह्यपदार्थों का आधार लिये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं और बाह्यपदार्थों के सम्बन्ध बिना ही वे परमात्मा हुए हैं। अल्पज्ञता का नाश करके परमात्मदशारूप परिणमित होनेरूप जो क्रिया हुई, उसके स्वयं ही कर्ता हैं; अपना आत्मा ही उसका साधन है; अपना आत्मा ही उसका सम्प्रदान और अपादान है; अपना अत्मा ही उस परमात्मदशा का आधार है, और अपने स्वभाव के साथ ही उसका सम्बन्ध है। इस प्रकार बाह्य छह कारकों के अनुसार शुद्धभावरूप से स्वत: परिणमित होने की क्रिया करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

अहो! परमात्मा होने की शक्ति स्वयं अपने में ही भरी होने पर भी जीव, अपनी प्रभुता के निधान को नहीं देखत और बाह्य में भटकते हैं; इसलिए संसार में परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्मा की शक्तियों का वर्णन करके, उसकी प्रभुता बतलाते हैं।

देखो रे देखो! चैतन्य के निधान देखो!! अरे जीवों! तुम्हारे अन्तर के ऐसे चैतन्य निधान बतलाऊँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाये और आत्मा में अपूर्व आह्लाद जागृत हो... जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश-प्रदेश में रोमांच हो जाये कि- 'अहो! ऐसी मेरी प्रभुता!!' ऐसी अचिंत्य प्रभुता आत्मा में विद्यमान है। भाई! तेरे आत्मा में ऐसी प्रभुता है कि जगत में अन्य किसी की भी सहायता के बिना, स्वत: अकेला ही अपने में से अनन्त ज्ञान और आनन्द प्रगट करके तू स्वयं परमात्मा हो जाये – ऐसी तेरी शक्ति है। एक बार तो अन्तर में दृष्टि करके अपनी प्रभुता को देख! दृष्टि करते ही निहाल कर दे – ऐसा तेरा स्वभाव है। तू अपने स्वभाव की प्रभुता का विश्वास रखकर, उसके आधार से शुद्धभावरूप परिणमित होने की क्रिया कर और दूसरा कोई साधन होकर तुझे परिणमित कर देगा – ऐसी व्यर्थ की आशा छोड़ दे। अरे अपनी ही अपने को खबर न हो तो फिर सुखी कैसे होगा? अपने को ही भूलकर बाह्य में भटकता फिरे तो उसे सुख कहाँ से मिलेगा? इसलिए अन्तर में मेरा आत्मा क्या वस्तु है कि जिसमें मेरा सुख भरा है! इस प्रकार अन्तर्शोध करके आत्मा का पता लगाना चाहिए। आत्मा की सत्ता के अतिरिक्त अन्यत्र तो कहीं सुख का अस्तित्व है ही नहीं।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा, चौथे गुणस्थान में असंयमी हो, गृहस्थदशा में व्यापार-धंधा -घर-बार वर्तते हों, तथापि उसके अन्तर में सदैव आत्मा के वैभव का भान वर्तता है। अरे! आठ वर्ष की बालिका को या मेंढक के आत्मा को भी ऐसे आत्मा का भान हो सकता है। यह शरीर तो ऊपर का खोल है; वह कहीं आत्मा नहीं है, आत्मा तो अन्तर में पृथक् है। जब वह जागकर अपने स्वरूप का भान करे, तब कर सकता है। यह ४७ शक्तियाँ आदि शब्द बोलना उसे भले न आये, किन्तु इन शक्तियों के वाच्यरूप भाव आत्मा में हैं, वे उसके संवेदन में आ जाते हैं। आत्मा की सम्पूर्ण प्रभुता उसकी प्रतीति में आ जाती है; स्वतः छह कारकरूप होकर निर्मलभावरूप से परिणमित होने की क्रिया उसके आत्मा में हो जाती है। अन्तर्मुख होकर ऐसी क्रिया करने में ही कल्याण है; अन्य किसी प्रकार से कल्याण नहीं है। 'अरे! मेंढ़क और आठ वर्ष की बालिका के आत्मा भी ऐसा आत्मभान करते हैं तो मुझसे क्यों नहीं होगा?' - इस प्रकार आत्मा में उल्लास लाकर-आत्मा का विश्वास लाकर प्रयत्न करना चाहिए। जो ऐसा प्रयत्न करेगा, उसे आत्मा के आनन्द का अपूर्व अनुभव होगा ही।

देखो भाई! यह कोई साधारण बात नहीं और न साधारण पुरुष की कही हुई है; यह तो परमात्मपद की साधना करनेवाली वीतरागी सन्तों ने आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते आत्मा की अचिन्त्य शक्तियों का अद्भुत वर्णन किया है। अन्तर के अनुभव की यह वस्तु है। वीतरागी सन्तों ने आत्महित के लिये यह जो मार्ग बतलाया है, वही परम सत्य है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो वह जीव, वीतरागी सन्तों को या उनके कहे हुए वीतरागी शास्त्रों को नहीं मानता; भगवान को या भगवान के कहे हुए मार्ग को नहीं जानता; आत्मा के वीतरागी ज्ञानस्वभाव की उसे खबर नहीं है।

प्रत्येक आत्मा में विद्यमान अनन्त शक्तियों का ऐसा वर्णन सर्वज्ञ के वीतराग शासन के अतिरिक्त अन्य कहाँ है? अनेकान्त, उस सर्वज्ञ भगवान् के शासन का अमोघ लांछन (चिह्न) है; उस अनेकान्त के द्वारा ही आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है। प्रत्येक शक्ति के वर्णन में महान रहस्य आ जाता है। एक भी शक्ति को यथार्थ पहिचान ले तो उसमें शक्तिमान ऐसे द्रव्य को मान लिया; द्रव्य के गुणों को मान लिया; उसकी पर्याय को मान लिया; विकार को मान लिया; परिणमन मान लिया; विकाररहित होने के स्वभाव का मान

लिया; प्रत्येक आत्मा की पृथक्ता को मान लिया; पर-वस्तुएँ भी हैं, वे आत्मा से भिन्न हैं; आत्मा उनका अकर्ता है, - यह सब रहस्य इसमें समा जाता है। अनेकान्त के बिना एक भी वस्तु का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अनेकान्त शासन, अर्थात् सर्वज्ञ का शासन-जैनशासन -वस्तुस्वभाव का शासन, उसके सिवा अन्यत्र कहीं यह बात नहीं है।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की ४१५ गाथाओं में तो आत्मस्वभाव का वैभव भर दिया है और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने उसका दोहन करके उसके रहस्य खोले हैं, वे स्वयं कुन्दकुन्द प्रभु के गणधर समान हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीर्थङ्कर जैसे कार्य किये हैं और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गणधर जैसे। अहो! इस काल उन सन्तों का महान उपकार हैं। सन्तों ने ढिंढोरा पीटकर जगत के समक्ष वस्तुस्वरूप की घोषणा की है।

शुद्ध छह कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव है, उसके आधार से अपने अनन्त गुणों की निर्मल परिणमित होने की क्रिया करे - ऐसी शक्ति आत्मा में है। स्वसन्मुख निर्मलपरिणमन में छहों कारक अभेद हैं। अभेदस्वभाव पर दृष्टि जाने से आत्मा स्वयं निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हो जाता है, उसमें छहों कारक अपने ही हैं। कर्ता, स्वयं; कर्म, स्वयं; साधन, स्वयं; सम्प्रदान, स्वयं; अपादान, स्वयं, और अधिकरण भी स्वयं ही है; इसलिए हे जीव! अपने धर्म के लिये तू अपने में ही देख... व्यर्थ व्यग्र होकर बाह्य में कारणों को न ढूँढ़; क्योंकि तेरे धर्म के कारण, बाह्य में नहीं हैं। अपने छह कारकों का अनुसरण करके परमात्मदशारूप परिणमित हो जाये - ऐसी प्रभुता तुझमें ही भरी है। अपनी प्रभुता को कहीं बाह्य में न ढूँढ़... अपनी प्रभुता के लिये बाह्यसामग्री को (-शरीर को निमित्त को या रागादि को) ढूँढ़ने की व्यग्रता न कर। बाह्यसामग्री के बिना स्वयं अकेला अपने छह कारकोंरूप केवलज्ञानरूप से परिणमित हो जाये - ऐसा स्वयंभू भगवान स्वयं ही है। अहो! ऐसी अपनी प्रभुता को छोड़कर, पर को कौन ढूँढ़े? बाह्य में साधनों के लिये कौन भटके!!

ध्रुवउपादानरूप और क्षणिकउपादानरूप स्वभाववाला आत्मा स्वयं ही है। ध्रुवउपादान त्रिकाल शुद्ध है; उसके आधार से क्षणिकउपादान (पर्याय) शुद्ध हो जाता है। उस समय दूसरे योग्य निमित्त भले हों, किन्तु सचमुच वे कारक नहीं हैं, उन निमित्तों का

अनुसरण करके आत्मा शुद्धतारूप परिणमित नहीं होता, किन्तु अपने स्वभाव का अनुसरण करके ही वह शुद्धतारूप से परिणमित होता है–ऐसा भगवान् आत्मा का स्वभाव है।

'भगवान' या 'प्रभु' ऐसे शब्द आये, वहाँ जीव की दृष्टि बाह्य में जाती है किन्तु भाई रे! जो भगवान हो गये, उनकी यह बात नहीं है; उन्हें कहीं यह बात नहीं समझाते; यह तो तेरे आत्मा की बात है। इस आत्मा को ही हम भगवान् कहते हैं और आत्मा को ही 'प्रभु' कहते हैं। जो भगवान और प्रभु हुए, वे कहाँ से हुए? आत्मा में शक्ति है, उसी में से हुए हैं और इस आत्मा में भी ऐसी शक्ति है; अन्तर्दृष्टि के बल से उस शक्ति को खोलकर यह आत्मा भी भगवान् और प्रभु हो सकता है; इसलिए प्रथम अपने स्वभाव की ऐसी शक्ति का विश्वास कर और उसकी महिमा ला। फिर उस स्वद्रव्य के आश्रय से एकाग्र होने पर, पर के कारकों की अपेक्षा बिना अपने ही कारकों से तेरा आत्मा, प्रभुतारूप परिणमित हो जायेगा। आत्मा अपनी प्रभुता दूसरे को नहीं देता और दूसरे की प्रभुता को अपने में स्वीकार नहीं करता तथा दूसरे के पास से अपनी प्रभुता नहीं लेता। हे जीव! तू अपनी ऐसी प्रभुता को धारण कर। 'प्रभुता प्रभु तेरी साँची...' शक्तिरूप से तो सभी आत्माओं में प्रभुता है किन्तु उसका सम्यक्भान करके पर्याय में प्रभुता व्यक्त करे, उसकी बलिहारी है। प्रभुता के भान के बिना तो उल्टा (पामरता; दीनतारूप) परिणमन है।

'ऐसा राग हो तो मुझे लाभ हो और ऐसा निमित्त हो तो मुझे लाभ हो' – इस प्रकार राग के और निमित्त के निकट जाकर जो अपनी प्रभुता मानता है, वह दीन भिखारी है; उसे प्रभुता कहाँ से मिलेगी? दीन भयो प्रभु पद जपै, मुकति कहाँ से होय? प्रभुता की शक्ति तो स्वयं में भरी है, उसे पहिचानकर उसका भजन–सेवन करे तो प्रभुता प्राप्त हो।

अरे जीव! तेरे स्वभाव में प्रभुता का कल्पवृक्ष लगा है, उसकी छाया में जाकर प्रभुता माँग तो तुझे अवश्य तेरी प्रभुता की प्राप्ति हो। हाथ में कोयला या पत्थर लेकर चिन्तवन करे तो कुछ नहीं मिलता, किन्तु चिन्तामणि लेकर चिन्तवन करे तो बाह्यवैभव की प्राप्ति होती है; उसी प्रकार शरीर को या रागरूपी कोयले को लेकर चिन्तवन करे तो उससे कहीं आत्मा की प्रभुता प्राप्त नहीं होती, किन्तु आत्मा का स्वभाव स्वयं चैतन्य-चिन्तामणि है, उस चिन्तामणि का चितवन करे तो प्रभुता की प्राप्ति हो... अर्थात् मैं ही प्रभुता

से परिपूर्ण चैतन्य चिन्तामणि हूँ – इस प्रकार अपने आत्मा का चिन्तवन करने से आत्मा स्वयं प्रभु हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अपनी प्रभुता, दूसरे के पास से माँगे, वह तो दीन होकर चार गतियों में परिभ्रमण करता है; इसलिए आचार्यदेव आत्मा की प्रभुता बतलाते हैं कि अरे जीव! तेरी प्रभुता के निधान तुझे बतला रहे हैं। उन्हें एकबार तो देख! अपने निधान को देख तो सही! अपने स्वभाव की प्रभुता को देखने का कुतूहल-रुचि उमंग करे तो उसे प्रभुता मिले बिना न रहे। निरपेक्षरूप से अपने वीतरागी छह कारकोंरूप होकर प्रभुतारूप से परिणमित होने की क्रिया करे – ऐसी आत्मा की क्रियाशक्ति है। ऐसे निरपेक्षस्वभाव का भान होने पर, स्व-पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान विकसित हो जाता है और यथार्थ निमित्त कैसे होते हैं – ऐसी निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धरूप सापेक्षता को भी वह ज्ञान यथार्थरूप से जानता है। निरपेक्षता को पहिचाने बिना, अकेली सापेक्षता का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

विकारदशा में भी आत्मा स्वयं ही अशुद्ध छह कारकोंरूप होकर परिणमित होता है; कोई अन्य उसे परिणमित करनेवाला नहीं है, परन्तु इन शक्तियों में तो आत्मा के शुद्धस्वभाव का वर्णन है; इसलिए यहाँ अशुद्धता की बात नहीं आती। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण ३९वीं शक्ति में आ गया है। यहाँ तो आत्मा अपने स्वभाव का स्वसंवेदन करके शुद्धतारूप से परिणमित हो-ऐसी ही बात है।

प्रश्नः- अनेक लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है; इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता?

उत्तरः- यह बात मिथ्या है। आत्मा, अरूपी होने से वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह सत्य है परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से तो आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। मति-श्रुतज्ञान भी जब अन्तरोन्मुख होते हैं, तब उन्हें अतीन्द्रियपना है और उन मति-श्रुतज्ञान में भी आत्मा स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष होता है। स्वयं को उसका अनुभव होता है। यदि स्वयं को अपने स्वसंवेदन का निःशंक अनुभव न हो तो निःशंकता के बिना साधक कैसे होगा और वह आत्मा को साधेगा किस प्रकार? साधक जीव (चौथे गुणस्थानवर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि भी) अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा को जानता है। आत्मा

में ही 'स्वयं प्रकाशमान विशद स्पष्ट स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति' है; इसलिए आत्मा स्वयं अपने ज्ञान से ही अपना स्पष्ट-प्रत्यक्ष स्वानुभव करे - ऐसा उसका स्वभाव है।

स्वयं अपने ही छह कारकों द्वारा, इन्द्रियादि कारकों की सहायता के बिना, ज्ञाता -सन्मुख होकर स्वयं अपना प्रत्यक्ष स्पष्ट स्वसंवेदन करे - ऐसा आत्मा का स्वभाव है; परोक्ष रहने का उसका स्वभाव नहीं है। प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है, उस स्वभाव के लक्ष्य से स्वसंवेदन प्रत्यक्षता का परिणमन हो जाता है।

स्वभाव का सम्यक्परिणमन कब होता है कि जब उसमें पर्याय की एकता हो, तब।

वह एकता कब होती है - कि जब उस स्वभाव पर दृष्टि पड़े, तब।

शुद्धस्वभाव में दृष्टि करे तो उसमें एकता हो और स्वभाव की शक्तियों का सम्यक् परिणमन हो। इसका नाम धर्म है और यही मोक्ष का मार्ग है। अपने स्वभाव के कारकों का अनुसरण करके शुद्धभावरूप होने की क्रिया करे - ऐसी आत्मा की शक्ति है; इसलिए आत्मा के समस्त गुण भी इसी प्रकार अपने स्वभाव के कारकों के अनुसार निर्मलरूप से परिणमित हों—ऐसे स्वभाववाले हैं; किसी भी गुण का ऐसा स्वभाव नहीं है कि अपने निर्मलपरिणमन के लिये, पर के कारकों का अनुसरण करें तथा पर का अनुसरण करके विकाररूप से या हीनरूप से परिणमित हो, वह भी गुण का सच्चा स्वरूप नहीं है; वह तो उपाधिभाव है। अखण्ड स्वभाव को ही कारक बनाकर परिणमित होने से वह उपाधिभाव छूट जाता है और शुद्धतारूप परिणमन हो जाता है; वही आत्मा की शुद्धक्रिया है, वही धर्मक्रिया है, उसी क्रिया से मोक्ष होता है। देखो, यह कर्ता की क्रिया। कर्ता ऐसा आत्मा अपने ही छह कारकों द्वारा (अर्थात्, स्वयं ही छह कारकोंरूप होकर) अपनी क्रिया करता है; कर्ता अपने से भिन्न अन्य किन्हीं कारकों द्वारा अपनी क्रिया नहीं करता। जैसे कि-

मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शनरूप से परिणमित होने की क्रिया, अन्य कारकों का अनुसरण किये बिना स्वयं अपने चैतन्यस्वभाव का अनुसरण करके करता है। सम्यग्दर्शन में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आदि निमित्त होने पर भी, उन निमित्तों को अपने कारक बनाये बिना, अपने ही छह कारकों का अनुसरण करके आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणमित होता है। इस प्रकार अपने कारकों द्वारा ही अपनी क्रिया करता है। इस प्रकार

ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणों में निर्मलपरिणमनरूप क्रिया आत्मा स्वयं स्वत: छह कारकरूप होकर करता है, ऐसी क्रियाशक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

यह एक बात मुख्य समझने योग्य है कि शुद्धता के ही छह कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव है किन्तु अशुद्धता के कारकरूप होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो जीव, मात्र अशुद्धतारूप ही परिणमित होता है, उसने स्वयं छह कारक स्वभाव को नहीं जाना है; इसलिए वह अकेले पर को ही कारक मानकर उसके आश्रय से अशुद्धतारूप परिणमित होता है। यदि पर से निरपेक्ष स्वयं छह कारकरूप होने से आत्मा के स्वभाव को जाने तो उस स्वभाव के आश्रय से शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे; इस प्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभाव के ऊपर दृष्टि करने से स्वसन्मुखता के बल अनुसार, पर्याय में शुद्धता होने लगती है; अत: द्रव्यस्वभाव के साथ एकता करने से ही उस जैसी शुद्ध अवस्था हो जाती है; इसलिए वहाँ द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहता और अभेद में निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है। ऐसा आत्मस्वभाव की समझ का फल है।

जीव अपने स्वभाव को कारण न बनाकर, पर को कारण बनाता है, वह संसार है। यदि स्वभाव को कारण बनाये तो शुद्धतारूप परिणमन हो और मोक्ष को जाये। आत्मा का स्वभाव शुद्धता का ही कारण होने का है; इसलिए उसे कारणरूप से जो स्वीकार करे, उसको शुद्धतारूप कार्य हुए बिना नहीं रहता। हे जीव! तेरी सिद्धि का साधन तेरे आत्मा में ही विद्यमान है, तेरी क्रियाशक्ति के कारण तेरा आत्मा अपने ही छह कारकों द्वारा एक अवस्था में से दूसरी अवस्थारूप परिणमित हो जाता है। इसलिए पराश्रय बुद्धि छोड़ और ऐसे अपने स्वभाव का ही आश्रय करके निर्मलभावरूप से परिणमित होने की क्रिया कर। - ऐसा भगवान सन्तों के उपदेश का तात्पर्य है।

[-यहाँ ४०वीं क्रियाशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४१]

कर्मशक्ति

प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः।

प्राप्त किया किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति।

'कर्मशक्ति' कहने से यह जड़कर्मों की शक्ति की बात नहीं है किन्तु अपने सम्यग्दर्शनादि कर्मरूप (कार्यरूप से) स्वयं परिणमित हो - ऐसी आत्मा की कर्मशक्ति है; उस शक्ति का यह वर्णन है। पूज्य गुरुदेव का यह प्रवचन, मुमुक्षुओं के लिये मननीय है।

क्रियाशक्ति में आत्मा के स्वाभाविक छह कारक बतलाए; अब छह शक्तियों में उन स्वाभाविक छहों कारकों का पृथक्-पृथक् वर्णन करके आचार्यदेव अधिक स्पष्ट करते हैं।

'प्राप्त होता हुआ ऐसा जो सिद्धरूप भाव, उसमयी कर्मशक्ति है।'

व्याकरण में छह कारक और एक सम्बन्ध-ऐसी सात विभक्तियाँ आती हैं; उन सातों विभक्तियों का यहाँ सात शक्तियों के रूप से वर्णन करके आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाया है। परमार्थ विभक्ति उसे कहा जाता है, जो आत्मा को पर से विभक्त करे। स्व में एकत्व और पर से विभक्त - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक और एक सम्बन्ध, ये सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त-पृथक् बतलाती हैं। अन्तिम सम्बन्धशक्ति कहेंगे; वह सम्बन्धशक्ति भी कहीं आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर, पर के साथ का सम्बन्ध छुड़वाती है; इस प्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। ऐसे विभक्त आत्मा को जाने बिना, 'इस शब्द की यह विभक्ति और अमुक शब्द की अमुक विभक्ति'-ऐसी व्याकरण पढ़ जाये तो उसके कहीं कल्याण नहीं होता। जिसने सर्व से विभक्त आत्मा को जाना, उसने सब विभक्तियाँ जान लीं। आत्मा का पर के साथ कर्ता -कर्मपना माने, पर को साधन माने या आधार माने, उसने आत्मा की विभक्ति को (पर से भिन्नता को) नहीं जाना।

प्राप्त होता हुआ—ऐसा जो सिद्धरूप भाव, अर्थात् निश्चित हुआ भाव, सिद्ध हुआ भाव, प्रगटा हुआ भाव, वह आत्मा का कर्म है और उस कर्मरूप आत्मा स्वयं होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यहाँ प्रथम कर्म, अर्थात् कार्य बतलाकर फिर उसके कर्ता-करण आदि बतलायेंगे। वर्णन में तो क्रम से कथन आता है। वस्तु में कहीं छह कारक क्रमशः नहीं हैं; वस्तु में तो एक साथ ही छहों कारकरूप परिणमन है।

अनन्त स्वभाव के पिण्ड आत्मा पर दृष्टि करने से, उस-उस समय की निश्चित निर्मलपर्याय कार्यरूप से प्राप्त होती है, वह आत्मा का कर्म है। 'कर्म' कहने से यहाँ जड़कर्म की अथवा रागादि भावकर्म की बात नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव में से जो सम्यग्दर्शन निर्मलपर्यायरूप कार्य प्राप्त किया जाये, उसकी बात है।

शुद्ध द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेने से प्रतिक्षण नया-नया निर्मलभाव प्राप्त होता है, वह प्राप्त होनेवाला भाव, सिद्धरूप है, अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है - प्रगट हो गया है। वस्तु में शक्तिरूप से तो अनादि से था, किन्तु अब वह भाव प्रसिद्ध हुआ-पर्याय में व्यक्त हुआ; इसलिए उसे सिद्धरूप भाव कहा है। 'सिद्धरूप भाव' में अकेली सिद्धदशा नहीं लेना चाहिए किन्तु सम्यग्दर्शनादि समस्त निर्मलपर्यायें सिद्धरूप भाव में आ जाती हैं। वह प्राप्त होता हुआ सिद्धरूप भाव, वह कर्म है; आत्मा अपनी शक्ति से उसरूप होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यह शक्ति आत्मा में त्रिकाल है किन्तु उसका भान होने पर, निर्मलपर्यायरूप कार्य की (कर्म की) प्राप्ति नयी होती है।

पहले निमित्ताधीन बाह्यदृष्टि के समय निर्मलभाव की प्राप्ति नहीं थी और शक्ति का भी भान नहीं था; अब स्वभावशक्ति का भान होने पर, उसके आश्रय के सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव को कर्मरूप से प्राप्त किया। द्रव्य की शक्ति में तो वह भाव अनादि से सिद्ध हुआ था किन्तु पर्याय में उसकी प्राप्ति नयी हुई... पर्याय में कर्मरूप से व्यक्त होने पर उसे सिद्धरूप भाव कहा। उस-उस समय की सिद्धरूप निर्मलपर्यायरूप होने की शक्ति, द्रव्य में विद्यमान है, उस द्रव्यस्वभाव के आश्रय से आत्मा निर्मलकर्मरूप ही परिणमित होता है - विकारी कर्मरूप से परिणमित नहीं होता - ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि द्वारा ही ऐसे स्वभाव की प्रतीति करने पर उसकी सन्मुखता से अनन्त गुण अपने-अपने निर्मलकार्यरूप परिणमित हो जाते हैं। जो निर्मलकार्य करना है, उस कार्यरूप होने की

शक्ति अपने में त्रिकाल है। कर्मशक्ति से आत्मा स्वयं निर्मल-निर्मलभावरूप से प्राप्त होता है,-निर्मलभावरूप-कर्मरूप से स्वयं ही परिणमित होता है।

भाई! तेरा कर्म तुझसे भिन्न नहीं है; उस-उस समय के निर्मलकर्म के साथ आत्मा स्वयं तन्मय होकर परिणमन करे, अर्थात् आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप हो - ऐसी उसकी कर्मशक्ति है; इसलिए तेरा कार्य दूसरा कोई दे देगा - ऐसा नहीं है। अपनी स्वभावशक्ति को सँभालने पर तू स्वयं ही तन्मयरूप से अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप परिणमित हो जायेगा - ऐसी तेरी कर्मशक्ति है।

देखो, यह आत्मा का कर्म! अज्ञानी करम-करम करते हैं किन्तु यहाँ जड़कर्म से भिन्न आत्मा का कार्य बतलाते हैं। जड़कर्म में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा का कुछ करे। आत्मा में ऐसी कर्मशक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के भावों को प्राप्त करके तन्मयरूप से परिणमित होता है, अर्थात् अपने कर्मरूप स्वयं ही होता है। जो जीव, आत्मा की ऐसी कर्मशक्ति को प्रतीति करे, उसे जड़कर्म से सम्बन्ध का अभाव हुए बिना न रहे।

कर्म के सम्बन्ध में चार प्रकार हैं—

(१) जड़रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म।

(२) राग-द्वेष-मोहादि विकाररूप भावकर्म।

(३) सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायरूप कर्म।

(४) आत्मा के त्रिकाल स्वभावरूप, कर्मशक्ति।

(१) द्रव्यकर्म, वे पर हैं, (२) भावकर्म, वे विभाव हैं, (३) निर्मलपर्यायरूप कर्म, वह क्षणिकस्वभाव है, और (४) कर्मशक्ति, वह त्रिकाल शुद्धस्वभाव से है। उस त्रिकाली स्वभाव के आधार से वर्तमान निर्मलपर्यायरूप कर्म प्रगट होता है और भावकर्म तथा द्रव्यकर्म छूट जाते हैं।

सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप निर्मलकर्म कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु आत्मा में ही उसरूप होने की शक्ति है; आत्मा के स्वभाव का अवलम्बन करने से आत्मा स्वयं ही वैसे निर्मलकार्यरूप से प्रसिद्ध होता है। देखो, यह आत्मा की कार्यशक्ति! आत्मा की कार्यशक्ति

ऐसी नहीं है कि जड़ का कुछ करे; विकार करे; वह भी वास्तव में आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं है किन्तु शुद्ध ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि भाव, आत्मा का सच्चा कर्म है।

शरीर-कर्म-भाषा आदि परमाणु की अवस्था है, वह परमाणु का कार्य है क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

राग-द्वेष-पुण्य-पापादि विकारीभावरूप अवस्था, वह मिथ्यादृष्टि का कार्य है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

सम्यक्त्वी तो अपने सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप भावों में तन्मय होता है और वही आत्मा का वास्तविक कार्य है तथा वही आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है। आत्मा द्वारा कर्मरूप से प्राप्त किया जानेवाला ऐसा जो सिद्धरूप साधकभाव (उस-उस समय प्रसिद्ध हुआ साधकभाव) वही धर्मात्मा का कर्म है; उसके द्वारा आत्मा की कर्मशक्ति पहिचानी जाती है। राग, वास्तव में आत्मा का स्वाभाविककर्म नहीं है; इसलिए उसके द्वारा कर्मशक्तिवाले आत्मा की पहिचान नहीं होती।

क्या आठ जड़कर्म, वह आत्मा का कर्म है ?-नहीं!

क्या रागादि भावकर्म, वह आत्मा का कर्म है ? - नहीं। वे रागादि भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, तथापि आत्मा का स्वभाव उनमें तन्मय होकर परिणमित नहीं होता; इसलिए स्वभावदृष्टि में वह आत्मा का कर्म नहीं है।

—तो आत्मा का सच्चा कर्म क्या ? - आत्मा स्वयं तन्मय होकर जिसे प्राप्त करे, वह आत्मा का सच्चा कर्म है। अपनी निर्मलपर्यायों में तन्मय होकर आत्मा उन्हें प्राप्त करता है-उन-उन पर्यायों तक पहुँच जाता है; इसलिए वे निर्मलपर्यायें ही आत्मा का कर्म है और वही धर्म है।

भाई! पर के कार्य तेरे आत्मा में नहीं हैं और राग-द्वेष-मोह के कार्य भी तेरे स्वभाव में नहीं हैं किन्तु अपनी शक्ति में से निर्मलपर्याय को प्राप्त करे, वही तेरा कार्य है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के पद प्राप्त करने की शक्ति तेरे आत्मा में है और वही तेरे कार्य हैं; इसके सिवा बाह्य में महान राजपद या इन्द्रपद आदि की प्राप्ति हो, वह कहीं तेरे आत्मा का कार्य नहीं है। धर्मात्मा जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्दस्वभावमय

हूँ और उसमें से प्राप्त होनेवाली अवस्था ही मेरा कार्य है; इसके अतिरिक्त रागादि विकार भी मेरा कार्य नहीं है तो फिर उस विकार के फलरूप बाह्यसंयोगों में तो मेरा कार्य कैसे होगा ? मेरे स्वभाव में से सिद्धपद प्रगट हो, वही मेरा प्रिय कार्य है। 'कर्ता का इष्ट सो कर्म;' धर्मी कर्ता का इष्ट तो उसकी अपनी निर्मलपरिणति ही है; रागादि, वह धर्मी का इष्ट नहीं है; इसलिए वह उसका कर्म नहीं है। श्रद्धा में परमशुद्ध ऐसे चिदानन्दस्वभाव को ही इष्ट करके, उसमें से सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा प्राप्त करके सिद्धपद की ओर कदम बढ़ाये हैं, वही धर्मात्मा का इष्ट कार्य है।

देखो, यह सिद्धपद का मार्ग...यह मोक्ष का पंथ! आत्मा के स्वभाव को इष्ट-प्रिय करके उसके आश्रय से निर्मलपर्यायरूप कार्य करना, वह सिद्धपद का मार्ग है। अहो! ऐसे आत्मा को तो इष्ट न करे और अन्य कार्यों को इष्ट माने, वह तो सत् के मार्ग पर भी नहीं आया है, तो फिर उसे सत् के फलरूप मोक्ष की प्राप्ति कहाँ से होगी ? रागादि होने पर भी जिसने अन्तर्मुख होकर अपने चिदानन्दस्वभाव को ही इष्ट किया है, वह तो सत् के मार्ग पर लगा हुआ साधक है और वह सत् के फलरूप सिद्धपद को अल्पकाल में अवश्य प्राप्त करेगा।

अहो! अपना सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्य मुझे बाहर से नहीं लाना पड़ेगा; मेरे आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि मैं स्वयं उस कार्यरूप परिणमित हो जाऊँ। जहाँ ऐसा स्वशक्ति का निर्णय किया, वहाँ निजकार्य के लिये बाह्यसाधनों की चिन्ता नहीं रहती। इस प्रकार निश्चिन्त पुरुषों द्वारा इस आत्मा की साधना होती है क्योंकि आत्मा को साधने के लिये कोई बाह्यसाधन है ही नहीं; अन्तर में आत्मा स्वयं ही सर्व साधन-सम्पन्न है; इसलिए बाह्य-साधनों की चिन्ता व्यर्थ है। स्वयं अपने स्वभाव के चिन्तन से ही यह आत्मा सधता है; बाह्य की चिन्ता द्वारा नहीं सधता; इसलिए निश्चिन्त पुरुषों द्वारा ही आत्मा सधता है। निमित्तादि बाह्यसाधनों की चिन्ता छोड़कर, अन्तर्मुख होकर आत्मस्वभाव में एकाग्र होने पर आत्मा स्वयं अपने को साधता है। जिनके चिन्तन में अकेले ज्ञानानन्दमूर्ति आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है - ऐसे निश्चिन्त पुरुषों द्वारा ही भगवान आत्मा साध्य है, वे ही उसका अनुभवन करते हैं। अपनी कर्मशक्ति से ही आत्मा साध्य है, वे ही उसका अनुभवन करते हैं। अपनी कर्मशक्ति से ही आत्मा अपने कार्य को साधता है, प्राप्त करता है।

आत्मा में कर्मशक्ति त्रिकाल है; इसलिए वह कर्मरहित (अर्थात्, अपने कार्यरहित)

कभी नहीं होता। आत्मा, जड़कर्मरहित त्रिकाल है किन्तु अपने भावरूप कर्मरहित वह कभी नहीं होता। हाँ; अज्ञानदशा में वह विपरीत (रागद्वेष-मोहादि) कर्मरूप से परिणमित होता है और स्वभाव का भान होने पर, सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्यरूप से परिणमित होता है, किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन्हें अपनी स्वभावशक्ति का भान हुआ है,—ऐसे साधक तो स्वभाव के आलम्बन से निर्मलकर्मरूप ही परिणमित होते हैं; मलिनकार्यों को वे अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मलिनभाव, स्वभाव के आधार से नहीं हुए हैं और न स्वभाव के साथ उसकी एकता है। शुद्धस्वभाव के आधार से तो निर्मलकार्य ही होता है और उसी को वास्तव में आत्मा का कार्य स्वीकार किया जाता है।

देखो, विकार कैसे दूर होता है, वह बात भी इसमें आ जाती है। 'मैं विकार को दूर करूँ' - इस प्रकार विकार दूर करने की चिन्ता से वह दूर नहीं होता। विकार की ओर देखकर इच्छा करे कि - मुझे यह विकार दूर करना है तो वह इच्छा स्वयं भी विकार है, उस इच्छा से कहीं विकार दूर नहीं हो जाता, किन्तु शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव परमपारिणामिकभाव से सदैव विकाररहित ही है; उस स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जहाँ उसके साथ एकता की, वहाँ पर्याय स्वयं निर्विकाररूप से परिणमित हुई और विकार छूट गया। गुणी के साथ एकता करने से गुण का निर्मलभाव प्रगट होता है और विकार टलता है।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पंचमपारिणामिक - ये पाँच जीव के असाधारणभाव हैं। द्रव्य-गुण त्रिकाल पारिणामिकभाव से शुद्ध हैं, उनमें कभी विकार नहीं है, उनका आश्रय करने से औपशमिक-क्षायिकादि निर्मलभाव प्रगट हो जाते हैं। औदयिकभाव, पर के आश्रय से होता है किन्तु अन्तर्मुख स्वभाव के आश्रय से उसकी उत्पत्ति नहीं है; इसलिए वह आत्मा के स्वभाव का कार्य नहीं है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ पारिणामिकभावरूप हैं, उन्हें पर की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार आत्मा में शुद्ध आनन्दस्वभाव तथा ज्ञानस्वभाव पारिणामिकभाव से त्रिकाल स्वतः सिद्ध है; उसी प्रकार कर्तास्वभाव-कर्मस्वभाव-करणस्वभाव-प्रभुतास्वभाव आदि भी परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल स्वतः सिद्ध हैं; अन्तर्मुख होकर उनका भान करते ही उनके आधार से निर्मलकार्य प्रगट हो जाता है। परमपारिणामिकभाव के आश्रय से जो कार्य प्रगट हुआ, वह भी एक अपेक्षा से तो (पर की अपेक्षा न लें तो) पारिणामिकभावरूप ही है और कर्म के क्षय आदि

की अपेक्षा लेकर उसे क्षायिक आदि कहा जाता है।

परमपारिणामिकभाव स्वरूप आत्मा, 'कारण शुद्धजीव' है, उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, उसका यह वर्णन है। आत्मा की समस्त शक्तियाँ ऐसे स्वभाववाली हैं कि उनके आश्रय से निर्मलता ही प्रगट होती है; एक भी शक्ति ऐसे स्वभाववाली नहीं है कि जिसके आश्रय से विकार हो। यदि स्वभाव के आधार से विकार होता हो तो वह दूर कैसे होगा? स्वभाव के आधार से यदि विकार होता हो, तब तो विकार स्वयं ही स्वभाव हो गया; इसलिए वह दूर हो-ही नहीं सकेगा, परन्तु स्वभाव का आश्रय करने से तो विकार दूर हो जाता है; इसलिए विकार को उत्पन्न करे - ऐसा कोई स्वभाव आत्मा में है ही नहीं। इस प्रकार अन्तर में स्वभाव और विकार की भिन्नता का निर्णय करके स्वभावोन्मुख होने से विकार दूर हो जाता है और निर्मलता प्रगट होती है, उसका नाम धर्म है।

जिस प्रकार आम के वृक्ष में तो आम्रफल उत्पन्न होने का ही स्वभाव है, आम के वृक्ष में कहीं निम्बोली उत्पन्न नहीं होती; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्य आम्र है, इसमें रागादि विकार उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं है। इसके आधार से तो निर्मलता ही उत्पन्न हो - ऐसा स्वभाव है। यदि चैतन्य में सिद्धपद की शक्ति न हो तो सिद्धदशा उत्पन्न कहाँ से होगी? आम की गुठली में आम होने के बीज पड़े हैं, उसमें से आम की उत्पत्ति होती है, कहीं नीम या बेरी में आम उत्पन्न नहीं होते; उसी प्रकार चैतन्य में ही केवलज्ञान और सिद्धपद की शक्ति विद्यमान है, उसी में से वह प्रगट होता है, शरीर में से या राग में से प्रगट नहीं होता। आत्मा में परमपारिणामिकभाव से त्रिकाल प्रभुता है, उसके आश्रय से प्रभुता हो जाती है। आत्मा की शक्तियाँ ऐसी स्वतन्त्र है कि अपनी प्रभुतारूप कार्य के लिये उसे किसी अन्य का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसे आत्मस्वभाव को जाने तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्य प्रगट हो।

आत्मा का स्वभाव, निर्मल है और उस स्वभाव के आश्रय से निर्मलभाव को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे - ऐसी आत्मा की त्रिकाल शक्ति है। शरीर-मन-वाणी आदि पर को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे - ऐसी शक्ति आत्मा में तीन काल में नहीं है और पुण्य-पापरूप विकारभावों को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे - ऐसा भी आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है; निर्मलस्वभावभाव को प्राप्त करे - ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानी एक समय

के विकार को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह उसकी पर्याय की योग्यता है किन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में तो विकार को प्राप्त करने की योग्यता नहीं है; यदि द्रव्यस्वभाव में ही विकार को प्राप्त करने की योग्यता हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। आत्मा का शुद्धस्वभाव के आश्रय से निर्मलभाव प्राप्त करके अनन्त जीव, विकाररहित सिद्ध परमात्मा हो गये हैं और उसी प्रकार सदैव अन्य जीव भी सिद्ध होते ही रहेंगे–यह सिद्धि का पंथ है।

अपने शुद्धस्वभाव को भूलकर अज्ञानी, पराश्रयबुद्धि से मिथ्यात्व–रागादि को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह संसार है और ज्ञानी, शक्ति के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन को अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है, वह सिद्धि का मार्ग है।

प्रश्नः– पहले समय में सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्य नहीं है तो दूसरे समय में वह कहाँ से प्राप्त होगा ?

उत्तरः– पहले समय में न हो और दूसरे समय में निर्मलकार्यरूप से आत्मा स्वयं परिणमित हो जाये–स्वयं अपने में से ही निर्मलकार्य को प्राप्त करे – ऐसी उसकी कर्मशक्ति नित्य है। स्वभाव का आश्रय करने से वर्तमान में जो निर्मलभाव वर्तता है, वह उस समय का सिद्ध हुआ भाव है; पहले –बाद के भाव की या पर की उसे अपेक्षा नहीं है।

जिसमें से निर्मलता की प्राप्ति हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव है किन्तु विकार की प्राप्ति हो – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। विकार कहीं आत्मा के स्वभाव में से प्राप्त नहीं होता, वह तो अधर से (पराश्रय से) उत्पन्न हुई क्षणिकवृत्ति है, उसका तो नाश हो जाता है परन्तु उसका नाश होने से कहीं आत्मा का नाश नहीं हो जायेगा। पुण्य की वृत्ति से आत्मा की शुद्धता प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु शुद्ध जीवतत्त्व नित्य स्थायी है, उसी के आधार से आत्मा की शुद्धता प्राप्त होती है और वही आत्मा का कर्म है। ऐसे निर्मलकर्म को प्रगट करके उसके साथ एकता करे – ऐसा आत्मा का स्वभाव है किन्तु शुभाशुभ विकारीवृत्तियों के साथ एकता करके उन्हें अपने कर्मरूप बनाये – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार निर्मलभाव को प्राप्त करने की द्रव्य की शक्ति कही और तदनुसार द्रव्य के समस्त गुणों में भी ऐसा स्वभाव है कि स्वयं अपनी निर्मलपर्याय को कर्मरूप से प्राप्त करें और विकार को प्राप्त न करें।

जैसे कि – ज्ञानगुण का ऐसा स्वभाव है कि अपने सम्यग्ज्ञानरूप कार्य को कर्मरूप से प्राप्त करता है किन्तु अज्ञान को, विकार को या जड़ को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे – ऐसा ज्ञानशक्ति का स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार श्रद्धागुण में ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभाव की प्रतीतिरूप कार्य को (सम्यग्दर्शन को) अपने कर्मरूप से प्राप्त करता है किन्तु मिथ्यात्व को, विकार को या जड़ को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे – ऐसा श्रद्धाशक्ति का स्वभाव नहीं है।

उसी प्रकार आनन्दगुण में ऐसा स्वभाव है कि अपने अतीन्द्रिय-अनाकुल -आह्लाद के वेदन को अपने कार्यरूप से प्राप्त करता है किन्तु आकुलता, दु:ख या इन्द्रिय -विषयों को अपने कर्मरूप से प्राप्त करे—ऐसा आत्मा की आनन्दशक्ति का स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा के समस्त गुणों में समझ लेना चाहिए।

—आत्मा के ऐसे स्वभाव को लक्ष्य में लेकर जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उस स्वभाव के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि का निर्मलकार्य वर्तता ही है, अर्थात् वह कार्य, सिद्ध हुआ ही है; इसलिए 'मैं निर्मलकार्य प्राप्त करूँ' – ऐसी भी आकुलताबुद्धि (भेदबुद्धि) वहाँ नहीं रहती, क्योंकि अपनी कर्मशक्ति से वह स्वयमेव निर्मलकार्यरूप हो ही गया है।

स्वयं कार्यरूप होने के आत्मा के ऐसे स्वभाव को जो पहिचान ले, वह किसी ईश्वर को या अन्य को अपने कार्य का कर्ता नहीं मानता; यह आत्मा किसी का कार्य है – ऐसा वह नहीं मानता तथा इस आत्मा का कार्य अपने से भिन्न कहीं पर में होना नहीं मानता। इस प्रकार पर के साथ का सम्बन्ध टूटकर, स्व में ही एकतारूप अभेद परिणमन होने से वहाँ विकाररूप कार्य भी नहीं रहता; स्वभाव में अभेदरूप निर्मलभाव ही वहाँ वर्तता है। ऐसे वर्तते हुए सिद्धरूप भाव को कार्यरूप से प्राप्त करे – ऐसी आत्मा की कर्मशक्ति है। जिसने जड़ के कार्य को या विकार को-शुभविकल्प को अपने कार्यरूप से माना, उसने आत्मा को स्वभाव को नहीं जाना है; इसलिए उसे धर्मकार्य नहीं होता; अधर्म ही होता है। धर्मी-साधक को भी दया-भक्ति-पूजा-यात्रादि का शुभराग होता है किन्तु वे राग को अपने स्वभाव का प्राप्य नहीं मानते, उसे स्वभाव का कार्य नहीं मानते... उस समय स्वभाव में

एकता से जितनी निर्मलता वर्तती है, उसी को वे अपने कार्यरूप से स्वीकार करते हैं, यही धर्मी का धर्म है।

निर्मलपर्यायरूप कर्मरूप होने की शक्ति आत्मा की है; इसलिए उसे निर्मलकार्य प्रगट करने के लिये कहीं बाह्य में देखना नहीं रहता, किन्तु आत्मा में ही देखना रहता है; आत्मस्वभाव के अन्तरअबलोकन से ही निर्मलकार्य की सिद्धि होती है; अन्य किसी प्रकार उसकी सिद्धि नहीं होती।

जड़ में या विकार में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह निर्मलपर्याय को अपने कर्मरूप से उत्पन्न कर सके। निर्मलपर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह अन्य निर्मलपर्याय को अपने कर्मरूप से उत्पन्न कर सके। पूर्व पर्याय को कारण कहा जाता है, वह तो उपचार से है, सचमुच उसका तो अभाव हो जाता है; इसलिए वह अन्य पर्याय का कारण नहीं है किन्तु पूर्व पर्याय में भी वर्तता हुआ अखण्ड द्रव्य ही स्वयं परिणमित होकर, दूसरे समय में दूसरी पर्याय को कर्मरूप से प्राप्त करता है-स्वयं ही अभेदरूप से उस कर्मरूप होता है; इस प्रकार निर्मलपर्यायरूप कर्म करने की शक्ति, द्रव्य में ही है; द्रव्य में ही शुद्धता का भण्डार भरा है; उसी के आश्रय से शुद्धता होती है। उसका आश्रय न करे और निमित्तादि का आश्रय करके शुद्धता होना माने तो वह जीव अपनी आत्मशक्ति को न माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

स्वभावशक्ति के आश्रय से ही निर्मलता होती है, अर्थात् निश्चय के आश्रय से ही धर्म होता है और व्यवहार के आश्रय से धर्म नहीं होता-ऐसा अनेकान्त नियम इसमें आ जाता है।

आचार्य भगवान ने इन शक्तियों के वर्णन में अद्भुत रीति से जैनशासन के रहस्य की सिद्धि की है। पूर्व काल में अनन्त तीर्थङ्करों-गणधरों-सन्तों सम्यक्त्वियों ने ऐसा ही मार्ग जानकर, उसका अनुसरण किया है और कहा है; वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धरादि बीस तीर्थङ्कर विराजमान हैं; वे तीर्थङ्कर तथा गणधर सन्त आदि भी ऐसा ही मार्ग जानकर उसका अनुसरण कर रहे हैं और कह रहे हैं। भरतक्षेत्र में भी ऐसा ही मार्ग है और भविष्य में भी जो तीर्थङ्कर-सन्त होंगे, वे सब ऐसे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे और कहेंगे। अहो! एक ही सनातनमार्ग है; इस मार्ग का निश्चय करे, वहाँ मुक्ति की शंका नहीं

रहती। इस मार्ग का निर्णय किया, वहाँ आत्मा ऐसी साक्षी देता है कि बस! अब हम अनन्त तीर्थङ्करों-सन्तों-ज्ञानियों के मार्ग में मिल गये! अब हमारे संसार का अन्त आ गया है, हम सिद्धि के मार्ग पर पहुँच गये हैं।

आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि अपने स्वभाव में से सम्यग्दर्शनादि कार्य को प्राप्त करे; इसके अतिरिक्त किसी भी पुण्य में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त करें। कर्ता स्वयं परिणमित होकर जिस कार्यरूप हो, वह उसका कर्म है। आत्मा ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शनादिरूप होता है; राग या निमित्त परिणमित होकर कहीं उसरूप नहीं होते। अहो! अपने निर्मलकर्मरूप होने की कर्मशक्ति मुझमें ही है-इस प्रकार अपने आत्मा को प्रतीति में लेकर, उसी के सन्मुख होने से आत्मा स्वयं परिणमित होकर अपने निर्मलकर्मरूप हो जाता है। सम्यग्दर्शनरूप कार्य, सम्यग्ज्ञानरूप कार्य, सम्यग्चारित्ररूप कार्य-इन कर्मोंरूप आत्मा स्वयं अपनी कर्मशक्ति से होता है किन्तु महाव्रतादि विकल्पों के आधार से या शरीर की दिगम्बरदशा के आधार से कहीं सम्यग्कार्य नहीं होता।

'कर्मशक्ति' किसी पर के आधार से या विकल्प के आधार से नहीं है; इसलिए वे कोई आत्मा के कर्मरूप नहीं होते, अकेली पर्याय के आधार से भी कर्मशक्ति नहीं है; इसलिए पर्याय के आश्रय से निर्मलकर्म प्राप्त नहीं होता अथवा पर्याय स्वयं दूसरे समय के कर्मरूप नहीं होती। कर्मशक्ति तो आत्मद्रव्य की है; इसलिए आत्मद्रव्य के आश्रय से आत्मा स्वयं निर्मलकर्मरूप से परिणमित हो जाता है। इस प्रकार आत्मा और उसके कर्म की अभेदता है। उस अभेदता के आश्रय से ही कर्मशक्ति की यथार्थ प्रतीति होती है। इसमें व्यवहार के आश्रय से निर्मलकार्य होता है-यह बात तो भूसी की तरह उड़ जाती है। अनन्त शक्ति से अभेद चैतन्यद्रव्य है, उसी के आश्रय से समस्त गुणों का निर्मलकार्य होता है; इसके अतिरिक्त श्रद्धादि गुण का भेद करके, उस भेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शनादि कार्य करना चाहे तो ऐसा नहीं होता। गुणभेद को लक्ष्य में लेकर आश्रय करने से गुण सम्यक्रूप से परिणमित नहीं होते; अभेदद्रव्य को लक्ष्य में लेकर आश्रय करने से श्रद्धादि समस्त गुण अपने-अपने निर्मलकार्यरूप से परिणमित होने लगते हैं।

आत्मा का ऐसा सूक्ष्म स्वरूप न समझे और दान-दयादि बाह्य स्थूलता में धर्म मान ले, वह कहीं जैनधर्म का स्वरूप नहीं है; वह तो मूढ़ जीवों का माना हुआ मिथ्याधर्म है।

जिस प्रकार कड़वे चिरायते की थैली पर कोई 'मिसरी' नाम लिख दे तो उससे कहीं चिरायता कड़वाहट को छोड़कर, मीठा नहीं हो जायेगा। उसी प्रकार दान-दयादि कड़वे विकारीभावों को 'धर्म' नाम देकर कुगुरु, मूढ़ जीवों को ठग रहे हैं किन्तु उससे कहीं दया-दानादि का राग, वह धर्म नहीं हो जायेगा। धर्म की प्राप्ति तो अपने आत्मा में से शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से ही होती है।

धर्म, वह आत्मा का कर्म है और उसकी प्राप्ति आत्मा में से ही होती है। सम्यग्दर्शन यद्यपि श्रद्धागुण का कार्य है किन्तु वह श्रद्धागुण अनन्त गुण के पिण्ड से पृथक् होकर कार्य नहीं करता... अलग-अलग गुण की अलग-अलग 'कर्मशक्ति' (कार्यरूप होने की शक्ति) नहीं है, किन्तु अखण्ड आत्मद्रव्य की एक ही कर्मशक्ति है; वह समस्त गुणों में व्याप्त होकर अपना कार्य करती है; इसलिए समस्त गुणों का निर्मलकार्य अखण्ड द्रव्य के ही आश्रय से होता है। केवलज्ञान भी आत्मा का कर्म है और आठ कर्म रहित, ऐसी सिद्धदशा भी आत्मा का कर्म है। आत्मा अपनी शक्ति से ही उस कर्मरूप परिणमित होता है, कहीं बाहर से वह कर्म नहीं आता।

'आत्मभावना से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है;'

-इसका क्या आशय? केवलज्ञानरूपी कार्य, जीव बाहर से नहीं लाता, किन्तु अपने में तन्मय होकर अपने आत्मस्वभाव की भावना करते-करते आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप हो जाता है। 'आत्मभावना भाने से...' ऐसा रटता रहे, किन्तु आत्मा क्या है और उसकी भावना कैसी होती है, उसे न जाने तथा बाह्य से अथवा इस बोलने के राग से मुझे लाभ हो जायेगा - ऐसा माने, उसे केवलज्ञान नहीं होता; वह तो अज्ञानी ही रहता है। केवलज्ञान कैसे होता है?-कहते हैं कि आत्मा की भावना से। आत्मा कैसा? तो कहते हैं कि ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण। ऐसे आत्मा की भावना, अर्थात् उसके सन्मुख होकर उसकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें लीनता, वह केवलज्ञान का उपाय है। जिसे निमित्त की या पुण्य की भावना है, उसे आत्मा की भावना नहीं है।

इस आत्मा को शान्ति की आवश्यकता है। आत्मा का शान्तिरूपी कार्य कहाँ है, उसकी यह बात है। इस आत्मा का शान्तिरूपी कार्य, शुद्धस्वभाव के अतिरिक्त किसी

विकल्प में, देव-गुरु-शास्त्र में या गुफा-पर्वत आदि में नहीं है; इसलिए हे भाई! बाह्यदृष्टि छोड़कर, अपने आत्मा में ही शान्ति को ढूँढ़। जिस प्रकार मिसरी स्वयं मीठी है, नीबू स्वयं खट्टा है, कोयला स्वयं काला है, अग्नि स्वयं गर्म है; उसी प्रकार आत्मा स्वयं शान्तिस्वरूप है। भाई! ऐसे अपने आत्मा की ओर देखने से वह स्वयं ही शान्तिरूप हो जायेगा। इसके अतिरिक्त जो बाह्य में शान्ति-ढूँढ़े अथवा बाह्यसाधन द्वारा शान्ति प्राप्त करना चाहे, वह अपने आत्मा को या आत्मा की शक्ति को नहीं मानता है; उसे शान्ति नहीं मिलती।

जिस प्रकार कोई मनुष्य चक्रवर्ती को पहिचान कर उसकी सेवा करे तो उसे लक्ष्मी आदि का लाभ मिलेगा, किन्तु चक्रवर्ती को न पहिचाने और किसी निर्धन भिखारी को चक्रवर्ती मानकर उसकी सेवा करने लगे तो उसे कोई लाभ नहीं होगा; मात्र वह दु:खी ही होगा; उसी प्रकार चैतन्यचक्रवर्ती आत्मा को पहिचानकर जो उसका सेवन करे, उसे तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप लक्ष्मी का लाभ प्राप्त होता है किन्तु चैतन्यचक्रवर्ती को न पहिचाने और राग की तुच्छ वृत्तियों को ही चैतन्यस्वभाव मानकर सेवन करे तो उसे रत्नत्रय का लाभ प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह दु:खी ही होता है।

'आप पुण्य से धर्म नहीं मानते; इसलिए आप पुण्य को उड़ाते हो' - इस प्रकार कुछ लोग नासमझी के कारण शिकायत करते हैं किन्तु वास्तव में जो पुण्य को पुण्य न मानकर, पुण्य को सच्चा धर्म मानते हैं, वे ही पुण्य को उड़ाते हैं। पुण्य को ही धर्म माना; इसलिए पुण्यतत्त्व का पृथक् अस्तित्व उनकी मान्यता में रहा ही नहीं। ज्ञानी तो पुण्य को पुण्यरूप जानते हैं, और धर्म को उससे भिन्न धर्मरूप जानते हैं; इसलिए उनकी मान्यता में पुण्य और धर्म दोनों का भिन्न-भिन्न यथावत् अस्तित्व रहता है। ज्ञानी तो पुण्य को पुण्यरूप से स्थापित करते हैं और अज्ञानी उसकी उत्थापना करते हैं।

जिस प्रकार हरी निबोली को कोई नीलमणि मान ले, तो वह निबोली को भी नहीं जानता और नीलमणि को भी नहीं पहिचानता। काँच के टुकड़े को कोई हीरा मान ले, तो वह काँच को भी नहीं जानता और हीरे को भी नहीं पहिचानता। बिल्ली को ही शेर मान ले, तो वह बिल्ली को भी नहीं जानता और शेर को भी नहीं पहिचानता; उसी प्रकार जो राग को ही वीतरागधर्म मान ले, वह राग को भी नहीं जानता और उसे धर्म की भी पहिचान नहीं है। व्यवहार के आश्रय से निश्चय का प्रगट होना माने, वह न तो व्यवहार का जानता

है और न निश्चय को। निमित्त, उपादान का कोई कार्य करता है—ऐसा जो मानता है, वह निमित्त को भी नहीं जानता और न उपादान को ही। स्व का कार्य पर के आश्रय से होता है–ऐसा जो मानता है, वह स्व को भी नहीं जानता और पर को भी नहीं पहिचानता।

देव–गुरु–शास्त्र का उपदेश तो ऐसा है कि तेरे आत्मा के आश्रय से ही तेरा धर्म है; पराश्रय से शुभराग की वृत्ति उठे, वह तेरा धर्म नहीं है तथापि जो पुण्य को धर्म मानता है, उसने देव–गुरु–शास्त्र को, पुण्य को या धर्म को– किसी को नहीं माना; निश्चय–व्यवहार को या द्रव्य–गुण–पर्याय को भी नहीं जाना है। सन्त कैसे होते हैं, धर्मात्मा कैसे होते हैं, सच्चे वैराग्य की–त्याग की या व्रतादि की भूमिका कैसी होती है ? उसकी उसे खबर नहीं है। अहो ! जिसकी प्रतीति में मूलभूत चैतन्यस्वभाव नहीं आया, उसमें किसी भी तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने की शक्ति नहीं है। अपने चैतन्यस्वभाव का आश्रय करते ही ज्ञान की स्व–पर प्रकाशक शक्ति विकसित हो जाती है और वह स्व–पर को यथार्थ जानती है। मात्र पर की ओर झुका हुआ ज्ञान, स्व को या पर को–किसी को यथार्थ नहीं जानता और स्वभाव की ओर झुका हुआ ज्ञान, स्व को तथा पर को–दोनों को यथार्थ जानता है।

अहो ! इसमें जैनशासन का गम्भीर रहस्य है। इस रहस्य को समझे बिना, जैनशासन के मूल का पता नहीं चल सकता। जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ अपने स्वभाव में ज्ञान–आनन्द आदि का परिपूर्ण सामर्थ्य है, उसे जाना; वर्तमान पर्याय में कितने ज्ञान–आनन्द प्रगट हुए हैं, वह भी जाना; कितने बाकी हैं, वह भी जाना; ज्ञान–आनन्द प्रगट होने में निमित्त (देव–गुरु आदि) कैसे होते हैं, वह भी जाना; ज्ञान–आनन्द प्रगट हुए उसके साथ (साधकपने में) किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है और कैसे रागादि छूट जाते हैं, वह भी जाना; दूसरे ज्ञानी–मुनियों की अन्तर दशा कैसी होती है, वह भी जाना। इस प्रकार शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होकर उसे जानने से समस्त जैनशासन को जान लिया और जिसने ऐसे आत्मस्वभाव नहीं जाना, उसने जैनशासन के एक भी तत्त्व को यथार्थरूप से नहीं जाना।

देखो, यह धर्म और धर्म की रीति कहलाती है।

धर्म, क्या है ?–आत्मा की निर्मलपर्याय;

धर्म, कैसे होता है ? –शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से।

शुद्धस्वभाव को न जाने और अन्य के आश्रय से जो धर्म माने, उसने धर्म का स्वरूप या धर्म की रीति को नहीं जाना है। शुभराग को शास्त्रों में कहीं धर्म का परम्परा कारण कहा हो तो वह उपचार से है – ऐसा समझना चाहिए; जब उस राग का आश्रय छोड़कर, शुद्धस्वभाव का आश्रय किया, तभी धर्म हुआ और पूर्व के राग को उपचार से कारण कहा; किन्तु वास्तविक कारण वह नहीं है; वास्तविक कारण तो शुद्धस्वभाव का आश्रय किया, वही है।

साधक जीव अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय करक अपने निर्मल ज्ञानादि कार्यरूप होता है। वहाँ स्वाश्रय से सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होने पर उस-उस भूमिका में वर्तते हुए रागादि को भी यह ज्ञेयरूप से जानता है। उस राग को जानते समय भी उसे जाननेवाला जो ज्ञान है, वही धर्मी को अपने कर्मरूप से है, किन्तु जो राग है, उसे वे अपने कर्मरूप से स्वीकार नहीं करते; उसे तो ज्ञान से भिन्न जानते हैं। राग को जानते समय भी श्रद्धा में रागरहित स्वभाव का ही अवलम्बन वर्तता है; इसलिए ऐसी स्वभावदृष्टि में ज्ञानी को राग तो 'असद्भूत' हो गया। राग को जानते हुए उनका जोर राग पर नहीं जाता, उनका जोर तो ज्ञानस्वभाव पर ही रहता है, उस ज्ञानस्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्याय ही उन्हें 'सद्भूत' रूप से वर्तती है; रागादि को वे 'असद्भूत' जानते हैं। मिथ्यादृष्टि, राग से भिन्न शुद्धस्वभाव को नहीं जानता, वह तो राग को स्वभाव के साथ एकमेकरूप से ही जानता है; इसलिए उसे तो 'असद्भूत' ऐसे राग का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार शुद्धस्वभावरूप निश्चय के ज्ञान बिना, रागादि व्यवहार का ज्ञान सम्यक् नहीं होता; निश्चय के ज्ञानपूर्वक ही व्यवहार का ज्ञानसम्यक् होता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है; उसे पहिचानने के लिये उसकी शक्तियों का यह वर्णन है। अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा भगवान आत्मा को लक्ष्य में लेने पर वह अनन्त शक्ति के एकरूप स्वाद से अनुभव में आता है। उन अनन्त शक्तियों में एक ऐसी कर्मशक्ति है कि अपने स्वभाव में से प्रगट होनेवाले निर्मलभावमय होकर आत्मा स्वयं अपना कर्म होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जानना, वह धर्म का मूल है।

प्रश्नः- आप आत्मा को जानने की बात करते हैं, किन्तु परिग्रह छोड़ने को क्यों नहीं कहते ?

उत्तर :- मैं अपनी ज्ञानादि-अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण हूँ और पर का एक अंश भी मुझमें नहीं है-ऐसा भेदज्ञान करके अपने अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा की पकड़ होने से (श्रद्धा-ज्ञान में उसे पकड़ने से) बाह्यपदार्थों की और परभावों की पकड़ छूट जाती है; इसलिए श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से वहाँ सर्व परिग्रह का त्याग हो जाता है। ऐसा त्याग होने से अनन्त संसार छूट जाता है। मिथ्यात्व के कारण जो रागादि एकत्वबुद्धिरूप पकड़ है, वही अनन्त संसार के कारणरूप महान परिग्रह है; उस परिग्रह का त्याग कैसे हो, उसकी यह बात है। मिथ्यात्व का त्याग होने के पश्चात ही अविरति आदि का त्याग होता है। अन्तर में अनन्त गुणों के पिण्ड की जिसे पकड़ नहीं है और बाह्य में त्यागी होकर ऐसा मानता है कि मैंने परिग्रह छोड़ दिया, किन्तु अन्तर में राग की रुचि के कारण समस्त परिग्रह की पकड़ उसके बनी हुई है; इसलिए उसने किंचित् भी परिग्रह छोड़ा है-ऐसा जिनेन्द्रभगवान के मार्ग में स्वीकार नहीं किया जाता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा अपने स्वभाव से निर्मलकार्यरूप परिणमित होता है; उस निर्मलकार्य में विकारीकार्य का अभाव है; इसलिए विकार के निमित्तरूप परिग्रह की पकड़ भी वहाँ छूट गयी है। इस प्रकार निर्मलकार्य में परिग्रहत्याग भी आ ही जाता है।

यह ज्ञानरूप आत्मा, बाह्यपदार्थों से तो भिन्न ही है और राग से भी वास्तव में भिन्न है; राग के साथ तन्मय होने का उसका स्वभाव नहीं है; ज्ञानादि के साथ तन्मय होने का ही उसका स्वभाव है। स्वसन्मुख हुआ ज्ञान, आत्मा के साथ तन्मय होकर आत्मा को जानता है, और राग को जाननेवाला ज्ञान, राग में तन्मय हुए बिना ही उसे जानता है। ज्ञान यदि स्वसन्मुख होकर आत्मा में तन्मय न हो तो वह आत्मा को यथार्थरूप से नहीं जान सकता, और यदि ज्ञान, राग में तन्मय हो जाये तो वह राग को भी नहीं जान सकता; राग से भिन्न रहे, तभी वह राग को जान सकता है। ज्ञान, स्व को तो तन्मय होकर जानता है और पर को-रागादि को तन्मय हुए बिना ही जानता है—ऐसा ही ज्ञान का स्वभाव है। ऐसे निर्मल ज्ञानरूप कार्य को प्राप्त करके, उसमें तन्मय होकर आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप होता है-ऐसी उसकी कर्मशक्ति है।

[-यहाँ ४१वीं कर्मशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४२]

कर्तृत्वशक्ति

भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयीकर्तृशक्तिः।

होनेपनरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति।

अहो, आत्मा की ये शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत बहाया है... अरे जीव! तुझमें ऐसी-ऐसी शक्तियाँ हैं, तो अब तुझे बाह्य में कहाँ अटकना है? अन्तर में अपनी शक्तियों से परिपूर्ण सर्व गुणसम्पन्न अपने आत्मा का ही अवलम्बन कर, ताकि भवदुःख से उद्धार होकर, मोक्षसुख की प्राप्ति हो।

निर्मलकार्यरूप जो कर्म, उसरूप आत्मा स्वयं होता है – ऐसा कर्मशक्ति में बतलाया। अब, निर्मलकार्य तो हुआ किन्तु उस कार्य का कर्ता कौन? उस कार्य का कर्ता कोई दूसरा नहीं, किन्तु आत्मा स्वयं ही उसका कर्ता होता है – यह बात कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। 'होनेरूप – ऐसा जो सिद्धरूपभाव, उसके भावकपनेमयी, कर्तृत्वशक्ति है।' आत्मा में एक ऐसी शक्ति है; इसलिए अपने निर्मलभाव का कर्ता स्वयं ही होता है। पहले २१वीं अकर्तृत्वशक्ति में ऐसा बतलाया था कि ज्ञातास्वभाव से भिन्न जो समस्त विकारीपरिणाम, उनके कर्तापने से निवृत्तस्वरूप आत्मा है और अब, ज्ञातास्वभाव के साथ एकमेक जो अविकारीपरिणाम, उनका कर्ता आत्मा है – ऐसा इस कर्तृत्वशक्ति में बतलाते हैं। इस प्रकार भगवान आत्मा विकार का अकर्ता और शुद्धता का कर्ता–ऐसे स्वभाववाला अनेकान्त मूर्ति है।

कर्तृत्वशक्ति, राग के आधार से नहीं है किन्तु आत्मद्रव्य के आधार से है; इसलिए राग, कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं करता, किन्तु आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य करता है। ऐसे आत्मस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह सिद्धरूप भाव है और आत्मा उसका भावक है। भवनरूप भाव में तन्मय होकर, उसका भावक होकर आत्मा स्वयं उसे भाता है, अर्थात् उसे करता है – ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है।

कर्मरूप से आत्मा ही परिणमित होता है, कर्तारूप से भी आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है; साधनरूप से भी स्वयं ही परिणमित होता है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक भिन्न-भिन्न नहीं है किन्तु अभेद हैं; आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरणरूप होता है; छह कारकोंरूप तथा ऐसी अनन्त शक्तियोंरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है। इस प्रकार एक साथ अनन्त शक्तियों का परिणमन, ज्ञानमूर्ति आत्मा में उछल रहा है; इसलिए वह अनेकान्तमूर्ति भगवान है।

अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता, आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपने में ही है। पहले २९४वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा था कि 'आत्मा और बन्ध को द्विधा करनेरूप कार्य में (अर्थात्, भेद-ज्ञानरूप कार्य में) कर्ता जो आत्मा, उसके करणसम्बन्धी मीमांसा (गहरी जाँच; विचारणा) की जाने पर, निश्चय से अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है...' देखो, भेदज्ञानरूप कार्य का कर्ता, आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपने में ही है। कर्ता का साधन, वास्तव में कर्ता से भिन्न नहीं होता; कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये, वह वास्तव में साधन नहीं है। 'अपने से भिन्न करण का अभाव है'-इसमें तो महानियम भर दिया है।

अरे जीव! अपने साधन की गहरी जाँच अपने में ही कर... अपने में ही साधन को शोध। जो बाह्य में साधन को शोधते हैं, वे साधन की गहरी जाँच करनेवाले नहीं, किन्तु उथले ज्ञानवाले-बाह्यदृष्टिवाले हैं। **जो आत्मा के ज्ञान के साधन की यथार्थ मीमांसा करें-गहरी जाँच करें-अन्तर में अन्तर उतरकर खोज करें, उन्हें तो अपनी पवित्रप्रज्ञा ही अपना साधन भासित होती है,** इसके अतिरिक्त राग या परद्रव्य, उन्हें अपने साधनरूप से भासित ही नहीं होते। साधनसम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण अब ४३वीं शक्ति में आयेगा; इस समय कर्तृत्वशक्ति का वर्णन चल रहा है।

आत्मा की ऐसी कर्तृत्वशक्ति है कि अपने ज्ञानादि कार्य का कर्ता स्वयं ही होता है। क्या भगवान की दिव्यध्वनि इस आत्मा के ज्ञान की कर्ता है?-नहीं; केवली-श्रुतकेवली के निकट ही क्षायिकसम्यक्त्व हो - ऐसा नियम है, तो क्या केवली-श्रुतकेवली इस आत्मा के क्षायिकसम्यक्त्व के कर्ता हैं? नहीं; उसरूप होकर उसके कर्ता होनेरूप कर्तृत्वशक्ति

आत्मा की ही है; उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती।

शरीरादि जड़ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्मा के कार्य के कर्ता हों। राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्यों का कर्ता हो। आत्मा के स्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा को जो भजे, उसे सम्यग्दर्शनादि कार्य हुए बिना नहीं रहता।

लोग पूछते हैं कि हम किसे भजें ? –तो कहते हैं कि शक्तिमान को भजो। वास्तव में शक्तिमान कौन है, उसका स्वरूप जानना चाहिए। शक्तिमान कौन है, उसका स्वरूप लोग नहीं जानते। सच्चा शक्तिमान अपना आत्मा ही है; इसलिए उसी का भजन (श्रद्धा –ज्ञान और लीनता) करनेयोग्य है। यहाँ आचार्यदेव शक्तिमान आत्मा की पहिचान कराते हैं। आत्मशक्ति को जाने बिना, दूसरों को (कुदेव–देवी, शक्ति–मैली माता आदि को) शक्तिमान मानकर भजता रहे तो उनके पास से कुछ मिल नहीं सकता। कुदेवादि को जो भजता है, वह तो महामूढ़ है। अरे मूढ़! तेरी शक्ति पर में नहीं है कि वह तुझे कुछ दे दे।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा को जाने बिना, मात्र राग से पंच परमेष्ठी को भजता रहे तो वह भी वास्तव में शक्तिमान को नहीं भजता, किन्तु राग को ही भजता है; पंच परमेष्ठी को वह पहिचानता नहीं है और न वास्तव में पंच परमेष्ठी का भजन ही उसे आता है। यदि पंच परमेष्ठी की शक्ति को जानकर उनका भजन करे तो उन्हीं जैसे अपने आत्मा की शक्ति को जानकर, उस शक्तिमान को और उन्मुख हुए बिना न रहे। अपना आत्मा ही ऐसा शक्तिमान है कि उसका भजन करने से वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र के अनन्त निधान देता है, केवलज्ञान और सिद्धदशारूपी कार्य एक क्षण में कर देने की उसकी शक्ति है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा का भजन ही परमार्थभक्ति है; उसका फल मुक्ति है।

'शक्तिमान को भजो' – ऐसा कहने से जीवों की दृष्टि, बाह्य में दूसरों की ओर जाती है परन्तु 'मैं स्वयं ही शक्तिमान हूँ' –इस प्रकार अपनी ओर दृष्टि नहीं करते। इस सम्बन्ध में एक लौकिक दृष्टान्त आता है, वह इस प्रकार है—एक बार एक मनुष्य ने साधु के पास जाकर पूछा कि 'हे स्वामी! मुझसे अधिक तो नहीं हो सकता; इसलिए मुझे कोई ऐसा

सरल उपाय बतलाइये कि जिससे मेरी मुक्ति हो जाये!' साधु ने कहा 'भाई! दूसरा कुछ नहीं हो सकता तो जो सबसे शक्तिमान हो, उसका भजन करो।-बस यही धर्म का संक्षिप्त सिद्धान्त है।' वह मनुष्य घर पहुँचकर सोचने लगा कि सबसे शक्तिमान कौन है? विचार करते-करते वह सो गया। सबेरे उठकर देखा तो उसके कीमती कपड़े चूहे ने काट डाले थे। उसे बड़ा क्रोध आया... किन्तु उसी समय साधु का वचन याद आ गया और निर्णय कर लिया कि बस! यह चूहा ही शक्तिमान है; इसलिए इसी का भजन करूँ। ऐसा सोच ही रहा था कि एक बिल्ली आकर चूहे पर झपटी और चूहा भागा। तुरन्त उस आदमी का विचार बदला कि चूहे की अपेक्षा बिल्ली अधिक शक्तिमान है; इसलिए उसका भजन करूँ। इसी प्रकार बिल्ली के बाद कुत्ते का, कुत्ते के बाद अपनी स्त्री का ओर अन्त में स्वयं अपनी शक्ति का बल देखकर अपना भजन करने लगा।

यह तो सिद्धान्त समझाने के लिये एक कल्पित दृष्टान्त है। जिस प्रकार वह मूर्ख कुत्ते-बिल्ली का भी भजन करने लगा; उसी प्रकार तीव्र अज्ञानवश जीव, धरणेन्द्र-पद्मावती-शीतला आदि अनेक कुदेव-देवी-देवताओं का भजन करने लगते हैं; वहाँ से कुछ आगे बढ़े तो निमित्त को और कर्म प्रकृति को ही बलवान मानकर उसे भजने लगते हैं। कदाचित् इससे भी कुछ आगे बढ़े तो अन्तर के शुभराग से लाभ मानकर उसके भजन में अटक जाते हैं किन्तु जब श्रीगुरु के निकट जाकर पूछते हैं कि प्रभो! अभी तक मैंने अनेक देवी-देवताओं का भजन किया, निमित्तों को माना, पूजा-भक्ति कर-करके शुभराग की भी उपासना की, तथापि मेरी मुक्ति क्यों नहीं हुई? तब श्रीगुरु कहते हैं कि - भाई, सुन! अभी तक तूने जिन-जिन का भजन किया है, उनमें किसी में ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे मुक्ति दे सकें। मुक्ति दे सके, ऐसी शक्ति तो तेरे आत्मा में ही है; इसलिए उस शक्तिमान को पहिचानकर उसका भजन कर तो अवश्य मुक्ति होगी। शक्तिमान को भूलकर, अन्य का भजन करे तो मुक्ति कहाँ से हो सकती है? इसलिए शक्तिमान को भज। तेरे आत्मा में ही ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह तेरी मुक्ति का साधन हो।

जगत के छहों द्रव्यों में जीवद्रव्य महान है; जीवों में भी पंच परमेष्ठी महान हैं; पंच परमेष्ठी में भी सिद्ध, महान हैं; इसलिए उन्हें भजो; किन्तु अरे! वह सिद्धपद प्रगट होने की शक्ति तो अन्तरंग में नित्य प्रत्यक्ष ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में भरी है; इसलिए अपने शुद्ध

आत्मस्वभाव का ही भजन करो। – ऐसा सन्तों का उपदेश है। श्री प्रवचनसार की टीका में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि – 'पञ्चास्तिकाय में जीवास्तिकाय उपादेय है; उसमें भी सिद्ध, उपादेय हैं और वस्तुतः (परमार्थतः) रागादि रहित अन्तर्मुख होकर, सिद्धजीवों के सदृश परिणमित, स्वकीय आत्मा ही उपादेय है।'

होनेरूप ऐसा जो सिद्धरूप भाव, अर्थात् निर्मलपर्यायरूप भाव, वह कार्य है, उसका कर्ता कौन? आत्मा स्वयं भाव होकर उसे करता है; इसलिए आत्मा स्वयं ही कर्ता है। अपनी श्रद्धाशक्ति द्वारा सम्यग्दर्शनादि कार्य का कर्ता आत्मा स्वयं ही होता है; आत्मा स्वयं ही ज्ञानशक्ति द्वारा केवलज्ञान का कर्ता होता है; आत्मा स्वयं ही चारित्रशक्ति द्वारा चारित्र का कर्ता होता है। इस प्रकार अपनी अनन्त शक्ति के कार्य के कर्तारूप आत्मा स्वयं ही होता है – ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है। पर्याय में जो-जो नया-नया कार्य सिद्ध होता है, उस-उस कार्यरूप से परिणमित होकर आत्मा स्वयं कर्ता होता है। यह कर्तापना आत्मा का स्वभाव है। जहाँ ऐसा कहा है कि 'कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है,' वहाँ तो विकार के तथा जड़कर्म के कर्तृत्व की बात है और यहाँ तो निर्मलपर्यायरूप कार्य के कर्तृत्व की बात है; यह कर्तृत्व तो आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है।

ज्ञानानन्दस्वभावी अनन्त शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा को जानकर, जहाँ उसका आश्रय किया, वहाँ आत्मा की कर्तृत्वशक्ति के कारण ज्ञानगुण ने कर्ता होकर, ज्ञानभावरूप कार्य किया; श्रद्धागुण ने कर्ता होकर सम्यग्दर्शनरूपी कार्य किया; आनन्दगुण ने कर्ता होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन दिया; इस प्रकार अनन्त गुणों ने कर्ता होकर अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप कार्य को किया। कर्तृत्वशक्तिवाले आत्मा को पहिचानने से आत्मा अपने निर्मलभाव का ही कर्ता होता है और विकार का कर्तृत्व उसे नहीं रहता। कर्तृत्वशक्तिवाला आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप है; उस एकरूप स्वभाव में एकता से निर्मल-एकरूप कार्य ही होता रहता है। आत्मा की कर्ताशक्ति ऐसी नहीं है कि वह राग का कर्ता हो; आत्मा की कर्ताशक्ति तो ऐसी है कि वह निर्मलभावों का ही कर्ता होता है। जहाँ मात्र विकार का कर्तृत्व है, वहाँ आत्मा की कर्तृत्वशक्ति की प्रतीति नहीं है।

'आत्मा में तो अनन्त शक्तियाँ हैं, इसलिए वह पर के कार्य कर सकता है' – ऐसा अनेक मूढ़ जीव मानते हैं। यहाँ आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! जगत के एक

परमाणु या स्कंध को भी आत्मा करे – ऐसी कर्ताशक्ति उसमें नहीं है। हाँ, एक क्षण में समस्त विश्व को साक्षात् जानने का कार्य करे – ऐसी कर्ताशक्ति आत्मा में है। आत्मा की शक्ति का कार्य, आत्मा में होगा या बाहर? आत्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं, उन समस्त शक्तियों का कार्य आत्मा में ही होता है; एक भी शक्ति ऐसी नहीं है कि आत्मा से बाहर कोई कार्य करे। अहो! मेरा आत्मा, मेरी समस्त शक्तियाँ और समस्त शक्तियों का कार्य – इस सबका मेरे अन्तर में ही समावेश होता है – ऐसी अन्तर्दृष्टि करना सो अपूर्व कल्याण है।

जिस प्रकार यह आत्मा और अन्य सर्व आत्मा, जगत में स्वयंसिद्ध अनादि-अनन्त सत् हैं; कोई उनका कर्ता नहीं है; उसी प्रकार अपनी पर्यायरूप कार्य का कर्ता होने की शक्ति भी आत्मा में स्वयमेव है, पर्याय का कार्य नवीन उत्पन्न होता है; इसलिए उसका कर्ता कोई दूसरा होगा-ऐसा नहीं है; आत्मा ही स्वयं उसरूप परिणमित होकर कर्ता होता है।

धर्मी जानता है कि मेरा जो साधकभाव है, उसका मैं स्वयं कर्ता हूँ; मेरे आत्मा में ही उसका कर्ता होने की शक्ति है। अपने कार्य के लिये अन्य किसी कर्ता की आवश्यकता हो – ऐसा पराधीन वस्तुस्वरूप नहीं है। कार्य से भिन्न कर्ता नहीं है और कर्ता का कार्य अपने से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार साधन आदि भी भिन्न नहीं है। -इस प्रकार अनन्त शक्ति से अभेद आत्मस्वभाव की प्रतीति करके परिणमित होने पर, सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के निर्मलकार्य सिद्ध हो जाते हैं। द्रव्य की एक कार्यशक्ति में उसके समस्त गुणों के कार्यों का कर्तृत्व समा जाता है; इसलिए कर्ताशक्ति को ढूँढ़ने के लिये गुणभेद पर देखना नहीं रहता, किन्तु अखण्ड द्रव्य पर देखना रहता है। अखण्ड आत्मद्रव्य के सन्मुख देखते ही, उसकी परिपूर्ण शक्तियाँ प्रतीति में आती हैं और वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

सर्वज्ञ के समस्त शास्त्रों का तात्पर्य, वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव निरपेक्ष आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। पर के आश्रय से जो अपनी शक्ति माने, उसे पर की ओर के राग का अभिप्राय दूर नहीं होता और न कभी वीतरागता होती है। मेरी अनन्त शक्तियाँ मेरे आत्मा के ही आश्रित हैं। मैं जो कार्य (सम्यग्दर्शनादि) करना चाहता हूँ, वह मेरे आत्मा के ही आश्रय से होता है-ऐसा निर्णय करके, स्वभाव का आश्रय करने

से वीतरागभाव होता है, वह धर्म है, वह जैनशासन का सार है, वह सन्तों का आदेश है, और वही सर्व शास्त्रों का उपदेश है।

अनन्त शक्तिवान शुद्ध चैतन्यस्वभावी आत्मा को देखें तो उसमें किसी परवस्तु को ग्रहण करने, छोड़ने या बदलने का कर्तृत्व नहीं है तथा विकार का कर्तृत्व भी उसमें नहीं है; उस समय स्वभाव में अभेद हुई निर्मलपर्याय का ही कर्तृत्व है। पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणिक विकार का कर्तृत्व है किन्तु उतना ही आत्मा को माने तो उसने आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना है।

आत्मा, भावक होकर, किसे भायेगा अथवा आत्मा कर्ता होकर, किसे करेगा? आत्मा भावक होकर (कर्ता होकर) विकार को अपने कार्यरूप से भाये - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है किन्तु आत्मा भावक होकर, अपने स्वभाव में से प्राप्त होनेवाले निर्मलभाव को ही भाये - ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा, निर्मलभावरूप से परिणमित होकर, उसी का कर्ता होता है।

अहो! इस समयसार में आचार्यदेव ने आत्मस्वभाव की अनन्त गम्भीर महिमा भरी है... इन शक्तियों में महान गम्भीरता है। अन्तर में उतरकर आत्मा के साथ मिलाकर समझे, उसे महिमा की खबर पड़ती है। ऐसी शक्तियोंवाले आत्मस्वभाव को स्वीकार करने से साधकपर्याय तो हो ही जाती हैं। जहाँ आत्मस्वभाव को स्वीकार किया, वहाँ स्वभाव स्वयं साधकपर्याय का कर्ता होता है और वहाँ विकार का कर्तृत्व नहीं रहता। साधक अपने अखण्ड आत्मस्वभाव को साथ ही साथ रखकर, उसी में एकत्वरूप से परिणमन करता है; इसलिए उसे निर्मल-निर्मलपर्यायें ही होती हैं। यह अन्तर्दृष्टि का विषय है और ऐसी अन्तर्दृष्टि से ही धर्म होता है।

आत्मा स्वयं अपने स्वभाव को जाने, वह मोक्ष का कारण है... और आत्मा, आत्मा को नहीं जान सकता-यह मान्यता, संसार का कारण है। धर्मी जानता है कि स्व-पर को जाननेरूप सम्यग्ज्ञानरूप से परिणमित होना ही मेरा कार्य है; अज्ञानरूप से परिणमित होने का मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव को जानकर, उसमें ज्ञान को एकाग्र किया, वहाँ समग्र जैनशासन आ गया। आत्मा जहाँ अपने स्वभावरूप से परिणमित हुआ, वहाँ मोह-राग-द्वेषादि शत्रु विलीन हो गये; इसलिए उसमें जैनशासन आ गया।

यह भगवान आत्मा वचनगोचर या विकल्पगोचर नहीं है किन्तु ज्ञानगोचर है और वह भी अन्तरोन्मुख ज्ञान द्वारा ही गोचर है। ज्ञान को अन्तर्मुख करके अपने आत्मा को लक्ष्य में लेना, वह जैनधर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी रीति से जैनधर्म नहीं होता और ऐसे जैनधर्म के बिना, कभी किसी को कहीं किसी प्रकार मुक्ति नहीं होती।

'होनेवाला, वह कर्ता' और जो कुछ हो, वह उसका कर्म। मेरी जो पर्याय होती है, उसरूप होनेवाला मेरा द्रव्य है – ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि, द्रव्यस्वभाव पर जाती है और सामान्यद्रव्य में तो विकार नहीं है; इसलिए द्रव्यस्वभाव विकाररूप होकर विकार का कर्ता हो – ऐसा नहीं होता। इसलिए द्रव्यदृष्टिवाला जीव, विकार का कर्ता नहीं होता; वह तो निर्मलपर्यायरूप होकर उसी का कर्ता होता है। जिस प्रकार स्वर्णद्रव्य स्वयं कर्ता होकर, स्वर्ण की पर्यायरूप होता है किन्तु स्वर्ण कर्ता होकर, लोहे की पर्यायरूप नहीं होता; उसी प्रकार आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि वह कर्ता होकर अपनी स्वभाव-दशा को करता है; कर्ता होकर विकार करे – ऐसा आत्मा का द्रव्यस्वभाव नहीं है। कर्ता का इष्ट, वह कर्म है; कर्ता ऐसे आत्मा में रागादि विकारीभाव इष्ट नहीं है, वे तो उससे विपरीत है; इसलिए वह वास्तव में कर्ता का कर्म नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलपर्यायें ही आत्मस्वभाव के साथ एकमेक होने से, वे आत्मा का इष्ट हैं और वही कर्ता का कर्म हैं। ऐसे कार्य का कर्ता होना आत्मा का स्वभाव है।

'स्वाधीनरूप से परिणमित हो, वह कर्ता।' आत्मा का स्वाधीन परिणमन तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और विकार तो पराधीन परिणमन है। स्व के आधीन होकर स्वाधीनरूप से अपने सम्यग्दर्शनादि को करे – ऐसी कर्तृत्वशक्तिवाला आत्मा है। ऐसे 'कर्ता' को जहाँ लक्ष्य में लिया, वहाँ साधकपर्याय सम्यग्दर्शनादि की सिद्धि हुई और उस सिद्धरूपभाव के कर्तारूप से आत्मा परिणमित हुआ... अर्थात् वह धर्मी हुआ।

देखो! धर्म कैसे होता है, उसकी यह रीति कही जा रही है। धर्म की यह रीति समझने के साथ उच्च प्रकार का पुण्य भी बँधता है और उसके फल में स्वर्गादि का संयोग प्राप्त होता है किन्तु धर्म के रुचिवान जीव को उस पुण्य की या संयोग की रुचि नहीं होती। जिसे पुण्य की या संयोग की रुचि-उत्साह-उल्लास है, उसे धर्म की रुचि-उत्साह या उल्लास नहीं है। जिसे पुण्य की रुचि होगी, वह पुण्यरहित आत्मा की ओर कैसे उन्मुख

होगा? जिसे संयोग की रुचि हो, वह असंयोगी आत्मा की ओर क्यों ढलेगा? जिसे चैतन्यस्वभाव की ही रुचि है, वही चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर मुक्ति की साधना करता है और जिसे संयोग की या राग की रुचि है, वह असंयोगी-वीतरागी चैतन्यस्वभाव का अनादर करके, संसार की चारों दुर्गतियों में भटकता है।

मेरी समस्त पर्यायोंरूप होनेवाला, मेरा शुद्धद्रव्य ही है; अन्य कोई नहीं। बस! जहाँ ऐसा निर्णय किया, वहाँ समस्त पर्यायों में शुद्धद्रव्य का ही अवलम्बन रहा; इसलिए समस्त पर्यायें, निर्मल ही होने लगीं। ऐसा निर्णय करनेवाले को शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से एकाग्रता होने के कारण, पर की चिन्ता से विमुख हो गया; इसलिए एकाग्रचिन्ता निरोधरूप ध्यान हुआ। पर का मैं कर्ता और मेरी पर्याय पर से होती है - ऐसा जो माने, उसे पर की चिन्ता दूर होकर स्व में एकाग्रता नहीं होती; इसलिए उसे आत्मा का ध्यान नहीं होता और आत्मा के ध्यान बिना, वीतरागभावरूप धर्म नहीं होता। समस्त शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतरागभाव शुद्ध आत्मा के हो आश्रय से होता है।... इसलिए शुद्ध आत्मा का आश्रय करना ही समस्त शास्त्रों का सार सिद्ध हुआ। इस समयसार की सुप्रसिद्ध १५वीं गाथा में आचार्यदेव ने यही बात स्पष्ट बतलायी है कि जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है; जो शुद्धात्मा को जानता है, वह समस्त जिनशासन को जानता है। यह महान सिद्धान्त और जैनशासन का रहस्य है।

अहो! कुन्दकुन्दस्वामी तो भगवान थे...उन्होंने तो तीर्थङ्कर जैसा काम किया है... और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। सन्तों ने महान आश्चर्यजनक कार्य किये हैं। अहो! आकाश जैसे निरालम्बी मुनि तो जैनधर्म के स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्मा का स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी सन्तों का, चैतन्यपद को प्राप्त करनेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्मा को ऊपर ले जाना, अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्मा की उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य है।

प्रभो! तेरी प्रभुता तुझमें विद्यमान है। तू पर को प्रभुता दे और पर से अपनी प्रभुता माँगे, उसमें तो तेरी पामरता है। अपनी प्रभुता की भीख दूसरों से माँगना, उसमें तेरी प्रभुता -शोभा नहीं है किन्तु दीनता है। उस दीनता को छोड़ और अपनी प्रभुता को धारण कर।

जो जीव अपने आत्मा को प्रभुता को स्वीकार नहीं करता और मात्र बाह्यदृष्टि से भगवान के निकट जाकर कहता है कि 'हे भगवान! आप प्रभु हैं... हे भगवान! मेरा हित करो... मुझे प्रभुता दो!' तो भगवान उससे कहते हैं कि रे जीव! तेरी प्रभुता हमारे पास नहीं है। भाई! तुझमें ही तेरी प्रभुता है; इसलिए अन्तरोन्मुख हो... अन्तर्दृष्टि करके अन्तर में ही अपनी प्रभुता को ढूँढ़! जिस प्रकार हमारी प्रभुता हममें है; उसी प्रकार तेरी प्रभुता तुझमें है। तेरा आत्मा ही प्रभुता से परिपूर्ण है। अपने आत्मा को सर्वथा दीन मानकर, बाहर से तू अपनी प्रभुता ढूँढ़ेगा तो तुझे अपनी प्रभुता नहीं मिलेगी - 'दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँ से होय?' अपने में प्रभुता विद्यमान है, उसे तो मानता नहीं है और बाह्य में भटकता है, उसे तो मिथ्यात्व के कारण पामरता होती है।

राग होने पर भी मैं राग जितना तुच्छ-पामर नहीं हूँ किन्तु मैं तो प्रभुत्वशक्ति से परिपूर्ण हूँ; - इस प्रकार राग का उल्लंघन करके अपनी प्रभुता का स्वीकार करना, वह अपूर्व पुरुषार्थ है। अपनी प्रभुता को भूलकर जीव, संसार में भटका है और अपनी प्रभुता की सम्हाल करने से जीव, स्वयं परमात्मा हो जाता है। जब तक देह से और राग से पार आत्मा की प्रभुता को अपूर्व प्रयत्न द्वारा न पहिचाने, तब तक भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना, अज्ञानी को धर्म कैसा? इसलिए जिसे वास्तव में धर्म करना हो - धर्मी होना हो, उसे अपूर्व उद्यम करके अपने आत्मस्वभाव की पहिचान से भेदज्ञान करना चाहिए। भेदज्ञानी जीव अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर उसी का कर्ता होता है और विकार का कर्ता नहीं होता; इसका नाम धर्म है।

अहो! आत्मा की यह शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत बहाया है। अरे जीव! ऐसी-ऐसी शक्तियाँ तुझ में ही हैं तो अब तुझे बाह्य में कहाँ रुकना है? अन्तर में अपनी शक्तियों से परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न अपने आत्मा का ही अवलम्बन कर...जिससे तेरा भव-दु:खों से छुटकारा हो... और तुझे मोक्षसुख की प्राप्ति हो।

[इस प्रकार ४२ वीं कर्तृत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४३]

करणशक्ति

भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः।

भवते हुए (प्रवर्तमान) भाव के भवन के (होने के) साधकतमपनेमयी (उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति।

'अहो! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक के मेरे कार्यों का साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; कोई बाह्यपदार्थ मेरे साधन हैं ही नहीं;' -ऐसा निर्णय करनेवाला धर्मात्मा बाह्यसाधन ढूँढ़ने की व्यग्रता नहीं करता; अन्तर-स्वभाव का अवलम्बन लेकर, अपने आत्मा को ही सम्यग्दर्शनादि का साधन बनाता है। - यह बात आचार्यदेव ने इस करणशक्ति में प्रसिद्ध की है।

आत्मा ने स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों को किया, किन्तु उनका साधन क्या? कर्ता ने किस साधन द्वारा अपना कार्य किया? - वह अब बतलाते हैं।

'भवते हुए भाव के भवन के साधकतमरूपमयी करणशक्ति है।' इस शक्ति से आत्मा स्वयं ही अपने भाव का साधन होता है। 'भवते हुए भाव', अर्थात् वर्तमान वर्तता हुआ भाव, वह कार्य है; वह कार्य होने का उत्कृष्टसाधन आत्मा स्वयं ही है। साधक के आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्य होते हैं, उनका 'साधकतम' आत्मा स्वयं ही है। यहाँ आत्मा को 'साधकतम' कहा; इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'साधक' और 'साधकतत' कोई दूसरा होगा। यहाँ 'साधकतम' अनन्यपना बतलाता है, अर्थात् निर्मलभाव का साधन एक आत्मा स्वयं ही है, उसके भिन्न अन्य कोई साधन है ही नहीं।

अहो! सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धदशा तक जो-जो भाव मुझमें होते हैं, उनका साधन होने की शक्ति मेरे आत्मा में है; बाहर के कोई पदार्थ मेरा साधन है ही नहीं। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने कार्य के लिये-(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिये) बाह्यसाधन

ढूँढ़ने की व्यग्रता नहीं करता; वह तो अन्तरस्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने आत्मा को ही सम्यग्दर्शनादि का साधन बनाता है।

'शरीर, वह धर्म का साधन है; अच्छे निमित्त, धर्म के साधन हैं; शुभराग, धर्म का साधन है'—ऐसा मानकर अज्ञानी तो उन्हीं के अवलम्बन में रुक जाता है। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे जीव! तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति तेरे आत्मा में ही है; इसलिए अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को ही साधनरूप से अङ्गीकार कर। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों में या राग में तेरे धर्म का साधन होने की शक्ति नहीं है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों, वे सब उपचार से ही हैं; वह उपचार भी कब लागू होता है? कहते हैं कि वास्तविक साधन जो आत्मस्वभाव है, उसके अवलम्बन द्वारा जब निर्मलकार्य प्रगट करे, तब निमित्त—राग-व्यवहारादि को उपचारसाधन कहा जाता है किन्तु कोई सच्चे साधन को न जानकर, उपचारसाधन को ही सच्चा साधन मान ले तो उसे निर्मलकार्य नहीं होता और कार्य हुए बिना, उसके साधन का उपचार भी कहाँ से लागू होगा? जहाँ निश्चयसाधन द्वारा कार्य हो, वहीं दूसरों को (गुरुउपदेश आदि को) व्यवहारसाधन कहा जाता है।

धर्म का सच्चा साधन जो अपना शुद्ध चिदानन्दस्वभाव है, उसका तो आश्रय नहीं लेता और व्यवहार के शुभराग आदि को ही साधन मानकर, उसके अवलम्बन में रुक जाता है, उस जीव को स्वभाव की रुचि नहीं है किन्तु विकार की रुचि है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहाँ से होगा? जिसे आत्मा के वीतरागीधर्म का प्रेम हो, वह उससे विरुद्धभावों का आदर नहीं करता। राग तो आत्मस्वभाव से विपरीत एवं हानिकारक है, तथापि जो उसे लाभकारी मानता है, वह राग को साधन मानता है, उसे राग का प्रेम है; रागरहित स्वभाव का प्रेम नहीं है। जिसे राग का प्रेम है, वह रागरहित स्वभाव की साधना कैसे कर सकेगा? जो सम्यग्ज्ञानी है, वह राग को अपने स्वभाव से विरुद्ध जानता है, उसे साधनरूप से नहीं जानता, किन्तु बाधकरूप से जानता है; इसलिए उसमें तन्मय नहीं होता। अपने शुद्धस्वभाव को ही साधन जानकर, उसमें एकता द्वारा राग का अभाव कर देता है - इस प्रकार स्वभावसाधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। किसी बाह्य साधन के अवलम्बन बिना आत्मा, स्वयं अपनी शक्ति से ही साधन होकर सिद्धि को साधता है।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं कि धर्म का साधन क्या है? यहाँ वह साधन बतलाते हैं।

भाई! आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का उत्कृष्टसाधन होने के लिये शक्तिमान है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता का साधन अन्य कोई नहीं है किन्तु वह स्वयं ही अपने स्वभाव से उष्णता का साधन है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा, स्वयं अपने ज्ञान-आनन्द का अन्य कोई साधन नहीं है; वह स्वयं ही साधन होकर ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित होता है; एक बार आत्मा की ऐसी शक्ति का विश्वास तो कर! आत्मा के ऐसे साधन का विश्वास करे तो बाह्यसाधन (निमित्तादि) ढूँढ़ने की पराश्रयबुद्धि छूट जाये और स्वभाव के साधन से अनन्त शान्ति हो जाए।

प्रश्नः- इन्द्रियाँ, पुस्तकें, चश्मा आदि तो ज्ञान के साधन हैं न?

उत्तरः- ज्ञान का ऐसा पराधीनस्वभाव नहीं है कि उसे अपने से भिन्न साधन का आश्रय लेना पड़े। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है; इसलिए स्वयं ही ज्ञान का साधन है। इन्द्रियादि जड़ हैं, वे ज्ञान के साधन नहीं हो सकते। ज्ञान का साधन, ज्ञान से पृथक् नहीं होता; इन्द्रियाँ तो ज्ञान से पृथक हैं।

प्रश्नः- व्यवहार तो निश्चय का साधन है न?

उत्तरः- निश्चयरत्नत्रय का साधन होने की शक्ति अपने द्रव्यस्वभाव ही है क्योंकि करणशक्ति द्रव्य की है। व्यवहाररत्नत्रय में ऐसी शक्ति नहीं है कि साधक होकर, निश्चयरत्नत्रय को साधे। एक स्वभाव को ही साधन बनाकर जिसने निश्चयरत्नत्रय की साधना कर ली, उसे व्यवहाररत्नय, उपचार से साधन कहा जाता है। वास्तव में तो आत्मद्रव्य ही साधकतम है; इसके अतिरिक्त व्यवहार से कुछ भी साध्य नहीं है।

इस समयसार में गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में प्रश्न रखा है कि 'यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है?' उसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि 'उससे कुछ भी साध्य नहीं है।' देखो, आचार्यदेव ने ऐसा नहीं कहा कि भेद द्वारा अभेद, साध्य है या व्यवहार द्वारा निश्चय, साध्य है किन्तु उससे कुछ भी साध्य नहीं है - ऐसा कहा है। जहाँ अन्तर के गुण-गुणी भेदरूप सूक्ष्मव्यवहार से भी कुछ साध्य नहीं है, वहाँ अन्य स्थूल रागादि तो सिद्धि का साधन कहाँ से होंगे? राग द्वारा, अर्थात् राग को साधन बनाकर आत्मा के स्वभाव में नहीं पहुँचा जाता, किन्तु सीधे स्वभाव के अवलम्बन से ही स्वभाव में पहुँचा

जाता है; इसलिए आत्मा स्वयं ही अपना साधन बनता है। जहाँ आत्मस्वभाव का अवलम्बन ले, वहाँ सम्यग्दर्शनादि अवश्य होते ही हैं; आत्मस्वभाव के अवलम्बन बिना सम्यग्दर्शनादि होते ही नहीं। – इस प्रकार आत्मस्वभाव ही अबाधित साधन है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों, वे उपचार से हैं; नियमरूप नहीं हैं–ऐसा जानना।

शुद्ध अनन्त चैतन्यशक्तिवान यह आत्मा, स्वयं ही केवलज्ञानरूप परिणमित होने के स्वभाववाला होने से स्वयं ही साधकतम है; स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमित होने के कारण 'स्वयंभू' है। इसलिए ऐसा कहा है कि निश्चय से पर के साथ आत्मा को कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्यसाधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता करनी पड़े। आचार्य तो कहते हैं कि व्यर्थ ही परतन्त्र होते हैं। इस प्रकार शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति अन्य कारकों से निरपेक्ष होने के कारण, अत्यन्त आत्माधीन है। (देखो, प्रवचनसार गाथा–१६) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी अन्य कारकों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र आदि की प्राप्ति भी अन्य साधनों से निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है।

अपनी पर्यायों का साधन मैं ही हूँ और अन्य मेरा साधन नहीं है—ऐसा निश्चय करके धर्मात्मा बाह्यसाधनों का आश्रय नहीं लेते, किन्तु अपने–अपने आत्मा का ही आश्रय करते हैं। आत्मा का आश्रय करने से आत्मा स्वयं ही साधन होकर निर्मलपर्यायें होती हैं। 'प्रवचनसार' गाथा १२६ में कहा है कि—

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम्॥१२६॥

लोगों ने स्थूलरूप से–बाह्यदृष्टि से बाह्यसाधनों को स्वीकार कर लिया है किन्तु सूक्ष्मरूप से–अन्तर्दृष्टि करके अपने धर्म का यथार्थसाधन कभी नहीं ढूँढ़ा। अरे! बाह्य में अपने हित का साधन मानकर, मैं अनन्त काल से प्रयत्न कर रहा हूँ, तथापि मुझे अपने हित की प्राप्ति नहीं हुई; इसलिए अन्तर में कोई अन्य साधन होना चाहिए – इस प्रकार गहराई से विचार करके जीव ने कभी सच्चे साधन की खोज नहीं की। अरे! विकार से भिन्न मेरे आत्मा का अनुभव किस साधन से होगा? – इस प्रकार जिसके अन्तर में गहरी जिज्ञासा जागृत हुई है, उसे साधन बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा और बन्ध को पृथक

करनेरूप कार्य में कर्ता जो आत्मा है, उसके करण (साधन) सम्बन्धी गहरी विचारणा -मीमांसा की जाने पर, निश्चय से अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवतीप्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उस प्रज्ञा द्वारा उनका छेदन किया जाने पर, वे अवश्य ही पृथक्त्व को प्राप्त होते हैं; इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध को भिन्न किया जाता है, अर्थात् प्रज्ञारूपी साधन द्वारा ही उनका भेदज्ञान होता है।

आत्मा के स्वभाव को एवं रागादि बन्धभावों को प्रज्ञा द्वारा किस प्रकार छेदा जा सकता है? - ऐसा प्रश्न शिष्य की ओर से होने पर आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तरसन्धि में प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से उन्हें छेदा जा सकता है - ऐसा हम जानते हैं।' *(समयसार, गाथा २९४ टीका)*

देखो, यह साधन! आचार्यदेव स्वानुभवसहित कहते हैं कि हमने ऐसे अन्तरंग साधन से ही आत्मा को बन्धभावों से पृथक् जाना है। कर्ता का साधन अपने में ही है। कर्ता का साधन सचमुच कर्ता से भिन्न नहीं होता; इसलिए कर्ता से भिन्न जो भी साधन कहा जाये, वह कोई सचमुच साधन नहीं है। 'अपने से भिन्न करण का अभाव है' - ऐसा कहकर आचार्यदेव ने महासिद्धान्त बतलाया है। अरे जीव! अपने साधन की गहरी खोज अपने में कर, अपने अन्तर में ही साधन को ढूँढ़। जो अपने साधन को बाह्य में ढूँढ़ते हैं, वे उसकी गहरी खोज करनेवाले नहीं हैं किन्तु उथली बुद्धिवाले बाह्यदृष्टिवन्त हैं। जो आत्महित के साधन की सच्ची मीमांसा करते हैं, गहरी खोज करते हैं, उन्हें तो अपने आत्मा में ही अपना साधन भासित होता है; राग या बाह्यद्रव्य अपने साधनरूप से किंचित् भासित नहीं होते। ज्ञान को सूक्ष्म करके (इन्द्रियों तथा राग से पार ले जाकर) अन्तरोन्मुख करने पर भगवान आत्मा का अनुभव होता है; उस अन्तरोन्मुख ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं और वही आत्मा के अनुभव का साधन है। वह प्रज्ञारूपी निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद होने के कारण, अभेदरूप से आत्मा ही स्वयं अपना साधन है। 'मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ - इस प्रकार स्वयं में ही अभिन्न छह कारक हैं।' *(समयसार गाथा २९७)*

अहो! अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यों का साधकतम होने की शक्ति, आत्मा में त्रिकाल

है; स्वयं ही कारण होकर अपने सम्यग्दर्शनादि की साधना करे—ऐसी शक्ति स्वयं में ही है; किन्तु उसे भूलकर, अन्य साधन के लिये व्यर्थ ही बाह्य में दौड़धूप करता है। अन्तर के निज साधन को भूलकर अनन्त काल में बाह्य में दौड़धूप की, किन्तु कुछ भी जीव के हाथ नहीं लगा, तथापि सत्यसाधन क्या है, उसका गहरा विचार भी नहीं करता।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

'यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लयो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनन्त कियो; तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से?
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे!'

अरे जीव! अन्तर के एक चैतन्यसाधन को चूककर, बाहर के अन्य साधन तूने अनन्त बार किये; व्रत और तप किये, दिगम्बरमुनि द्रव्यलिंगी होकर पंच महाव्रत का पालन किया, हजारों रानियाँ छोड़कर शुभवैराग्य से त्यागी हुआ, शास्त्र पढ़े, वन में रहा, मौन धारण किया—ऐसे-ऐसे अनेक साधन अनन्त बार किये, तथापि अभी तक तुझे किंचित्मात्र हित की प्राप्ति नहीं हुई। तो अब तू अपने मन में क्यों विचार नहीं करता कि इन सब साधनों के अतिरिक्त अन्य कौन-सा सच्चा साधन शेष रह जाता है? सद्गुरुगम से तू उस साधन का विचार कर।

'प्रभो! मेरे हित का साधन क्या?'—ऐसा पूछने पर श्रीगुरु कहते हैं कि 'हे वत्स! तेरा आत्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति है, उसका अवलम्बन कर; वही तेरे हित का साधन है। तेरे आत्मा से भिन्न अन्य कोई तेरे हित का साधन नहीं है; इसलिए अभी तक माने हुए बाह्यसाधनों की दृष्टि छोड़ और अन्तर के चैतन्यस्वभाव की दृष्टि कर... उसका विश्वास करके उसी को साधन बना। तेरा शुद्ध आत्मा ही साध्य है और उस शुद्ध आत्मा का अवलम्बन करना ही साधन है—इस प्रकार तेरे साध्य और साधन दोनों का तुझमें ही समावेश हो जाता है।'

आत्मा की अनन्त शक्तियों में एक ऐसी करणशक्ति है कि जो सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायें होती हैं, उनका साधन आत्मा स्वयं ही होता है। सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों का उत्कृष्टसाधन आत्मा ही है। निमित्तादि परवस्तुओं में या राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा की निर्मलपर्याय का साधन हो और आत्मा का स्वभाव ऐसा नहीं है कि अपने निर्मलकार्य के लिये वह किसी अन्य साधन की अपेक्षा रखे। आत्मा का स्वभाव स्वयं ही साधकतम होने के कारण, उसकी सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, किन्तु निमित्तादि परद्रव्य कहीं आत्मा के कार्य का साधकतम नहीं है; इसलिए उसकी सन्मुखता से आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य नहीं होता। 'निमित्तादि किंचित् साधन तो होते हैं न ? - तो कहते हैं कि नहीं; निमित्त में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह आत्मा के मोक्षमार्गरूपी कार्य का किंचित् भी साधन हो। मोक्षमार्ग का साधन होने की परिपूर्ण शक्ति, आत्मा में ही है।'

पुनश्च, जिस प्रकार आत्मा अपने कार्य के लिये अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता; उसी प्रकार वह साधनरूप होकर किसी अन्य का कार्य करे - ऐसा भी नहीं होता। अपनी निर्मलपर्यायों का साधन होने की आत्मा में परिपूर्ण शक्ति है किन्तु शरीर, वाणी आदि की क्रिया में साधन हो—ऐसी किंचित् शक्ति आत्मा में नहीं है और सचमुच विकारीभावों का साधन होना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा के ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करनेवाला जीव, विकार के साधकतमरूप से परिणमित नहीं होता किन्तु अपनी निर्मलपर्याय के ही साधकतमरूप से परिणमित होता है। आत्मा अपने स्वभाव के अवलम्बन से स्वयं ही साधन होकर अपनी मुक्ति को साधता है; मुक्ति के लिये बाह्य में अन्य कोई साधन नहीं ढूँढ़ना पड़ता।

निश्चयरत्नत्रय का साधन व्यवहाररत्नत्रय है ? - तो कहते हैं कि नहीं; एक शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का अवलम्बन ही निश्चयरत्नत्रय का साधन है। व्यवहाररत्नत्रय को साधन कहना तो कथनमात्र है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मोक्ष का या मोक्षमार्ग का साधन बन जाये। यहाँ तो साधन (साधकतम) उसी को कहते हैं कि जो कार्य के साथ अभेद हो। आत्मा, मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ अभेद है; इसलिए आत्मा ही उसका साधन है किन्तु राग की मोक्षमार्गरूपी कार्य के साथ अभेदता न होने से,

राग उसका साधन नहीं है और आत्मा के स्वभाव की राग के साथ अभेदता न होने से आत्मा, राग का साधन नहीं है।

प्रश्नः- तो फिर राग का साधन कौन है ?

उत्तरः- राग का कोई ध्रुवसाधन नहीं है। राग तो ऊपर की क्षणिक विकृति है और उसका साधन भी क्षणिकपर्याय ही है। पर्याय में अन्तर्मुख होकर जहाँ ध्रुवस्वभाव को अपना साधन बनाया, वहाँ विकार का साधन कोई रहता ही नहीं, अर्थात् वहाँ विकार होता ही नहीं; वहाँ तो निर्मलता ही होती है। इस प्रकार अपनी निर्मलपर्याय का साधन होना ही आत्मा का स्वभाव है। [चारित्र में भूमिकानुसार राग होते हैं, वह गौण हैं]

हे नाथ! इस आत्मा को सुखी करने के लिये किस साधन का अवलम्बन किया जाए ? मेरे सुख का साधन क्या है ? - इस प्रकार साधन की आकांक्षा रखनेवाले शिष्य को श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तू चिन्ता न कर, तेरा आत्मा ही स्वयं तेरे सुख का साधन है; उसका अवलम्बन करते ही तू सुखी हो जायेगा; इसलिए अपने आत्मा को ही सुख का साधन जानकर, उसमें अन्तर्मुख हो। जब देख, तभी तेरे सुख का साधन तुझमें विद्यमान ही है; अन्तर्मुख होकर उसका अवलम्बन करे, इतनी देर है। अन्तर्मुख होने पर तेरा आत्मा ही तेरे सुख का साधन बन जायेगा; दूसरा कोई साधन तुझे नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा।

अहो! आचार्यदेव ने कितनी अद्भुत बात समझायी है। जो यह बात समझे, उसके आत्मा में अपूर्व आनन्दोल्लास की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी। अहो! मुझमें ही मेरा सुख भरा था, किन्तु अभी तक मैं उसे बाहर ढूँढ़ता रहा; इसलिए दुःखी हुआ। स्वभाव में ही मेरा सुख है - ऐसा सम्यक्भान होने पर, बाह्य में सुखबुद्धि छूट गयी और अपने स्वभाव में मग्न होकर आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हुआ, उस सुख का साधन आत्मा ही है, अन्य कोई उसका साधन नहीं है।

किसमें ऐसी शक्ति है कि जिसका अवलम्बन करने से वह आत्मा की निर्मलपर्याय का साधन हो ? निमित्तों में ऐसी शक्ति नहीं है; राग में भी ऐसी शक्ति नहीं है, अकेली पर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है तथा एक-एक गुण के आश्रय में भी ऐसी शक्ति नहीं है; इसलिए उन निमित्तों की राग की, पर्याय की, या गुणभेद की - किसी की सन्मुखता से निर्मलपर्याय

नहीं होती। अनन्त गुणों से अभेद आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति (करणशक्ति) है कि उसका अवलम्बन करने से वह निर्मलपर्याय का साधन होता है; इसलिए उसकी सन्मुखता से ही निर्मलपर्याय होती है। गुणों के भेद करके एक गुण के लक्ष्य से साधकपना नहीं होता; यदि एक गुण के लक्ष्य से ही साधकपना माने तो उसने एक गुण जितना ही सम्पूर्ण आत्मा को माना है; इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणोंसहित सम्पूर्ण आत्मा उसकी मान्यता में नहीं आया। अनन्त गुणों से परिपूर्ण आत्मा को माने बिना, कभी साधकपना हो ही नहीं सकता।

जीव, विकल्प द्वारा एक गुण को पृथक् करके लक्ष्य में लेता है किन्तु वस्तु में कहीं एक गुण पृथक् नहीं होता; इसलिए उस विकल्प द्वारा वस्तु प्रतीति में नहीं आती। जिस प्रकार जड़, चेतन को अत्यन्त प्रदेशभेद हैं; दोनों वस्तुओं के प्रदेश ही भिन्न हैं; उसी प्रकार कहीं वस्तु और वस्तु की अनन्त शक्तियों को प्रदेश भेद नहीं हैं। ज्ञान के प्रदेश अलग, दर्शन के अलग, आनन्द के अलग—ऐसा प्रदेशभेद नहीं है तथा अनन्त शक्तियों से भिन्न दूसरा कोई शक्तिमान नहीं है किन्तु शक्तिमान (वस्तु) स्वयं ही अनन्त शक्तिस्वरूप है; इस प्रकार शक्तिमान और शक्तियों में स्वरूपभेद नहीं है, मात्र समझाने के लिये अभेद में भेद उत्पन्न करके एक गुण की मुख्यता से 'ज्ञान, सो आत्मा' - ऐसा कहा जाता है। वहाँ भेद-सन्मुख देखने से आत्मा समझ में नहीं आता, किन्तु अनन्त धर्मस्वरूप एक अखण्ड चैतन्यवस्तु आत्मा है। उसके सन्मुख देखने से ही आत्मा का सच्चा स्वरूप समझ में आता है। यह बात कुछ सूक्ष्म तो है किन्तु पूर्व अनन्त काल में जो नहीं किया है, ऐसा आत्मकल्याण जिसे करना हो, उसे अन्तर में बारम्बार उद्यम करके यह बात समझनेयोग्य है ही। इस बात को समझने पर ही भवभ्रमण से छुटकारा होगा; अन्य किसी प्रकार छुटकारा नहीं हो सकता।

श्री 'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय में एक सूत्र है कि - 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' समस्त गुण, द्रव्य के आश्रय से विद्यमान हैं, अर्थात् द्रव्य स्वयं ही अनन्त गुण स्वरूप है; इसलिए उस द्रव्य के आश्रय से परिणमित होने पर समस्त गुणों का निर्मलपरिणमन हो जाता है, परन्तु गुण स्वयं निर्गुण हैं, अर्थात् एक गुण के आश्रय से दूसरे गुण विद्यमान नहीं है; इसलिए एक गुण का भेद करके उसके आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करना चाहे तो

वह नहीं हो सकता; क्योंकि एक गुण को श्रद्धा-ज्ञान में लेते हुए दूसरे अनन्त गुण शेष रह जाते हैं; इसलिए सम्पूर्ण वस्तु जैसी है, वैसी प्रतीति में या ज्ञान में नहीं आती और प्रतीति में तथा ज्ञान में सम्पूर्ण वस्तु आये बिना, उसमें एकाग्रता भी कहाँ से होगी ? एक ज्ञानगुण के आश्रय से केवलज्ञान प्रगट करना चाहे तो उसे केवलज्ञान नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान यद्यपि ज्ञानगुण की पर्याय है, तथापि वह गुण कहीं, वस्तु से पृथक होकर परिणमित नहीं होता। अखण्ड वस्तु का आश्रय करके परिणमित होने पर, आत्मा के समस्त गुण, निर्मलरूप से परिणमित हो जाते हैं। श्रद्धागुण सम्यक्त्वरूप से, ज्ञानगुण केवलज्ञानरूप से, चारित्रगुण स्वरूप में एकाग्रतारूप से, तथा आनन्दगुण आनन्दरूप से परिणमित हो जाता है। वहाँ प्रत्येक गुण का भिन्न-भिन्न अवलम्बन नहीं है; एक अखण्ड चैतन्यवस्तु का ही अवलम्बन है और वही समस्त गुणों की निर्मलपर्याय का साधन है।

भाई ! तेरे आत्मा में और प्रत्येक आत्मा के स्वरूप में जो वस्तु स्थिति है, उसी का यह वर्णन है। तुझे तेरे आत्मा का वैभव बतलाया जा रहा है। यह शक्तियाँ कहीं नवीन उत्पन्न नहीं करना है, शक्तियाँ तो तुझमें सदैव हैं ही, किन्तु तूने उनकी प्रतीति नहीं की है; इसलिए अन्तर्मुख होकर प्रतीति नवीन करना है। इन शक्तियों की प्रतीति करने से, अर्थात् ऐसी शक्तियों स्वरूप आत्मा को प्रतीति में लेने से, आत्मा स्वयं निर्मलरूप से परिणमित होता है और उसकी शक्तियाँ पर्याय में प्रगट हो जाती हैं, निर्मलरूप से विकसित हो जाती हैं। - इसका नाम मोक्षमार्ग है और उन शक्तियों के सम्पूर्ण विकसित हो जाने का नाम मोक्ष है।

'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ।' *(-आत्मसिद्धि)*

यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ बतलाने का प्रयोजन नहीं है किन्तु आत्मवस्तु अनन्त शक्ति सम्पन्न है, वह बतलाना है; अनन्त धर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मद्रव्य की पहिचान कराना है। कोई भी शक्ति लो, जैसे कि-जीवत्वशक्ति; वह शक्ति किसकी है ?-आत्मद्रव्य की। आत्मद्रव्य कितना है ? -एक साथ ज्ञानादि अनन्त धर्म जितना। ऐसे आत्मद्रव्य को प्रतीति में लिये बिना, उसकी कोई भी शक्ति निर्मलकार्य नहीं देती और शुद्धद्रव्य को प्रतीति में लेकर उसके आश्रय से परिणमित होने पर समस्त शक्तियाँ निर्मलकार्य देती हैं; द्रव्य परिणमित होने पर उसकी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित हो जाती हैं। अज्ञानी

का आत्मा भी परिणमित होता तो अवश्य है किन्तु वह स्वद्रव्य के आश्रय से परिणमित न होकर, पर के आश्रय से विकाररूप परिणमित होता है; इसलिए आत्मा की शक्ति का कार्य नहीं माना जाता। शक्ति का कार्य उसे कहा जाता है जो कार्य, शक्ति जैसा ही निर्मल हो तथा शक्ति के साथ अभेद हो। आत्मा अपनी करणशक्ति द्वारा साधकतम होकर अपने अनन्त गुणों की निर्मलपर्यायों के साधनरूप से परिणमित होता है। – इस प्रकार भगवान आत्मा ही अपना साधन है—ऐसा जो जाने, उसे बाह्यसाधन ढूँढ़ने की व्यग्रबुद्धि, आकुलताबुद्धि, मिथ्याबुद्धि, पराधीनबुद्धि नहीं रहती, किन्तु स्वाश्रय करके अन्तरस्वभाव में ही एकाग्र होना रहता है। उसके श्रद्धा-ज्ञान में द्रव्यस्वभाव ही मुख्य रहता है और वह जीव निःशंकरूप से स्वभावसाधन द्वारा मोक्ष को साधता है।

निमित्त से या विकार से मेरी पर्याय, निर्मल होती है-ऐसा जो मानता है, उसे स्वाश्रय का सम्यक्पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पराश्रय का विपरीतपुरुषार्थ है। अपने स्वभाव के साधन से ही मेरी पर्याय, निर्मल होती है – ऐसा जो वास्तव में जानता है, वह तो स्वसन्मुख होकर स्वभाव का पुरुषार्थ करता है और उसी को सम्यग्दर्शनादि निर्मलकार्य होते हैं। अहो! शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय के अतिरिक्त गुण भेद के आश्रय से लाभ होने की मान्यता भी जहाँ उड़ा दी है, वहाँ राग के या पर के आश्रय से लाभ होने की मान्यता तो कहाँ से बनी रहेगी ?

यह एक नियम है कि जिससे जिसे लाभ हो, उसके साथ उसकी एकताबुद्धि होती है। जिसे अपने से भिन्न जानता हो, उससे कोई अपने को लाभ नहीं मानता और जिससे लाभ मानता हो, उसे अपना माने बिना नहीं रहता। शरीर से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा माननेवाला शरीर तथा आत्मा को एकरूप ही मानता है; राग से आत्मा को लाभ माननेवाला राग को और आत्मा के स्वभाव को एकरूप ही मानता है; पुण्य से धर्म होता है – ऐसा माननेवाला, पुण्य को और धर्म को एकरूप ही मानता है; व्यवहार से निश्चय होता है – ऐसा माननेवाला, निश्चय-व्यवहार दोनों को एकरूप ही मानता है; एक गुण के भेद के आश्रय से लाभ होता है—ऐसा माननेवाला, एक ही गुण के साथ आत्मा की एकता मानता है किन्तु अनन्त गुणों के साथ आत्मा की एकता को नहीं जानता; इसलिए गुणभेद के विकल्प को ही वह आत्मा मानता है। यह सब मिथ्यादृष्टि जीव की मान्यता के प्रकार हैं। जहाँ अन्तरंग-चिदानन्दस्वभाव में एकता नहीं हुई, वहाँ अन्यत्र कहीं एकता माने बिना

रहता ही नहीं। धर्मी जानता है कि मेरा चिदानन्दस्वभाव ही मुझे लाभ का कारण है और 'जिससे लाभ माने, उसके साथ एकता माने बिना रहता ही नहीं;' इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मी अपने स्वभाव से ही लाभ मानकर, उसी में एकता करते हैं और स्वभाव में एकता से उन्हें सम्यग्दर्शनादि का लाभ होता है।

पर्यायरूप से यद्यपि गुण ही परिणमित होता है किन्तु गुण के भेद के आश्रय से गुण का निर्मलपरिणमन नहीं होता; अभेद द्रव्य के आश्रय से ही गुणों का निर्मलपरिणमन होता है। एक ज्ञानगुण के चिन्तन से केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी अखण्ड आत्मा के चिन्तन से केवलज्ञान होता है; उसी प्रकार एक गुण के चिन्तन से सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु अखण्ड चिदानन्दस्वभाव के चिन्तन से ही सम्यक्त्व होता है। उसी प्रकार एक आनन्दगुण को लक्ष्य में लेकर चिन्तवन करने से आनन्द का अनुभव नहीं होता, किन्तु आनन्दादि अनन्त गुणों से अभेद आत्मा के चिंतवन से ही आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार अभेद द्रव्य के आश्रय से ही उसके समस्त गुणों का निर्मलपरिणमन होता है; इसलिए निर्मलता का साधन आत्मा स्वयं ही है। गुणभण्डार आत्मा स्वयं ही अपनी करणशक्ति से साधकतम होकर रत्नत्रयधर्म को साधता है।

देखो, यह साधक होने की रीति! यह धर्म को साधने का उत्कृष्टसाधन! अपने स्वभाव को ही साधन बनाकर अनन्त जीवों ने सिद्धपद को साधा है; वर्तमान में अनेक जीव उसी प्रकार सिद्धपद को साध रहे हैं और भविष्य में भी साधेंगे। स्वभावसाधन से बाहर अन्य साधन को जो ढूँढ़ेगा, उसे सिद्धपद की सिद्धि नहीं होगी; वह तो संसार का ही साधक रहेगा, अर्थात् संसार में ही भटकेगा। यहाँ तो स्वभावसाधन समझकर साधक होकर अपने सिद्धपद को साधें - ऐसे जीवों के लिये बात है;

अनन्त गुण मूर्ति आत्मस्वभाव को ही जो अपना साधन मानता है, वह जीव निमित्त को-राग को-व्यवहार को अपना साधन नहीं मानता; इसलिए उससे लाभ नहीं मानता। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा अन्य पुरुष का संग, स्वप्न में भी नहीं करती; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने चैतन्यस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वप्न में भी अपने साधनरूप से स्वीकार नहीं करते। यही साध्य की सिद्धि का साधन है; अन्य किसी साधन से साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि-' अनन्त

चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है।'

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलुः न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः। *(-समयसार कलश २०)*

भगवान आत्मा अनन्त शक्तिस्वरूप है; उसकी ४३ वीं 'करणशक्ति' का यह वर्णन चल रहा है। करण, अर्थात् साधन; आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपने निर्मलपर्यायरूप कार्य को करता है किन्तु उसका साधन क्या ? - तो कहते हैं कि करणशक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही उत्कृष्ट साधन है। साधक को अपना आत्मा ही निर्मलता का साधन है। आत्मा में साधन होने की शक्ति तो त्रिकाल है किन्तु स्वयं स्वसन्मुख होकर कभी उस साधन को ग्रहण नहीं किया है। यदि स्वसन्मुख होकर स्वभावसाधन को ग्रहण कर ले तो साधकदशा हुए बिना न रहे। त्रिकाली द्रव्य को साधनरूप से अङ्गीकार करने पर, ज्ञानादि अनन्त गुण अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप से परिणमित हो जाते हैं। प्रवचनसार २१वीं गाथा में भी कहते हैं कि - 'केवली भगवान स्वयमेव अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करते हैं; इसलिए तुरन्त प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं....' देखो, कितनी स्पष्ट बात है! केवलज्ञान का कारण अन्य कोई है ही नहीं; अपना त्रिकाली ज्ञानस्वभाव ही केवलज्ञान का कारण है। जिस क्षण निज द्रव्यस्वभाव के उत्कृष्ट आलम्बन द्वारा उस ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करे, उस क्षण केवलज्ञान होता है। इस केवलज्ञान की भाँति समस्त निर्मलपर्यायों में भी समझ लेना।

आत्मा को धर्म के साधनरूप से मात्र स्वद्रव्य का ही अवलम्बन है; अन्य कोई साधन नहीं है। स्वद्रव्य में अन्तर्मुख होने पर, द्रव्य स्वयं ही निर्मलपर्याय का साधन होता है, ऐसी शक्ति आत्मा में है।

ज्ञान का साधन, शास्त्र नहीं; किन्तु ज्ञान का साधन, आत्मा ही है।

चारित्र का साधन, शरीर नहीं; किन्तु चारित्र का साधन, आत्मा ही है। आत्मा के ही ग्रहण से ज्ञान-चारित्रादि निर्मलपर्यायें होती हैं; इसलिए आत्मा ही उनका साधन है।

समयसार गाथा २७७ में कहा है कि अभेदरूप से आत्मा स्वयं ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप आदि रूप है।

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा में दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा में संवरो योगः ॥२७७॥

आत्मा ही अपनी दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मलपर्यायों में अभेदरूप से परिणमित होता है; इसलिए वे पर्यायें आत्मा ही हैं, उनका साधन भी आत्मा ही हैं। त्रिकाली द्रव्य, वह कारण और उसकी निर्मलपर्याय, वह कार्य; ऐसे कारण-कार्य एक साथ अभेद हैं; अन्य कोई भिन्न कारण नहीं है।

प्रश्नः- यदि कारण-कार्य दोनों साथ ही हों तो शुद्धद्रव्यरूप कारण तो त्रिकाल ही है, तथापि कार्य क्यों नहीं है ?

उत्तरः- शुद्ध कारण को स्वीकार करे और निर्मलकार्य न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। 'कारण त्रिकाल है' - ऐसा स्वीकार किसने किया ? कारण को स्वीकार करनेवाला स्वयं ही निर्मलकार्य है। अज्ञानी ने तो शुद्धद्रव्य को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं; उसने तो पर का कारणरूप माना है, अर्थात् शुद्धकारण उसकी दृष्टि में आया ही नहीं और सम्यग्दर्शनादि कार्य भी उसके नहीं हुआ है। शुद्धकारण को स्वीकार करे और सम्यग्दर्शनादि कार्य न हो - ऐसा हो ही नहीं सकता। 'कारण है किन्तु कार्य नहीं है' - ऐसा जो कहता है, उसने वास्तव में कारण को कारणरूप से स्वीकार किया ही नहीं। ध्रुववस्तु कारण और जहाँ उसका स्वीकार किया, वहाँ मोक्षमार्गरूप कार्य—इस प्रकार कारण-कार्य दोनों एक साथ ही हैं। यदि कार्य नहीं है तो द्रव्य को कारणरूप से स्वीकार करनेवाला कौन है ? शुद्धद्रव्य के अवलम्बन से जहाँ शुद्धकार्य हुआ, वहाँ भान हुआ कि अहो ! मेरा स्वभाव ही मेरे कार्य का कारण है। ऐसा कारण मुझमें पहले भी था किन्तु मैंने उसका अवलम्बन नहीं लिया; इसलिए कार्य नहीं हुआ। अब उस शुद्धकारण के स्वीकार से सम्यग्दर्शनादि शुद्धकार्य हुआ।

तीर्थङ्कर भगवन्तों के मार्ग में तो मोक्षमार्ग का साधन शुद्धआत्मा ही है। शुद्ध आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही मोक्षमार्ग को साधा जा सकता है और वही तीर्थङ्कर

भगवन्तों का बतलाया हुआ मुक्ति का मार्ग है। भगवान भी इसी मार्ग से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और 'हे जीवों! तुम भी इसी प्रकार अपने चिदानन्दस्वभाव को ही साधनरूप से अङ्गीकार करो... उसे साधन करने से ही सिद्धि होती है' – ऐसा भगवान का उपदेश है। इसके सिवा अन्य किसी साधन से मोक्ष होता है – ऐसा भगवान ने नहीं कहा।

देखो, यह धर्म का साधन बतलाया जा रहा है। धर्म का साधन क्या है ?

–देह की क्रिया, वह धर्म का साधन नहीं है;

–पुण्य, वह धर्म का साधन नहीं है;

अनन्त शक्तिसम्पन्न धर्मी ऐसा जो आत्मा, वही धर्म का साधन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह धर्म है और आत्मा का स्वभाव ही उसका साधन है। स्वामी समन्तभद्राचार्यदेव ने कहा है कि – **'न धर्मो धार्मिकैर्विना'** धर्म, धार्मिक के बिना नहीं होता। परमार्थतः धर्म को धारण करनेवाला ऐसा जो आत्मा (धर्मी), उसके बिना सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होता। अनन्त गुणों को धारण करनेवाला ऐसा आत्मा, वह धर्मी है और उसी के आधार से धर्म है। आत्मा स्वयं साधक होकर अपने धर्म को साधता है; इसलिए आत्मा साधु है, अथवा आत्मा के गुण अपनी-अपनी निर्मलपर्यायों का जतन (रक्षा) करते हैं; इसलिए यति है; पुनश्च सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निज ऋद्धिसहित होने से वह ऋषि है। इस प्रकार आत्मा, स्वभाव से सर्व साधन सम्पन्न है।

हे जीव! तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है जो तू बाह्यसाधनों को ढूँढ़ता है ? साधन होने की परिपूर्ण शक्ति तुझमें है; तेरा आत्मा ही सर्व साधन सम्पन्न होने पर भी तू बाह्य में अपना साधन क्यों ढूँढ़ता है ? जैसे-किसी के यहाँ कड़ाही आदि साधन न हों तो वह पड़ौसी के यहाँ माँगने जाता है किन्तु जिसके घर में सर्व साधन हों, वह दूसरे के यहाँ किसलिए माँगने जायेगा ? उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव स्वयं सर्व साधन सम्पन्न है; उसमें ऐसी कोई अपूर्णता नहीं है कि उसे दूसरों से साधन माँगना पड़े।

प्रश्नः– वीतरागता प्रगट करने के लिये वीतरागता के निमित्त तो ढूँढ़ना पड़ेंगे न ? पूर्व काल में अन्य जीवों के लिये जो वीतरागता के निमित्त हुए हैं, उन निमित्तों को हम प्राप्त कर लें, तभी तो वीतरागता होगी ?

उत्तरः- अरे भाई! ऐसा नहीं है; वह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर, अपने स्वभावसाधन को ढूँढ़। जहाँ तू स्वभावसाधन कर लेगा, वहाँ तुझे निमित्तों को नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। स्वभाव में साधनशक्ति की ऐसी अपूर्णता नहीं है कि अन्य साधन प्राप्त करना पड़े। 'अन्य जीवों को जो वीतरागता के निमित्त हुए, उन पदार्थों को मैं प्राप्त कर लूँ तो उनके निमित्त से मुझे वीतरागता हो;' - यह दृष्टि ही विपरीत है; उसे स्वभाव की ओर नहीं ढलना है किन्तु अभी तो उसे निमित्त प्राप्त करना है! इसलिए साधन होने की शक्तिवाले अपने स्वभाव को वह वास्तव में मानता ही नहीं है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव सामर्थ्य को जानकर, उसका अवलम्बन लेकर, उसी को साधन बनाता है।

जैसे-विशाल मन्दिर का निर्माण कराना हो तो पहले इस बात को लक्ष्य में लेना पड़ता है कि उसकी सामग्री कहाँ मिलेगी; उसी प्रकार इस आत्मा का सिद्धमन्दिर-मुक्ति -मन्दिर बनाने के साधन कौन-से हैं? उसकी यह बात है। भाई! तेरे सिद्धमन्दिर का साधन हो—ऐसी सामग्री (साधनशक्ति; करणशक्ति) तेरे स्वभाव में ही भरी है। उसी साधन का उपयोग करके, अर्थात् उपयोग को स्वभावोन्मुख करके अपने सिद्धमन्दिर को तैयार कर। अपनी सिद्धि को साधने के लिये अपना स्वभावरूप एक ही साधन बस है; अन्य किसी साधन को मत ढूँढ़! अंतरंग में निश्चयसाधन प्रगट किये बिना, अन्य किसी को व्यवहारसाधन कहा जाता नहीं, यह नियम है।

[-यहाँ ४३वीं करणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४४]

सम्प्रदानशक्ति

स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः।

अपने द्वारा किया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (उसे प्राप्त करने के योग्यपनामय, उसे लेने के पात्रपनामय) सम्प्रदानशक्ति।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ!! किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! - इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसंग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपार भक्तिपूर्वक मुनि को आहारदान देते हैं किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि को तथा देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अन्तर में सम्यक्भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहार का लेने या देनेवाला नहीं है तथा निर्दोष आहार लेने या देने की शुभवृत्ति होती है, उसका भी देनेवाला या पात्र हमारा आत्मा नहीं है। हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभावों का ही देनेवाला है और उसी के हम पात्र हैं।

कर्ता, कर्म और करणशक्ति का वर्णन किया; अब आत्मा की सम्प्रदानशक्ति बतलाते हैं। 'अपने से दिया जानेवाला जो भाव, उसके उपेयपनेमय सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है।' आत्मा को 'ज्ञानस्वरूप' कहकर उसकी पहिचान करायी है, तथापि उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि अपने भाव को स्वयं ही झेलता है; निर्मलभाव प्रगट करके स्वयं अपने को ही देता है। द्रव्यस्वभाव में से दिये जानेवाले केवलज्ञानादि निर्मलभाव को झेलकर, अपने में ही रखने की आत्मा की शक्ति है। जैसे लोकव्यवहार में कुम्हार घड़ा बनाकर राजा को दे तो वहाँ राजा उस घड़े का

सम्प्रदान कहा जाता है; उसी प्रकार आत्मा की निर्मलपर्याय का सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अङ्गीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मलपर्याय प्रगट करके किसी अन्य को नहीं देता, किन्तु अपने में ही रखता है; स्वयं अपने को ही निर्मलपर्याय का दान देता है—ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है।

चिदानन्द आत्मा दातार होकर निर्मलपर्याय-सम्यग्दर्शनादि का दान दे, उस दान को लेने की आत्मा की पात्रता है किन्तु राग को या पर को ले—ऐसी पात्रता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्यग्दर्शनादि भावों का स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला है- ऐसी आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है। आत्मा अपनी वस्तु किसी अन्य को नहीं देता और अन्य की वस्तु स्वयं नहीं लेता। आत्मा में आहार ग्रहण करने की पात्रता है—ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्वयं अपने से दिये जानेवाले निर्मलभाव को ही लेने की पात्रता है - ऐसा कहा है। आहार तो जड़ परमाणुओं से बना है, वह कहीं आत्मा से दिया गया भाव नहीं है और उसे ग्रहण कर सके - ऐसी पात्रता आत्मा में नहीं है। आत्मा में ऐसी पात्रता है कि निर्मलभाव ही उसमें रहता है; विकार को या पर की ग्रहण करने की पात्रता, आत्मा के स्वभाव में नहीं है। जहाँ स्वभावदृष्टि की, वहाँ धर्मी जीव को ऐसी पात्रता प्रगट हुई कि अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले निर्मलभाव को ही वह उपेयरूप से स्वीकार करता है; रागादि को उपेयरूप से अपने में ग्रहण नहीं करता। मैं देनेवाला और दूसरा लेनेवाला, अथवा मैं लेनेवाला और दूसरा देनेवाला - ऐसा धर्मी नहीं मानते। मैं ही देनेवाला और मैं ही लेनेवाला—काहे का? तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों का। - इस प्रकार धर्मी अपने आत्मा को ही अपने सम्प्रदानरूप से जानता है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम-रोम से भक्ति उछलने लगती है...अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त-भगवान के लिये मैं क्या-क्या करूँ!! किस प्रकार उनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ!! - इस प्रकार धर्मी का हृदय, भक्ति से उछल पड़ता है। और जहाँ ऐसे साधकमुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ तो मानो साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आ गया! - इस प्रकार अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं

किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनि को तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्मा को अन्तर में दृष्टि (श्रद्धा) कैसी होती है, उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनों के अन्तर में ऐसा सम्यक्भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा, इस आहार का देने या लेनेवाला नहीं है; तथा यह निर्दोष आहार देने या लेने का जो शुभराग है, उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है; हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलभावों का ही देनेवाला है, उसी के हम पात्र हैं। इस प्रकार हमारा आत्मा ही हमारा दाता और आत्मा ही सम्प्रदान है। - ऐसी अन्तर्दृष्टि दोनों को वर्तती है, उसी की सच्ची महिमा है। ऐसी अन्तर्दृष्टि के बिना, मात्र शुभराग से आहारदान दे या ले, उसकी मोक्षमार्ग में कोई गिनती नहीं है। महात्मा मुनि और धर्मात्मा सम्यक्त्वी, दोनों प्रतिक्षण अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने स्वभाव में से निर्मलपर्याय का दान देते हैं और स्वयं ही पात्र होकर उसे लेते हैं—ऐसा दान, मोक्ष का कारण है और धर्म है। आत्मा, पर का या विकार का देने-लेनेवाला है—ऐसा जो मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है और ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव तो व्यवहार में भी 'कुपात्र' माना जाता है।

मुनियों को या धर्मात्मा श्रावकों को आहारदान देने का भाव तो शुभराग है, वह पुण्यास्त्रव का कारण है और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि यह चारों भिन्न-भिन्न हैं। सम्यक्त्वी गृहस्थ, दाता है; मुनि, उत्तम पात्र हैं; अपनी आहारादि वस्तुओं का देना, वह दान है और नवधा भक्ति आदि विधि है। और यहाँ आत्मा स्वयं ही दान का दाता होकर अपने को ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान देता है; स्वयं अपने को अतीन्द्रिय आनन्दरूपी आहार देता है, वह धर्म है, वह मोक्ष का कारण है और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि, ये चारों अभेद हैं। भगवान आत्मा स्वयं दाता है, उस दाता द्वारा दी जानेवाली रत्नत्रयपर्याय को लेनेवाला पात्र भी स्वयं ही है; देने योग्य जो निर्मलपर्याय, वह भी अपने से अभिन्न है और अपने में एकाग्रतारूप विधि द्वारा स्वयं वह दान देता है; इसलिए उसकी विधि भी अपने में ही है। जो आत्मा के ऐसे सम्प्रदानस्वभाव को जान ले, उसमें ऐसी पात्रता प्रगट होती है कि अपने स्वभाव के पास से वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दान लेता है। अपने स्वभाव द्वारा दिया जानेवाला ऐसा दान लेने का ही आत्मा का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बाह्य में आहार देने-लेने की क्रिया तो परमाणुओं के परिवर्तन के नियमानुसार होती रहती

है और उस-उस समय की भूमिकानुसार उस-उस प्रकार का शुभभाव भी धर्मी को आता है किन्तु धर्मी अपने को उस राग का या आहार का सम्प्रदान नहीं मानता; वह तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों के सम्प्रदानरूप से ही परिणमित होता है और वही धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा के भान बिना, आहार की क्रिया को तथा राग को आत्मा का स्वरूप मानकर, शुभभाव से आहार दे तो वहाँ मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध होता है; उससे परित-संसार नहीं होता, किन्तु जुगलिया भोगभूमि में अवतार होता है। यहाँ तो उस धर्म की बात है जिससे संसार का अन्त होकर मोक्ष प्राप्त हो।

अज्ञानी क्षण-क्षण में (पर्याय-पर्याय में) अपने स्वभाव को भूलकर, मिथ्यात्वभाव से विकार को ही प्राप्त करता है; धर्मात्मा ज्ञानी तो अपने स्वभाव को पहिचानकर, उसमें से क्षण-क्षण / पर्याय-पर्याय में निर्मलभाव को ही लेता है। निर्मलपर्याय को देने की तथा उसी को लेने की आत्मा की सम्प्रदानशक्ति है; परवस्तु का कुछ भी लेने या पर को कुछ देने की शक्ति आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में नहीं है तथा राग का देनेवाला या लेनेवाला भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। पर्याय में क्षणिक रागादि होते हैं, उन्हीं को ग्रहण करनेवाला जो अपने का माने, वह अपने सम्प्रदानस्वभाव को नहीं जानता है।

भाई! तेरा स्वभाव परिणमित होकर तुझे केवलज्ञान प्रदान करे और तू उसे ले— ऐसा सम्प्रदान की शक्तिवाला तेरा आत्मा है। अज्ञानी ने अपने आत्मा को ऐसा माना है कि मानो वह राग का ही पात्र हो! उसे समझाते हैं कि अरे भगवान! तेरे आत्मा में तो ऐसी शक्ति है कि राग को तोड़कर, स्वयं केवलज्ञान का पात्र हो... उसे पहिचान।

जैसे-किसी निर्धन मनुष्य को बड़ाभारी राज्य मिलने का प्रसंग आ जाये और उस समय वह कहे कि 'अरे! हम तो गरीब आदमी हैं, हममें राज्य लेने या राजा बनने की पात्रता कहाँ से हो सकती है?'-तो वह पुण्यहीन है; और जो पुण्यवान है, वह तो तुरन्त स्वीकार करेगा कि हम राजा होने के योग्य हैं, हम अपनी शक्ति से राज्य का संचालन करेंगे। उसी प्रकार यहाँ निर्धन, अर्थात् अज्ञानी जीव को आचार्यदेव उसका चैतन्यराज्य प्राप्त होने की बात सुनाते हैं कि 'अरे जीव! तुझमें केवलज्ञानपद का सम्प्रदान होने की शक्ति है; ज्ञान-साम्राज्य को प्राप्त करके उसे सँभालने की तेरी शक्ति है।' वहाँ जो ऐसा कहे कि अरे! हम तो अज्ञानी, पाप में डूबे हुए हैं, हममें केवलज्ञान लेने या परमात्मा होने की

पात्रता कहाँ से हो सकती है ? – तो वह जीव पुरुषार्थहीन है। और जो पुरुषार्थवान है – आत्मा का उल्लासी है, वह तो इस बात को सुनकर तुरन्त स्वीकार करता है कि अहो! हमारा आत्मा केवलज्ञान के योग्य है, हमारी पर्याय में केवलज्ञानसाम्राज्य प्राप्त करने की शक्ति है; हम अपनी शक्ति से केवलज्ञान लेंगे। इस प्रकार आत्मस्वभाव का विश्वास करके, उसमें लीन होकर धर्मी अपने आत्मा को केवलज्ञानादि सम्प्रदानरूप से परिणमित करता है। समस्त जीवों में ऐसी शक्ति है, जो उसे स्वीकार करता है, उसका तद्रूप परिणमन होता है। 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे सो होय' की भाँति।

यह बात तो उस जीव की समझ में आ सकती है, जिसे किसी भी प्रकार आत्मा का हित करना है। चाहे जितना उच्च प्रकार का भोजन हो, किन्तु जिसे भूख न लगी हो, उसे वह कैसे भायेगा ? जिसे भूख लगी हो, उसी को भा सकता है। उसी प्रकार जिसे भव से थककर आत्मा की भूख नहीं लगी है, उसे तो आत्मा के आनन्द की अपूर्व बात सुनने –समझने में भी रसप्रद नहीं लगती, किन्तु जो जीव भवदु:ख से थक गया है कि अरे रे! यह आत्मा इस भवदु:ख से छूटकर चैतन्य की शाँति कब प्राप्त करेगा!! इस प्रकार जिसे आत्मशान्ति की तीव्र भूख लगी है, वह तो अपूर्व रुचि से श्रवण करके अवश्य यह बात समझ जाता है और इसे समझने से अवश्य उसके भव की थकान उतर जाती है; अवश्य उसकी भूख भग जाती है और आत्मा की अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है। जिसे भव की थकान लगी हो और आत्मा के सुख की भूख जागृत हुई हो, उस भूखे के लिये यह मिष्टान्न है; इस मिष्टान्न से अनन्त भव की भूख भग जाती है और अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि वह स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है। आत्मा दाता होकर क्या देता है ? जो उसके स्वभाव में हो, वही देता है। आत्मा के स्वभाव में कहीं विकार नहीं भरा है कि वह विकार को दे। आत्मा के स्वभाव में तो ज्ञान–आनन्द ही भरा है; इसलिए वह ज्ञान–आनन्द का ही देनेवाला है और आत्मा स्वयं ही उसका लेनेवाला है। सन्त–मुनि, आत्मा के उस आनन्दस्वभाव की पहिचान कराते हैं; इसलिए वे सन्त निमित्तरूप से आनन्ददाता हैं। वीरसेनाचार्यदेव कहते हैं कि – इन महान परमागमों द्वारा श्री सर्वज्ञदेव ने जीवों को आनन्द की भेंट दी है... सर्वज्ञ के शास्त्र में आनन्द की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है; इसलिए कहा है कि भगवान ने ही आनन्द की भेंट दी है। जो भगवान के

कहे हुए शास्त्रों का अन्तरआशय समझ ले, उसे अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।

आत्मा को आनन्द की आवश्यकता है। वह आनन्द देने की शक्ति, आत्मा में ही है। राग में आनन्द देने की शक्ति नहीं है; उसमें तो दु:ख देने की शक्ति है। आइसक्रीम, गुलाबजामुन, चाय, स्त्री, सुगन्ध आदि में ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा को आनन्द प्रदान कर सके। मूढ़जीवों ने मूर्खता से ही, उनमें आनन्द माना है। जो आत्मा के आनन्द को जान ले, वह अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मानता और जिसमें आनन्द न माने, उसे लेता भी नहीं है—इस प्रकार आत्मा पात्र होकर राग का या पर का लेनेवाला नहीं है; किन्तु अपने स्वभाव में से दिये जानेवाले आनन्द का ही लेनेवाला है; इसलिए ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी के समस्त भाव, ज्ञान-आनन्दमय ही होते हैं। रागादि सचमुच ज्ञानभाव नहीं हैं, वे तो ज्ञान से भिन्न ज्ञेय हैं; ज्ञानी उनका ज्ञाता है, किन्तु अपने आत्मा को उस राग का सम्प्रदान नहीं बनाता; ज्ञान-आनन्द को ही सम्प्रदान बनाता है, उसी को लेता है; उसीरूप परिणमित होता है। इस प्रकार सम्प्रदानशक्ति से आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादि का दाता तथा स्वयं ही उनका ग्रहण करनेवाला पात्र है; अन्य कोई उसका सम्प्रदान नहीं है तथा वह किसी का सम्प्रदान नहीं है। - आत्मा की ऐसी शक्ति को जानने से आत्मा समझ में आता है और धर्म होता है।

जैसे-यदि कहीं ब्याज पर रुपये रखना हों तो ऐसी पेढ़ी ढूँढ़ता है, जहाँ से रुपये बढ़कर ब्याजसहित वापिस मिल सकें। उसी प्रकार आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान को कहाँ रखें-कहाँ एकाग्र करें कि जिससे उनमें वृद्धि होकर वापिस मिलें! 'शरीर, वह मैं, रागादि, वह मैं' - इस प्रकार यदि श्रद्धा-ज्ञान को पर में या विकार में रखे तो वे नष्ट हो जाते हैं-मिथ्या हो जाते हैं। अपना चिदानन्दस्वभाव ही ऐसा समर्थ है कि उसमें श्रद्धा-ज्ञान को रखने से वे सम्यक् होते हैं और उसके आश्रय से प्रतिक्षण निर्मलता बढ़ती जाती है; इसलिए धर्मी अपने श्रद्धा-ज्ञान पर को समर्पित नहीं करते, किन्तु अपने आत्मा को ही समर्पित करते हैं।

हे जीव! तुझे आनन्द की आवश्यकता हो तो अपने स्वभाव से ही माँग। जो जिसके पास हो, वही वह देता है। तेरा आनन्द तेरे स्वभाव के पास ही है; इसलिए वही उसका दाता है; अन्यत्र कहीं तेरा आनन्द नहीं है। आत्मा में एकाग्र होकर अपने पास से ही अपना

आनन्द ले। स्वभाव में एकाग्र होने से पर्याय स्वयं आनन्दरूप परिणमित हो जाती है; इसलिए आत्मा ने आनन्द दिया और आत्मा ने आनन्द लिया – ऐसा कहा जाता है किन्तु दाता और ग्रहण करनेवाला कहीं पृथक नहीं है।

आत्मा एक परम महिमावंत पदार्थ है। उसमें ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। अपने से भिन्न पदार्थों का वह मात्र दृष्टा ही है और वे पदार्थ मात्र उसके दृश्य ही हैं; दृष्टा आत्मा उन दृश्य पदार्थों को मात्र देखनेवाला है किन्तु उनका लेने -देनेवाला नहीं है; जिस प्रकार आँखें बाह्यदृश्यों को मात्र देखनेवाली है, उन्हें लेने या देनेवाली नहीं है।

अब, दृष्टास्वभाव में एकाग्रता द्वारा रागादि की उत्पत्ति भी नहीं होती; इसलिए दृष्टा भगवान, रागादि का भी देने या लेनेवाला नहीं है।

दृष्टास्वभाव में एकाग्रता से तो वीतरागी ज्ञान-दर्शन-आनन्द की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए दृष्टाभगवान ज्ञान-दर्शन आनन्द का ही देनेवाला है और उसी का लेनेवाला है।

-इतना रहस्य इस सम्प्रदानशक्ति में भरा है। अनन्त शक्तिसम्पन्न एकाकार आत्मा में एक गुण का-पर्याय का भेद करके लक्ष्य में लेने से राग का विकल्प होता है और उसमें स्वरूप का दान नहीं मिलता। स्वरूप का दान लेने के लिये स्वरूप-सन्मुख होना चाहिए। चिदानन्दस्वभाव-सन्मुख होकर लीन होने से स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादि का दान मिलता है और उस दान का लेनेवाला आत्मा ही है; इसलिए आत्मा स्वयं ही उस स्वरूप हो जाता है – ऐसा आत्मा का स्वभाव है।

प्रश्नः- आत्मा कहाँ होगा ?

उत्तरः- जहाँ से यह प्रश्न उठता है, वहीं आत्मा है। 'आत्मा कहाँ होगा ?' – ऐसा प्रश्न पूछनेवाला स्वयं ही आत्मा है। आत्मा के बिना यह प्रश्न कौन पूछेगा ? आत्मा की भूमिका में ही यह प्रश्न उठता है।

और 'आत्मा कहाँ होगा ?' – ऐसा प्रश्न किया, उसी में यह बात आ जाती है कि प्रश्नकर्ता में उसका उत्तर समझने की शक्ति है।

'आत्मा कहाँ होगा ?' उस प्रश्न के उत्तर में ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि 'यह जो ज्ञाता

–दृष्टा है, वही आत्मा है,' – और प्रश्नकर्ता को ऐसा उत्तर लक्ष्य में आता है कि ज्ञानी ने मुझसे ऐसा कहा। जिस ज्ञान द्वारा वह लक्ष्य में आता है, उस ज्ञान में ही आत्मा है; इसलिए हे भाई! तू स्वयं ही आत्मा है; इसलिए अपने ज्ञान में ही आत्मा को ढूँढ़। यह शरीर तू नहीं है, शरीर में ढूँढ़ने से आत्मा नहीं मिलेगा। देह तो जड़, रूपी और दृश्य है, उससे भिन्न चेतन, अरूपी और दृष्टा आत्मा है; देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है; देह इन्द्रियगोचर है, आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है; देह संयोगी कृत्रिम वस्तु है, आत्मा असंयोगी स्वाभाविक वस्तु है। सबको जाननेवाला 'यह ज्ञाता मैं स्वयं ही हूँ' – इस प्रकार अपने को नहीं जानता, यह आश्चर्य है!! ज्ञाता स्वयं अपने को नहीं जानता, स्वयं अपने को भूल जाता है; यह एक महान भ्रम है और इसी भ्रम के कारण संसार–दुःख है।

एक बार दस मूर्ख एक गाँव से जा रहे थे। रास्ते में एक नदी आयी। नदी पार करके दूसरे किनारे पहुँचे। वहाँ एक आदमी बोला कि हममें से कोई डूब तो नहीं गया? चलो गिनकर देख लें। ऐसा कहकर वह गिनने लगा – 'एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ और नौ!' तुरन्त वह आदमी चौंक पड़ा कि अरे रे! हममें से एक आदमी डूब गया! फिर दूसरे मूर्ख ने गिना तो भी नौ हुए! इस प्रकार प्रत्येक मूर्ख ने गिन लिया, फिर भी नौ के नौ, क्योंकि गिननेवाला स्वयं अपने को भूल जाता था। सब लोग बड़ी चिन्ता में पड़ गये कि अब क्या किया जाये? वे लोग उलझन में थे, उसी समय एक बुद्धिमान आदमी उधर से निकला; उसने इन मूर्खों की उलझन समझ ली और बोला 'भाइयो! शान्त होओ... धीरज रखो... तुममें से कोई डूबा नहीं है... चलो, सब एक पंक्ति बनाकर खड़े हो जाओ... देखो, यह एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ और यह दस! तुम लोग पूरे दस के दस हो। यह जानकर मूर्खों का भ्रम दूर हो गया और उन्हें शान्ति हुई। फिर ध्यान आया कि अरे! हम स्वयं को गिनना भूल जाते थे; इसलिए 'नौ' होते थे और एक आदमी खो जाने का भ्रम हो जाता था। कहा भी है कि अपने को आप भूल के हैरान हो गया।'

उन दस मूर्खों की भाँति अज्ञानी जीव, स्वयं अपने स्वरूप को भूलकर हैरान होते हैं। यह शरीर, यह राग–इस प्रकार लक्ष्य में लेते हैं किन्तु उन्हें जाननेवाला मैं स्वयं ज्ञायक हूँ – इस प्रकार स्वयं अपने को स्वसंवेदन से लक्ष्य में नहीं लेते; इसलिए रागादि और शरीरादि में ही अपनत्व की भ्रान्ति से वे हैरान होते हैं। ज्ञानी उनका स्वरूप दर्शाते हुए कहते

हैं कि अरे जीव! तू शान्त हो... धैर्य रख... धैर्यपूर्वक अपने अन्तर में देख... तेरा स्वरूप तो राग से और देह से अत्यन्त भिन्न ज्ञान और आनन्द स्वरूप ही है। इस प्रकार अन्तर्मुख होकर आत्मा को जानते ही भ्रम दूर हो जाता है और जीव को आनन्द का अनुभव होता है। उस समय उसे ऐसा लगता है कि अरे! अभी तक मैं स्वयं के अस्तित्व को भूलकर भ्रम से दु:खी हुआ। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।'

[दृष्टान्त में मूर्ख दस थे और बुद्धिमान एक था; उसी प्रकार जगत में अज्ञानी जीव अनेक हैं और ज्ञानी तो कोई बिरले ही होते हैं।]

अज्ञानी अपने आत्मा को भूलकर पर में आत्मा ढूँढ़ता है किन्तु पर में तो आत्मा का अभाव है। यहाँ तो कहते हैं कि राग में भी आत्मा का अभाव है। रागादिरहित सम्यग्दर्शनादि निर्मलपर्यायों में ही आत्मा का सद्भाव है क्योंकि निर्मलपर्याय ही आत्मा के स्वभाव के साथ अभेद होती है; राग या शरीर के साथ आत्मा की अभेदता नहीं है। राग, सम्प्रदान होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि को धारण कर रखे अथवा आत्मा सम्प्रदान होकर राग को धारण कर रखे – ऐसा नहीं है। उसी प्रकार आत्मा, सम्प्रदान होकर शरीर को धारण कर रखे या शरीर, सम्प्रदान होकर आत्मा को धारण कर रखे – ऐसा भी नहीं है। आत्मा, सम्प्रदान होकर अपनी निर्मलपर्याय को धारण कर रखता है। ऐसे आत्मा को समझे बिना सुख नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को समझना ही जन्म-मरण के दु:खों से छूटकर सुखी होने का उपाय है। ज्ञानियों ने अन्तर का अचिन्त्यमार्ग प्रगट किया है... अहो! सन्तों ने मुक्ति का मार्ग सुगम कर दिया है! सन्तों की बलिहारी है!!

जिस प्रकार तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि को झेलनेवाले उत्कृष्टपात्र गणधर देव हैं; उसी प्रकार चैतन्यप्रभु के केवलज्ञानादि निर्मलभावों को झेलने की पात्रता आत्मा में ही है। आत्मा स्वयं ही अपने निर्मलभावों को ग्रहण करनेवाले पात्ररूप सम्प्रदान है। आत्मा के धर्म को रहने के लिये रागादिक या शरीर, सम्प्रदान नहीं हैं, तथा आत्मा उन रागादिक का सम्प्रदान नहीं है। जिस प्रकार-आम्रवृक्ष आम ही देता है, उसमें आक के फल पैदा नहीं हो सकते, क्योंकि आमवृक्ष तो आमों का ही सम्प्रदान है, आकफलों का नहीं; उसी प्रकार आत्मा में एकाग्र होने से आत्मा तो निर्मलपर्यायें ही देता है, कहीं विकार नहीं देता, क्योंकि आत्मा में निर्मलपर्यायों का ही सम्प्रदान होने का स्वभाव है; विकार का सम्प्रदान

होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार ज्ञान-आनन्दादि समस्त गुणों में भी ऐसा ही स्वभाव है कि अपने-अपने स्वभाव से निर्मलपर्याय ही देते हैं और उसी को स्वयं ग्रहण करते हैं।

जिस ज्ञान का विकास, मात्र परलक्ष्य से ही कार्य करे, वह ज्ञान मिथ्या है; वह मिथ्याज्ञान सचमुच ज्ञानस्वभाव ने नहीं दिया है तथा ज्ञानस्वभाव उसका पात्र (लेनेवाला; ग्रहण करनेवाला) भी नहीं है। जो स्वज्ञेय को ग्रहण करके केवलज्ञानादि रूप से परिणमित हो, वह सम्यग्ज्ञान है; ऐसा ज्ञान देने और उसी को लेने का आत्मा के ज्ञानगुण का स्वभाव है। वाणी तो जड़ है, उस वाणी द्वारा ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उसे लेता है तथा उस वाणी की ओर के विकल्प द्वारा भी ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उस विकल्प को लेता है। आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञानस्वभाव में से ज्ञान देता है और उस निर्मलज्ञान को ही लेने का ज्ञानगुण का स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के साथ ज्ञानस्वभाव का कुछ भी लेन-देन नहीं है। आत्मा के साथ अभेदता करके जो ज्ञान प्रगट हुआ, उसी के साथ आत्मा को लेन-देन है; वह ज्ञान स्थिर रहकर केवलज्ञान हो जायेगा। मात्र पराश्रय से वर्तता हुआ ज्ञान, आत्मा के साथ स्थिर नहीं रह सकेगा, वह तो नष्ट हो जायेगा। इसलिए हे भाई! यदि तुझे अपने ज्ञान को टिकाना हो-विकसित करना हो तो उसे आत्मा में समर्पित कर! जिस प्रकार सर्वज्ञ भगवान के निकट जाकर 'अर्घ समर्पयामि स्वाहा' करता है; उसी प्रकार इस सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के निकट जाकर-उसी में अन्तर्मुख होकर 'ज्ञानं समर्पयामि स्वाहा' कर तो तुझे सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी। उस सर्वज्ञता को देना तथा उसे लेकर उसका सम्प्रदान होना, तेरे ज्ञानगुण का स्वभाव है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धागुण में भी ऐसा स्वभाव है कि सम्यग्दर्शनरूप भाव को दे और स्वयं ही उसे ग्रहण करे, अर्थात् उसका सम्प्रदान हो, किन्तु मिथ्याश्रद्धा को दे या ले - ऐसा श्रद्धागुण का स्वभाव नहीं है। स्वसन्मुख होकर आत्मस्वभाव की श्रद्धा की, उसे देने-लेने का स्वभाव होने से वह आत्मा के साथ सदैव स्थिर रहेगा, अर्थात् श्रद्धागुण सदैव सम्यक्त्वपर्याय देता ही रहता है और स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे लेता रहेगा।

इसी प्रकार ज्ञान और श्रद्धा की भाँति चारित्रगुण का भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शान्तभाव को दे और उसी को स्वयं ग्रहण करे। शान्ति से विपरीत

आकुलता-राग-द्वेषरूप भावों को देने या लेने का चारित्रगुण का स्वरूप नहीं है। वे रागादि भाव, आत्मा के साथ अभेद होकर स्थिर नहीं रहते और शान्त-अरागभाव तो आत्मा में लीनता करके टिकता है।

पुनश्च, आनन्द का भी ऐसा ही स्वभाव है कि स्वयं अपने को आनन्द दे तथा स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे ले; किन्तु परवस्तु में से आनन्द ले - ऐसा आनन्दगुण का स्वरूप नहीं है तथा आनन्दगुण का ऐसा भी स्वरूप नहीं है कि वह दु:ख दे या ले। दु:ख का सम्प्रदान होना, उसका स्वभाव ही नहीं है।

(इन ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र और आनन्द की भाँति पुरुषार्थ आदि समस्त गुणों में समझ लेना चाहिए।)

'अहो! मैं ही दाता होकर अपने आत्मा को सदैव आनन्द देता ही रहूँ तथा मैं ही सम्प्रदान होकर सदैव आनन्द लेता ही रहूँ - ऐसा मेरा स्वभाव है।' इस प्रकार जहाँ श्रद्धा हुई, वहाँ अपने स्वभाव के आनन्द का वेदन हुआ और बाह्य में कहीं भी आनन्द की किंचित्मात्र कल्पना नहीं रही। स्वयं ही दाता होकर अपने को आनन्द दिया और स्वयं ही पात्र होकर अपना आनन्द लिया; इसलिए वह आनन्द सदैव बना ही रहेगा, अर्थात् आत्मा सदैव अपने को आनन्द देता ही रहेगा और स्वयं सदा लेता ही रहेगा। इसलिए हे जीव! यदि तुझे आनन्द को आवश्यकता हो तो आनन्ददाता ऐसे अपने आत्मा के ही निकट जा; वहीं से तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी; इसके अतिरिक्त जगत में तुझे कहीं से आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मा स्वयं ही निर्मलपर्याय का दाता है और स्वयं ही उसका पात्र है - ऐसा आत्मा का सम्प्रदानस्वभाव है। उसे समझने के लिये यहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र तथा आनन्द गुण की भिन्न-भिन्न बात ली है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक-एक गुण के भेद के लक्ष्य से निर्मलता नहीं होती। आत्मा तो एक साथ अनन्त गुण का पिण्ड है, उसी के लक्ष्य से समस्त गुणों की निर्मलदशा होती है। एक शक्ति को पृथक् करके उसके लक्ष्य से विकास करना चाहे तो उसका विकास नहीं होता, वहाँ तो मात्र विकल्प होता है। उस विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं है कि किसी गुण की निर्मलदशा प्रदान कर सके। अखण्ड

आत्मस्वभाव में ही ऐसी शक्ति है कि वह अनन्त गुणों से परिपूर्ण परमात्मदशा प्रदान करता है।

अहो! मेरा आत्मा अनन्तानन्त शक्ति का भण्डार अनादि-अनन्त है। वह ऐसा उदार दाता है कि जब मैं पात्र बनकर लेना चाहूँ, उसी समय परमात्मदशा मुझे दे सकता है। हे जीवो! ऐसे निजस्वभाव की तुम प्रतीति तो करो... उसकी पहिचान तो करो... उसके प्रति उल्लास तो प्रगट करो! जिसने ऐसे चैतन्यस्वभाव को लक्ष्य में लिया, उसका जीवन सफल है; दूसरों की तो क्या कहें ?

आत्मा स्वयं ही अपने को सुख का दाता है। यदि वह स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला न हो, तथा उसे दूसरे से सुख की याचना करना पड़ती हो, तब तो पराधीनता हो गयी। पराधीनता में तो स्वप्न में भी सुख कहाँ से हो सकता है ? आत्मा स्वाधीनतारूप से स्वयं ही अपने को सुख का देनेवाला है और स्वयं ही पात्र होकर लेता है।

(१) 'पात्र को दान देना चाहिए,' - पात्र कौन है जगत में ? मैं आत्मा स्वयं ही अपना सुख लेने को पात्र हूँ।

(२) 'दाता है कोई ?' हाँ; अनन्त शक्तिसम्पन्न मैं स्वयं ही दाता हूँ।

(३) 'दाता, दान में क्या देगा ?' मेरा आत्मा दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप निर्मलपर्यायों का दान देगा।

(४) 'किस विधि से दान देगा ?' - अपने से ही देगा, अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप में एकाग्र रहकर स्वरूप भण्डार में से ही निर्मलपर्यायें निकाल-निकालकर उनका दान देगा।

दान देने का अवसर आने पर दाता छिपता नहीं है; उसी प्रकार हे जीव! तेरे लिये यह दान का अवसर आया है, उसे तू मत चूकना। तू स्वयं पात्र होकर तथा स्वयं ही दाता होकर ज्ञान-दर्शन-आनन्द की निर्मलपर्यायों का दान अन्तर में एकाग्र होकर दे और सम्प्रदान होकर तू ही वह दान ले। अनन्त शक्ति से परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव जैसा महान दाता मिला है तो अब उसकी सेवा (श्रद्धा और एकाग्रता) करके परमात्मदशा का दान माँगे तो तुझे अपनी परमात्मदशा का दान अवश्य मिल जाये। वह परमात्मदशा लेकर उसका सम्प्रदान होना, तेरा स्वभाव है।

'अपने स्वभाव को साधकर मैं परमात्मा होऊँ,' – ऐसी भावना के बदले 'मैं समझकर फिर दूसरों को समझा दूँ' – इस प्रकार जो दूसरों को समझाने के अभिप्राय से समझना चाहता है, वह पर को अपनी समझ का सम्प्रदान मानता है; इसलिए वह अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव को नहीं साध सकता। जो आत्मार्थी हैं, वे तो अपने-अपने हित के लिये ही समझना चाहते हैं।

अहो! अनन्त काल में बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो – ऐसा यह अवसर आया है; उसमें गुरुगम से सत् स्वभाव का श्रवण मिलना तो महान दुर्लभ है। ऐसे अवसर में अपूर्व भाव से श्रवण, ग्रहण तथा धारण करके स्वभाव में प्रवेश करने की यह बात है, वही करनेयोग्य है; इसके सिवा और सब तो घूरा खोदने के समान व्यर्थ है।

भगवान आत्मा का यथार्थस्वरूप बतलाने के लिये वह उसकी शक्तियों का वर्णन चल रहा है, उसमें इस (44वीं) सम्प्रदानशक्ति में आत्मा को सुपात्र सिद्ध किया। – काहे का? – सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक का। उन सम्यग्दर्शन का दाता भी आत्मा ही है और पात्र होकर उनका लेनेवाला भी वही है। देखो, यह दाता ने सुपात्रदान दिया। अहो! आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का दान! इसकी अपेक्षा श्रेष्ठदान और कौन होगा? निर्मल ज्ञान-आनन्दमय पर्याय प्रगट हो, उसका दाता भी स्वयं और उसे लेनेवाला पात्र भी स्वयं; ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

वाह! मेरा आत्मा ही महानदाता है और वही महानपात्र है। केवलज्ञान प्रदान करे और उसे ग्रहण करे—ऐसी शक्ति मेरे आत्मा की है। मेरा द्रव्य ही दाता... और द्रव्य ही स्वयं लेनेवाला पात्र – ऐसा निर्णय करके हे जीव! अपने द्रव्य की ओर देख... तो तुझे आनन्द के निधान का दान मिलेगा।

आहार, औषधि, पुस्तकें या पैसा आदि परवस्तुओं का दाता या उन्हें ग्रहण करनेवाला आत्मा नहीं है; रागादि विकारभावों को दे या ले – ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो वीतरागी आनन्द को ही देने-लेने का है। ऐसे स्वभाव को साधनेवाले साधक को कषायों की अत्यन्त मन्दता सहज ही हो जाती है किन्तु उस मन्द-कषाय के भाव को भी देने या लेने का अपना स्वभाव नहीं मानते। स्वभाव के आश्रय से जो

अकषायी-वीतरागीभाव होते हैं, उन्हीं का दाता एवं पात्र अपना आत्मा है - ऐसा साधक धर्मी जानते हैं।

त्रिकाली स्वभाव तो राग का सम्प्रदान नहीं है और उस स्वभाव के आश्रय से होनेवाली पर्याय भी राग का सम्प्रदान नहीं होती। - इस प्रकार द्रव्य से तथा पर्याय से - दोनों प्रकार से आत्मा, विकार का सम्प्रदान नहीं है किन्तु वीतरागीभाव का ही सम्प्रदान है। जहाँ शुद्धद्रव्य का आश्रय किया, वहाँ पर्याय में से विकार की योग्यता दूर हो गयी और अविकारी आनन्द की योग्यता हुई, वह आनन्द की ही पात्र है।

जिस प्रकार उत्तमवस्तु रखने का पात्र भी उत्तम होता है। सिंहनी का दूध सुवर्णपात्र में ही रहता है; उसी प्रकार जगत में महान् उत्तम ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द, उसका पात्र भी उत्तम ही है; कौन सा पात्र है ? तो कहते हैं कि आत्मस्वभावोन्मुख परिणति ही उस आनन्द का पात्र है। आत्मा में ही ऐसी उत्तमपात्र शक्ति (सम्प्रदानशक्ति) है कि स्वयं परिणमित होकर अपने अतीन्द्रिय आनन्द को स्वयं झेल सके-ग्रहण कर सके।

जिस जीव में ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द झेलने की पात्रता जागृत हो, उसमें गुरु के प्रति विशिष्ट प्रकार की विनय भी प्रगट होती है! ज्ञानी को गुरु के प्रति अन्तर से जैसा बहुमान आयेगा, वैसा अज्ञानी को नहीं आ सकता। यद्यपि निश्चय से गुरु अपने आत्मा में से ज्ञान या आनन्द निकालकर कहीं शिष्य का नहीं दे देते और शिष्य का आत्मा कहीं अपने ज्ञान या आनन्द, गुरु के पास से नहीं लेता; गुरु देते हें और पात्र शिष्य लेता है - यह बात तो व्यवहार की है तथापि श्रीगुरु के उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझ कर जहाँ शिष्य को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति हुई, वहाँ रोम-रोम में गुरु के प्रति अपार विनय से उसका आत्मा उछल पड़ता है... निश्चय प्रगट होने से उसका व्यवहार भी लोकोत्तर बन जाता है... और श्रीगुरु के अनन्त उपकार को व्यक्त करते हुए कहता है कि अहो प्रभो! आपने ही इस पामर को आनन्द का दान दिया... मैं अपने आनन्द को भूलकर अनन्त संसार में भटक रहा था; उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया... घोर भव भ्रमण से आपने ही मुझे बचाया... हे नाथ! आपके अनन्त उपकार का बदला हम कैसे दें ? - इस प्रकार अपार विनयपूर्वक गुरु के चरणों में अर्पित हो जाता है। निश्चय से साधकदशा में देव-गुरु के प्रति ऐसा विनय आदि का व्यवहार सहज ही होता है। यदि आत्मा में से ऐसी विनय न आये

तो उस जीव को निश्चय का परिणमन भी नहीं हुआ है – ऐसा समझना चाहिए। गुरु से ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहकर जो गुरु की विनय छोड़ देता है, वह महान स्वच्छन्दी है; उसमें आनन्द को झेलने की पात्रता जागृत नहीं हुई है। अहो! यह तो निश्चय-व्यवहार की सन्धि सहित अचिन्त्य लोकोत्तरमार्ग है। साधकदशा क्या वस्तु है, उसकी लोगों को खबर नहीं है। साधक को तो सभी पक्षों का विवेक वर्तता है। सम्यग्दृष्टि को गणधर जैसा विवेक प्रगट होता है। कहा है कि-

'जाके घट प्रगट विवेक गणधर को सौ,
हिरदे हरखि महामोह को हरतु है;
साचो सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपुही में आपनो सुभाउ ले धरतु है।
जैसे जलकर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलछनु करतु है;
आतमसकति साधे ज्ञान को उदौ आराधे;
सोई समकिती भवसागर तरतु है'।

[नाटक समयसार, ८]

—देखो, यह साधक सम्यक्त्वी की अद्भुतदशा! जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मा के अनुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्वादि महामोह को नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीनसुख को सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभाव को अपने में ही धारण करता है, जिस प्रकार कतकफल जल और कीचड़ को पृथक् कर देता है; उसी प्रकार जो जीव और अजीव को विलक्षण जानकर पृथक् करता है; जो आत्मशक्ति को साधता है और ज्ञान के उदय की (केवलज्ञान की) आराधना करता है – ऐसा सम्यक्त्वी जीव, भवसागर से पार होता है।

सम्यक्त्वी जीव की यथार्थ पहिचान करे तो जीव का लक्ष्य बदल जाये और अपने स्वभाव की ओर ढले। सम्यक्त्वी तो अपने स्वभाव को ही साधते हैं। अरे जीव! तू ही अपना दाता और तू ही अपना पात्र। तू दाता होकर अपनी पर्याय में चाहे जितना दान दे,

तथापि तेरी स्वभावशक्ति में से कुछ भी कम नहीं होगा–ऐसा तेरा स्वभाव है। ऐसे दाता को छोड़कर अब तुझे बाह्य में कौन सा दाता ढूँढ़ना है ? इस दाता की ओर देखकर तू उससे निर्मलपर्याय का दान लेने की पात्रता अपने में प्रगट कर...दूसरों के पास भीख न माँग।

दूसरे के पास दान माँगने जाये तो वह नहीं भी देता, किन्तु यहाँ तो स्वयं पात्र हो, वहाँ आत्मा सम्यग्दर्शनादि का दान दिये बिना नहीं रहता – ऐसा महानदाता है। जब स्वयं ही दाता है, तब चिन्ता कैसी ? स्वभाव में एकाग्र होकर तुझे जितना चाहिए, दान ले... तुझे जितने ज्ञान–आनन्द की आवश्यकता हो, उतने देने की शक्ति तेरे स्वभाव में भरी है। लौकिक में दान देनेवालों की पूँजी तो कम होती है किन्तु यहाँ तो आत्मा स्वयं ऐसा लोकोत्तर दाता है कि प्रतिक्षण (प्रति समय) परिपूर्ण ज्ञान–आनन्द का दान अनन्त काल तक देता ही रहे, तथापि उसकी पूँजी जरा भी कम नहीं होती।

आत्मा स्वयं पूर्ण शक्तिमान है; स्वयं अपने में लीन होकर अपने स्वभाव में से निर्मलता का दान करता है और स्वयं ही वह दान लेता है—ऐसा दान लेने की पात्रतारूप सम्प्रदानशक्ति आत्मा में है। जिस प्रकार आत्मा में ज्ञानशक्ति है, आनन्दशक्ति है, उसी प्रकार यह सम्प्रदानशक्ति भी है। यदि आत्मा में ज्ञानशक्ति न हो तो आत्मा जानेगा कहाँ से ? यदि आत्मा में सुखशक्ति न हो तो आत्मा को अनाकुलतारूप सुख कहाँ से होगा ? यदि आत्मा में श्रद्धाशक्ति न हो तो स्वयं अपना विश्वास कहाँ से करेगा ? यदि आत्मा में चारित्रशक्ति न हो तो अपने स्वरूप में स्थिरता कैसे करेगा ? यदि आत्मा में जीवनशक्ति न हो तो आत्मा जी कैसे सकेगा ? यदि उसमें वीर्यशक्ति न हो तो अपने स्वरूप की रचना का सामर्थ्य कहाँ से लायेगा ? यदि प्रभुत्वशक्ति न हो तो अखण्डित प्रतापवाली स्वतन्त्रता से किस प्रकार शोभायमान होगा ? यदि उसमें कर्तृत्वशक्ति न हो तो अपने निर्मलकार्य को कैसे करेगा ? उसी प्रकार यदि आत्मा में सम्प्रदानशक्ति न हो तो स्वयं अपना दाता और स्वयं ही निर्मलता का ग्रहण करनेवाला पात्र कैसे हो सकेगा ? अपने स्वभाव से आत्मा स्वयं ही ज्ञान–आनन्द का देनेवाला तथा स्वयं ही उसका लेनेवाला है – ऐसे भान बिना परवस्तु के लेनदेन का मिथ्याविकल्प कभी नहीं छूटेगा और अन्तर में एकाग्रता नहीं होगी। ज्ञानी तो, मैं ही अपना दाता और मैं ही अपना पात्र – ऐसे निर्णय के बल से अन्तरस्वभाव में एकाग्र होकर ज्ञान–आनन्द के निधान प्राप्त कर लेता है। आत्मा में ऐसी सम्प्रदानशक्ति

है कि एक समय में स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है; देने या लेने का समय भेद नहीं है तथा दाता या पात्र पृथक नहीं हैं।

अहो! अपने स्वभाव में से ही केवलज्ञान और सिद्धपद का दान लेने की मेरी शक्ति है – ऐसी प्रतीति करके, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान कभी नहीं किया है; स्व-को चूककर पराश्रय द्वारा अनादि से विकार का ही दान लिया है। यदि पात्र होकर स्वयं अपनी शक्ति का दान ले तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाए; इसलिए हे जीव! अपनी स्वभावशक्ति को सम्हाल... और उस स्वभाव द्वारा दिये जानेवाले निर्मलज्ञान-आनन्द का दान लें।

[यहाँ ४४वीं सम्प्रदानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४५]

अपादानशक्ति

उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः।

उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय (हानि, नाश) होने से हानि को प्राप्त न होनेवाले ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति।

इस अपादानशक्ति के वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुवखान बतलाते हैं; उसकी गहराई में उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्न निकाल। जिस प्रकार रत्नों की खान से रत्न निकालते हैं; उसी प्रकार चैतन्यरत्न की ध्रुवखान आत्मा है, उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नों की प्राप्ति होती है।

उत्पाद-व्यय होते हैं, वे भाव भी आत्मा के ही हैं, और ध्रुव स्थायीभाव भी आत्मा का है; एक साथ उन दोनों भाववाले आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है। ऐसे अनेकान्तस्वभाव को पहिचानने पर, ध्रुव के आश्रय से पर्याय में निर्मलता उल्लसित होती है।

यह धर्म की बात है; धर्म के बिना, कभी किसी जीव को सुख, शान्ति या मुक्ति नहीं होती। धर्म, आत्मा में होता है; आत्मा से भिन्न अन्य किसी पदार्थ में धर्म नहीं होता। इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप जानने के लिये उसके त्रिकाली धर्मों का यह वर्णन चल रहा है; आत्मा के त्रिकाली धर्मों को जानने से उसके आश्रय से मोक्षमार्गरूप धर्म प्रगट होता है।

चैतन्यमात्र भाव से लक्षित आत्मा, अनन्तशक्ति का भण्डार है; उसकी कुछ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। अनन्त शक्तियों का वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता; वाणी में तो कुछ प्रयोजनभूत शक्तियों का वर्णन आता है। यहाँ ४१ से ४६ तक की छह शक्तियों में कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण - इन छह कारकों का वर्णन है; उनमें से चार कारकशक्तियों का वर्णन हो गया है; अब अपादानशक्ति कहते हैं;—उत्पाद-व्यय से आलिंगितभाव का अपाय (नाश) होने पर, हानि को प्राप्त न होनेवाले ऐसी

ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति है। उत्पाद-व्ययरूप भाव, क्षणिक हैं, उनका नाश हो जाता है तथापि आत्मा का ध्रुवस्वभाव कहीं नाश को प्राप्त नहीं होता, वह तो ज्यों का त्यों स्थित रहता है और उस ध्रुव-स्थायीभाव में से ही नया-नया कार्य होता है। इस प्रकार ध्रुवरूप से स्थिर रहकर, नया-नया कार्य करने की आत्मा की अपादानशक्ति है। उत्पाद-व्ययरूप क्षणिकभाव में से नया-नया कार्य नहीं होता, किन्तु ध्रुव स्थायीभाव में से नया-नया कार्य होता है। ऐसे निर्णय में ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से निर्मल-निर्मलकार्य ही होता है।

पर्याय का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं हो जाता, वह तो ध्रुव अपादानरूप से स्थित रहकर नयी-नयी पर्यायरूप होता रहता है। अनन्त पर्यायें होकर नष्ट हो गयी; इसलिए द्रव्य के स्वभाव में से कुछ कम हो गया-ऐसा नहीं है। अज्ञानी को अपने ध्रुवस्वभाव की दृष्टि न होने से संयोग में कमी आने पर, मानों मैं कम हो गया अथवा पर्याय का नाश होने पर, मानों मेरे आत्मा का ही नाश हो गया - इस प्रकार सन्देह भय और आकुलता बनी ही रहती है; इसलिए मृत्यु का भय उसे बना ही रहता है। ज्ञानी तो जानता है कि मेरे मरण नहीं है, मैं तो ध्रुव रहनेवाला हूँ; संयोग के कम होने से मेरा कुछ कम नहीं होता और पर्याय का नाश होने से मेरा नाश नहीं हो जाता। संयोग में से या नष्ट होती हुई पर्याय में से मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं लेता; इसलिए वह कोई मेरा अपादान नहीं है। ध्रुवस्थायी अपने स्वभाव में से ही मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य लेता हूँ; इसलिए मेरा आत्मा ही मेरा अपादान है।

कोई भी संयोग ध्रुव नहीं रहते, विकारीभाव भी ध्रुव नहीं रहते। वे सब बदल जाने पर भी मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ही ध्रुव रहता है; इसलिए मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। यह एक मेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव होने से मुझे शरणभूत है - ऐसा जानकर धर्मी, शुद्ध आत्मा का ही आश्रय करते हैं। शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब अध्रुव होने से अशरण है; इसलिए वह आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि-

देहा वा द्रविणानि वा सुख दुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा॥१९३॥

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन—यह कुछ भी जीव के ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। ऐसा होने से मैं अध्रुव ऐसे शरीरादि को उपलब्ध नहीं

करता, अर्थात् उनकी शरण नहीं लेता; ध्रुव ऐसे अपने शुद्ध आत्मा को ही उपलब्ध करता हूँ - उसी की शरण लेता हूँ। इस प्रकार शुद्ध आत्मा को ध्रुव जानकर, उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है और मोह का नाश हो जाता है।

जो ध्रुव नहीं रहते, वे शरणरूप कैसे हो सकते हैं और उनके आधार से सुख कैसे होगा? संयोग और विकार तो अध्रुव है, वे अध्रुव शरणभूत कैसे होंगे? वे किसी जीव को शरणभूत नहीं हैं। ध्रुवरूप तो अपना उपयोगस्वभावी आत्मा ही है, उसका कभी वियोग या नाश नहीं होता; इसलिए वह शरणभूत है तथा उसकी शरण में सुख है। इसलिए-

आ सर्व जोवनिबद्ध, अध्रुव शरणहीन अनित्य छे;
अे दुःख दुःखफल जाणी ने, अेनाथी जीव पाछो वले।

(-श्री समयप्राभृत ७४)

ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने आत्मस्वभाव को ध्रुव, शरणरूप, नित्य, सुखरूप और अबन्ध जानकर, निर्भयरूप से अपने में एकाग्र होते हैं और पुण्य-पापादि को अपने स्वभाव से भिन्न, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य, दुःखरूप तथा बन्धनरूप जानकर, उनसे विमुख होते हें।

विकार में तथा किसी भी शुभराग में ऐसी शक्ति नहीं है कि दूसरे क्षण वह ध्रुवरूप से स्थिर रह सके। अरे! निर्मलपर्याय में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ध्रुवरूप से स्थित रहे। वह पर्याय स्वयं ही दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है; उसमें से दूसरी पर्याय नहीं आती। एक पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्य, स्वभाव से ध्रुव-स्थित रहकर आत्मा, स्वयं अन्य-अन्य पर्यायरूप से परिणमित होता है; इसलिए ध्रुव में से पर्याय आती है। ऐसे ध्रुव-अपादानस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके उसकी शरण लेना, वह धर्म है।

पुण्य-पाप और शरीर तो नष्ट हो जाते हैं, तब फिर कोई दूसरा शरण है? तो कहते हैं—हाँ...पुण्य-पाप और शरीर का नाश होने पर भी ध्रुवस्वरूप से रहनेवाला ऐसा जो स्वभाव, वही शरण है। विकार का अथवा क्षणिक भाव का नाश होने पर, बौद्ध मान्यता की भाँति आत्मा कहीं सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता; क्षणिक भावों का नाश होने पर भी, वह किंचित् हानि को प्राप्त नहीं होता—ऐसा एक ध्रुवस्वभाव आत्मा में है। उत्पाद-व्यय होता

है, वह भाव भी आत्मा का ही है और यह ध्रुव-स्थितभाव भी आत्मा का है। एक साथ उन दोनों भाववाले आत्मा का अनेकान्तस्वभाव है।

मात्र पर्याय पर ही जिसकी दृष्टि है और ध्रुवभाव पर दृष्टि नहीं है, उसे तो आत्मा की क्षणिकता ही भासित होती है; इसलिए वह तो क्षणिक के आश्रय से अशरणरूप वर्तता है; उसे निर्मलता या शान्ति का अनुभव नहीं होता। यदि अपने ध्रुव-स्थायीस्वभाव को जाने, तो उस ध्रुव में एकाग्र होकर उसमें से निर्मलपर्यायें निकाले। जिस प्रकार रत्नों की खान से रत्न निकलते हैं; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यरत्न की ध्रुवखान है; इसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्न निकलते हैं। विकार की खान खोदे तो उसमें से सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते। अपादानशक्ति के वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुवखान बतलाते हैं... उसकी गहराई में उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्नों को निकाल। पर्याय तो प्रतिक्षण बदल जाती है, वह बदलता हुआ क्षणिकभाव शरण नहीं देता तथा उसमें से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति नहीं होती। क्षणिक पर्यायों का नाश होने पर भी, जिसे किंचित् आँच नहीं आती—ऐसा ध्रुवस्वभाव ही सम्यग्दर्शनादि का कारण है और उसी में से सम्यग्दर्शनादि प्राप्त हाते हैं। जिस प्रकार कोई स्थिर वस्तु पर दृष्टि लगाये तो वहाँ एकाग्रता हो सकती है किन्तु अस्थिर वस्तु पर दृष्टि की एकाग्रता नहीं रह सकती। अपने स्वरूप में उपयोग की एकाग्रता करना, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है।

क्षणिक पर्यायें तो उत्पाद-व्यय से आलिंगित हैं; वे कहीं ध्रुव से आलिंगित नहीं हैं; त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, ध्रुव से आलिंगित है; उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। नष्ट होनेवाले भाव में से (अर्थात्, पर्याय में से) धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ध्रुवस्थायी भाव में से (अर्थात्, द्रव्य में से) धर्म की उत्पत्ति होती है और शुद्धद्रव्य की ध्रुवता के आश्रय से जो धर्मभाव प्रगट हुआ, वह भी ध्रुव के साथ सदैव बना रहता है; यद्यपि उसमें उत्पाद-व्ययरूप परिणमन होता ही रहता है, किन्तु ध्रुव के आश्रय से वह परिणमन शुद्धरूप ही होता रहता है; उसमें बीच में अशुद्धता नहीं आती। इस प्रकार ध्रुवरूप से स्थित रहकर प्रतिक्षण अपने शुद्धपर्याय का अपादान हो - ऐसा आत्मा का स्वभाव है। विकार आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से नहीं निकलता; इसलिए उस विकार का अपादान होना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवों को ऐसा लगता है कि हम धर्म कहाँ से लें ? शरीर की क्रिया में से धर्म आता होगा ? पुण्य-पाप में से आता होगा ? किसी स्थान में से आता होगा ?

आचार्यदेव समझाते हैं कि-ध्रुव में से धर्म लो ! धर्म की खान तुम्हारा ध्रुव आत्मा ही है, वही धर्म का स्थान है; उसी में से तुम्हारा धर्म आता है। इसके अतिरिक्त शरीर की क्रिया में से, राग में से, बाह्यस्थानों में से या अन्यत्र कहीं से तुम्हारा धर्म नहीं आ सकता।

उत्पाद-व्ययरूप पर्याय तो दूसरे क्षण हानि को प्राप्त हो जाती है-उसका नाश हो जाता है; इसलिए अकेली पर्याय को देखने से आत्मा का वास्तविक स्वरूप दिखायी नहीं देता, किन्तु पर्याय का नाश होने पर भी जिसकी हानि नहीं होती, जो ध्रुवस्वरूप से स्थित रहता है—ऐसे स्वभाव से देखने पर आत्मा का यथार्थरूप दिखायी देता है। आत्मा ऐसा अपरिमित शक्ति का भण्डार है कि उसमें से सदैव निर्मलपर्याय लेते ही रहो, तथापि उसमें किंचित् हानि या अपूर्णता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से निकालोगे ? - अपरिमित शक्ति के भण्डार से। द्रव्यस्वभाव ही अपरिमित शक्ति का भण्डार है, उसका आश्रय करने से पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हो जाती है। इसके अलावा पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि उसमें से सम्यग्दर्शनादि दूसरी पर्याय प्रगट हो।

जिस प्रकार बीता हुआ काल वापिस नहीं आता, किन्तु भविष्यकाल, वर्तमान -वर्तमानरूप होकर आता है; उसी प्रकार बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती; जो बीत जाती है, उस पर्याय में से दूसरी पर्याय नहीं आती, किन्तु त्रिकाल स्थायी द्रव्य ही वर्तमान -वर्तमान पर्यायरूप होकर आता है, अर्थात् द्रव्य में से ही पर्याय आती है; इसलिए जिसे धर्म करना हो, उसे ध्रुवस्वभाव में एकता करके जो पर्याय प्रगट होती है, वह पर्याय भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द स्वरूप होती है और वही धर्म है।

आत्मा का ध्रुवस्वभाव ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है, उसमें से विकार नहीं आता; विकार तो पर्याय का क्षणिकभाव है और वह भी पराश्रय से उत्पन्न हुआ भाव है। आत्मा का ध्रुवस्वभाव तो ऐसा है कि उसमें से ज्ञान-आनन्द ही निकलता रहे; चाहे जितना ज्ञान-आनन्द निकालने पर भी वे घट नहीं जाते या कम नहीं होते। आत्मा के ध्रुवस्वभाव में से आनन्द प्रगट कर-करके करोड़ों-अरबों-असंख्य वर्षों तक उसका उपभोग किया; अब

आत्मा में उनका अभाव तो नहीं हो जायेगा ? – ऐसी शंका धर्मी को नहीं होती। धर्मी तो अपने ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करके आनन्द के उपभोग में पड़े हैं, स्वभाव की दृष्टि में वे ऐसे नि:शंक हैं कि सिद्धदशा में सादि-अनन्त काल तक परिपूर्ण आनन्द का प्रति समय उपभोग करूँगा, तथापि मेरे स्वभाव का आनन्द कम नहीं होगा—ऐसी मेरे ध्रुवस्वभाव की अचिन्त्य शक्ति है। अहो! मेरे द्रव्य का ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है कि प्रति समय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे, तथापि अनन्त काल में भी उसमें किंचित् न्यूनता नहीं आती!

देखो, यह आत्मा की अपादानशक्ति! इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों बतला दिये हैं। अकेले उत्पाद-व्यय जितना ही आत्मा नहीं है किन्तु ध्रुवरूप से स्थित रहकर उत्पाद -व्यय करनेवाला है। अपादानशक्ति से आत्मा ऐसा ध्रुव है कि उसमें से जब निर्मलता निकालना हो, तब निकल सकती है और जितनी निकलना हो, उतनी निकलती है। अनादि काल से विकार किया; इसलिए ध्रुव में से निर्मलता प्रदान करने की शक्ति का घात हो गया-ऐसा नहीं है; ध्रुवस्वभाव की शक्ति तो ज्यों की त्यों परिपूर्ण वर्त ही रही है। जब अन्तर्मुख होकर उसे ग्रहण करे, तब उसमें से निर्मलता प्रगट होती है और उसमें जितना एकाग्र हो, उतनी निर्मलता प्रगट होती है। अपने में से निर्मलता दे-देकर द्रव्य कभी थक जाये अथवा निर्मलपर्याय का देना बन्द कर दे – ऐसा नहीं होता; द्रव्य की शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। एक पर्याय बदलकर दूसरी; दूसरी बदलकर तीसरी; तीसरी बदलकर चौथी; चौथी बदलकर पाँचवीं, – इस प्रकार अनन्त काल तक ध्रुव में से निर्मलपर्यायें आती ही रहती हैं, तथापि ध्रुवशक्ति का भण्डार किंचित् भी कम नहीं होता। अहो! ऐसे ध्रुवस्वभाव को जी प्रतीति में ले, वह साधक हो जाये और उसे ध्रुव में से निर्मलपर्यायों का ही अटूट प्रवाह चलता रहे। राग में से या पर में से मैं कुछ लाभ लूँ – ऐसी बुद्धि उसे स्वप्न में भी नहीं रहेगी।

मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का अपादान (जिसमें से उनकी प्राप्ति होती है, वह) मेरा आत्मा ही है; अन्य कोई रागादिक मेरे धर्म का अपादान नहीं हैं तथा मेरे आत्मा का स्वभाव निर्मलपर्यायों का ही अपादान होना है; रागादि का अपादान होना मेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है – ऐसे स्वभाव के भान में उसमें से रत्नत्रयरूप निर्मलपर्याय प्रगट करके, उस निर्मलपर्याय के अपादानरूप से धर्मी परिणमित होता है। इस प्रकार धर्मी

जीव को ज्ञानमात्र परिणमन में 'ज्ञानमात्र' होने पर भी भगवान आत्मा को अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित हो रहा है।

कोई जीव अनन्त काल पूर्व सिद्ध हुए और कोई वर्तमान में सिद्ध हुए। जो पहले सिद्ध हुए, उन्हें परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की अनन्त पर्यायें प्रगट हुई और नष्ट हो गयी, तथापि ध्रुवस्वभाव में किंचित् न्यूनता नहीं आयी है। अनन्त काल पूर्व मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध तथा वर्तमान में मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध - दोनों के ध्रुवस्वभाव का सामर्थ्य समान ही है और इस आत्मा में भी उतना ही सामर्थ्य है। जब प्रगट करेगा, तब इस ध्रुवशक्ति में से ही निर्मलपर्याय प्रगट होगी; अन्यत्र कहीं से आनेवाली नहीं हैं। - ऐसी अपादानशक्ति आत्मा में है।

परमाणु, जड़ है तथापि उसमें ऐसी अपादानशक्ति है कि अनादि काल में विविध पर्यायें होने पर भी उसकी ध्रुवशक्ति कम नहीं हुई है कि अब पर्याय न हों। अनन्त काल तक उसके ध्रुव अपादान में से पर्याय होती ही रहेगी - ऐसी उसमें शक्ति है। किन्तु इस समय परमाणु की बात नहीं है; अभी तो जीव की शक्तियों का वर्णन चल रहा है। जीव के स्वभाव को जानने से सम्यग्ज्ञान विकसित हो जाता है, वह स्व-पर को यथार्थ जानता है। जीव के स्वभाव को जाने बिना, पर का स्वभाव भी नहीं जाना जा सकता; इसलिए जीव के स्वभाव को जानने की ही प्रधानता है। यदि एक भी शक्ति को यथार्थरूप से जान ले तो अखण्ड आत्मस्वभाव लक्ष्य में आये बिना नहीं रहता, क्योंकि शक्ति शक्तिमान से पृथक् नहीं है; शक्ति और शक्तिमान दोनों की प्रतीति एक साथ ही होती है।

कोई कहे कि आत्मा को तो पहिचान लिया, किन्तु आत्मा को शक्तियाँ प्रतीति में नहीं आईं, तो उसने वास्तव में आत्मा को जाना ही नहीं है। तथा कोई ऐसा कहे कि हमने आत्मा को शक्ति को तो जान लिया, किन्तु आत्मा को नहीं जाना, तो उसने वास्तव में आत्मा की शक्ति को जाना ही नहीं। अनन्त शक्तिमान ऐसे आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना उसकी किसी शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

संसार में से तो जीव कम होते हैं और सिद्ध में बढ़ते हैं। यद्यपि संसारी जीवों की संख्या इतनी विशाल (अक्षय अनन्त) है कि वह कभी कम होती ही नहीं, तथापि जितने

जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं, उतने संसार से तो कम होते ही हैं किन्तु आत्मा में ऐसी अपादानशक्ति है कि उसमें अनन्तानन्त पर्यायें होकर नष्ट हों, तथापि उसके ध्रुवसामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं होता। ध्रुवअपादान शाश्वत ज्यों का त्यों है, उसमें से पर्यायें परिणमित होती ही रहती हैं। जिस प्रकार लोकव्यवहार में कहा जाता है कि – 'विद्या दीयते वर्द्धमानः' विद्या देने से उसमें वृद्धि होती है; उसी प्रकार यहाँ आत्मा, ज्ञान विद्या का ऐसा लोकोत्तर ध्रुव भण्डार है कि उसमें से चाहे जितनी विद्या पर्यायें आयें, तथापि उसकी शक्ति में किंचित् न्यूनता नहीं आती; उसी प्रकार श्रद्धागुण में से सम्यग्दर्शन की पर्यायें सादि-अनन्त काल तक प्रगट होती ही रहें, तथापि उसकी शक्ति कम नहीं होती; आनन्दशक्ति में से आनन्द का उपभोग करते ही रहो, तथापि उसकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। ऐसे अपने ध्रुवसामर्थ्य की दृष्टि करके उसमें एकाग्रता से धर्मात्मा निर्मलपर्यायरूप से परिणमित होता ही रहता है। ध्रुवसामर्थ्यवान आत्मा की पहिचान होने पर, उसकी दृष्टि से साधक का जहाज मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। जिस प्रकार समुद्र में ध्रुवतारे के लक्ष्य से जहाज चले जाते हैं; उसी प्रकार ध्रुवचैतन्य के विश्वास से साधक का जहाज पार हो जाता है। ध्रुव चैतन्यस्वभाव को ही दृष्टि के ध्येयरूप रखकर साधक आत्मा का जहाज निःशंकरूप से सिद्धपुरी में पहुँच जाता है।

शरीर-मन-वाणी-पुण्य-पाप या पर्याय-इन सबका नाश होने पर भी तेरा स्वभाव ध्रुव है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता और न उसमें से कुछ कम होता है; इसलिए हे जीव! उस ध्रुव का आश्रय कर और अध्रुव का आश्रय छोड़। ध्रुव के आश्रय से उस स्वभाव में से सदैव ज्ञान-आनन्दमय निर्मलपर्यायें ही प्रगट होती रहेंगी। – इस प्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभाव के विश्वास से ही आत्मा का जहाज, संसारसमुद्र से पार होकर मोक्षपुरी में पहुँच जाता है; अन्य कोई संसार से पार होने का उपाय नहीं है।

आत्मा का स्वभाव ऐसे अपादानरूप है कि उसमें से निर्मलपर्यायों की पूर्ति होती ही रहती है। आत्मा में शुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव है परन्तु अशुद्धता का ध्रुव अपादान होने का स्वभाव नहीं है। अशुद्धता आत्मा के ध्रुव द्रव्य-गुण के साथ अभेद होती ही नहीं; इसलिए द्रव्य-गुण उसका अपादान नहीं है।

यह कर्ता, कर्म आदि सात विभक्तियाँ हैं, वे आत्मा के स्वरूप को पर से विभक्त

तथा स्व के एकत्व बतलाती हैं। कर्ताशक्ति अन्य के कर्तृत्व से भिन्नता बतलाती है; कर्मशक्ति विभावकर्म तथा जड़कर्म से भिन्नता बतलाती है; करणशक्ति अपने स्वभाव को ही साधन बतलाकर अन्य साधनों से भिन्नता बतलाती हैं; सम्प्रदानशक्ति भिन्न सम्प्रदान का अभाव बतलाती है; अपादानशक्ति अपने से भिन्न अन्य अपादान से पृथक्त्व बतलाती है; अधिकरणशक्ति अपना ही आधार बतलाकर, भिन्न आधार की उपेक्षा कराती है और सम्बन्धशक्ति पर के सम्बन्ध से रहितपना बतलाकर स्व में एकता कराती है। – इस प्रकार आत्मा की यह सब शक्तियाँ, आत्मा को पर से भिन्न बतलाकर स्वभाव में एकता कराती हैं। श्री आचार्यदेव ने समयसार के प्रारम्भ में ही कहा था कि—

त्वमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम्॥५॥

जीवों ने जिसे अनादि काल से नहीं जाना है—ऐसा आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप मैं अपने समस्त आत्मवैभव से दर्शाऊँगा और तुम अपने आत्मवैभव से उसे प्रमाण करना। इस प्रकार आचार्यदेव ने आत्मा को अनेक प्रकार से स्वभाव से एकत्वरूप तथा परभावों से अत्यन्त विभक्तरूप बतलाकर, भव्य जीवों पर महान उपकार किया है।

यहाँ आत्मा के ज्ञानादि का अपादान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा से भिन्न अन्य कोई अपादान नहीं है – ऐसा कहकर आत्मा का एकत्वविभक्त स्वरूप बतलाया है।

जिसमें से आये, उसे अपादान कहा जाता है। ज्ञान कहाँ से आता है?

क्या शरीर में से ज्ञान आता है? नहीं; इसलिए शरीर वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या वाणी या शास्त्र में से ज्ञान आता है? – नहीं; इसलिए वाणी या शास्त्र, वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

क्या राग में से ज्ञान आता है? – नहीं; इसलिए राग, वह ज्ञान का अपादान नहीं है।

आत्मा में से ही ज्ञान आता है; इसलिए आत्मा ही ज्ञान का अपादान है।

देखो, यह महान स्वामित्व! अपना ध्रुवस्वभाव ही महान स्वामी है। अन्तर्दृष्टि में अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभाव का ही स्वामित्व स्वीकार किया है, उसी में ऐसी शक्ति है कि सम्यग्दर्शनादि का रक्षण और पोषण करता है। अपने में से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, उसे

बनाए रखता है और जो प्रगट नहीं हुई, वह अपने में से देता है – इस प्रकार आत्मा स्वयं ही अपना महान स्वामी है, स्वयं ही अपने योग-क्षेम का कर्ता नाथ है।

आत्मा के ध्रुवस्वभाव से हटकर वृत्ति का बाह्य में भटकना, वह संसार की खान है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव, वह मोक्ष की खान है। इसलिए बाह्यपदार्थों से अत्यन्त भिन्नता जानकर, अपने चिदानन्द ध्रुवस्वभाव में एकता कर, वही धर्म है और वही मोक्ष का उपाय है।

इस प्रकार पर से विभक्त और स्वभाव से एकत्वरूप—ऐसा आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का अपादान है – ऐसा इस ४५वीं शक्ति में बतलाया है।

[–यहाँ ४५ वीं अपादानशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४६]

अधिकरणशक्ति

भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः।

भाव्यमान (अर्थात् भावने में आते हुए) भाव के-आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति।

आत्मा के सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है? - तो कहते हैं कि अधिकरणशक्तिरूपी माता ही उसका आधार है। ...जिस प्रकार लोक में बालक को माता का आधार, शिष्य को गुरु का आधार, प्रजा को राजा का आधार-ऐसे विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसी प्रकार आत्मा में धर्म का आधार क्या? - तो कहते हैं कि अपनी अधिकरणशक्ति के कारण आत्मा स्वयं ही अपने धर्म का आधार है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती।

वनवास के समय सीता को बाह्य में राम का वियोग हुआ था, किन्तु अन्तर में आतमराम का वियोग नहीं था... वनवास के समय भी निःशंकरूप से उन्हें भान है कि - मुझे अपने चिदानन्दस्वभाव का ही आधार है... यह पवन या सिंह-बाघ की गर्जनाएँ कोई भी प्रतिकूल संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है! ऊपर आकाश और नीचे धरती के सिवा सगे-सम्बन्धी कोई नहीं हैं, फिर भी मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही महान आधार है - शरण है। राजमहल मुझे, शरणभूत थे और इस जङ्गल में मैं अशरण हूँ - ऐसा नहीं है; आत्मा के अतिरिक्त सारा जगत मेरे लिये अशरण ही है।

अब अधिकरणशक्ति में आत्मा के धर्म का आधार क्या है, वह बतलाते हैं। 'भाव्यमानभाव के आधारपनेमयी, ऐसी अधिकरणशक्ति आत्मा में है,' इसलिए आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का आधार है; अन्य कोई आधार नहीं है।

जिस प्रकार लोक में बालक को माता का आधार, शिष्य को गुरु का आधार, प्रजा को राजा का आधार, स्त्री को पति का आधार, रोगी को वैद्य का आधार, छत को स्तम्भ का आधार - इस प्रकार विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसी प्रकार आत्मा में धर्म का आधार

क्या है ? – आत्मा में ऐसी अधिकरणशक्ति है कि वह स्वयं ही अपने धर्म का आधार होता है; अन्य किसी भिन्न आधार की उसे आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वह धर्म है और उस भाव का भवन (परिणमन) आत्मा के ही आधार से होता है; किसी अन्य के आधार से नहीं होता; इसलिए आत्मा ही उसका अधिकरण है।

आत्मा के सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है ? – तो कहते हैं कि अधिकरणशक्तिरूपी माता ही उसका आधार है; परमार्थत: आत्मा स्वयं ही अपने को ज्ञान देता है; इसलिए ज्ञानपर्यायरूपी जो शिष्य, उसका गुरु आत्मा स्वयं ही है; स्वयं ही अपना गुरु है; निर्मलपर्यायरूपी जो प्रजा, उसका आधार चैतन्यराजा स्वयं ही है; निर्मलपरिणतिरूपी जो स्त्री, उसे अपने स्वभावरूप चैतन्यपति का ही आधार है; राग-द्वेष-मोहरूपी रोग, चैतन्यस्वभाव के आधार से ही मिटता है; इसलिए आत्मा स्वयं ही अपना वैद्य है; और मोक्षदशारूपी जो छत, उसे स्थिर रहने के लिये स्तम्भ भी आत्मा स्वयं ही है; आत्मा के स्वभाव के आधार से ही मोक्षदशा होती है – इस प्रकार अपने भाव का आधार आत्मा स्वयं ही है।

शरीर-मन-वाणी या राग, आत्मा के धर्म का आधार नहीं हैं तथा आत्मा उन शरीर -मन-वाणी का या राग का आधार नहीं है; वास्तव में आत्मा अपनी निर्मलपर्याय का ही आधार है। जिसने अपने स्वभाव को ही अपना आधार बनाया, उसे स्वभाव के आधार से निर्मलपर्यायें ही होती हैं; स्वभाव के आधार से मलिनपर्यायें नहीं होतीं; इसलिए निर्मलपर्याय का ही आधार होना, आत्मा का स्वभाव है; मलिनता का आधार होना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके आधार से दु:ख की उत्पत्ति होती ही नहीं; उसके आश्रय से तो आनन्द की ही उत्पत्ति होती है। धर्मी की श्रद्धा में अपने शुद्ध आत्मा का ही आधार है और उसके आधार से उसे निर्मलपर्यायें ही होती रहती हैं।

देखो, आचार्यदेव ने छह शक्तियों में आत्मा का ही छह कारकोंरूप से वर्णन किया है। आत्मा ही अपना कर्म, आत्मा ही अपना कर्ता, आत्मा ही अपना करण, आत्मा ही अपना सम्प्रदान, आत्मा ही अपना अपादान और आत्मा ही अपना अधिकारण – इस प्रकार छहों कारक आत्मा से अभिन्नरूप हैं; भिन्न कारकों को कारक कहना, वे वास्तव में कारक हैं ही नहीं। निमित्तरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल अभाव है और इन

स्वभावरूप छह कारकों का आत्मा में त्रिकाल सद्भाव है। – इस प्रकार छह कारकों की छह विभक्तियाँ और एक सम्बन्ध विभक्ति – यह सातों विभक्तियाँ आत्मा को पर से विभक्त बतलाती हैं।

देखो, यह आत्मा के धर्म का आधार बतलाते हैं। 'निरोगी शरीर हो, आँख-कान आदि इन्द्रियाँ स्पष्ट हों; पैसा, मकान आदि की सुविधा हो तो उसके आधार से धर्म होता है' – ऐसा कोई माने तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि तू मूढ़ है; क्या तेरे आत्मा में तेरे धर्म का आधार हो – ऐसी अधिकरणशक्ति नहीं है जो तुझे दूसरों का आधार लेना पड़े? भाई! तेरा आत्मा ही तेरे धर्म का आधार है; तेरा असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही तेरे सम्यग्दर्शनादि धर्म का आधार है; इसके सिवा बाह्यक्षेत्र के आधार से तेरा धर्म नहीं है। 'अहो! महाविदेहक्षेत्र में तो धर्म का स्रोत बह रहा है' – इस प्रकार जहाँ महाविदेहक्षेत्र की बात आये, वहाँ मानो उस क्षेत्र के आधार से ही धर्म होगा – इस प्रकार अज्ञानी की दृष्टि बाह्य में जाती है किन्तु उस महाविदेहक्षेत्र में विचरनेवाले धर्मात्मा स्वयं तो ऐसा जानते हैं कि हमारा असंख्य प्रदेशी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही हमारे धर्म का आधार है; यह बाह्यक्षेत्र कहीं हमारे धर्म का आधार नहीं है। ऐसा जानने के पश्चात व्यवहार से धर्म का बहुमान करने के लिये ऐसा कहा जाता है कि 'अहो! महाविदेहक्षेत्र तो धर्म की भूमि है... उस भूमि के आधार से सीमन्धरादि तीर्थङ्कर तथा लाखों केवली भगवन्त और करोड़ों सन्त साक्षात् विचर रहे हैं; उस भूमि में धर्म की खूब पैदावार होती है।'

उसी प्रकार मोक्षगामी सन्तों का स्मरण करने के लिये भक्ति से ऐसा कहा जाता है कि – 'अहो! इस सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र के आधार से तो अनन्त तीर्थङ्करों और सन्तों ने मोक्ष प्राप्त किया है... यह तो शाश्वततीर्थ है और इसका प्रत्येक रजकण पूज्य है।' – ऐसी भक्ति को सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है? – कि तीर्थङ्कर और सन्त चैतन्यस्वभाव को अधिकरण बनाकर जिस भाव से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उस भाव को जानकर अपने में भी वैसा भाव प्रगट करे, तब। – ऐसी भावना होती है कि अहो! ऐसा स्वावलम्बीभाव प्रगट कर करके, पूर्व काल में अनन्त तीर्थङ्कर और सन्तों ने यहाँ से मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार इसमें तो स्वावलम्बीभाव की प्रधानता आती है। ऐसे स्वावलम्बीभाव को जाने बिना, मात्र बाह्यक्षेत्र को ही अपनी मुक्ति का आधार मानकर उसी का बहुमान करता रहे तो उसे

मात्र पुण्यबन्ध होगा, किन्तु धर्म लाभ नहीं हो सकता। धर्म तो चैतन्यस्वभाव के ही आधार से होता है।

जिस प्रकार लकड़ी के मुलायम टुकड़े पर गहने नहीं गढ़े जाते; उसके लिए तो लोहे की एरन का आधार होना चाहिए; उसी प्रकार शरीर-इन्द्रियाँ या रागादि तो मुलायम हैं। उनके आधार से ही धर्म की गढ़ाई (धर्म का निर्माण) नहीं हो सकती। कठिन चैतन्यघन ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसी के आधार से धर्म की गढ़ाई-धर्म का निर्माण होता है।

इन छह कारक शक्तियों के वर्णन द्वारा तो आचार्यदेव ने स्व-पर को एकदम विभक्त बतलाकर भेदज्ञान कराया है। आत्मा स्वयं ही अपनी शक्ति से छह कारकरूप होता है; अन्य कारकों की उसे अपेक्षा नहीं है।

— निमित्त वे आत्मा के कर्ता नहीं हैं;

— निमित्त वे आत्मा का कर्म नहीं हैं;

— निमित्त वे आत्मा का साधन नहीं हैं;

— निमित्त वे आत्मा का सम्प्रदान नहीं हैं;

— निमित्त वे आत्मा का अपादान नहीं हैं;

— निमित्त वे आत्मा का अधिकरण नहीं हैं।

आत्मा स्वयं स्वभाव से ही अपने भाव का कर्ता है; स्वयं ही कर्म है, स्वयं ही करण है, स्वयं ही सम्प्रदान है, स्वयं ही अपादान है और स्वयं ही अधिकरण है। अपनी शक्ति से ही स्वयमेव छह कारकरूप होकर सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है।

सम्यग्दर्शन हो, उसका आधार कौन? शरीर, लक्ष्मी या इन्द्रियाँ उसका आधार नहीं हैं, शुभभाव भी उसका आधार नहीं है और मात्र पर्याय का आधार लेने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता; अधिकरणशक्ति से आत्मा स्वयं ही परिणमित होकर, सम्यग्दर्शन का आधार होता है। सम्यग्दर्शन, वह भाव्यमानभाव है और आत्मा उसका आधार है। धर्मी जीव अपने आत्मस्वभाव को ही आधाररूप से भाता है। अपने स्वभाव का ही आधार लेकर सम्यग्दर्शनादिरूप से परिणमित होता है; इसके अतिरिक्त व्यवहार का, राग का या निमित्त का आधार धर्मी नहीं मानते।

एक ओर कहे कि आत्मस्वभाव के आधार से धर्म होता है और फिर कहे कि व्यवहार के-राग के या निमित्त के आधार से भी धर्म होता है, तो यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। आत्मस्वभाव के आधार से ही धर्म होता है - ऐसा जो जानता है, वह व्यवहार -राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता ही नहीं और जो व्यवहार, राग या निमित्त के आधार से धर्म मानता है, उसने धर्म के सच्चे आधाररूप आत्मस्वभाव को माना ही नहीं है। व्यवहार का-राग का या निमित्त का आधार लेने से तो विकार की ही उत्पत्ति होती है और यदि उसे धर्म का कारण माने तो मिथ्यात्व होता है। आत्मस्वभाव के आधार से तो निर्मलपर्याय की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए आत्मा निर्मलपर्याय का आधार है। यहाँ आधार और आधेय (द्रव्य और पर्याय) दोनों भिन्न नहीं, किन्तु अभेद है।

जिस प्रकार, गहनों की गढ़ाई का आधार एरन;- इस दृष्टान्त में तो एरन भिन्न है किन्तु यहाँ निर्मलपर्याय के आधाररूप द्रव्य कहीं उससे भिन्न नहीं है; द्रव्य स्वयं उस निर्मलपर्याय में अभेद होकर परिणमित हुआ है। जिस प्रकार एरन के आधार से जितने गहने गढ़ना हों, उतने तथा जैसे गढ़ना हों, वैसे गढ़े जाते हैं; उसी प्रकार आत्मस्वभाव के आधार से जितनी निर्मलपर्याय करो, उतनी तथा जैसी करना हो, वैसी होती हैं; सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक की समस्त निर्मलपर्यायों का आधार होने की शक्ति आत्मस्वभाव में है। आत्मा स्वयं आधाररूप से ध्रुव रहकर अपने ही आधार से सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप होता है। ऐसा आत्मा ही परम शरणभूत-परम आधारभूत है। जो जीव ऐसे आत्मस्वभाव का आधार लेता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और सिद्धपद को प्राप्त होता है और जो जीव, आत्मस्वभाव का आश्रय छोड़कर, पर का आधार लेने जाता है, वह निराधाररूप से संसार में परिभ्रमण करता है।

- आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है;
- विभाव क्षणिक है; और
- संयोग अभावरूप है।

अब, यदि आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर, संयोग का आश्रय लेने जाए तो वे संयोग कहीं उसे आधारभूत नहीं होते; मात्र आकुलता और विभाव की उत्पत्ति होती

है और यदि संयोग का आश्रय छोड़कर, अपने स्वभाव का आश्रय करे तो उसके आधार से निराकुल शान्ति होती है। धर्मात्मा जानता है कि चाहे जिस प्रसंग में, चाहे जिस क्षेत्र में मुझे अपने आत्मा का ही आधार है... महल में या जंगल में मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है।

देखो, सीताजी पर्मात्मा थीं... जब चरमशरीरी लव और अंकुश उनके गर्भ में आये, तब उनके मन में आकाँक्षा जागृत हुई कि मैं सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की यात्रा करूँ और ठीक उसी समय नगरजनों ने आकर रामचन्द्रजी से लोकापवाद की बात कही। रामचन्द्रजी ने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया कि – 'सीता को सम्मेदशिखर आदि तीर्थों तथा जिनबिम्बों की वन्दना कराओ और उनकी इच्छा पूर्ण होने पर, सिंहनाद नामक भयानक वन में अकेली छोड़ दो।' सीताजी ने हर्षसहित भक्तिभाव से तीर्थवन्दना की... सिंहनाद वन आने पर रथ को रोककर सेनापति एकदम रो उठते हैं... तब सीताजी पूछती हैं कि 'अरे सेनापति! क्या हो गया तुम्हें ? तीर्थवन्दना के इस शुभ-अवसर पर तुम शोक क्यों कर रहे हो ?' सेनापति की आँखों से आँसू बह रहे हैं। वे कहते हैं 'हे माता! जिस प्रकार मुनिवर रागपरिणति का त्याग कर देते हैं; उसी प्रकार श्री रामचन्द्रजी ने लोकापवाद के भय से आपको वन में अकेली छोड़ देने का आदेश दिया है।' सेनापति के शब्द कानों में पड़ते ही सीताजी मूर्छित हो गईं... देखो, उस मूर्छा के समय भी धर्मात्मा सीताजी के अन्तर में भान है कि चाहे जिस प्रसंग पर अपने धर्म के लिये मुझे अपने आत्मा का ही आधार है। – फिर सचेत होने पर श्री रामचन्द्रजी को सन्देश पहुँचाती है कि – 'हे सेनापति! मेरे राम से कहना कि लोकापवाद के भय से मेरा त्याग कर दिया, किन्तु जैनधर्म को मत छोड़ना। अज्ञानी लोग जिनधर्म की भी निन्दा करें तो उस निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ देना... चौविध संघ की सेवा करना... मुनियों एवं अर्जिकाओं को भक्तिपूर्वक आहारदान देना... देखो! ऐसे दुःखद प्रसंग पर भी सीताजी को अन्तर स्वभाव के आश्रय से धर्मोल्लास उत्पन्न हुआ है... अन्तर में धर्म के आधारभूत स्वभाव का आश्रय है, उसी के आधार से यह उल्लास पैदा हुआ है... अहो! मैं भले ही वन में अकेली रह गयी, किन्तु मेरे अन्तर में धर्म का आधार विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती... और मेरे राम से कहना कि वे भी धर्म को न छोड़ें। इस प्रकार धर्म को ही शरणभूत जानकर धर्मात्मा उसी का आश्रय लेते हैं।

अज्ञानी तो संयोग में और आकुलता में एकाकार होकर अन्तर के आधार को भूल

जाते हैं। धर्मात्मा को भी किंचित् आकुलता और शोक हो जाता है किन्तु वे आत्मा के आधार को भूलकर शोक में या संयोग में एकाकार नहीं हो जाते। संयोग को अपने धर्म का आधार स्वप्न में भी नहीं मानते; इसलिए सभी प्रसंगों में स्वभाव के आधार से सम्यक श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म तो वर्तता ही रहता है। साधारण जीवों के लिये धर्मात्मा के हृदय की पहिचान करना कठिन है।'

जहाँ शेर-चीते घूम रहे हैं—ऐसे भयानक वन में सीताजी अकेली बैठी हैं। उदर में लव और कुश जैसे दो चरमशरीरी पुत्र पड़े हैं... शेर, चीतों की दहाड़ें सुनाई देती हैं। अरे! यह शेर आया... चीता आया...। किंचित् भय भी लगता है, तथापि स्वभाव में तो उस समय भी नि:शंक हैं कि अरे! मैंने तो अपने चैतन्य का आधार लिया है... यह जंगल, यह शेर, चीतों की गर्जनाएँ-कोई भी संयोग मुझे अपने स्वभाव का आधार छुड़ाने में समर्थ नहीं है। ऊपर आकाश और नीचे धरती... भले ही कोई सगे-सम्बन्धी नहीं हैं किन्तु मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तर में मेरा चिदानन्दस्वभाव ही महान शरण है। देखो, सीताजी कहाँ हैं ? क्या जंगल में हैं ? - नहीं। क्या संकट में हैं ? - नहीं; अपनी आत्मा में हैं। अन्तर में चैतन्य स्वभाव को शरण लेने से जो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द के परिणाम होते हैं, उन्हीं में सीताजी का आत्मा वर्त रहा है। आधारभूत ऐसे अपने स्वभाव की शरण को प्रतिक्षण दृढ़ करती हैं। बाह्य में जो कुछ होना हो सो हो, किन्तु अन्तर में जो चैतन्य का महान आधार है, वह नहीं छूट सकता; उस चैतन्य के आधार से हमें दु:ख नहीं, किन्तु आनन्द ही है। आँखों से आँसू बह रहे हैं फिर भी भान है कि - मेरा आत्मा इन आँसुओं का आधार नहीं हैं; किंचित खेद के परिणाम होते हैं, उनका आधार भी आत्मा नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान-आनन्द का ही आधार है। यह स्त्री का शरीर मैं नहीं हूँ; इस भयानक जंगल में या विशाल राजमहल में रहनेवाले हम नहीं हैं। महल हमें शरणभूत थे और जंगल में हम अशरण हो गये - ऐसा नहीं है। अपने आत्मा के सिवा सारा जगत हमारे लिये अशरण ही है।

-देखो, यह मात्र ऐसे विकल्प या विचार की बात नहीं है किन्तु आत्मबल से अन्तर में ऐसे अभिप्राय का निर्विकल्प परिणमन चैतन्यस्वभाव के आधार से हो गया है; वह प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रसंग पर वर्तता ही रहता है; उसकी यह बात है। चैतन्यस्वभाव के आधार से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन हुआ, वही धर्म है।

आत्मा के स्वभाव में ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग में भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रय से शान्ति मिलती है। सातवें नरक की घोर प्रतिकूलता में पड़े हुए नारकियों में भी कोई-कोई जीव, पूर्व काल की देशनालब्धि के संस्कारों का आधार लेकर अन्तर में अपने चैतन्यस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशान्ति का वेदन करते हैं कि स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देवों को भी उसकी गन्ध तक नहीं होती। आत्मा का आधार लिये बिना, बाह्य में किसी के आधार से सुख या शान्ति लेना चाहे तो वह तीन काल-तीन लोक में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगों में किसी भी क्षण अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करने से सुख एवं शान्ति का अनुभव होता है।

भाव्यमानभाव का आधार हो, ऐसी आत्मा की शक्ति है। ज्ञानी, भावक होकर निर्मलभाव को भाता है और अज्ञानी, भावक होकर विकार की भावना करता है। ज्ञानी तो स्वभाव के आधार से निर्मलभाव प्रगट करके उन्हीं के आधार से परिणमित होता है। अज्ञानी अपने आत्मा को विकार का ही आधार मानकर, मात्र विकाररूप से परिणमित होता है; निर्मलपर्याय के आधाररूप अपने शुद्धस्वभाव को वह नहीं जानता; इसलिए बाह्य आधार से निर्मलता प्रगट करना चाहता है, यह उसकी बाह्यदृष्टि है। चैतन्य का आधार छोड़कर जो बाह्य में अपना आधार ढूँढ़ता है, वह भले ही महान सम्राट हो, तथापि भिखारी ही है क्योंकि वह दूसरों से अपने ज्ञान-आनन्द की भीख माँगता है; और 'मैं ही अपने आनन्द का आधार हूँ, अपने ज्ञान-आनन्द के लिये मुझे अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं है' - ऐसी स्वभावदृष्टि करनेवाला सम्यक्त्वी कदाचित् नरक में हो, तथापि वह महान सम्राट है।

शरीर या राग, वह आत्मा के धर्म का आधार नहीं है क्योंकि शरीर और राग छूट जाने पर भी सम्यग्दर्शनादि बने रहते हैं; इसलिए वे कोई धर्म का आधार नहीं हैं तथा आत्मा, शरीर का या राग का आधार नहीं है। संसार का आधार भी आत्मा नहीं है; वह तो मोक्ष का ही आधार होता है - ऐसा उसका स्वभाव है।

ऐसा सिद्धान्त है कि - केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही क्षायिकसम्यक्त्व होता है किन्तु उसमें तो यह बतलाया है कि उस समय कैसा निमित्त होता है ? कहीं वह

निमित्त इस जीव के क्षायिकसम्यक्त्व का आधार नहीं है; सम्यग्दर्शन का आधार आत्मा स्वयं ही है; आत्मा के आधार से ही वह परिणमन होता है

जिसका जो आधार हो, वह उससे अभिन्न होता है; भिन्न नहीं होता। यदि वस्तु में अपना आधार होने की शक्ति न हो तथा भिन्न आधार हो तो अनवस्था दोष आ जाये; आधार की परम्परा कहीं न रुके। जैसे-कोई ऐसा कहे कि आत्मा का आधार, यह शरीर; शरीर का आधार ? मकान; मकान का आधार ? - यह जम्बूद्वीप; जम्बूद्वीप का आधार ? मध्यलोक; मध्यलोक का आधार ? - लोक, और लोक का आधार ? - अलोक; तो अलोक का आधार कौन होगा ? अलोक से विशाल तो कोई है ही नहीं, जिसे उसका आधार कहा जाये। इसलिए अलोक का आधार अलोक ही है; कोई भिन्न आधार नहीं है, तो फिर अलोक की भाँति जगत के अन्य पदार्थों को भी निश्चय से अपना-अपना ही आधार है, पर का आधार नहीं है।

समयसार में भी आकाश का उदाहरण देकर भेदज्ञान की अद्‌भुत बात समझायी है। वहाँ कहते हैं कि जब अकेले आकाश को ही लक्ष्य में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये, तब आकाश को अन्य किसी द्रव्य का आधार नहीं कहा जा सकता; इसलिए कोई भिन्न आधार लक्ष्य में नहीं आता। एक आकाश हो आकाश में है - ऐसा भलीभाँति समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को भी पर के साथ आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। उसी प्रकार मात्र ज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में लेकर उसके आधार का विचार किया जाये तो ज्ञान से भिन्न अन्य किसी द्रव्य का आधार दिखायी नहीं देता; एक ज्ञान ही स्वयं अपने में ही है - ऐसा भलीभाँति समझ में आता है और ऐसा समझनेवाले को अपने ज्ञानस्वभाव से भिन्न अन्य किन्हीं पदार्थों के साथ अपना आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होने से स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के आधार से ज्ञानरूप ही परिणमित होता है और राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होती। यह संवर होने का उपाय है।

(देखो, संवर-अधिकार, गाथा 181-82-83)

देखो, निरालम्बी आकाश का उदाहरण देकर आत्मा का ज्ञानस्वभाव समझाया है। अहो! समस्त लोक निरालम्बी है। चारों ओर तथा ऊपर-नीचे अनन्तानन्त अलोकाकाश

के मध्य में ३४३ घनराजु प्रमाण यह लोक, शाश्वत विद्यमान है। अनन्तानन्त जीव-पुद्गलों से वह परिपूर्ण है। इस लोक के नीचे कोई आधार नहीं है अथवा ऊपर से किसी रस्सी के आधार से नहीं लटक रहा है तथा किसी ने इसे धारण नहीं कर रखा है, तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर पड़ता। लोक के नीचे बिलकुल रिक्त स्थान ही है, तथापि वह नीचे नहीं उतर जाता; ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है। जिस प्रकार लोक ज्यों का त्यों निरालम्बीरूप से स्थित है; उसी प्रकार लोक के समस्त पदार्थ भी निरालम्बीरूप से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं; उन्हें किसी भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं है। अहा! देखो तो यह वस्तुस्वभाव।

पुनश्च, समवसरण में विराजमान सर्वज्ञ परमात्मा के नीचे रत्नमणि का दैवी सिंहासन होता है किन्तु भगवान का शरीर उस सिंहासन का स्पर्श नहीं करता; भगवान तो सिंहासन से चार अंगुल ऊपर निरालम्बीरूप से आकाश में विराजमान होते हैं।

भगवान का आत्मा तो अपने स्वभाव के आधार से परिपूर्ण वीतरागी निरालम्बी हो गया है और वहाँ शरीर का स्वभाव भी निरालम्बी हो गया है। किसी भी बाह्यपदार्थ के अवलम्बन बिना, भगवान का आत्मा परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमित हो रहा है। समस्त आत्माओं का ऐसा निरालम्बी स्वभाव है किन्तु मूढ़-अज्ञानी जीवों को बाह्य अवलम्बन की मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती और वे आत्मा का अवलम्बन नहीं लेते। इसलिए इस अधिकरणशक्ति में आचार्यदेव ने समझाया है कि हे जीव! स्वयं ही अपने धर्म का आधार हो—ऐसी तेरे आत्मा की शक्ति है; इसलिए तू अपने आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन ले... तथा दूसरों के अवलम्बन की बुद्धि छोड़।

[अहा! कैसा निरालम्बी तत्त्व!]

[-यहाँ ४६वीं अधिकरणशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

[४७]

सम्बन्धशक्ति

स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः।

स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है—ऐसे सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति)।

इस जगत में मेरा कौन है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है - उसके भान बिना, पर को अपना मानकर, पर के साथ सम्बन्ध जोड़कर, जीव संसार में भटक रहा है। आत्मा का 'स्व' क्या है और वास्तविक सम्बन्ध किसके साथ हैं - वह इस 'सम्बन्धशक्ति' में बतलाया है। यह सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर, पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है; इस प्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। आत्मा, ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप अपने भाव का ही स्वामी है और वे भाव ही आत्मा का स्व है, - ऐसा जानकर, स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ना और पर के साथ सम्बन्ध तोड़ना - ऐसा एकत्व-विभक्तपना, वह समयसार का तात्पर्य है तथा उस एकत्व-विभक्तपने में ही आत्मा की शोभा है।

यह भगवान आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया में अनन्त शक्ति से उल्लसित हो रहा है, उसके ज्ञानमात्र भाव में अनन्त धर्म एकसाथ परिणमित हो रहे हैं; इसलिए आत्मा अनेकान्तमूर्ति है। ऐसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा की ४७ शक्तियों का श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अद्भुत वर्णन किया है। उनमें से ४६ शक्तियों का भावपूर्ण सरस विवेचन हो चुका है, अब अन्तिम सम्बन्धशक्ति है। 'स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति आत्मा है।'

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप जो अपना भाव है, वही आत्मा का स्वधन है और उसी का आत्मा स्वामी है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा का स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं है। देखो, यह सम्बन्धशक्ति! सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाकर, स्व में एकता कराती है।

इस प्रकार आत्मा के एकत्व-विभक्तस्वरूप को बतलाती है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि—

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे॥३८॥

यह एक शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय सदा अरूपी आत्मा ही मैं हूँ; वही मेरा स्व है, इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। स्वयं अपने आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्व में एकतारूप से परिणमित हुआ, वहाँ किसी भी परद्रव्य के साथ किंचित् सम्बन्ध भासित नहीं होता।

ऐसे परसम्बन्ध से रहित, शुद्ध आत्मा को देखना ही धर्म है, वही जैनशासन है। आचार्य कुन्दकुन्दप्रभु कहते हैं कि जो पुरुष, आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अर्थात्, कर्मबन्धनरहित तथा सम्बन्धरहित), अनन्य, अविशेष तथा नियत देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है। **जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठ... पस्सदि जिणसासणं सव्वं...** (समयसार, गाथा-15) जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावों स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है... देखो, आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि - पर के सम्बन्ध से रहित, शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही जैनधर्म है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव, राग के भी सम्बन्ध से रहित है। जो जीव अपने आत्मा को कर्मसम्बन्धवाला और विकारी ही देखता है किन्तु कर्म के सम्बन्ध से रहित तथा रागादि रहित—ऐसे अपने शुद्धस्वभाव को नहीं देखता, उसने जिनशासन को नहीं जाना है और उसके आत्मा में जैनधर्म प्रगट नहीं हुआ है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मैं हूँ, तथा ज्ञान-दर्शनस्वभाव से भिन्न जो भाव हैं, वे मैं नहीं हूँ; वे सब मेरे स्वरूप से बाह्य हैं। इस प्रकार ज्ञान-दर्शनस्वभाव में एकत्वरूप से तथा अन्य समस्त पदार्थों से विभक्तरूप से अपने आत्मा का अनुभव करना, वह जैनधर्म है। ऐसे आत्मा को जाने बिना, सचमुच जैनत्व नहीं होता।

इस जगत में मेरा क्या है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है, उसके भान बिना, पर को ही अपना मानकर जीव, संसार में भटक रहा है। परद्रव्य कभी अपना हो ही नहीं सकता, तथापि पर को अपना मानकर वह जीव, मोह के कारण दुःखी ही होता

है। जो पर को पररूप जाने और स्व को ही स्व-रूप से जाने, वह निःशंकरूप से अपने स्वरूप में एकाग्रता से सुखी ही होगा।

● दुःख का मूल क्या है?

-परद्रव्य को अपना मानना, वह।

● सुख का मूल क्या?

-स्व-पर का भेदज्ञान करना, वह।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥

जो जीव, सिद्ध हुए हैं, वे भेदज्ञान से ही हुए हैं; जो जीव, बद्ध हुए हैं, वे भेदज्ञान के अभाव से ही बद्ध हुए हैं।

भेदज्ञान क्या है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा के ज्ञान-दर्शनस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं भी स्वामित्व माने तो उस जीव को भेदज्ञान नहीं, किन्तु अज्ञान है। धर्मी अपने आत्मा को केसा ध्याते हैं, वह प्रवचनसार में कहते हैं—

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता॥ १९१॥

'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' - इस प्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामीसम्बन्ध को छोड़कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ' - इस प्रकार अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मारूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूपी ही एक अग्र में (ध्येय में) चिन्ता को रोकता है... वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्मा होता है। देखो, धर्मी जीव अपने आत्मा में से परद्रव्य के सम्बन्ध को हटा देता है और एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप से ही अपने आत्मा को ध्याता है। 'प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; मात्र ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है परन्तु अन्य स्वस्वामीलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मुझे किसी के प्रति ममत्व नहीं है; सर्वत्र निर्ममत्व ही है।' मोक्षाधिकारी जीव ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा का निर्णय करके सर्व उद्यम से अपने शुद्धात्मा में ही वर्तता है। (प्रवचनसार, गाथा 200 टीका।) जो जीव, पर

के साथ कर्ता-कर्मपना, स्वस्वामिपना आदि सम्बन्ध किंचित् भी माने, वह जीव, पर का ममत्व छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में प्रवर्तमान नहीं हो सकता, वह तो राग-द्वेष-मोह में ही वर्तता है; वह वास्तव में मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

देखो, आत्मा को किसके साथ सच्चा सम्बन्ध है, वह बतलाते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखरूप कौन है? स्वीकृत करूँ, परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शांत होकर कीजिये;
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये।

धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा हूँ, ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मेरा स्व है और उस ही का मैं स्वामी हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य किसी का मैं स्वामी नहीं हूँ तथा अन्य काई मेरा स्वामी नहीं है। यह कुटुम्ब-स्त्री-धन-शरीर कोई मेरा स्व नहीं है और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। नियमसार में कहते हैं कि यह स्त्री-पुत्रादिक कोई तेरे सुख-दुःख के भागीदार नहीं होते, वे तो अपनी आजीविका के लिये ठगों का गिरोह तुझे मिला है; यदि तू उन्हें अपना मानेगा तो ठगा जायेगा। (नियमसार, गाथा १०१ की टीका।) यह स्त्री-पुत्रादि कोई वास्तव में इस आत्मा के सम्बन्धी नहीं हैं। तीर्थङ्कर भगवान आदि आराधक जीव, माता के गर्भ में हों, उस समय भी अपने आत्मा को ऐसा ही जानते हैं; पर के साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं मानते। क्योंकि—

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्॥ २०७॥
मम परिग्रहो यदि ततोऽहम जीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातेवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम॥ २०८॥

'जो जिसका स्वभाव है, वह उसका स्व (धन,सम्पत्ति) है और वह उसका (स्व-भाव का) स्वामी है - इस प्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से ज्ञानी अपने आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह नियम से जानता है; इसलिए 'यह मेरा स्व नहीं है, मैं

इसका स्वामी नहीं हूँ' – ऐसा जानता हुआ, परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करता।'

(-समयसार गाथा २०७ टीका)

पुनश्च, ज्ञानी कहते हैं कि – 'यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रहण करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो; मैं भी अवश्यमेव उस अजीव का स्वामी होऊँ और अजीव का जो स्वामी, वह वास्तव में अजीब ही होता है। इस प्रकार विवश (लाचारी से) भी मुझे अजीवपना आ जायेगा। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझे अजीवपना न हो; मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा; परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करूँगा।

(-समयसार गाथा २०८ टीका।)'

आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यक्त प्राप्त कर ले तो वह भी अपने आत्मा को ऐसा ही जानती है। फिर बड़ी होने पर उसका विवाह हो, तब भी अपने अन्तर अभिप्राय में अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा के सिवा अन्य किसी को वह अपना स्वामी नहीं मानती। और यदि पति धर्मात्मा हो तो वह भी ऐसा नहीं मानता कि 'मैं इस स्त्री का स्वामी हूँ;' मैं तो अपने ज्ञान का ही स्वामी हूँ – ऐसा धर्मी जानता है। पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के प्रति जो राग है, उसे वे अपने दोषरूप मानते हैं और ज्ञायकस्वभाव में उस राग का स्वामित्व भी स्वीकार नहीं करते। हमारे ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट हुए हैं, वही हमारा 'स्व' है और उसी के हम स्वामी हैं; – इस प्रकार मात्र अपने स्वभाव में ही स्व-स्वामिपना जानते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर या रागादि के साथ स्व-स्वामिपना नहीं मानते।

आचार्यदेव ने तो कहा है कि – यदि तू अजीव को अपना मानकर उस अजीव का स्वामी बनेगा तो तू अजीव हो जायेगा! अर्थात्, तेरी श्रद्धा में जीवतत्त्व नहीं रहेगा। इसलिए हे भाई! यदि तू अपनी श्रद्धा में अपने जीवतत्त्व को जीवित रखना चाहता हो तो अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर, उसी का स्वामी बन और अन्य का स्वामित्व छोड़।

प्रश्न- मुनियों ने तो धन-मकान-स्त्री-वस्त्रादि का त्याग कर दिया है; इसलिए वे तो उनके स्वामी नहीं है किन्तु हम गृहस्थों के तो वह सब होता है; इसलिए हम तो उसके स्वामी हैं न ?

उत्तर- अरे भाई! क्या मुनि का और तेरा आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं ? यहाँ

आत्मा के स्वभाव की बात है; जगत का कोई भी आत्मा, परद्रव्य का स्वामी तो है ही नहीं। सिद्धभगवान या संसारी मूढ़ प्राणी; केवलीभगवान या अज्ञानी; मुनि या गृहस्थ-किसी का भी आत्मा, परद्रव्य का स्वामी नहीं है। अब, चूँकि मुनियों को तो स्त्री-वस्त्रादि का राग छूट गया है और तुझे वह राग नहीं छूटा; इसलिए पहले निर्णय तो कर कि राग होने पर भी आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमूर्ति है; राग का स्वामित्व मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। धर्मी को राग होने पर भी उनके अभिप्राय में 'राग सो मैं' - ऐसी राग की पकड़ नहीं होती; किन्तु 'ज्ञायकस्वभाव सो मैं' - ऐसी स्वभाव की पकड़ होती है। चैतन्यस्वभाव को चूककर देहादि पर का स्वामित्व मानना, वह तो मिथ्यात्व है ही और शुभाशुभपरिणामों का स्वामित्व भी मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न- शुभाशुभपरिणामों का स्वामी आत्मा नहीं तो कौन है ?

उत्तर- शुभाशुभपरिणाम आत्मा की पर्याय में होते हैं, उस अपेक्षा से तो आत्मा ही उनका स्वामी है। परन्तु यहाँ तो आत्मा के स्वभाव का—आत्मा की शक्ति का वर्णन चल रहा है। शुभाशुभपरिणाम, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी है। उस ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से शुभाशुभभावरूप परिणमन होता ही नहीं; इसलिए ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले धर्मात्मा शुभाशुभपरिणाम के स्वामी नहीं होते; ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वीतरागीपरिणाम हुए, उन्हीं के स्वामी होते हैं। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिए वही शुभाशुभपरिणाम का स्वामी होकर, उनमें एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है।

धर्मी जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनन्त गुणों का स्वामी हूँ और वे ही मेरे स्वभाव है। मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है कि मैं विकार का स्वामी होऊँ। विकार का स्वामी तो विकार होता है; मेरा शुद्धभाव, विकार का स्वामी कैसे होगा ? मेरे ज्ञायकस्वभाव के साथ एकत्व हुआ जो निर्मलभाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र), वही मेरा स्व है और मैं उसका स्वामी हूँ। अपने इस स्व-धन को मैं कभी नहीं छोड़ता। जो मेरा स्व हो, वह मुझसे पृथक् कैसे होगा ? स्वभाव में एकाग्र होने पर, रागादि तो मुझसे पृथक् हो जाते हैं; इसलिए वह मेरा स्व नहीं है।

जो जिसे अपना मानता है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। जो राग को अपना स्व मानता है, वह राग को छोड़ना नहीं चाहता; इसलिए वह राग को अपने स्वभाव से पृथक् नहीं जानता; इसलिए वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। जो ऐसा जाने कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, राग मेरे स्वभाव से भिन्न भाव है; ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट करे, तो फिर उसे जो अल्पराग रहता है, वह अस्थिरता जितना चारित्रदोष कहा जाता है। उसे श्रद्धा में ज्ञायकभाव का ही स्वामित्व वर्तता है, राग का स्वामित्व नहीं वर्तता; इसलिए श्रद्धा का दोष उसे छूट गया है। परन्तु जो जीव ज्ञायकस्वभाव को ही अपना जानकर, उसकी सन्मुखतापूर्वक सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता और पर के तथा राग के ही स्वामित्वरूप से परिणमित होता है, उसे तो श्रद्धा ही मिथ्या है और श्रद्धा का दोष अनन्त संसार का कारण है।

प्रश्न–यह आत्मा, पर का स्वामी नहीं है किन्तु ईश्वर ने आत्मा को बनाया है; इसलिए वे तो इस आत्मा के स्वामी हैं न?

उत्तर–यह तो महान मूढ़ता हुई। इस आत्मा को किसी ने बनाया नहीं है; आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; इसका कोई निर्माता नहीं है। ईश्वर का स्वरूप भी ऐसा नहीं है कि वह किसी को बनाए। जिस प्रकार यह आत्मा, पर का स्वामी या कर्ता होने से मिथ्यादृष्टि है; उसी प्रकार ईश्वर भी यदि पर का कर्ता हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही हो जाये, उसका ईश्वरपना न रहे। मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ; पर का कर्ता या स्वामी मैं नहीं हूँ – ऐसा आत्मभान करके फिर उसमें एकाग्रता द्वारा जिस जीव ने पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट किया, उसे ईश्वर कहा जाता है; और अनन्त जीव इस प्रकार अपना शुद्धस्वरूप प्रगट कर-करके ईश्वर हो गये हैं-अर्थात्, उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। ऐसे अनन्त जीव इस समय सिद्धालय में देहरहित ईश्वररूप से विराजमान हैं, वे कभी पुनः देह धारण नहीं करते। यह आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर, उसमें लीनता द्वारा ऐसे ईश्वरपद को प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो ईश्वर को जगत का कर्ता मानते हैं, वे ईश्वर के शुद्धस्वरूप का अनादर करते हैं; वे सचमुच ईश्वर को मानते ही नहीं; इसलिए वे तो नास्तिक जैसे-मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न–यह सच है कि कोई ईश्वर इस जीव का कर्ता या स्वामी नहीं है किन्तु जगत

के अकर्ता और पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप—ऐसे सिद्ध भगवान तथा अरिहन्त भगवान तो इस आत्मा के स्वामी हैं न ?

उत्तर–भगवान की और गुरु की भक्ति में भले ही ऐसा कहा जाता है कि हे नाथ! हे जिनेन्द्रदेव! आप ही हमारे स्वामी हैं किन्तु वास्तव में तो भगवान का आत्मा उनके केवलज्ञान और आनन्द का ही स्वामी है; वह आत्मा कहीं इस आत्मा का स्वामी नहीं है। इस आत्मा के भाव का स्वामी यह आत्मा स्वयं ही है; अन्य कोई इस आत्मा का स्वामी नहीं हे। यदि ऐसा न जाने और सचमुच भगवान को ही अपना स्वामी मान ले, तो उसने अपने आत्मा को पराधीन माना है, अपनी भाँति समस्त आत्माओं को भी पराधीनस्वभावी माना है; इसलिए भगवान के आत्मा को भी उसने पराधीन माना है... उसने न तो भगवान को पहिचाना है और न उनकी भक्ति करना ही जानता है।

भगवान की सच्ची भक्ति करनेवाला जीव तो जो कुछ भगवान ने किया, वही स्वयं करना चाहता है। हे भगवान सर्वज्ञदेव! आपने अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर, पर का ममत्व छोड़ दिया और परमात्मा हुए... मेरा आत्मा भी आप जैसा ज्ञायकस्वभावी ही है – इस प्रकार जो जीव, भगवान जैसे अपने आत्मा को पहिचाने, वही भगवान का सच्चा भक्त है; उसी ने भगवान को पहिचानकर उनकी भक्ति की है। ऐसी परमार्थभक्तिसहित भगवान के बहुमान का उल्लास आने पर कहता है कि 'हे नाथ! आप ही मेरे स्वामी हैं; आपने ही मुझे आत्मा दिया है...' धर्मी ऐसा बोलते हैं, वह कहीं मिथ्यात्व नहीं है किन्तु यह यथार्थ विनय का व्यवहार है। धर्मात्मा के अन्तर अभिप्राय को न समझकर, अकेली भाषा को पकड़े तो वह बाह्यदृष्टि जीव, धर्मात्मा को जानता ही नहीं; वह जड़भाषा को तथा शरीर का जानता है किन्तु ज्ञानी के चैतन्यभाव को नहीं जानता।

देखो, श्री रामचन्द्रजी ज्ञानी–धर्मात्मा थे; उसी भव में मोक्षगामी थे। रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मण जी वासुदेव। दोनों भाईयों में परस्पर इतना अपार प्रेम था कि 'रामचन्द्रजी का स्वर्गवास हो गया,' – इतने से शब्द कानों में पड़ते ही 'हाय रा...म!' कहते हुए लक्ष्मण के प्राण उड़ गये! फिर रामचन्द्र जी लक्ष्मणजी के मृत शरीर को लेकर छह महीने तक फिरते रहे... अनेक प्रकार की चेष्टाएँ और प्रलाप करते थे कि – भाई! तुम

बोलते क्यों नहीं ? तुम क्यों मुझसे रूठ गये ? भोजन के समय उनके मुँह में कौर रखकर खिलाने की चेष्ट करते थे... रात को अपने पास सुलाते थे और उनके कान में कहते थे कि भैया, अब तो बोले ! इस समय तो हम और तुम अकेले ही हैं... तुम्हारे मन में जो कुछ हो वह कह दो... ! सबेरा होने पर उनके मृत शरीर को स्नान कराते हैं और कहते हैं कि भाई ! कब तक सोते रहोगे ? अब तो उठो; सबेरा हो गया है... जिनेन्द्र भगवान की पूजा का समय जा रहा है... जल्दी उठो ! - इस प्रकार अनेक चेष्टाएँ करते हैं और लक्ष्मणजी के शरीर को कन्धे पर रखकर घूमते हैं... तथापि हराम है जो रामचन्द्रजी उनके साथ किंचित् भी सम्बन्ध मानते हों तो ! स्वभाव के साथ स्व-स्वामि सम्बन्ध के अतिरिक्त, अन्य किसी के साथ अंशमात्र भी सम्बन्ध नहीं मानते थे किन्तु बाहर से देखनेवाले अज्ञानी जीव, धर्मात्मा की ऐसी अन्तर्दृष्टि का माप कहाँ से निकाल सकते हैं ? छह-छह महीने तक उपरोक्तानुसार चेष्टाएँ करते हैं, तथापि उस समय भी लक्ष्मणजी के साथ या उनकी ओर के राग के साथ रामचन्द्रजी स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं मानते; उस-समय भी अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वर्तते हैं, उन्हीं के स्वामिरूप से परिणमित होते हैं। धर्मात्मा के हृदय की थाह लेना अज्ञानी के लिये कठिन है।

प्रश्न-यदि रामचन्द्र जी लक्ष्मण के साथ किंचित् सम्बन्ध न मानते हों, तो छह महीने तक उनके मृतशरीर को लेकर क्यों फिरते रहे ?

उत्तर-अरे भैया ! अज्ञानी निरन्तर अन्तरंग में विवेकरहित है। तू रामचन्द्रजी के आत्मा को नहीं देखता; इसीलिए तुझे ऐसा लगता है कि रामचन्द्र जी छह महीने तक मृत शरीर को लेकर घूमते रहे किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने अपने आत्मा में राग को या लक्ष्मणजी को एक क्षणमात्र भी नहीं उठाया है; चिदानन्दस्वभाव का स्वामित्व छोड़कर एक क्षण भी राग के या पर के स्वामी नहीं हुए हैं। अपने इस शरीर का स्वामी भी वे स्वयं को नहीं मानते। कंधे पर मुर्दा रखा है, उस समय भी आत्मा में तो सम्यक्दर्शनादि निर्मलभावों को ही उठाया है-उन्हीं का स्वामित्व वर्तता है। वर्तमान कुछ दोष है, वह श्रद्धा-ज्ञान का दोष नहीं है; चारित्र की कमजोरी का दोष है, उसे हटाना चाहता है अतः वह दोष गौण है।

देखो, वेदान्त ऐसा कहता है कि 'करे तथापि अकर्ता रहता है (-अनासक्तिभाव से

करता है)' ऐसी यह बात नहीं है। उसमें और इस बात में तो आकाश-पाताल का अन्तर है। करना फिर भी अकर्ता रहना, यह बात ही परस्पर विरुद्ध है। जो करता है, वह कर्ता ही है; रागादि का कर्ता भी हो और ज्ञाता भी रहे - ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो ऐसी अन्तर्दृष्टि की अपूर्व बात है कि मुझे अपने ज्ञायकस्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है; पर के साथ मुझे सम्बन्ध है ही नहीं - ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणमित होनेवाला जीव, सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावों के साथ ही एकत्वरूप से परिणमित होता है; रागादि के साथ एकत्वरूप से कर्ता होकर परिणमित नहीं होता है; इसलिए वह अकर्ता है। जो आत्मा के ऐसे स्वभाव को पहिचाने, उस धर्मात्मा को देव-गुरु-शास्त्र का तथा अपने गुण-दोष आदि का यथार्थ विवेक हो जाये; उसे कहीं स्वच्छन्दता या उलझन न हो। धर्मात्मा की दशा ही बदल जाती है! बाहर से देखनेवाले जीव उसे नहीं जान सकते।

देखो, जब रावण, सीता का हरण करके ले जाता है और रामचन्द्रजी उनकी खोज में निकलते हैं, उस समय वे वृक्षों और पर्वतों से भी पूछते हैं कि हे वृक्ष! तुमने मेरी सीता को देखा है? हे पर्वत! तुमने कहीं जानकी देखी है? देखा हो तो मुझसे कहो, और उस समय अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि से उन्हें ऐसा लगता है कि पर्वत ने उत्तर दिया है। ऐसी दशा के समय भी रामचन्द्रजी ज्ञानी-विवेकी-धर्मात्मा हैं; अन्तर्दृष्टि में सीता का या सीता के प्रति राग का स्वामित्व नहीं मानते, किन्तु ज्ञान के ही स्वामीरूप से परिणमित होते हैं और ऐसे उपयोग निरन्तर नहीं रहते, किन्तु ऐसा परिणमन तो निरन्तर है ही।

मेरे आत्मा की सम्बन्धशक्ति ऐसी है कि निर्मलभाव ही मेरा स्व है और उसका मैं स्वामी हूँ किन्तु सीता मेरा स्व और मैं उसका स्वामी - ऐसा सम्बन्ध मेरे स्वभाव में नहीं है - ऐसा वे जानते हैं। अज्ञानी को स्त्री आदि का वियोग होने पर कदाचित् वह खेद न करे और शुभराग से सहन कर ले, किन्तु उसके अभिप्राय में ऐसा है कि 'यह राग मेरा स्व और मैं उसका स्वामी;' अथवा 'स्त्री मेरी थी और वह चली गयी, फिर भी मैंने सहन कर लिया;' - इस प्रकार उसका अभिप्राय ही मिथ्या है; उसके अभिप्राय में अनन्त राग और स्त्री का अनन्त स्वामित्व पड़ा है। ज्ञानी को शोकपरिणाम हों, उस समय भी 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसी दृष्टि नहीं छूटती; इसलिए सारे जगत का और विकार का स्वामित्व उसे छूट गया है। स्वभाव के आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह 'स्व' और आत्मा स्वयं उसका

स्वामी; इस प्रकार अन्तिम सम्बन्धशक्ति में द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाकर आचार्यदेव ने ४७ शक्तियाँ पूर्ण की हैं। स्वयं अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध रखकर, स्वभाव के साथ एकतारूप से परिणमित हो - ऐसा आत्मा का स्वभाव है और उसी में आत्मा की शोभा है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव में एकता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित हो उसमें आत्मा की शोभा है परन्तु पर के सम्बन्ध से आत्मा को बतलाना, उसमें आत्मा की शोभा नहीं है। इसलिए हे जीव! पर का सम्बन्ध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में ही एकत्व कर। ज्ञायकस्वभाव में एकता करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह तेरा स्व-स्वभाव है और तू ही उसका स्वामी है। इसके अलावा अन्य किसी के साथ तुझे स्व-स्वामिसम्बन्ध नहीं है।

-इस प्रकार यह सम्बन्धशक्ति अपने स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध (एकता) कराके, पर के साथ का सम्बन्ध छुड़वाती है और स्वभाव के साथ एकता करके पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ने पर, विकार के साथ का सम्बन्ध भी छूट जाता है। इस प्रकार अकेले शुद्धभाव के साथ ही स्व-स्वामिपना है; विकार के साथ भी स्व-स्वामिपना नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ, वहाँ आत्मा स्वयं ही अपने शुद्धभाव का ही स्वामी है। अपने स्वभाव के साथ एकतारूप सम्बन्ध करके जीव ने उसका स्वामित्व कभी नहीं किया है और पर का स्वामित्व माना है। यदि इस 'स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति' को जान ले तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ दे और स्वभाव में एकतारूप स्व-स्वामित्वसम्बन्ध बनाये; इसलिए साधकदशा हो।

आत्मा को मात्र अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व का सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो और पर के साथ भी सम्बन्ध हो, तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, स्वभाव में एकता करके शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता-पर से पृथक् होकर अपने स्वरूप में लीन नहीं हो सकता। परन्तु पर से विभक्त और स्वरूप में एकत्व होकर आत्मा अपने में ही अपनी शान्ति का वेदन कर सकता है क्योंकि उसे अपने साथ ही स्व-स्वामिपने का सम्बन्ध है। अपनी शान्ति के वेदन के लिये आत्मा को पर का सम्बन्ध नहीं करना पड़ता। नित्य स्वशक्ति के बल से, पर के सम्बन्ध बिना, मात्र स्व में ही एकता द्वारा आत्मा अपनी शान्ति का अनुभव करता है।

स्व में एकत्व और पर से विभक्त—ऐसा आत्मा का स्वभाव है; छह कारक और एक सम्बन्ध – इन सातों विभक्तियों द्वारा आचार्यदेव ने आत्मा को पर से विभक्त बतलाया है। सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामिसम्बन्ध बतलाकर, पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है; इस प्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। जिसने सबसे विभक्त आत्मा को जाना, उसने समस्त विभक्तियों को जान लिया।

पर के सम्बन्ध से जानने पर, आत्मा का यथार्थस्वरूप नहीं जाना जाता। करोड़पति, लक्ष्मीपति, पृथ्वीपति, भूपति, स्त्री का पति इत्यादि कहे जाते हैं, किन्तु वास्तव में आत्मा उस लक्ष्मी, पृथ्वी या स्त्री आदि का स्वामी नहीं है; इस शरीर का स्वामी भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप स्व-भावों का ही स्वामी है और वही आत्मा का 'स्व' है। स्व तो उसे कहा जाता है जो सदैव साथ रहे; कभी अपने से पृथक् न हो। शरीर पृथक् हो जाता है, राग पृथक् हो जाता है, किन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द आत्मा से पृथक नहीं होते; इसलिए उनके साथ ही आत्मा को स्व-स्वामिसम्बन्ध है।

जिस प्रकार यदि आत्मा में जीवनशक्ति न हो तो दस जड़प्राणों के संयोग के बिना वह जी नहीं सकेगा, परन्तु आत्मा में जीवनशक्ति नित्य होने से सिद्धभगवन्त उन दस प्राणों के बिना ही, मात्र चैतन्यप्राण से जीते हैं, और ऐसी ही जीवनशक्ति समस्त आत्माओं में हैं। उसी प्रकार आत्मा की सम्बन्धशक्ति से यदि मात्र अपने ही साथ स्व-स्वामित्वसम्बन्ध न हो और पर के साथ भी स्व-स्वामित्वसम्बन्ध हो तो आत्मा पर के सम्बन्ध बिना नहीं रह सकता, किन्तु देह-रागादि पर के सम्बन्ध बिना, मात्र अपने अपने चैतन्यस्वभाव में ही स्व-स्वामित्वसम्बन्ध से अनन्त सिद्धभगवन्त शोभायमान हैं; समस्त आत्माओं का ऐसा ही स्वभाव है। पर के सम्बन्ध से जीवन बतलाने में आत्मा की शोभा नहीं है। पञ्चेन्द्रिय जीव, रागी जीव, कर्मबन्धयुक्त जीव, – इस प्रकार पर के सम्बन्ध से भगवान आत्मा को बतलाना, वह उसकी महत्ता को लांछन लगाना है, अर्थात् इस प्रकार पर के सम्बन्ध से भगवान आत्मा के यथार्थस्वरूप की पहिचान नहीं होती। आत्मा तो अपने ज्ञायकस्वभाव का ही स्वामी है और वही उसका स्व है; उस ज्ञायकस्वभाव से आत्मा को जानने में ही उसकी शोभा है।

इन्द्रियादि पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, ऐसे आत्मा का अनुभव करे, तब उसे सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति कही जाती है। सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति का सम्बन्ध, सर्वज्ञ के साथ नहीं है किन्तु अपने आत्मस्वभाव के साथ ही है। जब तक सर्वज्ञ पर ही लक्ष्य रहे और अपने आत्मस्वभाव में लक्ष्य न करे, तब तक सर्वज्ञभगवान की निश्चयस्तुति नहीं होती। अपना आत्मा ही सर्वज्ञशक्ति से परिपूर्ण है – ऐसा प्रतीति में लेकर स्वभाव के साथ जितनी एकता करे, उतनी सर्वज्ञभगवान की निश्चयस्तुति है और सर्वज्ञ की ओर के बहुमान का भाव रहे, वह व्यवहारस्तुति है।

जिस प्रकार पुत्र का माता के साथ सम्बन्ध है, स्त्री का पति के साथ सम्बन्ध है; उसी प्रकार धर्म का सम्बन्ध किसी के साथ है ? धर्म का सम्बन्ध किसी अन्य के साथ नहीं, किन्तु धर्मी ऐसे अपने आत्मा के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है।

–क्या भगवान के आत्मा के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?–नहीं।

–क्या महाविदेह आदि क्षेत्रों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?–नहीं।

–क्या चौथा काल आदि कालों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?–नहीं।

–क्या रागादि भावों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?–नहीं।

किसी भी परद्रव्य–परक्षेत्र–परकाल और परभावों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है; वे कोई इस आत्मा का स्व नहीं हैं और न यह आत्मा उनका स्वामी है। इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध अपने स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के साथ ही है। अनन्त–शक्ति के पिण्डरूप शुद्ध चैतन्यद्रव्य के साथ ही धर्म की एकता है; असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र है; स्वभाव में अभेद हुई स्व–परिणति ही धर्म का काल है, और ज्ञान–दर्शन–आनन्द आदि अनन्त गुण ही आत्मा के धर्म का भाव हैं। ऐसे स्वद्रव्य–क्षेत्र –काल–भाव के साथ ही आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है और उसी के साथ आत्मा का स्व –स्वामिपना है।

प्रश्न–आत्मा का सम्बन्ध अन्य पदार्थों के साथ भले ही न हो, किन्तु कर्म के साथ तो निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध है न ?

उत्तर–नहीं; अपने स्वभाव के साथ ही स्व–स्वामित्वसम्बन्ध जानकर, उसी में

एकतारूप से जो परिणमित हुआ, उसे कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध छूट गया है। जो जीव, असंयोगीस्वभाव की ओर दृष्टि नहीं करता और कर्म के साथ निमित्तनैमित्तिक -सम्बन्ध की दृष्टि नहीं छोड़ता, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा को एकान्त से कर्म के साथ सम्बन्धवाला ही जाने तो वह जीव, आत्मा के शुद्धस्वरूप को नहीं जानता। जहाँ मात्र अपने स्वभाव के साथ ही एकता करके, मात्र अपने स्व-भाव के साथ ही स्व-स्वामि -सम्बन्धरूप से परिणमित होता है, वहाँ कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध भी कहाँ रहा? - इस प्रकार कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। साधक को ज्यों-ज्यों अपने स्वभाव में एकता होती जाये, त्यों-त्यों कर्म का सम्बन्ध टूटता जाता है। इस प्रकार सम्बन्धशक्ति स्वभाव के साथ सम्बन्ध कराके, कर्म के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है।

[-यहाँ ४७ वीं सम्बन्धशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

हे भव्य! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बन्ध - इन सात विभक्तियों के वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त बतलाया; इसलिए अब तू अपने आत्मा को सबसे विभक्त तथा अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियों के साथ संयुक्त जानकर प्रसन्न हो... स्वभाव का ही स्वामी बनकर, पर के साथ सम्बन्ध के मोह को छोड़!

— स्वभाव का कर्ता होकर, पर के साथ की कर्ताबुद्धि छोड़।

— स्वभाव के ही कर्मरूप होकर, दूसरे कर्म की बुद्धि छोड़।

— स्वभाव को ही साधन बनाकर, अन्य साधन की आशा छोड़।

— स्वभाव को ही सम्प्रदान बनाकर, अपने को निर्मलभाव प्रदान कर।

— स्वभाव को ही अपादान बनाकर, उसमें से निर्मलता ले।

— स्वभाव को ही अधिकरण बनाकर, पर का आश्रय छोड़।

स्वभाव का ही स्वामी बनकर उसके साथ एकता का सम्बन्ध कर और पर के साथ का सम्बन्ध छोड़। 'यह मेरा और मैं इसका' - ऐसी पर के साथ की एकताबुद्धि का त्याग कर।

—इस प्रकार समस्त पर से विभक्त और निज-स्वभाव से संयुक्त, ऐसे अपने आतमराम को जानकर उसके अनुभव से तू आनन्दित हो... प्रसन्न हो।

★ ★ ★

(गणधर तुल्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा श्री समयसार के परिशिष्ट में वर्णित 'अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों' पर, परमपूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों द्वारा हुआ अद्‌भुत विवेचन यहाँ समाप्त हुआ... वह भव्य जीवों को भगवान आत्मा की प्रसिद्धि कराएँ - यह भावना है।)

परिशिष्ट 1

आत्मा की प्रभुता बतलाकर, सन्त उत्साहित करते हैं

[अरे जीव! तू डर मत... अकुला मत...
उल्लसित होकर अपनी शक्ति को उछाल!]

सिद्ध और अरहन्तभगवान में जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द और जैसा आत्मवीर्य है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द तथा वीर्य की शक्ति इस आत्मा में भी विद्यमान है - यह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं।

भाई! एक बार हर्षित तो हो कि अहो! मेरा आत्मा ऐसा!! ज्ञान-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मा में विद्यमान है; मेरे आत्मा की शक्ति नष्ट नहीं हुई। 'अरे रे! मैं दब गया.. विकार हो गया.. अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा..!' - इस प्रकार डर मत.. अकुला मत.. हताश (हतोत्साह) न हो.. एक बार स्वभाव का हर्ष ला.. उत्साह.. ला.. उसकी महिमा लाकर अपनी शक्ति को उछाल!

अहो! आनन्द का समुद्र अपने अन्तर में उछल रहा है, उसे तो जीव देखता नहीं है और तिनके के समान तुच्छ विकार को ही देखता है! अरे जीवो! इधर अन्तर में दृष्टि डालकर समुद्र को देखो... चैतन्यसमुद्र में डुबकी मारो!!

आनन्द का सागर, अन्तर में है, उसे भूलकर अज्ञानी तो बाह्य में क्षणिक पुण्य का वैभव देखता है और उसी में सुख मानकर मूर्च्छित हो जाता है किन्तु परम महिमावन्त अपने आनन्दस्वभाव को नहीं देखता। ज्ञानी तो जानता है कि मैं स्वयं ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्य में मेरा आनन्द नहीं है अथवा अपने आनन्द के लिए किसी बाह्यपदार्थ की मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा भान होने से ज्ञानी, बाह्य में-पुण्य-पाप के वैभव में मूर्च्छित नहीं होते या उलझते नहीं हैं। पुण्य का वैभव आ मिले तो वहाँ ज्ञानी कहते हैं कि अरे पुण्य! रहने दे... अब हमें ऊपरी ठाट-बाट नहीं देखना है... हम तो सादि -अनन्त अपने आनन्द को ही देखना चाहते हैं। अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द अपने आत्मा में ही है; इस पुण्य के ठाठ में कहीं हमारा आनन्द नहीं है। पुण्य का ठाठ, हमें आनन्द देने में समर्थ नहीं हैं

और प्रतिकूलता के समूह हमारे उस आनन्द को लूट नहीं सकते। – ऐसी ज्ञानी की अन्तरकथा होती है। उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपने आनन्द का वेदन हुआ है।

आत्मा का ऐसा अचिंत्य स्वभाव है कि वह स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है; 'स्वयं प्रत्यक्ष' हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयं प्रत्यक्षस्वभाव को पूर्णता में परोक्षपना अथवा कम रहे – ऐसा स्वभाव नहीं है, तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा में विकल्प–राग–विकार या निमित्त को उपाधि प्रविष्ट हो जाये – ऐसा भी नहीं है, अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का संवेदन हो ऐसा नहीं है। बीच से पर की और राग की ओट निकाल कर, अपने चिन्मात्र एकाकार स्वभाव का ही सीधा स्पर्श करने से आत्मा स्वसंवेदन होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का वेदन नहीं होता।

अहो! ऐसा स्वसंवेदनस्वभावी चैतन्य भगवान आत्मा, स्वयं विराजमान है किन्तु अपनी ओर न देखकर, विकार की ओर ही देखता है; इसलिए विकार का ही वेदन होता है। यदि अन्तर में अपने चिदानन्दस्वरूप को देखे तो आनन्द का वेदन हो और विकार का वेदन दूर हो जाए।

सन्त आत्मा की ऐसी प्रगट महिमा बतलाते हैं; इस अचिन्त्य महिमा को लक्ष्य में लेकर एक बार भी यदि अन्तर से उछलकर, उसका बहुमान करे तो संसार से बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभाव का बहुमान करने से अल्प काल में ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

वस्तु में परिपूर्ण ज्ञान–आनन्द की शक्ति भरी है, उसे पहचान कर – उस ओर उन्मुख होकर, वह पर्याय में प्रगट करना है। अरे जीव! एक बार अन्य सब भूल जा और अपनी निजशक्ति को सम्भाल! पर्याय में संसार है, उसे भूल जा और मुख्य स्वभावरूप निजशक्ति की ओर देख, तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्यशक्ति में संसार था ही नहीं, है ही नहीं, और होगा भी नहीं। – लो यह है मोक्ष..! ऐसे स्वभाव की दृष्टि से आत्मा मुक्त ही है। इसलिए एक बार लक्ष्य में से अन्य सब छोड़ दे और ऐसे चिदानन्दस्वभाव में लक्ष्य को एकाग्र कर तो तुझे मोक्ष की शङ्का नहीं रहेगी; अल्प काल में अवश्य मुक्ति प्राप्त हो जाएगी।

[४७ शक्तियों पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध
अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा

'अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्मा की शक्तियों' सम्बन्धी यह अन्तिम लेख है। समयसार में 'ज्ञानमात्र' कहकर आत्मा की पहिचान करायी है, तथापि उसे अनेकान्तपना किस प्रकार है और ज्ञानलक्षण द्वारा अनेकान्तस्वरूप आत्मा का अनुभव किस प्रकार होता है - यह समझाकर फिर ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा के अनन्त धर्मों में से ४७ शक्तियों के रूप में कुछ धर्मों का वर्णन किया और अन्त में अनेकान्तस्वरूप आत्मा के अनुभव का फल बतलाकर आचार्यदेव इस विषय को पूर्ण करते हैं।

'अनेकान्त' सर्वज्ञ भगवान का ऐसा अलंघ्य शासन है जो किसी से तोड़ा नहीं जा सकता; वह भगवान आत्मा को अनन्त शक्तिस्वरूप से प्रसिद्ध करता है। अरे जीव! तेरा आत्मा अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, उसकी ओर दृष्टि कर... तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है जो तू बाहर ढूँढ़ता है ? सन्त तेरी आत्मशक्ति की प्रगट महिमा बतलाते हैं, उसे लक्ष्य में लेकर एकबार भी अन्तर से उसका बहुमान करे तो तेरा बेड़ा पार हो जाये।

अनन्त धर्मस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाली जिननीति अनेकान्तस्वरूप है; उस अनेकान्तस्वरूप जिननीति का कभी उल्लंघन न करनेवाले सन्त, परम अमृतमय मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। - यह अनेकान्त का फल है।

'जीवत्व' से प्रारम्भ करके 'सम्बन्ध' शक्ति तक आचार्यदेव ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया। आत्मा में ऐसी अनन्त शक्तियाँ हैं और अनन्त शक्तियाँ होने पर भी वह ज्ञानमात्र ही है क्योंकि 'ज्ञानमात्र कहने पर भी उससे कहीं अकेला ज्ञानगुण ही लक्षित नहीं होता, किन्तु अनन्त शक्तिस्वरूप सम्पूर्ण आत्मा लक्षित होता है; कोई शक्ति पृथक् नहीं रहती। इसलिए ज्ञानलक्षण भी ऐसे अनन्त शक्तिसम्पन्न अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा को ही प्रसिद्धि करता है।'

अनन्त शक्तियों में से ४७ शक्तियों का वर्णन करके आचार्यदेव २६४ वें कलश में कहते हैं कि आत्मा ऐसी अनन्त शक्तियों से युक्त है, तथापि वह ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता। अनेक निजशक्तियों से सुनिर्भर होने पर भी आत्मा, ज्ञानमय है; आत्मा का भाव ज्ञानमयपना नहीं छोड़ता। 'ज्ञानमात्र' कहने पर आत्मा के समस्त धर्मोंसहित सम्पूर्ण

चैतन्यवस्तु प्रतीति में आ जाती है। वह चैतन्यवस्तु द्रव्य-पर्यायमय और क्रमरूप प्रवर्तमान पर्यायों तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान गुणों के परिणमन से वह अनेक धर्मस्वरूप है। ऐसी चैतन्यवस्तु को 'अनेकान्त' प्रसिद्ध करता है। अनेकान्त जिनेन्द्रभगवान का ऐसा अलंघ्य शासन है, जो किसी से तोड़ा नहीं जा सकता। समस्त एकान्त मान्यताओं को क्षणमात्र में तोड़ दे और अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करे - ऐसा अरिहन्त भगवान का अनेकान्तशासन जयवन्त प्रवर्तमान रहता है।

अनन्त शक्तिसम्पन्न और असंख्य प्रदेशी ऐसे आत्मा को सर्व प्रकार से प्रत्यक्ष जानकर सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी एवं अनन्त शक्ति का पिण्ड है, उस स्वभाव की ओर देख... स्वयं से ही तेरी परिपूर्णता है। तेरे स्वभाव में किंचित् भी न्यूनता नहीं है कि तुझे दूसरों से लेना पड़े! तुझमें क्या कमी है जो तू अन्यत्र ढूँढ़ने जाता है? आत्मा की स्वभावशक्ति में जो पूर्ण ज्ञान-आनन्द-प्रभुता का सामर्थ्य था, वही हमने आत्मा में से प्रगट किया है; बाहर से कुछ नहीं आया... तेरे आत्मा में भी वैसा सामर्थ्य है, उसे तू जान और उसका विश्वास करके उस ओर उन्मुख हो तो तेरी आत्मशक्ति में से परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द-प्रभुता प्रगट हो जायेंगे।

तेरा आत्मा निज शक्ति से भली-भाँति परिपूर्ण है; विकार या कर्मों से वह भरा नहीं है, उनसे तो पृथक् है। निजशक्तियों से वह इस प्रकार परिपूर्ण है कि उनमें से एक भी शक्ति कम नहीं होती। आत्मा, विकार से तथा पर से पृथक् रहता है किन्तु अपने ज्ञानमात्रभाव को वह कभी नहीं छोड़ता। जिस प्रकार शर्करा, मैल को छोड़ती है किन्तु मिठास को नहीं छोड़ती; जिस प्रकार अग्नि, धुएँ को छोड़ती है किन्तु उष्णता को नहीं छोड़ती; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा, रागादि विकारभावों को छोड़ता है किन्तु अपने ज्ञानभाव को कभी नहीं छोड़ता; इसलिए ज्ञानभाव द्वारा अपने आत्मा को लक्ष्य में लेकर आत्मा की प्रसिद्धि कर... आत्मा का अनुभव कर।

जिन्होंने ज्ञानलक्षण को अन्तर्मुख करके लक्ष्यरूप आत्मा का अनुभव किया, वे साधक धर्मात्मा सदैव ज्ञानभावरूप से ही वर्तते हैं। ज्ञानभाव को कभी छोड़ते नहीं हैं और विकारमय कभी होते नहीं हैं... और ज्ञानमयभाव में 'पर का करूँ - इस बुद्धि को तो अवकाश ही कहाँ है?' 'सीता को इस प्रकार ढूँढ़े, तो मिलेगी...' ऐसा विकल्प ज्ञानी

धर्मात्मा (रामचन्द्रजी) को आया, तथापि उस समय भी ज्ञानी विकल्पमय होकर परिणमित नहीं हुए हैं; उस समय भी ज्ञानमयभावरूप से ही परिणमन हो रहा है; विकल्प को ज्ञानभाव से बाहर ही रखा है।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा ही क्रमपर्यायरूप और अक्रमगुणरूप स्वभाववाला है। अनन्त गुण एक साथ अक्रमरूप से सहवर्ती हैं... और पर्यायें नियतक्रमरूप हैं। अपने अक्रमवर्ती गुणों में तथा क्रमवर्तीपर्यायों में, मैं ज्ञानमात्रभावरूप ही वर्तता हूँ – ऐसे निर्णय में ज्ञातास्वभाव का अनन्त पुरुषार्थ है... विकार की ओर के पुरुषार्थ का वेग टूट गया है... अल्पराग रहा, उसकी निरर्थकता को जाना है... ज्ञानमात्रभावरूप से ही परिणमित होता हुआ साधक, केवलज्ञान की ओर चला जाता है।

देखो, यह आत्मशक्ति के साधक सन्तों की दशा?

ज्ञानी तो अपनी अनन्त शक्ति के सम्राट हैं। जगत की उन्हें चिन्ता नहीं, क्योंकि जगत से उन्हें कुछ लेना नहीं है... भगवान के दास... जगत से उदास... ऐसे सम्यक्त्वी जीव सदैव सुखी हैं... आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं... चैतन्य के आनन्दसमुद्र में डुबकी मारकर वे अल्पकाल में केवलज्ञानरत्न प्राप्त करते हैं।

अहो... चैतन्यसागर! शान्त-आनन्दरस से परिपूर्ण समुद्र...! उसे तो अज्ञानी देखते नहीं हैं और मात्र विकार को ही देखते हैं। जिस प्रकार समुद्र से अपरिचित व्यक्ति अगाध जल से भरे हुए समुद्र को तो नहीं देखता और मात्र लहरों को ही देखता है। उसे ऐसा लगता है कि लहरें उछल रही हैं किन्तु वास्तव में लहरें नहीं उछलतीं, भीतर अपार समुद्र अगाध जल से भरपूर है, उस समुद्र की शक्ति उछलती है। उसी प्रकार जो अगाध-गम्भीर स्वभावों से परिपूर्ण इस चैतन्यसमुद्र को नहीं जानता, उसे मात्र विकारीपर्याय ही भासित होती है; अनन्त शक्ति से भरपूर चैतन्यसमुद्र अज्ञानी को दिखायी नहीं देता; इसलिए उसकी पर्याय में वे शक्तियाँ उल्लसित नहीं होती, विकार ही उल्लसित होता है। ज्ञानी तो अनन्त शक्ति से परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाकर, उसे विश्वास में लेकर उसके आधार से अपनी पर्याय में निजशक्तियों को उछालते हैं, अर्थात् निर्मलरूप से परिणमित करते हैं। इस प्रकार ज्ञानी अनन्त शक्ति से उल्लसित अपने अनेकान्तमय

चैतन्यतत्त्व का अनुभव करते हैं और ऐसे अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करना ही इन शक्तियों के वर्णन का तात्पर्य है।

जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द तथा जैसा आत्मवीर्य, अरिहंत और सिद्ध भगवान में है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द एवं वीर्य की शक्ति इस आत्मा में भी सदा विद्यमान है।

भाई! एकबार हर्ष तो ला... कि अहो! ऐसा है मेरा आत्मा! मेरे आत्मा में ज्ञान -आनन्द की परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है; मेरे आत्मा की शक्ति का घात नहीं हो गया है। 'अरे रे! मैं दब गया, विकारी हो गया... अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा!' - इस प्रकार भयभीत न हो... हताश न हो... एकबार अपने स्वभाव का हर्ष ला... उल्लास प्रगट कर... उसकी महिमा लाकर अपनी शक्ति को उछाल!

अहो! अपने अन्तर में आनन्द का समद्र उछल रहा है, उसे तो जीव देखते नहीं हैं और तृणतुल्य विकार को ही देखते हैं। अरे जीवो! इधर अन्तर में दृष्टि करके आनन्द के समुद्र को देखो... चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाओ!!

अपने अन्तर में आनन्द का समुद्र उछल रहा है, उसे भूलकर अज्ञानी तो बाह्य में क्षणिक पुण्य का ठाठ-बाट देखते है; उसी में सुख मानकर मूर्च्छित हो जाते हैं किन्तु परम महिमावन्त अपने आनन्दस्वभाव को नहीं देखते। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं स्वयं ही आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्य में मेरा आनन्द नहीं है अथवा अपने आनन्द के लिये वे किसी बाह्य में—पुण्य-पाप के ठाठ में मूर्च्छित नहीं होते-उलझते नहीं हैं। पुण्य की सुविधाएँ मिलने पर ज्ञानी कहते हैं कि - अरे पुण्य! रहने दे... तेरी शोभा हम नहीं देखना चाहते; हमें तो सादि-अनन्त अपने आनन्द को ही देखना है... अपने अतीन्द्रिय आत्मानन्द के सिवा इस जगत में अन्य कुछ हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द हमारे आत्मा में ही है। इस पुण्य के ठाठ में कहीं हमारा आनन्द नहीं है। न तो पुण्य की अनुकूलताएँ हमें आनन्द दे सकती हैं और न प्रतिकूलताओं के झुण्ड हमारे आनन्द को लूटने में समर्थ है! - ऐसी ज्ञानी की अन्तरदशा होती है। उसे स्वसंवेदना प्रत्यक्ष से अपने आनन्द का वेदन हुआ है।

आत्मा का ऐसा अचिन्त्यस्वभाव है कि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही ज्ञात होता है; 'स्वयं प्रत्यक्ष' हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वयंप्रत्यक्ष स्वभाव की पूर्णता में परोक्षपना अथवा क्रम रहे – ऐसा स्वभाव नहीं है तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा में बीच में विकल्प-राग -विकार या निमित्त की उपाधि घुस जाये – ऐसा भी नहीं है, अर्थात् व्यवहार के अवलम्बन से आत्मा का संवेदन हो – ऐसा नहीं होता। पर की तथा राग की आड़ को बीच से निकाल कर, अपने एकाकार स्वभाव का ही सीधा स्पर्श करने पर ही आत्मा का स्वसंवेदन होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा का वेदन नहीं होता।

अहो! ऐसा स्वसंवेदनस्वभावी चैतन्यभगवान आत्मा स्वयं विराजमान है किन्तु अपनी ओर न देखकर, विकार की ओर ही देखता है, इसलिए विकार का ही वेदन होता है। यदि अन्तर में दृष्टि करके अपने चिदानन्दस्वरूप को निहारे तो आनन्द का वेदन हो और विकार का वेदन दूर हो जाए।

सन्तों ने आत्मा की ऐसी प्रगट महिमा बतलायी है; इस अचिन्त्य महिमा को लक्ष्य में लेकर एक बार भी यदि अन्तर से उछलकर उसका बहुमान करे तो संसार से बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभाव का बहुमान करने पर अल्पकाल में ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। वस्तु में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति विद्यमान है; उसे पहिचानकर उस ओर उन्मुख होकर पर्याय में उसे प्रगट करना है।

अरे जीव! एक बार अन्य सब भूल जा और अपनी निजशक्ति को सम्हाल! पर्याय में संसार है, उसे भूलकर अन्तःतत्त्वरूप निजशक्ति की ओर देखे तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्यशक्ति में संसार था ही नहीं, है ही नहीं और होगा भी नहीं। – लो, यह है मोक्ष! ऐसे स्वभाव की दृष्टि से आत्मा, मुक्त ही है। इसलिए एक बार सबको लक्ष्य में से हटाकर—ऐसे चिदानन्दस्वभाव में लक्ष्य को एकाग्र करे तो तुझे मोक्ष की शंका न रहे; अल्पकाल में अवश्य ही मुक्ति हो जाये।

आत्मा में इतनी अनन्त शक्तियाँ हैं कि राग से गिनने पर (चितवन करने पर) उनका अन्त नहीं आ सकता... किन्तु ज्ञान को अन्तरोन्मुख करने पर अनन्त शक्तिसहित आत्मा अनुभव में आ जाता है... वे शक्तियाँ निर्मलरूप से परिणमित हो जाती हैं। इस प्रकार

निर्मलरूप से परिणमित होने पर जब केवलज्ञान होता है, तब अनन्त शक्तियों को तथा असंख्या प्रदेशों को सर्व प्रकार से प्रत्यक्ष जानता है; इसलिए हे भाई! यदि तुझे अपने आत्मा का पता लगाना हो... अपनी अनन्त शक्तियों की ऋद्धि को साक्षात् देखना हो तो अपने ज्ञान को राग से पृथक् करके अन्तरस्वभाव की ओर एकाग्र कर!

'सर्वार्थसिद्धि' उत्कृष्ट देवलोक है; वहाँ असंख्य देव हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि हैं और उनकी आयु ३३ सागरोपम (असंख्य अरब वर्ष की) है। वे समस्त देव, मिलकर असंख्य वर्षों तक अखण्डरूप से गिनते रहें, तब भी आत्मा की शक्ति का पार नहीं आ सकता – ऐसी अनन्त शक्ति का स्वामी यह प्रत्येक आत्मा है। उन सम्यग्दृष्टि देवों ने स्वसंवेदन से अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा का स्वाद चख लिया है। ज्ञान को अन्तर में लीन करने पर क्षणमात्र में आत्मा की सर्व शक्तियों का पार पाया जा सकता है। शक्तियों को क्रमशः जानने जाये तो कभी पूरा नहीं पड़ सकता, किन्तु अक्रम-अभेदस्वभाव में लीन होकर जानने से समस्त शक्तियाँ एक साथ अक्रमरूप से ज्ञात हो जाती है। आत्मा एक साथ अनन्त शक्तियों से प्रतिष्ठित है; उसमें राग, प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न- हम अनन्त शक्तियों को जानें या एक आत्मा को?

उत्तर- अनन्त शक्तियों से अभेदरूप ऐसे एक आत्मा को जानना चाहिए। आत्मा कहीं अनन्त शक्तियों से पृथक् नहीं है; इसलिए शक्ति को बराबर जानते हुए भी शक्तिमान ऐसा आत्मा ही लक्ष्य में आता है और एक आत्मा को लक्ष्य में लेने पर भी वह अपनी अनन्त शक्तियों सहित ही अनुभव में आता है। यदि आत्मा को पृथक् रखकर उसकी शक्तियों को जानना चाहे अथवा शक्तियों को लक्ष्य में लिये बिना, आत्मा को जानना चाहे तो उसे नहीं जाना जा सकता, क्योंकि उसने गुण-गुणी को पृथक् माना; इसलिए अनेकान्तस्वरूप नहीं जाना और अनेकान्त के बिना, भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती। अनेकान्त ही भगवान आत्मा को यथार्थस्वरूप से प्रसिद्ध करता है... वह 'अनेकान्त सर्वज्ञ भगवान का अलंघ्य – किसी से न तोड़ा जा सके, ऐसा – शासन है। एकान्त मान्यताओं को तोड़कर अनेकान्तस्वरूप से भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करनेवाला, यह अनेकान्तशासन जयवन्त वर्तता है।'

जो इस अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु को जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं – ऐसा कहकर (२६५वें कलश में) आचार्यदेव ने अनेकान्त का फल बतलाया है। इस प्रकार फल बतलाकर यह अनेकान्त अधिकार समाप्त करते हैं।

जिस प्रकार अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप कहा, तदनुसार वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को अनेकान्त-संगतदृष्टि द्वारा ज्ञानी सत्पुरुष स्वयमेव देखते हैं... और इस प्रकार स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि जानकर, जिननीति का उल्लंघन न करते हुए, वे सन्त ज्ञानस्वरूप होते हैं।

देखो, यह ज्ञानस्वरूप होना, वह अनेकान्त का फल है तथा वही जिननीति है; वही जिनेश्वरदेव का मार्ग है। इससे विरुद्ध वस्तुस्वरूप को मानना, वह जिननीति नहीं, किन्तु अनीति है। जो जिननीति का उल्लंघन करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है और घोर संसार में परिभ्रमण करता है। अनेकान्तस्वरूप पावन जिननीति का सन्त कभी उल्लंघन नहीं करते; इसलिए वे परम अमृतमय मोक्षपद को प्राप्त होते हैं।

यह अनेकान्त का फल है।

–इस प्रकार ज्ञानलक्षण से प्रसिद्धि होनेवाले अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा का वर्णन समाप्त हुआ।

(अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्मा की प्रसिद्धि करनेवाले साधक सन्तों को नमस्कार हो!)